॥श्री हरिः॥

श्रीमद्भागवत महापुराण की महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य
विरचित संस्कृत टीका (हिंदी अनुवाद सहित)

श्री सुबोधिनी

प्रथम पुष्प

दशम स्कन्ध - पूर्वार्ध

अध्याय : १ - ४

श्री मद्भागवत महापुराण की श्री मद्वल्लभाचार्य कृत संस्कृत टीका

श्री सुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद

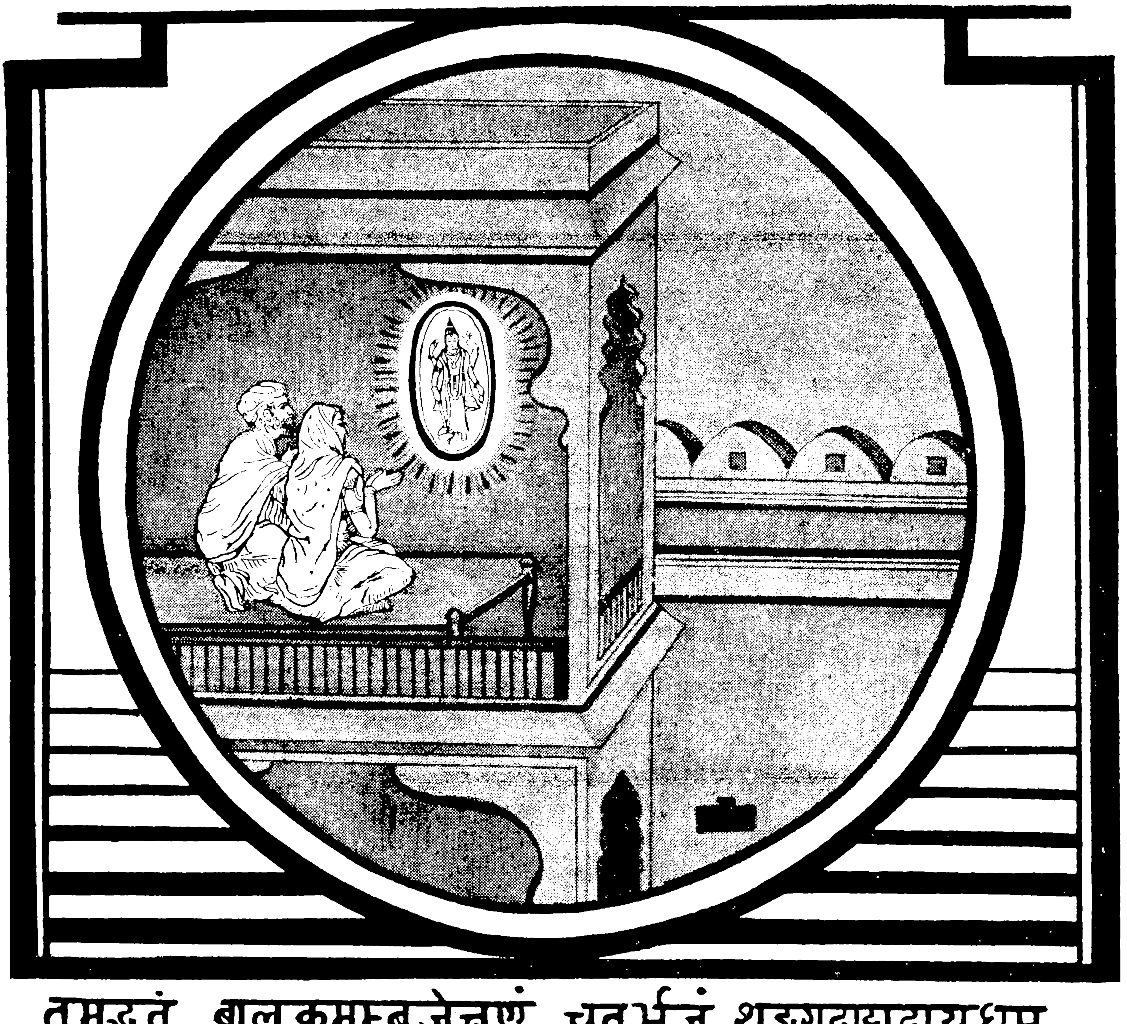

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं, चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम्
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं, पीताम्बरं सान्द्रपयोद सौभगम् ॥९॥

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०) जोधपुर

(१) स्थापना-

शुभ तिथि—कार्तिक कृष्णा ६, वि. सं २०१८, बुधवार तदनुसार १ नवम्बर, १९६१.

(२) रजिस्टर्ड कार्यालय-

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग, जोधपुर (राजस्थान).

(३) मुख्य उद्देश्य—

(१) जगद्गुरु श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन का जन साधारण के लिये अध्ययन, अध्यापन, संरक्षण संवर्द्धन, प्रकाशन एवं प्रचार का प्रबन्ध करना।

(२) संस्कृत एवं अन्य भाषाओं में उपलब्ध पुष्टिमार्गीय दार्शनिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों का अन्वेषण, प्रकाशन, संरक्षण एवं उनका जन साधारण में प्रचार करना।

(३) जगद्गुरु श्री मद्वल्लभाचार्य के उपदेशों, सिद्धान्तों और शुद्धाद्वैत दर्शन का भारतीय तथा अन्य भाषाओं में सरल व्याख्या सहित प्रकाशन करना व कराना और उनकी शिक्षा एवं प्रचार की व्यवस्था करना व कराना।

(४) सङ्गीतकला, चित्रकला एवं अन्य ललित कलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध सामग्रियों की शोध करना।

(५) शुद्धाद्वैत दर्शन के अध्ययन करने वाले छात्रों को छात्रवृत्ति दिलाना।

(६) शुद्धाद्वैत दर्शन के प्रचार के लिये उपदेशक तैयार करके सर्वत्र भेजना।

(७) उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये चल तथा अचल सम्पत्ति प्राप्त करना और उसका प्रबन्ध करना।

मुख्य सदस्य—

(१) विशिष्ट आजीवन सदस्य—रु० १०००) व अधिक द्रव्य या उसी मूल्य की चल तथा अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता।

(२) आजीवन सदस्य- रु० १२५)०० से रु० ९९९)०० तक द्रव्य या उसी मूल्य की चल तथा अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता।

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल, (रजिस्टर्ड) जोधपुर (राजस्थान)

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन ग्रन्थ माला-प्रथम पुष्प-स्कन्ध १०-अध्याय १-४

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित संस्कृत टीका

श्री सुबोधिनी

का

हिन्दी अनुवाद

दशम स्कन्ध – जन्म प्रकरण – अध्याय १–४

●

राग विहाग

जोलों हरि आपुनपो न जनावे ।
तोलों सकल सिद्धान्त मार्ग के पढे सुने नहीं आवे ।।
ब्रह्मा सुन नारायण मुख ते, नारद को शिख दीन्ही ।
नारद कहि वेदव्यास सों आप खोज नहीं कीन्ही ।।
वेदव्यास ओषधि की न्याई, पढ तन ताप नसायो ।
तिन ते पढे मुनि शुकदेवा, परीक्षित को जो सुनायो ।।
यद्यपि सुनी नृप वृज की लीला, दशम कही शुकदेवा ।
तोहु सर्वात्म भाव नहीं उपज्यो, ताते करी न सेवा ।।
श्री भागवत-अमृत दधि मथके, श्री वल्लभ सर्वोत्तम ।
कर आवरण दूर निज जन के, हाथ दिये पुरुषोत्तम ।।
सेवा साज सिंगार सुभग रस, राग भोग प्रगटायो ।
वृन्दावन निकुञ्ज की लीला हरि जीवन स्वाद चखायो ।।

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल, (रजिस्टर्ड) जोधपुर (राजस्थान)

आवृति-प्रथम
प्रति-१०००
जन्माष्टमी वि० २०२३

सर्वाधिकार सुरक्षित

न्योछावर-
सादर भेंट
संस्था सदस्यों को

प्रकाशक
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०)
मानधना भवन, चोपासनी मार्ग, जोधपुर (राज०)

❁ सामग्री ❁

पृष्ठ संख्या

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल की स्थापना, उद्देश्य एवं सदस्यता सम्बन्धित कुछ नियम .... मुख पत्र २

संस्था के मुख्य विशिष्ठ आजीवन सदस्यों एवं आजीवन सदस्यों की सूची .... ३ – ४

चरित्र नायक का कुछ (पद) —भक्तवर सूरदासजी .... (क)

मदन गोपाल देखरी माई (पद) —भक्तवर परमानन्ददासजी .... (क/१)

प्राक्कथन–पूज्य पाद गो० श्री व्रजभूषणलालजी महाराज .... (ख) (ग)

अवतरणिका–प्रधान मन्त्री–श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) .... (घ) से (ज)

श्री भागवत सुधारस–पूज्यपाद–तिलकायत श्री गोविन्दलालजी महाराज (झ) (ञ)

श्रीमद्भागवत का रहस्य–प० भ० श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी .... (ट) (ठ)

श्री मद्वल्लभाचार्यजी और सुबोधिनी–प० भ० श्री जेठालालजी गोवर्धनदासजी शाह .... (ड) से (त)

प्रथम दो अध्यायों के हिन्दी अनुवाद पर प्राप्त कुछ सम्मतियां .... (थ) से (ध)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण के चरित्र की एक झलक–प० भ० श्री गोपालदासजी झालानी १ से ७

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी कृत तत्वार्थ दीप निबन्ध के श्री भागवतार्थ प्रकरण विभाग की तालिका –प० भ० श्री पुरुषोत्तमदास जी पुरोहित ... . एक से आठ

श्री जन्म प्रकरण की भूमिका–प० भ० श्री फतहचन्दजी शास्त्री .... १ से १०

प्रथम अध्याय–कारिका अनुवादक प० भ० श्री फतहचन्दजी शास्त्री .... १ से १७

प्रथम अध्याय ,, ,, ,, ,, ... १–१००

द्वितीय अध्याय ,, ,, ,, ,, १–७१

शुद्धि पत्र–प्रथम एवं द्वितीय अध्याय ७२

तृतीय अध्याय–अनुवादक– प० भ० श्री सवलकिशोरजी व्याकरणाचार्य .... १ से ११८

शुद्धि पत्र–तृतीय अध्याय .... ११९ व १२०

चतुर्थ अध्याय–अनुवादक– प० भ० श्री आनन्दीलालजी शास्त्री १ से ६०

शुद्धि पत्र–चतुर्थ अध्याय .... ६१ व ६२

अनुक्रमणिका (श्लोकानुसार) ६३ से ६५

आश्रय के पद ६६

चित्र सूची—

चरित्र नायक–श्री वृन्दावनेश्वर क/२

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण–एवं श्री सुबोधिनी लेखन–कार्य (प्रथम अध्याय) १

श्री देवकीजी पर कंस का कोप–(प्रथम अध्याय) ६३

कंस के कारागार में श्रीकृष्ण भगवान् का प्राकट्य–(तीसरा अध्याय) १९

योग माया का प्रभाव–(तीसरा अध्याय) ११२

योग माया–(चतुर्थ अध्याय) १२

चरित्र-नायक का कुछ—

॥ राग गोरी ॥

कोन सुकृत इन व्रज बासिन को, बदत विरञ्चि शिव शेष।
श्री हरि जिनके हेत प्रकटे, लेकर मानुष वेष ॥ ध्रु०
ज्योति रूप जग धाम जगत गुरू, जगत पिता जगदीश।
योग यज्ञ जप तप व्रत दुर्लभ सो गृह गोकुल ईश ॥ १ ॥
एक एक रोम कूप विराट सम, अनन्त कोटि ब्रह्मांड।
लिये उछंग वाहि मात यशोदा, अपने निज भुज दंड ॥ २ ॥
जा के उदर लोक त्रय जल थल, पञ्च तत्व चहों खान।
बालक होय झूलत व्रज पलना, जसुमति भवन निधान ॥ ३ ॥
अनुदिन श्रवत सुधारस पञ्चम, चिन्तामणि सी धेन।
सो तजि यशुमति को पय पीवत, भक्तन को सुख देन ॥ ४ ॥
करन हरन प्रभु दाता भुक्ता, विश्वंभर जग जानि।
ताहि लगाय माखन की चोरी, बांध्यो हैं नन्दरानि ॥ ५ ॥
रवि शशि कोटि कला सम लोचन, त्रिविध तिमिर मिट जात।
अंजन देत हेत सुत के चक्षु, लेकर काजर मात ॥ ६ ॥
कमला नायक वैकुण्ठ दायक, दुःख सुख जाके हाथ।
कांध कामरी कर लकुट नग्न पद, वन बछरन के साथ ॥ ७ ॥
वेद वेदान्त उपनिषद् षट रस, अरपत भुक्त नाहि।
गोप ग्वालन की मण्डली मोहन, हँस हँस जूंठिन खाहि ॥ ८ ॥
क्षिति मिति तृपद करुणा मय, बलि छल दियो पतार।
देहरि उलंघ सकत नहीं सो प्रभु, खेलत नन्द के दुवार ॥ ९ ॥
बकी बकासुर शकट तृणावर्त, अघ धेनुक वृष भास।
कंस केशी को यह गति दीनी, राखे चरण के पास ॥१०॥
भक्त वत्सल प्रभु पतित उधारन, रहे सकल भरपूर।
मारग रोक पर्यो हठ द्वारे, पतित शिरोमणि सूर ॥११॥

॥ रागसारंग ॥

मदन गोपाल देखिरी माई,
द्विभुज त्रिभंगी स्याम मनोहर ।
सुन्दर निधि जुवतिन सुखदाई ॥
माथे बने मोर के चंदवा, रुचिर चित्र बनधातु बनाई ।
गुंजा-हार माल बैजंती, पीतांबर-छवी बरनिन जाई ॥
अरुन अधर-धृत मधुर मुरलिका ।
तैसिये चन्दन-तिलक निकाई ॥
मानु द्वितीया दिन उदित अर्द्ध ससि ।
निकसि जलद में देत दिखाई ॥
अद्भुत मनि-कुण्डल कपोल मुख, अद्भुत उठत परस्पर झाँई ।
मानु विधु मीन बिहार करत दोउ, जल-तरंग में चलि चलि आई ॥
तैसे अनुपम नयन लाल के, चितवत् चितबित लेत चुराई ।
सोभा और कहां लौ बरनों 'परमानन्ददास' मुख गाई ॥

॥ राग गौरी ॥

पिय-मुख देखत ही पै रहिये ।
नैननि को सुख कहत न आवे, जा कारन सब सहिये ॥
सुनहु गोपाल लाल ! पाँई लागों, भली पोच लै बहिये ।
हौं आसक्त भई या रुपै, बड़े भाग ते लहिये ॥
तुम-बहुनायक चतुर सिरोमनि, मेरी बाहँ दृढ गहिये ।
'परमानन्द' स्वामी मन मोहन, तुमही ते निरबहिये ॥

॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य

॥ श्री श्याम मनोहर प्रभु विजयते ॥

॥ प्राक्कथन ॥

वन्दे नन्द व्रजस्त्रीणां, पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं, पुनाति भुवनत्रयम् ॥ १ ॥
सौन्दर्यं निजहृद्गतं, प्रकटितं स्त्रीगूढभावात्मकं ।
पुंरूपंच पुनस्तदन्तरगतं प्रावीविशत्स्वप्रिये ॥
संश्लिष्टावुभयोर्बभौ रसमयः कृष्णो हि यत् साक्षिकं ।
रूपं तत् त्रितयात्मकं परमभिध्येयं सदा वल्लभम् ॥२॥

श्री मद्वल्लभाचार्यजी ने वेद, श्रीमद्भगवद् गीता (श्रीकृष्ण वाक्य) ब्रह्म सूत्र, श्रीमद्भागवत (समाधि भाषा) को प्रमाण माना है। वेद की शङ्का निवारण, भगवद् गीता से, भगवद् गीता की ब्रह्मसूत्र से, ब्रह्सूत्र की श्री मद्भागवत से होती है। इस प्रकार आपश्री ने श्रीमद्भागवत को एक बड़ा ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना है। 'जन्माद्यस्य' इत्यादि श्लोक की टीका करते हुए आपश्री ने गायत्री को बीज, वेद को वृक्ष एवं भागवत को फल माना है। अतः भागवत की श्रीधरी विजयध्वजादि अनेकों संस्कृत टीकाओं के होते हुए भी आपश्री ने "सुबोधिनी" नामक संस्कृत टीका लिखी। वास्तव में श्रीमद्भागवत का गूढार्थ समझना एक विद्वान की बुद्धि की सीमा से भी बाहिर है परन्तु श्रीमद्वल्लभाचार्यजी, वैश्वानर, वाक्पति हैं अतः इस गूढतत्व को प्रकाशित करने में समर्थ हैं इसीलिये श्रीविठ्ठलनाथजी (गुसांईजी) ने आपके लिये कहा है 'श्रीभागवत गूढार्थ प्रकाशन परायण", श्री भागवत पीयूष समुद्र मथनक्षम" इत्यादि।

श्री सुबोधिनी टीका अपने ढंग की अद्वितीय है जिसमें मौलिकत्व है तथा विषय का प्रतिपादन एक अनूठे ढंग से किया गया है। छोटी २ पंक्तियों तथा शब्दों के अर्थ में क्लिष्टता न होते हुए भी भाव गाम्भीर्य की अद्भुत छटा इस ग्रन्थ रत्नागार में स्थान २ पर दिखलाई पड़ती है। आपश्री की उदात्त कल्पना, विषय प्रतिपादन की मौलिक शैली तथा शास्त्रादिक का गम्भीर अध्ययन स्वतः पाठक को आकृष्ट कर लेता है। तथापि भाव गाम्भीर्य सुगम न होने से उसे स्पष्ट करने के हेतु श्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुचरण (श्री गुसांईजी) ने 'टिप्पणी, 'गो० श्री वल्लभजी ने 'लेख, दशदिगन्तविजयी गो० श्री पुरुषोत्तमजी ने 'प्रकाश' पं० श्री लालूभट्टजी ने 'योजना' पं० श्रीनिर्भयरामजी ने 'कारिकार्थ' ग्रन्थों का निर्माण किया। अब तक इस संस्कृत टीका का गुजराती भाषा में ही अनुवाद हुआ है, किन्तु वह एक प्रान्तीय भाषा है। अतः अधिक विस्तृत क्षेत्रवाली राष्ट्र भाषा-हिन्दी-में इस ग्रन्थ के अनुवाद की आवश्यकता प्रतीत हुई

अतः प्रस्तुत अनुवाद उपरोक्त पांचों ग्रन्थकारों के आशय को लेकर करवाया गया है। विषय ज्ञान प्राप्त करने में प. भ. श्रीफतहचन्दजी शास्त्री द्वारा लिखित "तत्वार्थ दीप निबन्ध" के 'शास्त्रार्थ प्रकरण' की हिन्दी टीका तथा " श्री सुबोधिनी पथ प्रदर्शक " भाग-१ व २ उपयोगी एवं लाभ प्रद हैं।

हमारा विचार तो हिन्दी अनुवाद प्रथम स्कन्ध से ही प्रारम्भ करवाने का था किन्तु श्रीयुत् नन्ददासजी तथा कुछ अन्य वैष्णवों एवं श्री नन्दलालजी मानधना, आदि की रुचि दशम स्कन्ध से प्रारम्भ करने की देखी क्योंकि वह स्कन्ध भगवान् का हृदय है जो लीलाओं से परिपूर्ण है और जिनका रहस्य जानने की सब को अधिक उत्कण्ठा होती है अतः दशम स्कन्ध से अनुवाद प्रारम्भ कराया गया।

"श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल" को स्थापित हुए ४ वर्षों से अधिक हो गए हैं और समय को देखते हुए कार्य प्रत्यल्प है किन्तु अनुवाद एवं उसके मुद्रण सम्बन्धित जो २ कठिनाईयां उपस्थित हुईं उन पर विजय प्राप्त करने में इतने समय का लगना युक्ति संगत है। मैं उन महानुभावों को जो परिश्रम से इस निष्काम सेवा को कर रहे हैं एवं जो आर्थिक सेवा से कार्यकर्त्ताओं के उत्साह को बढा रहे हैं धन्यवाद देता हूँ। अब कार्यारम्भ हो गया है अतः आशा है कि विशेष समस्या उपस्थित न हुई तो प्रगति तीव्र होगी।

अन्त में श्री मद्वल्लभाचार्य चरण को मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे इस प्रयत्न में सफलता प्रदान करें तथा इस महान् कार्य को सम्पन्न करें। इतिशम्

गो० व्रजभूषणलाल
अध्यक्ष
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर

चोपासनी मन्दिर, जोधपुर
तिथि श्रावण (पुरुषोत्तम मास) कृष्णा ६ वि. सं. २०२३.

॥ श्री हरि: ॥

अवतरणिका

अनन्त श्री विभूषित अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रुति स्मृति निखिल निगमागम प्रतिपाद्य शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद प्रवर्तक श्री पुरुषोत्तम वदनावतार प्राचुर्य प्रकार जगदगुरू श्रीमद्वल्लभाचार्य वर्य सनातन धर्म के अन्तिम आचार्य हैं। आपश्री ने समस्त वेद शास्त्र पुराणादि एवं निज पूर्वगामी आचार्य महानुभावों के धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन कर. वेद को श्री भगवद्गीता के कृष्ण वाक्यों को ब्रह्मसूत्रों का एवं श्रीमद्भागवत की समाधि भाषा को प्रस्थान मानकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ऐसी सामान्य धारणा है कि आपश्री ने ८४ ग्रन्थों की रचना की थी, तथापि अब इस सख्या से कम उपलब्ध है; सम्भव है मुगल साम्राज्य के अन्त में काशी व अन्य विद्याकेन्द्रों के अनेक सुप्रसिद्ध पुस्तकालय यवनों द्वारा दग्ध हो जाने के कारण इनमें से कुछ ग्रन्थ लुप्त हो गये हों, परन्तु जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उसमें से उत्तमोत्तम विशाल काय ग्रन्थ श्रीमद्‌भागवत पर लिखी हुई श्री सुबोधिनी टीका है। आपने सब ही ग्रन्थों की रचना संस्कृत में की है। उसमें से बहुत से ग्रन्थों का गुजराती भाषा में अनुवाद भी हुआ है पर राष्ट्र भाषा (हिन्दी) में तत्वार्थ दीप निबन्ध, षोडश ग्रन्थ आदि का ही अनुवाद दृष्टिगोचर होता है। सुबोधिनी का हिन्दी में अनुवाद करने का प्रयास ५५ वर्ष पूर्व प. भ. मुखियाजी श्री गोकुलदासजी शास्त्री कोटा वालों ने किया था परन्तु लगभग दो वर्षों तक "सुबोधिनी" मासिक पत्र के रूप में प्रकाशन होकर अनुवाद कार्य समाप्त हो गया। ऐसा प्रयास और भी थोड़ा बहुत हुआ होगा परन्तु अब उन अनुवादों में से कुछ भी प्राप्य नहीं है।

संस्था-स्थापना एवं कार्यारम्भ—

सन् १९६० में उत्तरीय रेल्वे-सर्विस से अवकाश प्राप्त कर यहां आने पर, जिनके पूज्य मामा श्री गोवर्धनदासजी साम्भर निवासी की कृपा द्वारा मुझे पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उन परम सुहृद श्री नन्दलालजी मालवना ने कहा कि रेल्वे सर्विस में होते हुए भी आपने पुष्टि मार्गीय संस्थाओं में निज सेवार्पित की है अतः पुष्टि मार्ग के प्रचार में अब शेष समय का विनयोग करें। मैंने उत्तर दिया कि मेरा निश्चत् विचार भी यही है परन्तु धनाभाव से वास्तविक सेवा नहीं हो पाती। श्री सुबोधिनी जी का हिन्दी अनुवाद होना परमावश्यक है परन्तु कार्य इतना विशाल है कि प्रारम्भ करने में कम से कम रू० १०,०००) चाहिये। आपने सहर्ष यह सेवा करने की स्वीकृति देदी अतः पूज्य पाद श्री मद्गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज की सेवा में इस पवित्र मनोरथ को प्रस्तुत किया जिसका आपश्री ने सहर्ष स्वागत करते हुए कार्यारम्भ को आज्ञा प्रदान की। तदनुसार शुभ तिथि कार्तिक कृष्णा ९, वि० सं० २०१८ (१ नम्बर १९६१) बुधवार के दिन आपश्री की अध्यक्षता में **श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल** की स्थापना हुई। शीघ्र ही यह निश्चय हुआ कि दशम स्कन्ध की सुबोधिनी टीका का अनुवाद

सर्व प्रथम हो तथा अनुवाद की भाषा सरल सुगम एवं सुबोध हो जिस से साधरण पाठक भी पूर्ण लाभ ले सकें। प्रथम चार अध्यायों का अनुवाद कार्य पं० गोपालदासजी गज्जा एम. ए. एल. एल. बी. जोधपुर पं० श्री जगन्नाथजी शास्त्री प्रतापगढ़ (राजस्थान), पं० नवल किशोरजी चतुर्वेदी शास्त्री मथुरा तथा पं० श्री आनन्दीलालजी शास्त्री विद्या विभागाध्यक्ष, नाथद्वारा को दिया गया परन्तु श्री गोपालदासजी समयाभाव से कार्य आरम्भ नहीं कर सके इस लिये प्रथम अध्याय का अनुवाद भी पं० श्री जगन्नाथजी को करने के लिये निवेदन किया गया। अनुवाद प्राप्त होने पर, यह देख कर कि पं० श्री जगन्नाथजी के अनुवाद की भाषा कठिन है, प्रथम दो अध्यायों का पुनः अनुवाद पं० श्री फतहचन्दजी शास्त्री जोधपुर द्वारा करवाया गया।

अनुवाद कार्य सुचारु एवं सुव्यवस्थित रूप से हो इस लिये संस्था में सम्पादक, व्यवस्थापक एवं समीक्षक उप- मंण्डल निर्मित किये गए, संस्था का राजस्थान शासन द्वारा पञ्जीकरण (रजिस्ट्री करण) कराया गया और सब आय-व्याय का हिसाब एक चार्टर्ड एकाउन्टेंट द्वारा हर वर्ष जांच करवा कर वर्ष के कार्य विवरण सहित सदस्यों की सेवा में भेजा जाता है।

आभार-दर्शन—

पूज्यपाद गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज की कृपा एवं उत्साह पूर्ण कार्य-कुशलता के फल स्वरूप हिन्दी भाषा-भाषी महानुभावों को श्री सुबोधिनी के रसास्वादन का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है जिसके लिये प्रत्येक वैष्णव एवं पाठक आपश्री का सदैव ऋणी रहेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम एव द्वितीय अध्यायों का हिन्दी अनुवाद जो प. भ. पं० फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री द्वारा किया गया था मुद्रण होने के पश्चात् पूज्यपाद गो० श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज सूरत, गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज कांकरोली, गो० श्री दीक्षितजी महाराज बम्बई, गो० श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज कोटा एवं गो० श्री गोविन्दरायजी महाराज पोरबन्दर तथा प. भ. श्री चिम्मनलाल जी गोस्वामी एम. ए , शास्त्री सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर, प. भ पो. कण्ठमणीजी शास्त्री कांकरोली, प. भ. श्री क. गोकुलानन्दजी तैलङ्ग, बी. ए., साहित्य भूषण, सम्पादनालङ्कार, साहित्य रत्न, काँकरोली, प भ. श्री जेठालालजी शाह एम. ए; अवकास प्राप्त प्रिंसीपल, अहमदावाद, प. भ. श्री हरि कृष्णजी वीरजी शास्त्री, शुद्धाद्वैत विशारद, पोरबन्दर, प. भ. डाक्टर श्री गोवर्धन नाथजी शुक्ल, एम. ए, पी. एच. डी. प्रोफेसर, अलिगढ़ विश्व विद्यालय, अलिगढ को भेजा गया जो कि समस्त महानुभावों ने पढकर उस पर निज सम्मति प्रदान की (जो अन्यत्र दी गई है) जिससे इस संस्था को कार्य करने में प्रोत्साहन एवं शक्ति प्राप्त हो रही है अतः आप सब का यह संस्था सादर धन्यवाद सहित आभार स्वीकार करती है।

पूज्य पाद तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज ने "श्रीमद्भागवत सुधा रस"नामक लेख से इस ग्रन्थ को सुशोभित किया है आपश्रीने श्री मद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के प्रथम १५ अध्यायों को

सुबोधिनीजी का हिन्दी अनुवाद प. भ पं. श्री आनन्दीलालजी शास्त्री द्वारा करवाया है तथा आप श्री ने इस संस्था को प्रकाशन कार्यादि में सहयोग देने का आश्वासन भी दिया है इसके लिये यह संस्था आपश्री का पूर्णाभार मानती है ।

प. भ. प्रो. कण्ठमणीजी शास्त्री, कांकरोली, सम्पादन उप-मण्डल के उपाध्यक्ष हैं आप की सदैव यही इच्छा रहती है कि इस संस्था का प्रकाशन साहित्य उच्च कोटि का हो और तदर्थ अस्वस्थ नेत्र होते हुए भी मण्डल के साहित्य को पढकर मार्ग दर्शन देते रहते हैं जिसके लिये संस्था आपकी आभारी है।

गोलोकवासी शाह श्री गोवर्धन लालजी काबरा, इस संस्था के भूतपूर्व उपाध्यक्ष, पुष्टिमार्ग के मर्मज्ञ विद्वान, सङ्गीताचार्य एवं मननशील अनुभवी कार्य-कर्त्ता थे । जिन्होंने लगभग इन सब ही अध्यायों की सुबोधिनी के हिन्दी अनुवाद को रुग्णावस्था में होते हुए भी पढा और नवीनतम सुझाव देकर इस ग्रन्थ को आकर्षित बनाने में प्रयत्नशील रहे परन्तु उनकी सेवा प्रभु को यहां तक ही लेनी थी । उनके उदारता पूर्ण सहयोग के लिये यह सस्था उनकी कृतज्ञ है ।

श्री वल्लभ-सम्प्रदाय के उत्कट विद्वान एवं भगवद्रस परिपूर्ण प. भ. पं. श्री सबल किशोरजी पाठक (चतुर्वेदी) व्याकरणाचार्य, शुद्धाद्वैत लब्ध वर्ण, मथुरा निवासी ने इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय का सुन्दर अनुवाद करके इस मण्डल को सस्नेह भेट किया है। इतना ही नहीं आप से हम को यह आश्वासन भी प्राप्त हुआ है कि आप ऐसी ही कृपा भविष्य में भी करके भगवद् गुणानुवाद रस का पान कराते रहेंगे जिसके लिये हम आपका पूर्णाभार मानते हैं ।

पं. भ श्री पुरुषोत्तम दासजी पुरोहित बी. ए., भूत पूर्व कोतवाल जोधपुर एवं कलेक्टर ने इस ग्रन्थ के प्रथम एवं चतुर्थ अध्याय की पाण्डुलिपि तैयार करने तथा चतुर्थ अध्याय के मुद्रण कार्य में सहायता दी है और श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित तत्वार्थ दीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण की विभाग की हिन्दी में तालिका तैय्यार की है जो अन्यत्र है । इसी प्रकार आप हर समय अति उपयोगी सम्मति देते रहते हैं अतः आप धन्यवाद के पात्र हैं ।

प. भ. पं. श्री फतहचन्द जी शास्त्री की अनुवाद शैली भाषादि के सम्बन्ध में पाठक अन्यत्र पढेंगे अतः केवल इतना ही सङ्केत पर्याप्त है कि ७८ वर्ष की आयु में एक नव युवक की तरह अनुवाद कार्य में लग जाना यह उन पर श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण की कृपा है । इनकी तीव्राभिलाषा है कि पुष्टिमार्गीय समस्त संस्कृत ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद द्वारा ये जनता-जनार्दन की सेवा में सदैव तत्पर रहें । इन की इन महान् शुभ भावनाओं के लिये हम इनका अभिनन्दन करते हैं ।

प. भ. श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी एम. ए., शास्त्री, सम्पादक, "कल्याण" (गौरखपुर) की सहकारिता, उदारता, एवं भगवद् भावना श्लाध्य है कि जिन्होंने इस ग्रन्थ में गीता प्रेस से चार चित्र छपवा कर तुरन्त भेज दिये और प्रथम दो अध्यायों को पढ कर उस पर निज सम्मति के साथ २ भविष्य

के मुद्रण में मार्ग दर्शन भी दिया है और 'श्री मद्भागवत का रहस्य' नामक एक सुन्दर लेख भेजा है जो अन्यत्र पढें।

प. भ. श्री गोपालदास जी झालानी, बी, ए. बी. काम अ० भा० पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् के प्रधान मन्त्री तथा श्री वल्लभ विज्ञान "(इन्दौर) मासिक पत्र के सम्पादक की इस संस्था के कार्य में बहुत अभिरुची है और सम्पादन कार्य में मार्ग दर्शन देकर अपने मासिक "पत्र" में श्री सुबोधिनी सम्बन्धी विषयों का समावेश कर पाठकों को सुबोधिनी सम्बन्धी उत्कण्ठा संवर्द्धन करते रहते हैं जिसके लिये यह संस्था आप का आभार स्वीकार करती है।

इस संस्था के उपाध्यक्ष पं. श्री नरनारायणजी आसोपा एम. ए., साहित्यालङ्कार का प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रर्याप्त सहयोग रहा है आप को इच्छा है कि देश में पर्यटन कर श्री सुबोधिनीजो का प्रचार करें जिसके लिये यह संस्था आपकी आभारी है।

प. भ. सेठ श्री साकारलालजी बाला भाईजी अहमदाबाद वाले तथा प भ. सेठ श्री ईश्वरलालजो चिमनलालजी बड़ोदा वालों की अमूल्य सम्मति कार्य सञ्चालन में मिलती रहती है जो प्रशंसनोय है।

प. भ. श्री नरसिंह सहायजी मदन गोपालजी मूंधड़ा के वंशज बीकानेर में श्री मदनमोहनलाल की सेवा में गत १०० वर्षों से पुष्टि मार्गीय प्रणालिकानुसार बड़े स्नेह से हाथ पवित्र कर रहे हैं। उस ही परिवार के गोलोकवासी प. भ. श्री जमुनादासजो मूंधड़ा के सुपुत्र वर्ग ने (निज कनिष्ठ भ्राता) प. भ. श्रीउद्धवदासजी मूंधड़ा के द्वारा एवं उनके पूज्य काकाजो (पितृ-भ्राता) प. भ. श्री गिरधरदासजी मूंधड़ा ने रु ५०००)०० की सेवा इस ग्रन्थ प्रकाशन के लिये करके भविष्य में भी इसी प्रकार की सेवा करने का आश्वासन दिया है जो सर्वदा प्रशंसनीय है।

प. भ. सेठ श्री ईश्वरलालजी बड़ोदा वालों ने रु० १००१) की प. भ. श्री भगवान दासजी अग्रवाल कलकत्ता के एक सामान्य नवयुवक ने रु० १००१) की एवं श्री मुकन्द दासजी तापड़िया बी. ए. एल. एल, बी ने रु० ५०१) की तथा अन्य आजीवन सदस्यों ने श्रद्धापूर्वक इस दास के वचन पर विश्वास करके जो आर्थिक सेवा की है उन सब का यह संस्था आभार मानती है।

संस्था के सहायक मंत्री श्रीनाथजी पुरोहित उत्साह एवं लगन से कार्य कर रहे हैं जो सराहनीय है।

अन्त में पुनः मैं श्री नन्दलाल जी मानधना का अभिनन्दन करता हूँ कि उनकी तथा उनकी सद्गत धर्म पत्नि श्री सौभाग्यवती की निष्काम एवं पवित्र रु० १०,०००) की सेवा से यह महान् कार्य प्रारम्भ हुवा जिससे मुझे भी सेवा से पावन होने का सौभाग्य प्राप्त हुवा। श्रीमद्वल्लभाधीश को कर बद्ध सदैन्य प्रार्थना है कि निज कृपा से श्री सुबोधिनी रसार्णव का रसास्वादन प्रत्येक पाठक, वक्ता और श्रोता को प्राप्त हो।

यथार्थ में श्री मद्वल्लभाचार्य चरण की निगूढ़ वाणी का सही अर्थ करना असम्भव नहीं तो महा कठिन है तथापि जो कुछ रस उन "अदेय दान दक्षश्च महोदार चरित्रवान" की प्रेरणा से विद्वानों द्वारा प्राप्त हो रहा है उसे मुद्रण करवाकर पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत करने में हमें हर्ष है। निस्सन्देह इस ग्रन्थ में मुद्रण अशुद्धियां अनेक हैं जिनमें से बहुतसी को कार्यालय में ठीक कराने का प्रयास भी चालू है तथापि सुज्ञ उनकी ओर ध्यान न देकर नीर क्षीर न्याय से आनन्द प्राप्त करेंगे तथा समय-समय पर हमें मार्ग दर्शन देंगे ऐसा हमारा विश्वास है।

भगवदीय चरण रजाभिलाषी इस किङ्कर की कामना भक्तवर श्री परमानन्ददासजी के निम्न-लिखित पद में व्यक्त की गई है जो श्री मदाचार्य चरण तथा तदीय जनों की कृपा से पूर्ण हो बस यही सदैन्य विनय है।

यह मांगों गोपीजन वल्लभ।
मानुष जन्म और हरि सेवा, व्रज बसवो मोहे दीजे सुल्लभ ॥
वल्लभ कुल को होऊं चेरो, वैष्णव जन को दास कहाऊं।
श्री यमुना जल नित प्रति न्हाऊं, मन क्रम वचन कृष्ण गुण गांऊं ॥
श्रीमद्भागवत श्रवण करूं नित, इन तज अनत कहूँ नहीं जाऊं।
परमानन्द दास यह मांगत, नित निरखूं कब हू न अघाऊँ ॥

—* हरि सेवा *—

हरि सेवा में खरच न लागे।
अपनो जन्म सफल कर मूरख, क्यों डरपे जो अभागे ॥ १ ॥
उदर भरन को करो रसोई, सोई भोग धरे।
होय प्रसाद घटे नहिं कणिका, अपनो उदर भरे ॥ २ ॥
मीठो जल पीवन को लावे, तासों भारी भरे।
अंग ढकन को चहिये कपड़ा, ताको साज करे ॥ ३ ॥
जो मन होय उदार तुम्हारो, वैभव कछुक बढावो।
नहीं तो मोर चन्द्रिका गुंजा, यह सिंगार धरावो ॥ ४ ॥
कन्द मूल फल जो कछु उत्तम, पहिले प्रभुहि धरावो।
जो मन चले वस्तु उत्तम पे, प्रभू को धर सब खाओ ॥ ५ ॥
कर सम्बन्ध स्वामी सेवक को, भक्ति मार्ग की रीति।
पूरण ब्रह्म भाव के भूखे, होय अन्तर की प्रीति ॥ ६ ॥
यामें कहा घट जाय तुम्हारो, घर की घर में रहि है।
परमानन्द होय गति अपनो, भलो भलो जग कहि है ॥ ७ ॥

भगवदीय चरणरजाभिलाषी,

नन्ददास (रामचन्द्र)

(प्रधान मन्त्री)

॥ श्री हरिः ॥

❀ श्री मद्भागवत सुधारस ❀

पूज्यपाद श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने वेद, श्रीकृष्ण वाक्य गीता, व्याससूत्र एवं समाधि में स्वयं अनुभव करके व्यासजी ने जो निरूपण किया वह समाधि भाषा तथा वेदादि से अविरुद्ध सभी शास्त्र प्रमाण माने हैं, "वेदा:श्रीकृष्ण वाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि, समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्" इसमें भागवत पद न दे कर जो समाधि भाषा पद दिया है उसका तात्पर्य यह है कि श्रीमद्भागवत में लौकिकी तथा मतान्तर भाषा भी हैं ये दोनों समाधि भाषा की पोषिकायें हैं- निर्णायिका नहीं है, निर्णायिका तो केवल समाधि भाषा ही है, इस लिये समाधि भाषा को प्रमाण कोटि में लिया है ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण के पूर्ववर्ती आचार्यों ने वेद, गीता और व्याससूत्र को प्रमाण माना है और श्रीमदाचार्यचरण समाधि भाषा का भी निर्देश कर प्रस्थानचतुष्टय को प्रमाण मानते हैं ।

वेद और उपनिषद् अति संक्षिप्त तो हैं ही, साथ ही उनमें परब्रह्म का खण्डश: वर्णन किया गया है, कर्मकाण्ड में ब्रह्म क्रियारूप में और उपनिषद् में ब्रह्म का ज्ञान रूप में निरूपण हुवा है, क्रिया एवं ज्ञान उभयविशिष्ट निरूपण भागवत में है ।

प्रामाण्य कोटि में वही ग्रन्थ मान्य है जो शास्त्र हो, शास्त्र का शास्त्रत्व यही है कि वह सभी सन्देहों का निराकरण करे जैसा कि कहा है "शास्त्र सन्देहवारकम्," शास्त्र अपूर्व होना चाहिये । अपूर्व शास्त्र ही प्रमाण होता है । लोक में किसी ने न जाना हो ऐसे अर्थ को समझाने वाला ग्रन्थ ही अपूर्व कहा गया है, "लोकानधिगतार्थगन्तृत्वं प्रामाण्यम्" श्रीमद्भागवत इसलिये अपूर्व शास्त्र है, एक बात यह भी है, कि वेदादि की सूत्ररूप वाणी सर्वगम्य नहीं है श्रीमद्भागवत वेदादि वाणी का विस्तार है, इसी हेतु से यह सर्वोपयोगी सर्वोपकारक है ।

इतिहास तथा पुराण की उपयोगिता और उनकी महत्ता इसलिये है कि वे वेदादि वाणी के अतिनिगूढ तथा अति संक्षिप्त अर्थ को विशद करते हैं, "इतिहासपुराणाभ्यां वेद समुपबृंहयेत्" इनके अभाव में वेदादि वाणी के अर्थ को यथावस्थित समझना बहुत कठिन था, "बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति" सर्व सामान्य जनता जिस रूप में सर्वसन्देह निरासपूर्वक विस्तार से कहे गये पुराणों द्वारा वस्तु को समझ सकती है उस रूप में सूत्रात्मक वेदों से नहीं समझ सकती, अतएव लोक में श्रीमद्भागवत का प्रचार विशेष है ।

श्रीमद्भागवत में भगवल्लीलाओं का निरूपण है, ब्रह्मसूत्र एवं गीता आदि की रचना करके भी व्यासजी को जब सन्तोष नहीं हुआ तब भगवान् ने ही अपने हृदयरूप नारदजी को भेज कर व्यासजी को श्रीमद्भागवत का ज्ञान कराया ।

समाधि में जिन पदार्थों का प्रकाश भगवान् ने कराया व्यासजी ने विपुल रूप में अपनी भाषा में उन्हे अभिव्यक्त कर दिया, अतएव भागवत समाधिभाषा के रूप में कही जाती है, देवरूप होने से श्रीमद् भागवत के अक्षरों का भी अर्थ है श्रीमद् भागवत सिद्धान्तार्थ सात प्रकार के हैं कथा रूप अर्थ इन सातों से पृथक है, शास्त्र, स्कन्ध, प्रकरण, अध्याय, वाक्य, पद और अक्षर इन सातों अर्थों का समन्वय एक ही अर्थ में हो जाए तब भागवत का अर्थ पूर्ण कहा जाता है, श्रीमद् भागवत के शब्द और अर्थ पुरुषोत्तम है, अर्थात् शब्दार्थ रूप से श्रीमद् भागवत ही पुरुषोत्तम है, इसके श्रवणमात्र से भगवत्सान्निध्य प्राप्त होता है।

"द्वादशो ह वै पुरुषः" श्रीमद् भागवत के बारह स्कन्ध ही भगवान् के बारह अंग हैं श्री मद् भागवत में प्रथम स्कन्ध से लेकर द्वादश स्कन्ध तक भगवान् की बारह लोलाओं का निरूपण है, इनमें दश लोला प्रधान हैं.

श्रीमद् भागवत के इस अलौकिक किंवा विलक्षण स्वरूप का साक्षात्कार श्रीमदाचार्यचरण ने अपनी श्री सुबोधिनी में कराया है।

श्रीमद् भागवत के रसमय अर्थ की प्रतीति श्री सुबोधिनो के पुनः पुनः श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा कृतिसमवेत भाग्यशाली को सहज सुलभ है ।

श्रीमद् भागवत पर श्रीसुबोधिनी रूप व्याख्यान का पाण्डित्य स्तर ही विचार किया जाय तो यह पाण्डित्य अपूर्व है अनुपम है ।

अपार जलराशि से उच्छलित भावोर्मिशोभित इस सुबोधिनी रूप महार्णव को देख कर क्या कोई इसके स्वरूप का निर्देश विशेष रूप से कर सकता है ? अस्तु,

उपर्युक्त कारणों से श्री सुबोधिनो सुधारस का आस्वादन करना प्रत्येक पुष्टिमार्गीय वैष्णव के लिये आवश्यक है किन्तु दुरूह होने से वह सर्वसामान्यसुलभ नहीं है अतः श्री सुबोधिनी सुधारस को सरल हिन्दी भाषा के द्वारा सर्व सामान्य वैष्णव जनता को आस्वादन कराने का जो अनुवादकों का एवं प्रकाशक श्री नन्ददासजी का प्रयास है वह प्रशंसनीय है ।

मिती आषाढ शुक्ल ६, शुक्रवार वि. सं. २०२३,
मोती महल, नाथद्वारा (राज०)

तिलकायत गोविन्दलाल गोस्वामी

श्रीमद्भागवत का रहस्य

पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय आचार्य चरण श्रीमद्वल्लभाचार्यजी महाराज द्वारा रचित सुबोधिनी टीका श्रीमद्भागवत के मर्म को समझने के लिये यथा नाम तथा गुण वाली है। श्री आचार्य-चरण ने श्रीमद्भागवत के सर्ग-विसर्ग आदि लक्षणों का तृतीय स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध तक क्रमशः वर्णन माना है और इस मान्यता के लिये युक्ति युक्त संगति भी प्रदर्शित की है। वह संगति है कार्य—कारण-भाव सम्बन्ध पूर्व-पूर्व लीला उत्तरोत्तर लीला में कारणभूत है। इस दृष्टि से दसवें स्कन्ध में निरोध लीला का वर्णन ही सुसंगत है। कुछ लोग (निरोधऽस्यानुशयनम्) इस उक्ति के अनुसार निरोध का अर्थ प्रलय मानते हैं और उसका वर्णन बारहवें स्कन्ध में हुआ है—ऐसा विचार प्रकट करते हैं: परन्तु ऐसा मानने से क्रम भङ्ग तो होता ही है, कार्य—कारण भाव सम्बन्ध में भी बाधा पड़ती है। अब प्रश्न यह होता है कि यदि दशम स्कन्ध में 'निरोध' का वर्णन माना जाय तो 'निरोध' का अर्थ क्या होगा, इसका उत्तर देते हुए आचार्य चरण ने दशम स्कन्ध की कारिका में निरोध या "अनुशयन" का अर्थ प्रपञ्च में भगवान् श्री कृष्ण का अपनी दुर्विभाव्य शक्तियों के साथ प्रकट होकर क्रीड़ा* करना किया है। यह बात दशम स्कन्ध में स्पष्ट देखी जाती है। इन लीलाओं के आकलन से प्रपञ्च का विस्मरण होता है और भगवान् श्रीकृष्ण में अनन्य अनुराग की वृद्धि होती है। कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् तो निराकार रूप से सर्वत्र व्यापक हैं, अतः किसी भी दशा में जीव का उनसे सम्बन्ध नहीं छूटता। ऐसी स्थिति में जीव के संसार बन्धन का नाश स्वतः हो जाना चाहिये, क्योंकि सूर्य के सम्पर्क से स्वतः अन्धकार नाश की भांति भगवान् के नित्य सम्पर्क से मायामय प्रपञ्च का स्वतः विलयन होना ही उचित है। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए आचार्य चरण कहते हैं-जैसे काष्ठ में अव्यक्त अग्नितत्व सदा विद्यमान है, किन्तु वह काष्ठ को जलाता नहीं, जब वह बाहर प्रकट होकर काष्ठ में व्यक्त रूप से प्रवेश करता है तभी उसे जलाता हैं, इसी प्रकार निराकार परमात्मा जब तक बाहर प्रकट होकर जीव के भीतर प्रविष्ट नहीं होते, तब तक जीव के संसार बन्धन का नाश नहीं करते।+

श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के प्रथम श्लोक की व्याख्या में आचार्यपाद ने यदु की धर्मशीलता का सुन्दर युक्ति से प्रतिपादन किया है। प्रायः यह प्रसिद्ध है कि यदु ने पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन करके अधर्म किया, अतएव उन्हें पिता का शाप प्राप्त हुवा। ऐसी दशा में वे धर्मशील कैसे हुए? धर्मशीलता के अभाव में 'यदोश्च धर्मशीलस्य' यह कथन कैसे उपपन्न हो सकता है? अब इसका समाधान लीजिये।

---

*निरोधोऽस्यानु शयनं प्रपञ्चे क्रीड़नं हरेः।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम्॥

+यावद् बहिः स्थितो वह्निः प्रकटो वा विशेन्न हि।
तावदन्तः स्थितोऽप्येष न दारुदहनक्षमः॥
एवं सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद् विशेत्।
तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यमः॥

संसारी पिता गौण है और परमात्मा मुख्य पिता है। जरावस्था से शरीर अक्षम होकर भगवान् के भजन में असमर्थ हो जाता है अतः जो धर्मात्मा एवं भजन निष्ठ है, वह ऐसी कोई आज्ञा किसी को भी नहीं मान सकता, जो उसे धर्म पालन एवं भगवद्भजन से विरत करे या उसमें बाधा डाले। अतः मुख्य पिता की समाराधना के लिये गौण पिता की आज्ञा टाली जा सकती है जैसा कि भक्त प्रह्लाद ने किया था। दूसरी बात यह है कि राजा ययाति यदु की युवावस्था लेकर उसी की माता के साथ संयोग या सम्भोग चाहते थे। पुत्र की जवानी से उसी के माता के साथ सम्बन्ध-स्थापन अत्यन्त अनुचित एवं अधर्म का कार्य था। इन दोनों ही दृष्टियों से यदु की धर्मशीलता प्रकट होती है। राजा पुरु ने इस अधर्म का आचरण किया, इसलिये पिता की ओर से लौकिक राज्य-सुख पा कर भी भगवत्-सम्पर्क से वञ्चित रह गये। श्रीकृष्णावतार के पूर्व ही उनका वंश समाप्त हो गया। धृतराष्ट्र और पाण्डु तो श्री व्यासजी के अनुग्रह के फल स्वरूप उस विलुप्त वंश की परम्परा को पुनः चालू करने के लिये प्रकट हुए थे। तथापि महाभारत के बाद संतान बीज के रूप में केवल परीक्षित् ही शेष रह गये थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य-चरण ने बड़ी युक्ति और सूक्ष्मदर्शिता के साथ श्रीमद्भागवत के एक-एक पद के रहस्य और मम का उद्घाटन किया है। श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, (जोधपुर) ने इस काय का आरम्भ कर के भागवत प्रेमी जनों का महान् उपकार किया है।

श्री मद्भागवत महापुराण समस्त पुराणों में श्रेष्ठ एवं भगवान् का स्वरूप कहा गया है। यह भगवान् का वाङ्मयावतार है। इसके गम्भीर भावों को प्रकाश में लाने वाली सुबोधिनी टीका भी अनुपम एवं विलक्षण है। इसके पद, पदार्थ एवं भावों को ठीक ठीक समझने के लिए अगाध विद्वत्ता, सूक्ष्म दर्शिता, एवं गम्भीर चिन्तन-मनन की आवश्यकता है। प्रस्तुत संस्करण में दशम स्कन्ध के मूल श्लोक, उन पर सुबोधिनी टीका और उसका विशद अनुवाद एवं भावार्थ है। विषय को स्पष्ट रने के लिये स्थान स्थान पर महत्व पूर्ण टिप्पणियाँ दी गयी हैं। अनुवाद की भाषा पुराने ढंग की जान पड़ती है। इसमें भक्त हृदय की भावुकता, विनय और श्रद्धातिरेक के दर्शन होते हैं। भावों को खोलकर रखने की विशेष चेष्टा दृष्टिगोचर होती है। यह सब होते हुए भी अनुवाद में भूल रह गयी है। प्रूफ देखने में भी अधिक सावधानी नहीं बरती गयी है अतः बहुत सी अशुद्धियाँ ठीक नहीं हो पाई हैं। हम आशा करते हैं कि दूसरे संस्करण में ये त्रुटियाँ अवश्य दूर हो जायगी। भाषा के प्रवाह में भी आधुनिकता लाने की चेष्टा होनी चाहिये जिससे पाठकों के हृदय में इस अनुवाद के प्रति आकर्षण पैदा हो। कागज बहुत अच्छा लगा है। छपाई सफाई भी अच्छी है। हमारा पाठकों से नम्र निवेदन है कि वे इस अनुवाद के द्वारा श्री सुबोधिनी को और उसके द्वारा श्रीमद्भागवत के मर्म को समझने की चेष्टा करें, जिससे उनके हृदय में भगवच्चरणानुराग जगे और वे परम मंगल के भागी बनें।

चिम्मनलाल गोस्वामी
एम. ए., शास्त्री
'सम्पादक-कल्याण"
गोरखपुर

॥ श्री हरिः ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी और श्री 'सुबोधिनी'

नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी ।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले ॥

श्री हरिरायजी

ऊपर के श्लोक में श्री हरिरायजी आज्ञा करते हैं कि जिसने जन्म धारण करके श्री वल्लभाचार्यजी का आश्रय नहीं किया और उनकी श्री भागवत पर सुबोधिनी टीका का दर्शन नहीं किया तथा राधिकानाथ का आराधन नहीं किया उसका जन्म इस पृथ्वी पर निष्फल ही है ।

प्रत्येक पुष्टि मार्गीय वैष्णव के जीवन की सफलता के लिये श्री वल्लभाचार्यजी का आश्रय, सुबोधिनी का अवलोकन और कृष्ण भगवान् का आराधन, इन तीनों को कारण रूप माना है । इस लेख का प्रयोजन श्री मद्वल्लभाचार्यजी की सुबोधिनी का अल्प परिचय कराना है ।

ज्ञान प्राप्ति के लिये भारतीय और अन्य देशों के तत्वज्ञानी प्रत्यक्षादि प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। भारतीय तत्व ज्ञानी केवल सत्य की प्राप्ति के लिये ही नहीं, परन्तु परमात्मा के ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में (प्रमाण) को स्वीकार करते हैं । श्री वल्लभाचार्यजी की दृष्टि से जीवन का मुख्य ध्येय भगवत्प्राप्ति एवं भगवत्साक्षात्कार है । इस साक्षात्कार के लिये जिस प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है उसमें 'प्रत्यक्ष' 'अनुमान' आदि प्रमाण उपयोगी नहीं है परन्तु केवल 'शब्द' प्रमाण और वह भी लौकिक पुरुषों के ग्रन्थ नहीं, परन्तु भगवान् के स्वरूप आदि का विचार करके प्रापंचिक विषयों में से इन्द्रियों को खींचकर प्रभु में ही प्रवृत करनी और प्रभु के साक्षात्कार में उपयोगी शास्त्रों को ही वे प्रमाण मानते हैं । ऐसे शास्त्रों के नाम जो तत्वार्थ दीप निबंध में बताये हैं, वे हैं-वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र और भागवत, और इनके अर्थ के अनुकूल जो स्मृति इत्यादि हों। शंकराचार्य केवल वेद, गीता, और ब्रह्मसूत्र इन शास्त्रों को प्रस्थान त्रयी स्वीकार करते हैं, जबकि श्री वल्लभाचार्य भागवत की गणना भी इन प्रमाणों में करते हैं, इतना ही नहीं परन्तु भागवत के प्रमाण को मूर्धन्य मानते हैं। वेद, गीता और ब्रह्मसूत्र परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं यह ठीक है, परन्तु केवल परमात्मा के स्वरूप का ही। परन्तु श्री भागवत तो परमात्मा के आनन्द स्वरूप और उनकी लीलाओं का वर्णन है । वेदादि के ज्ञान से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु भागवत तो अक्षर ब्रह्म से भी उत्कृष्ट आनन्द स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम का ज्ञान प्रदान करती है और उनके साक्षात्कार से जीवात्मा में उत्कृष्ट भजनानन्द की प्राप्ति कराती है । वेद केवल सायुज्य मुक्ति को

अन्तिम फल मानता है जबकि भागवत उससे भी अधिक फल परमात्मा के साथ की हुई रासक्रीड़ा की अनुभूति को प्रदान करती है। वेद, भगवान् का निश्वास रूप है, भगवद्गीता उनकी वाणी रूप है, परन्तु भागवत तो भगवान् का ही स्वरूप है। इस कारण भागवत के १२ स्कन्धों को परमात्मा के अङ्गों के रूप में बताया है। प्रथम स्कन्ध में श्रोता तथा वक्ता के अधिकार, द्वितीय स्कन्ध में ज्ञान साधन और तीसरे से बारहवें स्कन्ध तक अनुक्रम से सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय लीलाओं का वर्णन है। इन लीलाओं के स्कन्धों को भगवान् के अङ्ग बताये गये हैं यथा स्कन्ध १-२ पाद, स्कन्ध ३-४ कर, स्कन्ध ५-६ जङ्घा, स्कन्ध ७ दक्षिण बाहु, स्कन्ध ८,९ वक्ष प्रदेश, स्कन्ध दश-हृदय, स्कन्ध ११-शिर, स्कन्ध १२-वाम बाहु। अर्थात् श्री भागवत का श्री वल्लभाचार्यजी की दृष्टि से इतना बड़ा महत्व है कि उसको श्री पुरुषोत्तम का स्वरूप मानने में आया है। यद्यपि उसमें लोक-भाषा, मतान्तर-भाषा और समाधि भाषा इस तरह तीन प्रकार से विषय का निरूपण किया है परन्तु श्री वल्लभाचार्यजी ने व्यासजी की समाधि भाषा वाले भागवत को ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण माना है।

श्री शंकराचार्यआदि आचार्यों ने उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्यों की रचना की है परन्तु उन्होंने भागवत की उपेक्षा की है। भगवान् के आनन्द स्वरूप और उनकी विविध लीलाओं का वर्णन करने वाले भागवत जैसे उत्तम पुराण ग्रन्थ का रहस्य प्रकट करने की श्री वल्लभाचार्यजी को प्रभु आज्ञा हुई और इसलिये उन्होंने दूसरे अन्य कार्य अपूर्ण छोड़कर इस कार्य को हाथ में लिया। स्वत: का प्राकट्य दैवी जीवों के उद्धार के लिये होने के कारण भक्ति के द्वारा दैवी जीव अपना सर्वस्व प्रभु को अर्पण करके प्रभु में चित्त वृत्तियों का निरोध करें वह प्रभु का ही अनन्याश्रय करें, इस शुभ भावना से उन्होंने भागवत का रहस्य भगवदाज्ञानुसार प्रकट करने का निश्चय किया।

भागवत का जैसे २ वे चिन्तन करते गये वैसे २ उनको प्रतीत हुआ कि इस भगीरथ कार्य को दो भागों में विभक्त कर दिया जाय। उनको भागवत का अर्थ भली प्रकार समझाना था, तब ही उसके प्रति सम्पूर्ण न्याय हो सकता था। प्रथम समस्त भागवत शास्त्र का अर्थ, फिर प्रत्येक स्कन्ध का अर्थ, फिर उनमें आये हुवे प्रकरण व अध्यायों का समग्र अर्थ, तदुपरान्त प्रत्येक श्लोक उसके शब्द और उसके वर्णों (अक्षरों) का भी अर्थ। इनमें से प्रथम चार प्रकार के अर्थों के लिये भागवतार्थ प्रकाश की कारिका तथा 'प्रकाश' की रचना की और बाकी के तीन प्रकार के अर्थों के लिये श्री सुबोधिनी टीका की रचना की। प्रारम्भ के चार प्रकार के अर्थ बताने के लिये उन्होंने एक स्वतन्त्र कारिका-ग्रंथ की रचना की जो 'तत्व दीप निबन्ध' ग्रंथ में 'भागवतार्थ प्रकाश' नाम से अन्तर्गत है। इस ग्रन्थ का कारिका विभाग श्री वल्लभाचार्यजी ने सम्पूर्ण ही लिखा है। परन्तु उसको समझाने वाली अपनी, 'प्रकाश' नाम की टीका स्कन्ध ४ की ३३ कारिका तक लिखी है। उसके बाद का 'प्रकाश' भाग श्री मद्विठ्ठलेशजी (गुसांईजी) ने स्कन्ध ५ की कारिका १३५½ तक लिखी है शेष भाग की कारिका पर श्री पुरुषोत्तमजी ने 'योजना' टीका लिखी है।

श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा श्री भागवत पर सूक्ष्म टीका की भी रचना करने के उल्लेख मिलते हैं। ऊपर की कारिकाओं में सम्पूर्ण भागवत के शास्त्र, स्कन्ध, प्रकरण और अध्यायों के अर्थ स्पष्ट किये गये हैं परन्तु जब तक प्रत्येक श्लोक को तत्तद् संदर्भ में न समझा जाय, तब तक पूर्ण अर्थ, बोध नहीं हो सकता–इतना ही नहीं, परन्तु श्लोक के प्रत्येक शब्द वर्ग में रही हुई अर्थ शक्ति को भी समझने की आवश्यकता है। इसलिये आपश्री ने सुबोधिनी टीका प्रारम्भ की। इस बारह स्कन्ध वाले महान् ग्रन्थ पर उपरोक्त दृष्टि से विवेचन करने का कार्य अत्यन्त कठिन था, परन्तु भगवदाज्ञा से उनने उसका आरम्भ किया। ग्रन्थ लेखन कार्य में माधव भट्ट कश्मीरी उन्हें मिल गये। ग्रन्थ का कार्य तो आरम्भ हुआ, परन्तु प्रभु की नाम लीला में जैसे जैसे आसक्ति बढती गई, वैसे वैसे उनके हृदय में विद्यमान प्रभु के वियोग की अग्नि अधिकाधिक प्रज्वलित होने लगी वह यहां तक बढी कि आप श्री को ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रभु की देह त्याग की आज्ञा की हुई होने से यह कार्य समाप्त कर देना चाहिये। परन्तु जिस प्रकार गोपी जनों को प्रभु ने बुलाकर फिर उनको अपने अपने घर वापिस जाने की आज्ञा की, परन्तु उस आज्ञा के पीछे प्रभु का सङ्केत-उनके निकट रहने का–गोपीजनो ने समझा, इससे उस आज्ञा को नहीं माना, उसी प्रकार श्री वल्लभाचार्यजी ने भी उस आज्ञा में सङ्केत से ऐसा समझा कि देह त्याग करने का आशय यह नहीं है कि शरीर का त्याग किया जाय, परन्तु श्री भागवत पर आरम्भ की हुई टीका की वृद्धि को रोका जाय। 'देह' शब्द, दिह् धातु से निकला है। उसका अर्थ उपचय या बाहुल्य अर्थात् वृद्धि होता है। स्कन्ध १ की टीका तथा स्कन्ध २ की टीका विस्तृत हुई और स्कन्ध ३ की टीका बहुत बड़ी हुई। इस तरह यदि नाम लीला में विशेष आसक्ति हो तो विप्रयोग भाग का तिरोधान होकर प्रभु के मिलन में अन्तराय बाधा करें। इससे उनने स्कन्ध ४-५-६-७-८ व ९ छोड़ दिये और श्री भागवत के हृदय रूप दशम स्कन्ध का प्रारम्भ किया, वह पूर्ण होने पर एकादश स्कन्ध का प्रारम्भ किया इस समय फिर से प्रभु आज्ञा हुई और इसी समय माधव भट्ट कश्मीरी के देह का विलय भी हुआ। इसलिये आपने इस कार्य को रोक-कर विप्रयोग की स्थिति में रसात्मक प्रभु के विरह अनुभव के लिये भक्ति मार्गीय सन्यास धारण किया।

'सुबोधिनी' की विशेषता यह है कि श्री आचार्य चरण अभिधा शक्ति से समझे जाने वाले अर्थ को ही लेते हैं। लक्षणा अर्थ को नहीं लेते। परन्तु ऐसा होते हुए भी व्यञ्जना शक्ति से भी गूढ अर्थ को आप प्रकट करते हैं। श्रीसुबोधिनी की भाषा शब्द रचना की दृष्टि से सरल है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से गहन है। भगवान् की कृपा हो तो ही कुछ ही लोग उसको समझ सकते हैं।

गायत्री-बीज के वेद रूपी वृक्ष का पक्व फल भागवत है। इस बीज-रहित फल का आस्वादन शुकदेवजी ने किया। इस रस रूप का अनुभव करने वाले को मोक्ष भी तुच्छ लगता है, ऐसा यह ग्रन्थ है अर्थात् भक्ति मार्ग की–पुष्टि भक्ति की–महिमा समझाने वाला और आनन्दमय प्रभु की लीला का प्रतिपादन करने वाला यह ग्रन्थ है। इसका प्रत्येक शब्द और वर्ण भगवान् के रस स्वरूप की किसी न किसी शक्ति को प्रकट करता है। इसके प्रत्येक पद में भावरूपी किरण का तेज जग-मगाता है। यह तेज

अब तक किसी के जानने में नहीं आया था। श्रीधरादि ने भागवत पर टीकाएँ लिखी हैं, परन्तु श्री वल्लभाचार्यजी ने सुबोधिनी में जिस प्रकार प्रत्येक पद के उत्तम भाव को प्रकट किया,–वैसा किसी ने नहीं किया। इसी से श्री विट्ठलेशजी ने श्री वल्लभाचार्यजी के लिये, "श्री भागवत प्रतिपदमणिवर–भावांशुभूषिता मूर्तिः और "श्री भागवत गूढार्थप्रकाशन परायणः" ऐसे नामों की योजना की है।

श्री भागवत ऐसा महान ग्रंथ है कि उसे समुद्र की उपमा दी गई है, परन्तु वह पीयूष (अमृत) का समुद्र है। उसका भी मन्थन करके उसके रहस्य को प्रकट करने को केवल श्री वल्लभाचार्यजी समर्थ थे इसलिये 'श्री भागवत पीयूष समुद्र मथनक्षमः' इस विशेषण का उनके लिए प्रयोग किया है। भागवत रूपी अमृत के छलकते हुए समुद्र में से मन्थन-(चिन्तन) करके, उनने सार रूप उत्तम रत्न के रूप में रासस्त्री भाव-प्रभु के साथ रास का आनन्द प्राप्त करने वाले गोपीजनों की प्रेमलक्षणा भक्ति का भाव प्रकट किया इसमें उसका सर्व रहस्य बताया। इसी भाव को आचार्य श्री ने सुबोधिनी में प्रकट किया है।

प्रथम स्कन्ध के अन्त में आप ऐसा भाव जताते हैं कि आपने इस विवृति को भगवान् के चरण कमल में निष्ठ होकर की है। उसमें यदि किसी स्थल पर मर्यादा का लोप हुआ हो तो भी वह भगवान् को अर्पण की हुई होने से प्रभु में ही भक्ति भाव की वृद्धि हो तदर्थ उसकी योजना होने से. प्रभु के भक्तों को उसका चिन्तन करना चाहिये। दूसरे स्कन्ध के अन्त में भी इसी भाव का वचन है। वहां आप कहते हैं कि शास्त्र जिसके हृदय में हो, अर्थात् शास्त्र के रहस्य को जानने वाले के लिये, इस सुबोधिनी की रचना की है। जिनको भगवान् ही. शास्त्र का अर्थ है, यह समझने की इच्छा हो, उनके लिये इस टीका की योजना की है। भागवत को भगवान् का स्वरूप माना जाय तो सुबोधिनी श्री स्वामिनीजी का स्वरूप है।

सुबोधिनी पर गो० श्री वल्लभजी कृत 'लेख' दशम स्कन्ध पर श्री गुसांइजी की 'टिप्पणी' तथा श्री पुरुषोत्तमजी का 'प्रकाश' एवं प. भ. श्री लालु भट्टजी कृत 'योजना' इत्यादि टीकाएँ हैं। इन सब टीकाओं की सहायता से ही सुबोधिनी समझने से अर्थ पर विशेष प्रकाश पड़ता है। प्रायः सुबोधिनी और उस पर की हुई टीकाएँ संस्कृत भाषा में प्रकट हुई हैं। गुजराती भाषा में भी अनुवाद प्राप्त है। हिन्दी भाषा मे अभी उसका प्रचार नहीं हुआ है इसलिये "श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल" का यह प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। आशा है कि वैष्णव जनता इस प्रयास का स्वागत करेगी। मण्डल की इच्छा सम्पूर्ण सुबोधिनी का हिन्दी प्रकाशन करने की है। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र उनके इस मनोरथ की सिद्धि करें।

जेठालाल गोवर्धनदास शाह एम. ए.

अवकाश प्राप्त प्रिंसीपल, अहमदाबाद.

॥ श्री हरिः ॥

इस ग्रन्थ के प्रथम दो अध्यायों के हिन्दी अनुवाद पर प्राप्त कुछ सम्मतियाँ

पूज्यपाद गोस्वामी श्री व्रजरत्नलालजी महाराज, सूरत

दशम स्कन्ध के जन्म प्रकरण के प्रथम दो अध्यायों की सुबोधिनीजी का हिन्दी अनुवाद छपा हुवा मिला जिससे हमको बहुत आनन्द हुवा। आप जानते हो कि प्राकृतिक अस्वस्थता के कारण हमसे बांचने का कार्य नहीं होता है। इससे हमने शास्त्री श्री चिमनलालजी से अनुवाद को मुख्य २ स्थलों से सुना। अनुवाद सुबोधिन्यानुसार एव सरल है। सर्वजन साधारण भोग्य है। श्री सुबोधिनी की टीकाएँ टीपण्यादि का निर्देश किया है जिससे स्वारस्य की स्पष्टता हुई है। अनुवाद हिन्दी भाषा भाषी को उपकारक होगा। आपके सम्प्रदाय-प्रचार कार्य के लिये धन्यवाद।

पूज्यपाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज, कांकरोली.

श्री मद्भागवत के दशम स्कन्ध के प्रथम एवं द्वितीय अध्यायों की सुबोधिनी का समूल हिन्दी अनुवाद यथा समय अवलोकनार्थ प्राप्त हो गया था। ग्रन्थकार के आशय को अधिकाधिक सुस्पष्ट करते हुए सरल और सुबोध शैली में अनुवाद सुन्दर हुवा है। यों तो ग्रन्थ का मर्म बहुत कुछ विवेचनीय है, किन्तु एक बार आधार भूत सामने आ जाने पर अग्रिम संस्करणों में परिमार्जन होता रहेगा। इस प्रकाशन से सुबोधिनीजी के हिन्दी अनुवाद की एक बड़े अभाव की पूर्ति हो रही है। इस दृष्टि से संयोजकों का श्रम और मनोयोग श्लाघ्य है।

पूज्यपाद गोस्वामी श्री दीक्षितजी महाराज-बम्बई

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर द्वारा प्रारम्भ किया हुवा श्री सुबोधिनीजी के हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन का कार्य अत्युत्तम और आवश्यक है। मैंने श्री सुबोधिनी दशम स्कन्ध पूर्वार्ध अध्याय १-२ (जन्म प्रकरण की सुबोधिनीजी) का हिन्दी अनुवाद पढा यह अनुवाद ठीक हुवा है। इस कार्य के लिये मेरे हार्दिक आशीर्वाद हैं और श्री बालकृष्ण प्रभु श्री सुबोधिनी प्रकाशन कार्य में श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल को सब प्रकार की अनुकूलता और सहाय प्रदान करें यह मेरी हार्दिक भावना सह शुभाशीष है।

पूज्य पाद गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज-कोटा (राज.)

भाषा-शैली, विषय प्रतिपादन अति सुन्दर है। अब तक हिन्दी अनुवाद न होने से संस्कृत ज्ञाता ही सुबोधनीजी का लाभ उठा सकते थे। हिन्दी अनुवाद होने से समस्त अनुरागी वैष्णवों को इसका पूरा

लाभ पहुँचेगा। वैष्णव जगत में एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई। बहुत समय से इसकी कमी अनुभव हो रही थी वैष्णव सृष्टि इसके लिये बड़ी कृतज्ञ होगी। अब हिन्दी जानने वाले वैष्णव भी इसका पाठ कर पूरा २ लाभ उठा सकेंगे। पं० श्री फतेहचन्दजी का यह कार्य बहुत सराहनीय है।'

पूज्यपाद गोस्वामी श्री गोविन्दरायजी महाराज, पोरबन्दर (सौराष्ट्र)

श्री सुबोधिनी—१० स्क० अ० १ व २ मिले। प्रथमाध्याय के मंगलाचरण का अनुवाद बहुत स्वारस्यपूर्ण हुवा है। बाद में यथाक्रम प्रकरण निर्देष, श्लोकार्थ, कारिकार्थ और श्री सुबोधिनी मूल भी रखने का आग्रह परम सुन्दर है। प्रतिपदोक्त अध्ययन करने वालों के लिये यह शैली अत्युत्तम है। बाद उसीका भाषानुवाद भी सरल होने से सर्वोपकारक बना है। स्थान २ पर व्याख्या द्वारा भी स्पष्टता मिलती है। ग्रंथ का आकार मुद्रण, टाईप, कागज इत्यादि और सफाई यह सब ग्रंथ का गौरव व सुन्दरता बढाने वाले हैं। मंडल के इस कार्य के लिये अनेक धन्यवाद सह शुभाशीष पठाता हूँ। इस कार्य में मेरी हार्दिक सहानुभूति है। साथ में, सभी वैष्णवों एवं भागवत और सुबोधिनीजी के चाहकों से मेरा अनुरोध है, कि वे इन प्रकाशनों को अवश्यमेव संग्रहीत करें और उसका प्रचार भी करें। अधिकाधिक आर्थिक सहाय करके इस बहुमूल्य और सर्वोप- कारक कार्य करते हुए मंडल को प्रोत्साहित करें।

प. भ. श्री क. गोकुलानन्दजी तैलङ्ग-बी. ए. साहित्य भूषण, सम्पादनालङ्कार, साहित्य रत्न, बड़ौदा

श्री मद्भागवत "सुबोधिनी" दशम स्कन्ध, के प्रथम व द्वितीय अध्यायों के हिन्दी अनुवाद का यथा समय अवलोकन किया। यह टीका नाम से जितनी "सुबोधिनी" है तात्विक चिन्तन की दृष्टि से उतनी ही गहन, गम्भीर भी, किन्तु अनुवादकों ने उसका तल स्पर्श करके, उसके हार्द को जिस सरल शैली से, लोक योग्य सुबोध भाषा में अभियक्त किया है, वह सर्वथा सराहनीय है। मूल श्लोक, सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद सहित देकर जहां, तहां पारिभाषिक शब्दों वा शास्त्रीय विवेचनों को पाद-टिप्पणी में सुस्पष्ट करके ग्रंथ को अधिकाधिक उपादेय बनाने का प्रयास किया गया है। दिव्य वाणी को राष्ट्रवाणी में अनुदित कर, जो साहित्य सर्व सामान्य को दुर्बोध्य था, उसे सरल सुगम बनाने की यह योजना पुष्टिमार्गीय साहित्य एवं भारतीय वाङ्मय का एक महत्वपूर्ण अंग है। अनुवाद के अग्रिम चरणों की सहज सफलता के लिये हमारी हार्दिक कामना है।

–प. भ. श्री जेठालाल गोरवर्धनदास शाह एम. ए प्रिन्सीपल-अहमदाबाद

दशम स्कन्ध, जन्म प्रकरण के अध्याय १ व २ की सुबोधिनी के हिन्दी अनुवाद की पुस्तक मिली, जिसके लिये मैं श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल का आभार मानता हूँ। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी की सुबोधिनी के हिन्दी संस्करण की अत्यन्त आवश्यकता थी। गुजराती भाषा में तो सम्पूर्ण प्राप्त है पर हिन्दी में मेरी जानकारी में ऐसा अनुवाद नहीं है, जिस कमी को पूरा करने के लिये आपके मण्डल ने जो

योजना की है उसके लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि श्री वल्लभाधीश की कृपा से यह योजना सम्पूर्ण होगी।

आपके भेजा हुआ ग्रंथ मुद्रण की दृष्टि से भी अच्छा बना है जिसके लिये आपके मण्डल को मैं अभिनन्दन देता हूँ। इस प्रकार के महान् ग्रंथ के मुद्रण की योजना को कार्यान्वित करने का यश आपके मण्डल को प्राप्त है। आपके मण्डल की यह 'नाम सेवा' सम्प्रदाय के साहित्य के इतिहास में स्वर्णाङ्कित होगी, हिन्दी द्वारा साम्प्रदायिक आकर ग्रंथों के मुद्रण की इस योजना से वह इतिहास के प्रकरण का आरम्भ आपकी संस्था कर रही है जो आपके लिये गौरव का विषय है।

–सद्गत प. भ श्री हरिकृष्णजी वीरजी शास्त्री, शुद्धाद्वैत विशारद-पोरबन्दर

श्रीमद्वल्लभ महाप्रभु की वाक् सुधा स्वरूप श्री सुबोधिनीजी दशम स्कन्ध जन्म प्रकरण के दो अध्याय का हिन्दी अनुवाद आपका दिया हुआ मैंने पढा अत्यन्त आनन्द हुआ। अनुवादक पं० श्री फतहचन्द शास्त्रीजी ने तल स्पर्शि अध्ययन करके अनुवाद किया है ऐसा प्रतीत हुआ है। हिन्दी भाषा भाषी वैष्णव समाज को इससे श्री सुबोधिनीजी के रसास्वाद का सौभाग्य प्राप्त होगा। श्री सुबोधिनी प्रकाशन समिति के उद्भावक एवं अध्क्षक्ष पूज्य पाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज, जामनगर वालों, को इस चिरकाल सेवित मनोरथ को सफल बनाने के लिए किन शब्दों में अभिनन्दन देना मालुम नहीं होता। दशम स्कन्ध प्रतिपाद्य निरोध लीला भगवान् श्रीकृष्ण का हृदय होने से उसको समझना केवल आचार्यानुग्रह से ही साध्य हो सकता है। किमधिकम्।

प. भ डा० श्री गोवर्धननाथजी शुक्ल–एम. ए. पी एच. डी–अलीगढ

हिन्दी में पहली बार इतना सुन्दर कार्य हुआ है उसके लिये पूज्य शास्त्रीजी को एवं आपको बधाई है। पूज्य श्री वल्लभाचार्य चरण की अनुपम कृपा है। यह कार्य अति उत्तम संतोषप्रद एवं सर्वथा अभिनन्दनीय है।

श्री मद्वल्लभाचार्यचरण के जीवन चरित्र की एक झलक

❀ राग सारंग ❀

रति पथ प्रकट करण कुं प्रकटे, करुणा निधि श्री वल्लभ भूतल ।
हुलमे सकल दैवी जन के मन, साधन बिन हम पावेंगे फल ॥ १ ॥
मायामत को तिमिर नसायो, पन्थ दिखायो वेद वचन बल ।
यह मारग जो दृढ तिनको हरि, मेलत मुखमें पत्र कुसुम जल ॥ २ ॥
सींचत वचन सुधाकर सेवक मारग रिपु दाहे वचनानल ।
सेवा रस सागर प्रकटायो, वदन अनल ते अतिशय शीतल ॥ ३ ॥
उपजा ताप छिनक सानिध में, देत विरह आनन्द रस केवल ।
देखो सन्त विचार चारु चित्त, ये गोकुल पति है यहि निश्चल ॥ ४ ॥
दे चरणोदक दोष निवारे, सूधे किये काल कलि के खल ।
रसिक भजत नित्य श्री वल्लभ पद, ते बड़ भाग्य सदा मन निर्मल ॥ ५ ॥

सदानन्द मुख अनल आनन्द मय श्रीवल्लभ द्विजवर अवतार ।
दैवी जीव उधारन कारन भूतल भक्ति कियो विस्तार ॥
श्रुति श्रीभागवत भगवद गीता व्याससूत्र कौ कियो विचार ।
मायावाद निवारि महाप्रभु सर्व वाद कीने परिहार ॥
अधम अनेक उधारे कृपा करि थाप्यो ब्रह्मवाद साकार ।
सेवा रीत सिखाई स्वीयन को टार्यो उर संताप अपार ॥
कोटि करो बिनु सेवा साधन ताते होत नाहिं निस्तार ।
मन वच क्रम करि भज श्रीवल्लभ पावे प्रेम पीयूषसार ॥
'गोविंद' कहै श्रीवल्लभ करुना बिनु कलि में नाहिंन होत उद्धार ।
करि करुना भूतल में प्रगटे निज जन हेतु करन निरधार ॥

जै श्रीवल्लभ देव धनी ।
रास विलास करत गोवर्धन मूरति ललित बनी ॥
पुरुषोत्तम मुख कमल विकसित रसिकनि मध्यमनी ।
वरन निवेदन दैवी जीवनी को कृपा करीजु धनी ॥
श्री भागवत सुधा निधि मथिके बानी निगम बनी ।
लीला सृष्टि सिंधु सब पूरित दैवी निज अपनी ॥
श्री विट्ठल प्रगटित 'परमानँद' भजन प्रचार बनी ।
श्री जमुना पुलिन केलि वृंदावन गिरधर गुनित गुनि ॥

श्रीवल्लभनाथ कौ रूप कहा कहों ? प्रगटे हैं सबसुख के सागर ॥
लीला-भाव जो प्रगट जनावत । कीनों है सब जगत उजागर ॥
देखि-देखि जो यह निधी आई । गहों जो चरन-सरन मन दृढ कर ॥
'छीत-स्वामी' गिरिधर रस बरसत । अपुने जीव पर अति करुनाकर ॥

श्री सुबोधिनी टीका में से उद्धरण कुछ सूक्ति रत्न :—

धर्मस्य चान्तःकरणपरितोषं फलम् तदभावे धर्मःश्रमः (भा. १-४-२६)

अन्तःकरण का परितोष-पूर्णतया संतोष-होना यही धर्म का फल है। यदि वह नहीं होना है तो ऐसा धर्म श्रममात्र है।

बहिर्मुखा हि धर्मशास्त्रज्ञाः शारीरमेव धर्मं स्वधर्ममाहुः नत्वात्मधर्मं भगवद्धर्मं वा, यतस्तेऽना त्मविदः [भा. १०-२६-३२]

धर्मशास्त्र के जानने वाले जो बहिर्मुख हैं वे शरीरधर्म को ही अपना धर्म बताते हैं परन्तु आत्मधर्म अथवा भगवद्धर्म को वे स्वधर्म नहीं कहते, क्योंकि वे आत्मा को जानते नहीं हैं।

आत्मानमेव बहुमन्यमाना उन्मत्ता भवन्ति। ते सर्वदैव न माननीयाः।
(भा. १०-६५-३६)

अपने को ही बड़ा मानने वाले उन्मत्त होते हैं उनको कभी मान नहीं देना चाहिये।

भक्तिमार्गः सर्वेभ्योऽतिरिच्यते (भा. १०-६८-१०)

भक्तिमार्ग सब मार्गों से उत्तम है।

भक्तिमार्गेऽङ्गीकार एव भाग्यरूपः तत्रापि पुष्टिपुष्टावंगीकारो महत्त्वम्।
(भा. १०-१६-४)

भक्तिमार्ग में अंगीकार ही भाग्य रूप है, उसमें भी पुष्टि-पुष्टि में अंगीकार होना यह महान् है।

अयमवतारः नावतारान्तरवत् केनचिदंशेन, अज्ञातशक्तिसहितो वा किन्तु साक्षात्पुरुषोत्तमस्यैव सर्वशक्तिमतः (भा. १०-७४-३१)

यह श्री कृष्ण अवतार किसी भी अंशों से अथवा-अज्ञात-शक्ति-युक्त अन्य अवतार जैसा नहीं है, परन्तु सर्वशक्तिवाले साक्षात पुरुषोत्तम का ही है।

मदर्थं सम्पाद्य स्वाधिकारानुसारेण यत्रक्वचिन्निवेदयतु तत्रैवाहं भक्षयामि।
......तत्स्थानाद् उद्धरणप्रभृति मत्समीपानयनपर्यन्तं स्नेहस्याविच्छेदोपेक्ष्यते।
(भा. १०-७८-४)

मेरे लिये प्राप्त कर अपने अधिकारानुसार जिस जगह मुझे निवेदन करे वहीं मैं भक्षण (अंगीकार) करता हूँ– उस स्थान से लाने से प्रारम्भ कर मेरे समीप लाने तक स्नेह अविच्छिन्न (सतत) होना चाहिये।

भगवति प्रमेयबलमेव मुख्यम् न प्रमाणबलम् । (भा. १०-८४-२)

भगवान् में प्रमेय बलही मुख्य है । प्रमाण बल नहीं ।

आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादेः बुद्धिरपि तादृशी इच्छाशक्तिर्वा । सत्य—संकल्पतो विष्णुनन्यिथा तु करिष्यति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थं ईश्वरः । (भा. ११-१-५)

जिनके कर, पाद, मुख, उदर इत्यादि सभी आनन्द रूप हैं, उन प्रभु की बुद्धि अथवा इच्छा शक्ति भी ऐसी ही है । विष्णु सत्य संकल्प होने से अन्यथा नहीं करते कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं प्रभु समर्थ हैं ।

भगवद्भजने निपुणा बुद्धिनत्यिन्तं प्रयोजिका (भा. १०-८६-१८)

भगवान् के भजन में, निपुण बुद्धि का विशेष प्रयोजन नहीं है ।

परस्वेति असद्बुद्धिः सतां कदापि न भवति (भा. १०-७६-३६)

संतों को 'अपनी' और 'परायी' बुद्धि कदापि नहीं होती है ।

सत्कर्मणा श्लाघ्या भवन्ति । ततोपि ज्ञानेन ततोपि भक्त्या, भक्तावपि परमप्रेम सर्वोत्कृष्टम् । प्रमाणात्तु प्रमेयबलमधिकं तेन स्वतंत्रभक्त्यपेक्षयापीयं प्रमेय भक्तिः रसाला (भा. १०-४३-३०)

सत्कर्म से लोगों की सराहना होती है । उसमें भी ज्ञान से अधिक, और भक्ति से और भी अधिक सराहना होती है । भक्ति में भी परम प्रम श्रेष्ठ (सबसे उत्तम) है । प्रमाण से प्रमेय बल अधिक होता है, इससे स्वतंत्र भक्ति की अपेक्षा प्रमेयभक्ति अधिक रस-रूप है ।

....

ये हैं सहज रूप से उद्धरण किये हुए कुछ सूक्तिरत्न, जो सहस्रों की संख्या में श्रीवल्लभाचार्यचरण कृत श्रीमद्भागवत की श्रीसुबोधिनी टीका में विद्यमान हैं, और जो आप श्री की तलस्पर्शी विद्वता, मार्मिक अनुभूति एवं अद्वितीय महानता के द्योतक हैं । उनके महान् चरित्र की एक झांकी (संक्षिप्त अवलोकन) करने का यहाँ प्रयत्न किया जाएगा ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण के पितृचरण श्रीलक्ष्मणभट्टजी कृष्णयजुर्वेद की तैतिरीय शाखा के तैलंग ब्राह्मण थे और मातृचरण का नाम श्रीयल्लमागारु था । आप श्री के पूर्वज दीक्षित थे और संभवतः विष्णुस्वामि मतानुसार श्रीकृष्ण की गोपाल रूप में उपासना करते थे । सोमयज्ञ का इस कुटुंब में विशेष महत्व था और वैष्णवधर्मानुसार यह मान्यता थी कि जिस कुटुंब में १००

सोमयज्ञ सम्पूर्ण होते हैं उसमें ईश्वर स्वत: अवतार लेते हैं। छठी पीढी पूर्व से ही श्रीयज्ञनारायणजी दीक्षित द्वारा प्रारंभ किया हुआ १०० सोम यज्ञों का क्रम चलता रहा जब तक कि वह श्रीलक्ष्मणभट्टजी (आपश्री के पितृचरण) द्वारा सम्पूर्ण हुआ। श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण का प्रादुर्भाव संवत १५३५ (ई. स. १४७८) के (व्रज) वैशाख कृष्ण ११ को ★ रायपुर के पास चंपारण्य नामक वन में चोड़ा ग्राम में अत्यन्त असाधारण परिस्थितियों में हुआ, जिसका उल्लेख आप श्री के चरित्र ग्रंथो में विविध प्रकारों से मिलता है।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण का प्राकट्य, पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के किसी विशिष्ट हेतु, विशेष आज्ञा को लेकर हुआ, यह न केवल उनके अनुयायियों का विश्वास है, परन्तु कई जगह श्रीमदाचार्य चरणो के कथनों (जिनका कुछ उल्लेख आगे आवेगा) से भी ज्ञात होता है। यह सर्व विदित है कि श्रीरामानुज, श्रीमाध्व, श्रीनिम्बार्क प्रभृति आचार्य भी प्रभु द्वारा अपनी विशेष नियुक्ति एवं संदेश को लेकर प्राकट्य को मानते थे। वैसे भी यह मान्यता कोई असाधारण बात नहीं है जब कि सर्वमान्य श्रीभगवत्गीता में "यदा यदा हि धर्मस्य………………' इस भगवदुक्ति द्वारा इसी बात का प्रतिपादन किया गया है।

श्रीवल्लाभाचार्य की शिक्षा वाराणसी में हुई जहां अपनी सहज अद्वितीय प्रतिभा के कारण बाल्यावस्था में ही वेद वेदान्त दर्शन और पुराणों का अध्ययन आप श्री ने कर लिया। संवत् १५४४ में पितृचरण श्रीलक्ष्मणभट्टजी से आपका बिछोह हो गया। इसके बाद अपनी माता को मामा के घर दक्षिण विद्यानगर में पहुँचा कर आपने स्वयं भारत यात्रा प्रारंभ करवी। त्रिवार इस प्रकार परिभ्रमण कर देश के विभिन्न भागों में आपने अपने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। अनुमान है कि प्रथम भ्रमण सं. १५४५ से १५४७ तक, द्वितीय भ्रमण सं १५४८ से १५५४ तक और तृतीय भ्रमण सं: १५५५ से १५६४ तक किया। इन परिभ्रमणों के कई महत्त्वपूर्ण स्थान, महत्पुरुषों का समागम, विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ, एवं अन्य घटनाएं ऐतिहासिक मान्यता प्राप्त हैं जा कि कई ग्रंथो में प्रकाशित हो चुके है। इन सबका वर्णन करना इस लेख में सम्भव नहीं है। उदाहरण के रूप में एक दो प्रसंगो का यहां उल्लेख किया जाता है।

★ श्रीकेशवराम का. शास्त्री लिखित "श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुजी (ऐतिह्यमूलक जीवनी)" के अनुसार यह संवत् १५२९ (सन १४७२) है। इस लेख में आगे त्रिवार यात्रा का समय एवं अन्य कुछ तथ्य इसी पुस्तक के आधार पर लिये गये हैं।

प्राय: सर्वत्र ही यह उल्लेख मिलता है कि आकस्मिक परिस्तिथियों में (संभवत: यवनों के उपद्रववश) विवश हो श्रीलक्ष्मणभट्टजी एवं श्रीयल्लमागारुजी को काशी से अपने ग्राम कांकरवाड (जो कि दक्षिण में कृष्णानदी के तट पर एक नगर था) जाना पड़ा। मार्ग में उक्त चोडाग्राम में श्रीयल्लमागारूजी को प्रसववेदना हुई और (सातवें ही मास में) अपूर्ण स्थिति में एक शिशु का जन्म हुआ। बालक को निश्चेष्ट एवं मृतप्राय समझ एक शमीवृक्ष की कोटर में पर्ण आदि से ढंककर उन्हें आगे बढ जाना पड़ा, परन्तु प्रभु प्रेरणावश जब वे पुन: उसी स्थान को लौटे तो चारों तरफ अग्नि से घिरे हुए एक स्थान (कुंड) में से जीवित अपने बालक का उनने उद्धरण किया।

तृतीय यात्रा के समय सं. १५६२ में दक्षिण के विजय नगर में राजा कृष्णदेवराय के द्वारा ब्रह्मवाद पर एक बहुत बड़े शास्त्रार्थ का प्रयोजन किया गया था जिसमें माध्व निम्बार्क, विष्णु स्वामी और रामानुज संप्रदाय के वैष्णव विद्वान् और श्रीशंकराचार्य के अनुयायी अद्वैतवादी और शैव, शाक्त आदि विद्वान् उपस्थित थे। इस सभा में श्रीवल्लभाचार्यजी ने अपने प्रकांड पाण्डित्य से शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन कर वैष्णव मत को प्रबल सिद्ध किया। इस विजय के बाद राज्य के द्वारा उनका कनकाभिषेक द्वारा सम्मान किया गया एवं उपस्थित आचार्यों एवं विद्वानों की सम्मति से उनका आचार्यत्व प्रदान किया गया। कहा जाता है कि इस सन्मान में भेट की हुई अपार सुवर्ण राशि को आपने ग्रहण कर विद्वानों में उसे वितरित कर दिया जिससे वहां उपस्थित सभी की आपके प्रति श्रद्धा में अत्यन्त अभिवृद्धि हुई।

इसी प्रकार की घटना वाराणसी की है। अपने तृतीय परिभ्रमण के अनन्तर चरणाट (वाराणसी (के निकट एक स्थान) में विराजते हुए श्रीवल्लभाचार्यजी भक्तिमार्ग के प्रचार में सरलता उपलब्ध कराने हेतु, पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांस के भाष्य की रचना कर रहे थे। उस समय कई पंडित आप श्री के पास विवाद के लिये आकर विघ्न करने लगे। इन सब का एक ही साथ समाधान करने की दृष्टि से आचार्य श्री ने एक ग्रन्थ कुछ पृष्ठों पर लिखकर काशी विश्वनाथ के द्वार पर उन पृष्ठों को लटका दिया। यह ग्रथ "पत्रावलंबन" इस नाम से प्रसिद्ध है। इससे सभी पंडितों का समाधान हुआ एवं वाद-विवाद करने से निवृत्त हुए।

आचार्यश्री के त्रिवार देश के परिभ्रमण में ८४ स्थान अद्यावधि ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त हैं जो "८४ बैठकों" के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो बद्रिकाश्रम से कन्याकुमारी तथा द्वारिका से पुरी तक विभिन्न स्थानों पर विद्यमान हैं। प्रत्येक बैठक का आपश्री के द्वारा किया हुआ धर्म प्रचार, शास्त्रार्थ-चर्चा आदि का अपना इतिहास है और ये स्थान आज भी वैष्णव जनता एवं जनसाधारण में दर्शनीय माने जाते हैं।

दर्शन क्षेत्र में श्रीवल्लभाचार्यजी का मत शुद्धाद्वैत कहा जाता है। इसकी विशेष जानकारी "श्रीवल्लभाचार्य चरण प्रतिपादित सिद्धान्त का स्वल्प परिचय" शीर्षक निबंध में पाठकों को होगी। यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस शुद्धाद्वैत तत्व ज्ञान पर आधारित जो पुष्टिभक्ति-मार्ग आपने प्रचलित किया वह परब्रह्म श्रीकृष्ण के स्वरूप और लीलाओं के उच्चत्तम अवधारणा में आज तक के इतिहास में अद्वितीय है। ब्रह्म और जीव के यथार्थ ज्ञान के साथ जीव का सर्व समर्पण पूर्वक इस मार्ग में प्रवेश कराया जाता है और अपने दैनंदिन के कर्म यथावत् करते हुए भी, जिस प्रकार वह सहज ही समस्त सुख दुःखों की जड़ अहंता-ममता से अपने आप को बचा लेता है–बचा सकता है–यह प्रक्रिया इस मार्ग की अपनी एक विशिष्टता है। व्यवहार्यता के साथ आध्यात्मिकता का ऐसा सुन्दर समन्वय कदाचित् ही अन्यत्र देखने को मिलेगा। स्मरण रहे कि इस प्रक्रिया में देश, अवस्था, जाति, परिस्थितियां आदि के कारण कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रत्येक मनुष्य या स्त्री, चाहे उसका स्थान समाज में

कहीं भी हो, चाहे उसकी विद्वत्ता नहीं के समान हो या पूर्णता पर पहुँची हुई हो, चाहे धनी हो या गरीब हो, इस मार्ग में बिना किसी जातीय या वर्ण भेदभाव के प्रवेश पाने का अधिकारी है और निर्दिष्ट प्रणाली से जीवन यापन करते हुए वह न केवल अपना लोकसंग्रह अथच ऐहिक पारलौकिक निर्वाहकार्य ही सुसम्पन्न कर लेता है परन्तु अहंता ममता से बचता हुआ वह निष्काम कर्म के ध्येय को भी प्राप्त कर लेता है और यही सफल जीवन की कुंजी है।

सामाजिक व्यवस्था को नीति एवं त्याग की भावना पर बनाये रखने में भी यह मार्ग सहायक है। आज जबकि सर्वत्र नैतिकता का पतन हो रहा है और स्वतंत्रता के नाम पर लोग वर्ग संघर्ष एवं अवांछनीय तरीकों से स्वार्थसिद्धी में पड़े हुए हैं, ऐसे समय में श्रीमद्वल्लभाचार्य के सिद्धान्त जो कि नीतिपूर्ण सामाजिक जीवन का एक उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करते हैं, क्या व्यक्ति या क्या समाज के लिये, अध्ययन करने एवं पालन करने योग्य हैं इस प्रकार अहंता ममता, जो कि अपने संकुचित अर्थ में सामाजिक संघर्षों का कारणी भूत है, की निवृत्ति द्वारा एक सुन्दर समाज व्यवस्था बनाये रखने में श्रीवल्लभाचार्यजी के सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप से सहायक हैं।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि समाज में मनुष्य का स्थान जहां भी हो, और तदर्थ परिस्थिति एवं स्वप्रयत्नवश जो भी कर्त्तव्य उसे करना पड़े, उसमें विश्वबंधुत्व का भाव रखते हुए संतुलित नीति-पूर्ण जीवन, यह सब जबकि इस मार्ग का एक सहज आनुशंगिक फल है-श्रीकृष्ण की सेवा (भक्ति) करते हुए प्रेम को उत्तरोत्तर वृद्धि द्वारा परमानंद में तल्लीन हो जाना इस माग का आध्यात्मिक श्रेष्ठ फल है, जो कि साधनों के द्वारा नहीं, प्रत्युत भगवदनुग्रह द्वारा ही प्राप्त होता है। इस मार्ग का नाम पुष्टि (अर्थात् भगवदनुग्रहात्मक) मार्ग कहे जाने का यही स्वारस्य है।

श्रीगोवर्धननाथजी (श्रीनाथजी जो इस समय श्री नाथद्वारा राजस्थान में बिराजते हैं) स्वप्रेरणा द्वारा श्रीवल्लभाचार्यजी के श्रीहस्त से गोवर्धन गिरिराज में से प्रकट हुए और आचार्यश्री द्वारा स्थापित पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवा प्रणालो उन्हीं में केन्द्रित है। इस सेवा क्रम का विशेष विस्तार इनके पुत्र गो० श्री विट्ठलनाथजी के द्वारा हुआ। कृष्णसेवा को इस मार्ग में विशेष महत्त्व दिया गया है-उसीके आस-पास मनुष्य जीवन केन्द्रित और उसीके साथ व्यवस्थित बना रहता है। गो० श्री विट्ठलनाथजी और उनके वंशजों ने सर्वत्र भारत में इन्हीं सिद्धान्तों एवं कृष्ण सेवा का प्रचार किया एव कर रहे हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजी, उनके वंशज, एवं शिष्यों की देन दर्शन, साहित्य और संस्कृति अनोखी और महान् है। संप्रदाय के एक विशाल संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त इस संप्रदाय का भाषा साहित्य तथा अष्ट सखाओं के भक्ति-काव्य और शास्त्रीय संगीत पद्धति सुविख्यात हैं।

संवत् १५८७ में श्री वल्लभाचार्यजी ने सन्यास ग्रहण कर अड़ैल (प्रयाग) में अपने घर का त्याग किया। तदनन्तर काशी जाकर एक महिने तक मौन और अन्तिम आठ दिन तक अनशन व्रत रख आषाढ शुक्ल २ को गंगा प्रवेश कर इस लोक का त्याग किया। ५२ वर्ष के इस स्वल्पकाल में श्रीमदाचार्यचरण का एक अत्यन्त ही व्यस्त जीवन रहा जोकि सतत अध्ययन, भ्रमण, शुद्धाद्वैत दर्शन का प्रचार एवं शुद्ध

पुष्टिभक्ति-मार्ग को प्रकट कर उसके प्रसार, इस एक मात्र उद्देश्य में व्यतीत हुआ। केवल यह बात भी अपने आपमें इस बात की द्योतक है कि आचार्य चरण एक विशिष्ट हेतु विशिष्ट भगवत्संदेश को लेकर पधारे और प्राकट्य काल से ही सतत उस एक ही विशिष्ट ध्येय की दिशा में सम्पूर्ण सत्व-काल व्यतीत करते रहे। आपश्री के अन्तःकरण-प्रबोध ग्रंथ से भी यह प्रतीत होता है कि उसी भगवदाज्ञा से इह लोक का आपश्री ने त्याग किया।

श्रीमदाचार्यचरण द्वारा प्रणीत ग्रंथ-साहित्य में ये प्रमुख हैं:–तत्त्वार्थदीप निबंध, पूर्वमीमांसा भाष्य, पूर्व मीमांसाकारिका, श्रीमद्भागवत सूक्ष्म टीका, अणु भाष्य, पत्रावलंबन, गायत्री व्याख्या और भाष्य, षोडश ग्रंथ, मधुराष्टक, परिवृढाष्टक, पुरुषोत्तम सहस्र नाम, दशम स्कंधीय त्रिविध नामावली, दशमस्कंधानुक्रमणिका, एकादशस्कंधार्थ निरूपण कारिका, न्यासादेश. **श्रीमद्भागवत-सुबोधिनी टीका** शिक्षा श्लोक, श्रुति गीता कारिका, श्रीभगवत्पीठिका आदि।

इनमें से श्री भागवत की श्री सुबोधिनी टीका का उल्लेख इस लेख के प्रारंभ में किया गया है- वेद, श्रीभगवद्गीता, व्याससूत्र एवं श्रीभागवत इन चार ग्रंथों को प्रमाण रूप मानते हुए श्रीवल्लभाचार्य जी ने श्रीमद्भागवत शास्त्र को मूर्द्धन्य स्थान दिया है और उसी पर आपश्री की यह सुबोधिनी टीका है।

प्रथम स्कंध की श्री सुबोधिनी टीका प्रारंभ करते हुए एक कारिका में भगवदाज्ञानुसार अपने प्राकट्य का रहस्य आपश्री ने इस प्रकार बताया है:–

अर्थं तस्य विवेचितुं नहि विभुर्वैश्वानराद्वाक्पते.

रन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवत् श्रीपतिः।

दत्त्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुर्यस्मादतोऽहं मुदा

गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम्॥

(भा.-प्रथम स्कंध–प्रथम अध्याय कारिका-५)

श्रीमद्भागवत शास्त्र के अर्थ का विवेचन करने को वाणी के पति वैश्वानर (अग्नि) के सिवाय अन्य कोई समर्थ नहीं है। अतः कृपावलोकन-पटु श्रीपति भगवान् ने मुझे व्यासजी की तरह मनुष्य अवतार धारण कर (वैसा अर्थ प्रकट करने को) आज्ञादी इससे मैं व्यासजी और विष्णु को प्रिय श्री भागवत के गूढार्थ को आनन्द से अनेक प्रकार से प्रकट करता हूँ।

जिस प्रकार के समग्र अध्ययन के साथ श्रीभागवत पर यह श्रीसुबोधिनी टीका आपश्री ने की है, वह आज तक विद्वानों द्वारा की हुई सब टीकाओं से अपूर्व एवं विलक्षण है। श्रीमद्भागवत का सात प्रकार से समधीत अर्थ किया गया है। जैसा कि आपश्री ने कहा है:—

शास्त्रे स्कंधे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे।

एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते॥

अर्थात् श्रीभागवत् का (१) शास्त्रार्थ (२) स्कंधार्थ (३) प्रकरणार्थ (४) अध्यायार्थ (५) वाक्यार्थ (६) पदार्थ और (७) अक्षरार्थ इन सातों प्रकारों से जिस प्रकार 'अविरोध' हो उस प्रकार यह टीका का गई है। इनमें से प्रथम चार प्रकार के अर्थ 'श्रीभागवतार्थ निबंध' में और शेष तीन 'श्रीसुबोधिनी' में आपश्री ने वर्णन किये हैं। यहां भी यह प्रतिज्ञा है :—

लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम् ।
आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनादृते ॥

लक्षणा के रूप में मैं अर्थ नहीं करूँगा, न किसी न्यून पद से अन्य पद की पूर्ति करूंगा। परोक्ष कथन भी न करते हुए केवल यथार्थ अभिप्राय ही कहूंगा। विद्वज्जन सहज ही समझ सकते हैं कि इस प्रकार श्री भागवत का समग्र अध्ययन तथा वेद भगवद् गीता एवं व्याससूत्र को साथ लेते हुए सर्वत्र अविरोध के साथ श्रीसुबोधिनी के रूप में इस शास्त्र का अनुवाद, अपूर्व एवं अद्वितीय ही कहा जायगा—एवं सर्वदा विद्वानों तथा भगवद्भक्तों के लिये मोद एवं बोधप्रद रहेगा।

—※ बधाई ※—

प्रगट ह्वै मारग रीत दिखाई।
परमानन्द स्वरूप कृपा निधि, श्री वल्लभ सुखदाई ॥ १ ॥
करि सिंगार गिरधरन लाल को, जब कर बेनु गहाई।
ले दरपन सम्मुख ठाड़े ह्वै, निरखि निरखि मुस्काई ॥ २ ॥
विविध भांति सामग्री हरि को, कर मनुहार लिवाई।
जल अचवाय सुगन्ध सहित, मुख बीरी पान खवाई ॥ ३ ॥
कर आरति अनौसर पट दे, बैठे निज गृह आई।
भोजन कर विश्राम छिनक ले, निज मण्डली बुलाई ॥ ४ ॥
करत कृपा निज दैवी जीवन पर, श्री मुख वचन सुनाई।
वेणु गीत पुनि युगल गीत की, रस वर्षा बरसाई ॥ ५ ॥
सेवारीति प्रीति व्रज जन की, निजजन हित प्रकटाई।
दास शरण हरि वागधीश की, चरण रेणु निधि पाई ॥ ६ ॥

निवेदक —गोपालदास झालानी

॥ श्रीनाथजी ॥

श्रीमद्भागवत प्रकरण विभाग–तालिका

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत तत्वार्थ दीप निबन्धानुसार

श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा ।
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः ॥१॥

अपने "सर्व सौन्दर्य सहित प्रकट, परमानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को हम नमस्कार करते हैं क्योंकि उन्होंने सब भक्तों के प्रयोजन से यह अवतार लिया है और जिसकी प्राप्ति का साधन उन की दश लीला युक्त कथा का श्रवण ही है। वे लीलाएँ दश हैं: सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। इन दश लीलाओं के उपयोगी अधिकार और साधन दो लीलाएँ हैं। जेसे हरि आनन्द रूप और दुःखहर्ता हैं वैसे ही ये लीलाएँ भी आनन्दरूप हैं तथा दुःख हरण करती हैं। इस प्रकार यह भागवत पुराण शब्द से तथा अर्थ से श्रीहरि का स्वरूप ही है (हरिरेव सः)। श्रुति में "द्वादशो वै पुरुषः" कहा है अतः इस भागवतस्वरूप हरि के १२ ही अंग हैं जो १२ स्कन्ध हैं। ये १२ अंग हैं–दो पाद, दो हाथ, दो जङ्घा, दो बाहु, दो स्तन, हृदय और मस्तक। इस भागवत के धारण (पाठ) मात्र से ही भगवान् धारण होते हैं अर्थात् हृदय में स्थित भगवान् जो कार्य करेंगे वह कार्य भगवान् का यह भागवतस्वरूप भी पाठमात्र से करेंगे और यदि इसको अर्थ सहित भली प्रकार से जान लिया जाय तो यह भक्ति प्रदान करता है।

❁ कृष्ण नाम महिमा ❁

राग भैरव

कृष्ण नाम रसना रटत सोई धन्य कलि में, ताके पद पङ्कज के रेणु की बलि मैं।
सोई सुकृत सोई पुनीत, सोई कुलवन्ता, जाको निशिवासर रहे कृष्ण नाम चिन्ता ॥१॥
जोग, यज्ञ, तीरथ व्रत, कृष्ण नाम माहीं। बिना कृष्ण नाम, कलि उद्धार और नाहीं ॥२॥
सब सुख को सार, कृष्ण कबहू ना बिसरिये। कृष्ण नाम लेले, भवसागर को तरिये ॥३॥
श्री गोवर्धन धरन प्रभु, परम मङ्गल कारी। उद्धरे जन, सूरदास ताकी बलिहारी ॥४॥

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य निर्मित – निबन्धानुसार श्री मद्भागवत का स्कन्धार्थ

स्कन्ध संख्या	भगवान् के श्रीअंग का नाम	लीला	सर्गादिलीला की व्याख्या	अध्याय संख्या	प्रकरण संख्या	प्रकरणों के नाम तथा
१	दक्षिण चरणारविन्द	अधिकार लीला	—	१९	३	(१) हीनाधिकार अ. १-२-३ श्रोता=जिज्ञासुत्व (१), मात्सर्य रहित (२), श्रवण में प्रीति (३) वक्ता=श्रुतभागवतत्व, -१ चातुर्य (२) गुह्यज्ञान (३)
२	वाम चरणारविन्द	साधन लीला	—	१०	३	(१) तत्त्वध्यान अ-१-२. स्थूल अ-१ सूक्ष्म अ-२
३	दक्षिण बाहु	सर्ग लीला	ब्रह्म से सत्त्वादिगुणों के वैषम्य से पंच महाभूत पंचतन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण की उत्पत्ति का प्रकार।	३३	२	१ बन्धसृष्टि गुणातीत अ-१-६ सगुणसृष्टि अ-७-९ कालसृष्टि अ-१०-११ मुक्तजीव सृष्टि अ-१२ उपोद्घात (मुक्तजीव सृष्टि) अ-१३-१९

और प्रकरणार्थ का निरूपण करने वाला कोष्टक।

अवान्तर–प्रकरण एवं उनकी अध्याय–संख्या	विशेष विवरण
(२) मध्यमाधिकार अ.–४–५–६ भगवत्कृपा भगवदीयत्व भगवदेकत्व (३) उत्तमाधिकार अ.–७–१६ दृढ़ वैराग्य–भगवदेकतान से। भगवदेकतान बतानेवाला द्वादशांग पुरुष (१२) और अंगी (१) कुल १३ अध्याय।	स्थूलरूप से अधिकार ३ प्रकार का १. साधरण–अ. १–६ २. असाधारण–अ. १०–१८ ३. निगुर्ण–अ. १६

(२) हृत्प्रसाद (अ ३–४)
श्रोता अ. ३ — वक्ता अ. ४
 	
(३) मनन (अ. ५–१०)
उत्पत्ति:
— अनित्य (जड़) पदार्थ की उत्पत्ति (अन्य द्वारा) देह अ.–५
— नित्य पदार्थ (जीव की उत्पत्ति (देह जीव का समागम) अ–६
— स्वत: आविर्भूत (भगवान-अवतार) अ–७
  — आवेशी (परशुराम)
  — अवतार (श्रीकृष्ण)
उपपत्ति (तर्क):
— आशङ्का अ–८
— उत्तर (समाधान) अ–६
— फल अ–१०
	भगवान की दशविध लीला के १० साधन के कारण १० अध्याय

(२) मुक्तसृष्टि तत्त्वमुक्ति अ०– २०–२४ कालमुक्ति अ०– २५ गुणातीतमुक्ति अ०– २६–२७ सगुणमुक्ति अ०– २८ जीवमुक्ति अ०– २६–३३	सर्ग दो प्रकार के १ लौकिक=२८ तत्त्व, ४ भूतबीज, १ काल=३३ २ अलौकिक=८–वसु ११–रूद्र १२–आदित्य १–इन्द्र १–प्रजापति=३३ अत: ३३ अध्याय

स्कन्ध संख्या	भगवान् के श्री अंग का नाम	लीला	सर्गादि लीला की व्याख्या	अध्याय संख्या	प्रकरण संख्या	प्रकरणों के नाम तथा
४	वाम बाहु	विसर्ग लीला	भगवान् के महात्म्य को बताने वाला पौरुष (विशेष सृष्टि)	३१	४	(१) धर्म अग्निष्टोम आदि ७ अ. १–७ (दक्ष)
५	दक्षिण सक्थि (जङ्घा)	स्थान लीला	भगवान् का जगत् को मर्यादा पूर्वक पालन करना	२६	२	(१) स्वरूपस्थिति भगवान् से–अ–१–६ योग से– अ–७–१४ ज्ञान से– अ–१५
६	वाम सक्थि (जङ्घा)	पोषण लीला	निज भक्तों पर भगवान् का अनुग्रह–पोषण (पुष्टि)।	१९	३	प्रकरणार्थ (१) नाम–श्रवण कीर्तन स्मरण अ–१–३ (२) ध्यान–रूप के १४ गुण अ–४–१७ (३) अर्चन–बाह्य, आभ्यन्तर अ–१८–१९
७	दक्षिण श्रीहस्त	ऊति लीला	कर्मवासना। जैसी २ वासना वैसा २ फल। इस मर्यादा का पालन।	१५	३	कर्म के भेद (१) आध्यात्मिक अ. १–५ (२) आधिदैविक अ. ६–१० (३) आधिभौतिक अ. ११–१५
८	दक्षिण स्तन	मन्वन्तर लीला	भगवदनुगृहीत मन्वन्तरों के धर्म का वर्णन। इस के द्वारा सद्धर्म को दरसाना। बताई हुई अनेक प्रकार की वासनाओं को जलाने के लिये यह सद्धर्म निरूपण है।	२४	४	(१) आपत्ति में हरिस्मरण धर्म-अर्थ काम-मोक्ष चारों का साधन अ. १–४

अवान्तर प्रकरण एवं उनकी अध्याय संख्या	विशेष विवरण
(२) अर्थ — साधन अ–८, साध्य अ–६, मनूपदेश अ–१०, दोष निवृत्ति अ–११, फल प्राप्ति अ–१२; अ. ८–१२ (ध्रुव) (३) काम — पृथु आविर्भाव १३–१६, सर्वकाम १७–१८, स्वकाम अ॰ १६–२३; अ. १३–२३ (पृथु) अध्याय (४) मोक्ष — ब्रह्मभाव अ–२४–२८, सायुज्य अ–२६–३१ (प्रचेताः)	विशिष्टसर्ग देवतारूप होता है। देवता ३१ होते हैं:–८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य अतः ३१ अध्याय। पुरुषार्थ की सिद्धि श्रीकृष्ण के चरणों की सेवा से हो सकती है, अन्य उपाय से नहीं।
(२) देशस्थितिः भूः—अ–१६–२० भुवः-अ–२१–२३ स्वः–अ–२४–२६	प्रथमपक्ष=रूढ अर्थ। प्राकृत=२४ पदार्थों का जय २४ } आत्मा २=जीव ब्रह्म का जय। २ } २६ — द्वितीय पक्ष=यौगिक अर्थ। ३ लोक, १२ मास, ५ ऋतु, ३ देश, १ आदित्य] २४ स्व (आत्मा)–जीवात्मा और परमात्मा] २ २६
स्कन्धार्थ (१) कर्म अ. २ –५ =अधिष्ठान। कर्ता। करण। चेष्टा। दैव। (२) काल अ. ६ –१७=बारह मास। (३) स्वभाव अ.१८–१६=देव और आसुर।	पुष्टि भगवान् का वह धर्म है जो "वीर्यविशेषरूप" है, जिसका दूसरा नाम अनुग्रह है और जो काल आदि का बाधक है।
कर्मजन्य वासना: असद्वासना अ–५, सद्वासना अ–५, मिश्रवासना अ–५ अविद्या के ५ पर्व अथवा अधिष्ठानादि ५	अविद्या के ५ पर्व=देहाध्यास। इन्द्रियाध्यास। प्राणाध्यास। अन्तःकरणाध्यास। स्वरूपविस्मृति। अधिष्ठानादि ५=अधिष्ठान। कर्ता। करण। चेष्टा। दैव।
(२) संपत्ति में सर्वदान अ. ५–१४ सत्त्व–सत्त्व आदि ६ } निर्गुण——— १ } १० (३) स्वोक्तनिर्वाह संपत्ति के समय कहे वचन को आपत्ति में निभाना मुख्य सत्य-वाक्य है अ. १५–२३ (४) तीन प्रकार के धर्म का वक्ता मत्स्य-चरित्र अ.–२४	

स्कन्ध संख्या	भगवान् के श्री अंग का नाम	लीला	सर्गादि लीला की व्याख्या	अध्याय संख्या	प्रकरण संख्या	प्रकरणों के नाम तथा
९	वाम स्तन	ईशानु-कथा लीला	भक्ति-निरूपण । हरि और हरि के अनुसरण करने वालों का चरित्र ।	२४	२	१. प्रकरणविभाग=ईशानुकथा (१) सूर्यवंश अ० १ से १२ या १३ (२) चन्द्रवंश अ-१२ या १३ से २४
१०	हृदय	निरोध लीला	प्रपञ्चविस्मृति पूर्वक भगवदासक्ति ।	८७	५	(१) जन्मप्रकरण अ–१–४ चतुर्व्यूह १. वासुदेव=हेतुता २. संकर्षण=उद्यम ३. प्रद्युम्न=रूपान्तर स्वीकार ४. अनिरुद्ध=माया से नाट्य

टिप्पणी–प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल आदि के ७ अध्यायों में ६ गुणों (ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) के क्रम से ६ अध्याय हैं और इन ६ धर्मों (गुणों) के धर्मी का सातवां अध्याय है । सर्वत्र यह क्रम है परन्तु तामस फल अवान्तर प्रकरण में यह क्रम नहीं है, वहां पर ऐश्वर्य, वीर्य, यश और श्री के पश्चात् ही 'धर्मी' है और तत्पश्चात् ज्ञान और वैराग्य है ।

स्कन्ध संख्या	भगवान् के श्री अंग का नाम	लीला	सर्गादि लीला की व्याख्या	अध्याय संख्या	प्रकरण संख्या	प्रकरणों के नाम तथा
११	श्री मस्तक	मुक्ति लीला	अन्यथा स्वरूप का त्याग कर स्वस्वरूप में स्थित होना ।	३१	२	(१) जीव मुक्ति (अ) अविद्यानाश से और विद्याप्राप्ति से (अधिकारी जनक) ब्रह्म भाव मुक्ति ज्ञान से वैराग्य अ १ सांख्य ,, २ योग ,, ३ तप ,, ४ भक्ति ,, ५
१२	वाम श्री हस्त	आश्रय लीला	मुक्त–जीवों का ब्रह्म–स्वरूप से अवस्थान ।	१३	५	(१) कृष्णाश्रय अ१–२–३ (२) जगदाश्रय अ० ४–५½

अवान्तर प्रकरण एवं उनकी अध्याय संख्या	विशेष विवरण
२ स्कन्धार्थविचार—ईशानुकथा का फल (१) दुःख निवारण=सगुण तदनुवर्ती द्वारा—अ— १–६ ज्ञानी तदनुवर्ती द्वारा—अ— १० भगवच्चरित्रद्वारा— कर्म ज्ञान भक्ति अ.—१२ ११ १३ (२) सुखप्रापण=भगवदनुवर्ती द्वारा अ.— .४–२३ । भगवान् द्वारा अ–२४	प्रथमाध्याय में चन्द्रवंशी पुरूरवा का वर्णन अतः दोनों में १२, १२ अध्याय ।
(२) तामस प्रकरण अ०—५–३२ (३) राजस प्रकरण अ० ३३–६० (४) सात्विक प्रकरण अ० ६१–८१ १ प्रमाण —अ० ५–११ प्रमाण— अ० ३३–३९ .... २ प्रमेय —अ० १२–१८ प्रमेय— अ० ४०–४६ प्रमेय— अ० ६१–६७ ३ साधन —अ० १९–२५ साधन— अ० ४७–५३ साधन— अ० ६८–७४ ४ फल —अ० २६–३२ फल— अ० ५४–६० फल— अ० ७५–८१ (५) गुण–प्रकरण ऐश्वर्य अ० ८२ वीर्य अ० ८३ यश अ० ८४ श्री अ० ८५ ज्ञान अ० ८६ वैराग्य अ० ८७	निरोध का अर्थ है— "आत्मनः (देहस्य) शक्तिभिः सह अनुशयंन" अर्थात् देह शक्तिएँ नाड़ी–रूपा ७२ प्रकार की हैं; अपनी श्री आदि शक्तियें १२ हैं । शयन तीन प्रकार का है (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) अतःकुल ८७ अध्याय हैं । श्री महाप्रभुजी ने अध्याय १२–१३–१४ को प्रक्षिप्त माना है अतः इस स्कन्ध में ८७ अध्याय ही मानें हैं ।

यह तामस–फल रमण रूप है । यह नाम से और रूप से है यह रूप पञ्चात्मक होता है—आत्मा, मन, इन्द्रियें, प्राण और शरीर अतः "रास के पञ्चअध्यायी" हैं । रमण में ज्ञान और वैराग्य बाधक होते हैं अतः 'धर्मी' का निरूपण पहिले किया गया है ।

(१) जीव मुक्ति (आ) २४ तत्त्वों के अतिक्रमण से सायुज्य मुक्ति भक्ति से (अधिकारी उद्धव) अध्याय (६–२९) (२) ब्रह्म मुक्ति अ—३०–३१ ब्रह्म का नाट्यवत् इच्छा शरीर ग्रहण और परित्याग से वह अहंता ममता का नाश करने वाला है ।	स्वरूप—१ अवस्था—२ (सामान्य और विशेष) तत्त्व—२८ अतः अध्याय ३१
(३) वेदाश्रय अध्याय ५३–७ (४) भक्तियोगाश्रय अ ८-९-१० (५) भागवताश्रय अ. ११-१२-१३	अध्यायों का हिसाब यों भी है:— क्रिया से आश्रयण=५ प्रकार का । ज्ञान से आश्रयण ८ प्रकार का । अतः १३ अध्याय ।

॥ श्रीनाथजी ॥

श्रीभागवतमेवात्र केवलं चेत्समाश्रितम् ।
गंगावद्धरिवच्चैव शंभुवच्च फलिष्यति ।। ३८ ।।

यदि इस हरिस्वरूप भागवत का ही केवल आश्रय लिया जाय तो स्वयं (भागवत ही शुद्धि, सायुज्य और भक्ति का दान देती है जिस में दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे गङ्गा शुद्ध करती है हरि सायुज्य देते हैं और महादेव भक्ति देते हैं वैसे एक ही आप (भागवत) तीनों देती है क्यों कि इस स्वरूप में सर्व भक्ति आदि प्रतिष्ठित हैं जिसका वर्णन "श्रीमद्भागवतं पुराणममलं" तथा "बर्हापीड़ं" श्लोकों में किया हुआ है ।

यह श्रीमद्भागवत संपूर्ण वेद न्याय आदि शास्त्रों का तत्त्वरूप है किन्तु वह तत्त्व प्रत्येक के समझ में नहीं आता है कारण कि जीवों का अन्तःकरण अनेक भ्रान्तिरूप अज्ञान से ढका हुआ है जिससे इस शास्त्र में वे अनेक भ्रान्तियां देखते हैं, उन अज्ञानी जीवों के इस अज्ञान रूप अन्धकार को मिटाकर तथा उनको प्रकाश देकर इस शास्त्र के तत्त्व को दिखाने के लिये ही यह भागवत प्रदीपरूप निबन्ध श्री वल्लभाचार्यजी ने प्रसन्नता से प्रकट किया है ।

—राग रामकली—

कृष्ण कथा बिनु कृष्ण नाम बिनु, कृष्ण भक्ति बिनु दिवस जात ।
वह प्रानि काहे को जीवत, नहिं मुख वदत कृष्ण की बात ।। १ ।।
श्रवन न कथा, श्याम सुन्दर की, राम कृष्ण रसना नहि फुरति ।
मानुष जन्म कहां पावेगो, ध्यान धर घनश्याम चतुर मति ।। २ ॥
जो यह लोक परम सुख राखत, अरु परलोक करत प्रतिपाल ।
परमानन्ददास को ठाकुर, अति गम्भीर दीनानाथ दयाल ।। ३ ।।

कृष्ण भक्ति कर कृष्ण हि पावे ।
कृष्णहि ते यह जगत प्रकट है, हरि में लय ह्वै जावे ।। १ ।।
यह दृढ़ ज्ञान होय जासों ही, हरि लीला जग देखे ।
तो तिहिं सुख दुःख निकट न आवे, ब्रह्म रूप कर लेखे ।। २ ।।
अज्ञानी मैं मेरी करिके, ममता बस दुःख पावे ।
फिरि फिरि जोनि भ्रमे चौरासी, मद मत्सरकरि आवे ।। ३ ।।
हरि हैं तिहुँ लौक के नायक, सकल भली सो करि हैं ।
सूरदास यह ज्ञान होय जब, तब सुख सों नर तरि हैं ।। ४ ।।

॥ श्री जन्म प्रकरण की भूमिका ॥

यह तो निर्विवाद सर्व सम्मत से निर्णय हो चुका है कि 'श्रीमद्भागवत' सर्गादि दशलीला लक्षण संयुक्त होने से 'महापुराण' है और देवी भागवत को जो लोग श्रीमद्भागवत के स्थान पर गिनना चाहते हैं, उनको भी अनेक विद्वानों ने शास्त्रादि प्रमाणों से सिद्ध कर दिखाया है कि देवी भागवत १८ पुराणो में नहीं है। वैसे ही भागवत बोप देव कृत है इस शङ्का का भी बड़े २ विद्वानो ने सप्रमाण मूलोच्छेदन कर बता दिया है कि भागवत बोपदेव ने नहीं बनाया है। इन दोनों卐 विषयों का संक्षिप्त फलितार्थ ऊपर दे दिया है। फिर भी इन विषयों में जिन को कुछ भी शङ्का हो तो वे विद्वानों के इस विषय पर लिखे हुए 'भागवत शङ्का निरासवाद' आदि ग्रन्थ पढकर अपनी शङ्काओं को मिटावे।

श्रीमद्भागवत शास्त्र केवल महापुराण ही नहीं है किन्तु सर्व महापुराणमूर्धन्य तथा सकल शास्त्रों का मुकटमणि एवं तत्त्व प्रदर्शक होने के साथ परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण का तेज स्वरूप भी है।

भागवत मुख्य भक्ति प्रतिपादक शास्त्र होते हुवे भी वह,प्रथम श्लोक से अंतिम श्लोक तक विज्ञान सहित तत्त्व ज्ञान से भरा पड़ा है। वेदव्यासजो ने गहन तत्त्व ज्ञान का श्रीमद्भागवत में इस प्रकार सङ्कलन किया है कि जिससे पाठकों को तत्त्व ज्ञान के पुस्तकों के पढने में जो सिर दर्द होता है, वह तो नहीं होता है, किन्तु पढते हुए जो आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्द से हृदय और शीर्ष दोनों पुष्ट हो जाते है एवं साथ में भगवान् के आनन्द स्वरूप का अनुभव होने लगता है। श्रीमद्भागवत, कल्पतरु के समान सर्व प्रकार के जीवों का कल्याण एवं मन: सन्तोष करने वाला शास्त्र है। कोई ऐसा विषय नहीं, जिसका वर्णन इसमें न हो। तत्त्वचिन्तन, आचार, वर्णाश्रम धर्म, नीति शिक्षा, और इतिहासादि सर्व का इसमें समन्वय किया हुवा है। इस एक ही शास्त्र से सर्व विषयों का ज्ञान सरल सुगम रीति से प्राप्त होता है। अत: इसका जितना आदर और प्रचार है उतना अन्य का नहीं। इस शास्त्र पर आचार्यो और विद्वानों ने जितनी टीकाएँ की है उतनी अन्य किसी शास्त्र पर नहीं की है, इससे भी इसकी महत्ता का ज्ञान हो जाता है।

आचार्य श्री भागवतार्थ निबन्ध का प्रारम्भ करते मङ्गलाचरण में कहते हैं कि—

श्रीकृष्णं सच्चिदानन्दं दशलीलायुतं सदा।
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः ॥

भावार्थ—सच्चिदानन्द, दशविध लीला संयुक्त जो सकल भक्तों के समुद्धारार्थ विशेष रीति से स्फूर्तिमान हो रहा है उस परब्रह्म श्रीकृष्ण के रूप श्रीमद्भागवत को हम नमन करते हैं।

卐 १—देवी भागवत १८ पुराणों में नहीं है,
२—भागवत बोपदेव कृत नहीं है,

इस श्लोक से आचार्य श्री ने यह जताया है कि जैसे अवतार समय में स्व स्वरूप से सर्व प्रकार के भक्तों का साक्षात् स्वयं प्रमेय बल द्वारा उद्धारक हैं, वैसे ही अनवतार दशा में भी आपहीं इस दशविधलीला प्रतिपादक अपने नाम स्वरूप से श्रवण द्वारा उद्धारक हैं। जिसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त महाराजा परीक्षित और धुन्धकारी आदि मौजूद हैं, किन्तु केवल उद्धारक ही नहीं किन्तु जैसे अवतार समय में भक्त जनों का आपने निरोध किया था वैसे ही यह 'भागवत' श्रवण द्वारा निरोध सिद्ध करता है। क्योंकि भगवान् और उनकी लीलाएँ, सूर्य और सूर्य की किरणो के समान एक ही हैं। अत: भगवान् श्रोतव्य कीर्तितव्य और स्मर्तव्य है, इसका तात्पर्य है कि भगवान् की लीलाएँ सुनने, कीर्तन और स्मरण करने योग्य हैं, जिससे भगवान् में भक्तों का निरोध सिद्ध होता है।

जैसे वेदरूप कल्पवृक्ष में अन्तर्तिरोहित (छिपेहुए) रस स्वरूप औपनिषद् तत्व के १–आधिभौतिक (जगद्रूप), २–आध्यात्मिक (अक्षर ब्रह्म) और ३–आधिदैविक (श्रीकृष्ण रूप) तीन रूप है वैसे नामात्मक स्वरूप श्रीमद्भागवत के भी, आधिभौतिक (ग्रन्थरूप) २–आध्यात्मिक 'निगम कल्पतरोर्गलितं फलं, श्लोक में वर्णित, सर्गादिदशलीलाओं का अधिष्ठान, बीजरूप गायत्री मंत्र से उद्भूत वेद वृक्ष का रसमय फल रूप' ३–आधिदैविक (श्रीकृष्णचन्द्र का साक्षात् तेजोमय स्वरूप) ये तीन स्वरूप हैं। जिसके द्वादश स्कन्ध द्वादश अङ्ग हैं, दो दो स्कन्धों में भगवान् के षड् गुणों का वर्णन है, इसलिये वे स्कन्ध धर्म रूप हैं और स्वयं श्रीमद्भगवत्तेज स्वरूप भागवत, धर्मी रूप है।

वेद में कहा है कि 'द्वादशाङ्गोवै पुरुषः' अर्थ–पुरुष (परमात्मा) १२ अङ्गोवाला है। तदनुसार भागवत के द्वादश स्कन्ध भगवान् के १२ अङ्ग है। इस वेद वचन का आशय आचार्य श्री ने 'इतीदं द्वादश स्कन्धं पुराणं हरिरेवसः' इस श्लोक में कहा है कि यह द्वादश स्कन्धात्मक पुराण हरि ही है, प्रत्येक अङ्ग एवं उसकी लीलाओं का स्पष्टीकरण आचार्य श्री ने निम्न प्रकार से किया है और आज्ञा की है कि श्रीमद्भागवत का स्वरूप निकुञ्ज नायक श्री गोवर्धनधरण की लीलाओं का द्योतक है। जैसा कि आपने निबन्ध में 'उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युत' श्लोक में कहा है। जैसे कि—

स्कन्ध	लीला	श्री अङ्ग के नाम
प्रथम	अधिकार	दक्षिण चरण
द्वितीय	ज्ञान	वाम चरण
तृतीय	सर्ग १	दक्षिण बाहु
चतुर्थ	विसर्ग २	वाम बाहु
पञ्चम	स्थिति (स्थान) ३	दक्षिण सक्थि
षष्ठ	पोषण ४	वाम सक्थि
सप्तम	ऊति ५	दक्षिण हस्त
अष्टम	मन्वन्तर ६	दक्षिण स्तन

नवम	ईशानुकथा ७	वाम स्तन
दशम	निरोध ८	हृदय
एकादश	मुक्ति ९	मस्तक
द्वादश	आश्रय १०	वाम हस्त

इस प्रकार ही श्री मद्भागवत, निकुञ्जनायक श्रीनाथजी का स्वरूप है, द्वादश स्कन्ध में आश्रय लीला होने से उस स्कन्ध को वाम हस्त कहा गया है। श्रीनाथजी के स्वरूप में भी आपका वाम हस्त ऊपर है जिससे आप भक्तों को आश्रयार्थ बुला रहे हैं।

भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है कि मैं सबका आदि हूँ अतः मुझे कोई नहीं जान सकता है। मैं ही अपने को जानता हूँ। इससे समझा जाता है कि भगवान् और भगवान् की लीलाओं को तथा उनके रहस्य को आप ही जानते हैं तब आपके अतिरिक्त उनका वर्णन कोन कर सकेगा ? इसलिये भगवत्स्वरूप भागवत में भगवद् ज्ञानावतार वेदव्यासजी ने समाधि द्वारा भगवत्स्वरूप एवं लीलाओं का दर्शन कर पूर्ण रूप से वर्णन किया है।

हरिस्वरूप श्रीमद्भागवत में वर्णित लीलाओं का रहस्य भी भगवान् ही पूर्ण रूप से प्रकट कर सकते हैं। अतः आपने अपने वदनावतार अग्निरूप श्रीमद्वल्लभाचार्य स्वरूप से प्रकट होकर भागवत पर 'श्री सुबोधिनी' टीका लिखी, जिसमें सकल लीलाओं का आध्यात्मिक एवं आधिदैविक रहस्य प्रकट किया है। इससे ही जैसा लीला रहस्य, इस टीका में देखने में आता है वैसा अन्य टीकाओं में दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतः यह टीका अनुपम तथा सकल टीकाओं में शिरोभूषणवत् विराजती है। जिसको पढ़कर विद्वद्वृन्द, तत्वजिज्ञासु, भक्तगण एवं सर्व प्रकार के मनुष्यों का मनःसन्तोष होता है और वे उस रस महोदधि में सदैव मग्न रहते हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश अथवा भगवदिच्छानुसार (श्री सुबोधिनीजी) सम्पूर्ण भागवत पर नहीं मिल सकी है केवल १, २, ३, १० और ११ स्कन्ध के ४ अध्यायों पर प्राप्त है।

ऐसे हरि स्वरूप अन्तिम निर्णायक फलरूप शास्त्र का प्रस्थानों में अभाव, महत्त्व पूर्ण त्रुटि थी, जिसको आचार्य श्री ने मिटाकर (श्री मद्भागवत) को चतुर्थ प्रस्थान पद पर प्रतिष्ठित कर प्रमेय तत्त्व को समझने में सरलता करदी है।

आचार्य श्री की वाणी मधुर तथा सरस होते भी गूढ, गम्भीर एवं गहन तथा सूक्ष्म होने से श्री सुबोधिनीजी के तात्पर्य को समझाने के लिये, गोस्वामि श्री विट्ठलनाथजी, एवं तद्वंशजो द्वारा तथा विद्वानों द्वारा उसका विपुल साहित्य संस्कृत में लिखा हुआ मौजूद है।

श्रीमद्भागवत भक्ति शास्त्र होने से उसमें भक्तों को आनन्ददानार्थ, भगवान् के लीलाओं का वर्णन करना ही मुख्य प्रयोजन है। भगवान् ने ये लीलाएँ १२ प्रकार से की है जिससे श्री मद्भागवत के द्वादश स्कन्ध है।

दशम स्कन्ध हरि का हृदय अङ्ग है, अतः उसमें ही भगवान् की विशिष्ठ लीलाओं का वर्णन है। जिनसे भक्तों का संसार नाश हुआ है और भगवान् में आसक्ति हुई है। दशम स्कन्ध के इन लीलाओं को निरोध लीलाएँ कहते हैं। अतः इस निरोध लीलात्मक दशम स्कन्ध को नामात्मक हरि का हृदय कहा गया है। स्वमन्तव्य वा कर्तव्य हृदय में ही सुरक्षित रहता है, अतः निरोध कराने वाली प्रमाण, प्रमेय, साधन और फलात्मक लीलाऐं इस स्कन्ध में ही निहित हैं।

निरोध

दशम स्कन्ध प्रोक्त लीलाऐं रस जनक एवं भगवान् में निरोध कराने वालो हैं। अतः आचार्य श्री (दशम स्कन्ध) को)निरोध) लीलात्मक कहते हैं।

निरोध शब्द का अर्थ

भगवान् विविध शक्तियों को अपने साथ लेकर जगत में पूर्ण रूप से प्रकट होकर. जिन लीलाओं द्वारा निःसाधन भक्तों की अपने में प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक पूर्ण आसक्ति कराते हैं, उसको निरोध कहा जाता है। यौगिक और रूढ भेद से (निरोध) शब्द के दो अर्थ है।

(१) यौगिक-प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक भगवान् में (आसक्ति) निरोध है।

(२) रूढ-क्रीड़ाशील, नटवर, नन्दनन्दन का प्रकट होकर, निःसाधय जनों का लीला द्वारा उद्धार करना निरोध है। निरोध शब्द के इन दोनों प्रकार के अर्थों का तात्पर्य यह है कि-

(१) जगत में अपनी शक्तिओं से भगवान् की (क्रीड़ा)

(२) प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक भक्त की भगवान् में (आसक्ति)

(३) भक्त के प्रपञ्च का लय।

इन तीनों में भगवान् की कीड़ा करण (साधन) है, भगवा् में आसक्ति व्यापार है और भत के प्रपञ्च का नाश फल है।

भगवान् ने प्रकट होकर वे लीलाएँ को जिनसे (निरोध) सिद्ध हुआ अतः भगवान् का प्राकट्य करण है और निरोध कार्य है। इसलिये ही दशम स्कन्ध में प्रथम जन्म प्रकरण है।

दशम स्कन्ध में मुख्य पांच प्रकरण हैं		कुल अध्याय
१– जन्म प्रकरण	अध्याय १ से ४ तक	चार ,,
२– तामस प्रकरण	,, ५ से ३२ ,,	अट्ठावीस ,,
३– राजस प्रकरण	,, ३३ से ६० ,,	,, ,,
४– सात्विक प्रकरण	,, ६१ से ८१ तक	इक्कीस ,,
५– गुण प्रकरण	,, ८२ से ८७ तक	छ (६) ,,

नोट- वत्सहरणलीला के १२, १३, १४ अध्याय आचार्य श्री ने प्रक्षिप्त माने हैं। इसलिये दशम स्कन्ध में ८७ अध्याय ही होते हैं।

१- जन्म प्रकरण के ४ अध्याय हैं। एक एक अध्याय में श्रीकृष्ण का व्यूहात्मक स्वरूप से प्राकट्य-वर्णन किया गया है। जैसे कि प्रथम अध्याय में वासुदेव व्यूह का द्वितीय अध्याय में सङ्कर्षण व्यूह का, तृतीय अध्याय में प्रद्युम्न व्यूह का और चतुर्थ अध्याय में अनिरुद्ध व्यूह का प्राकट्य वर्णित है।

प्रथमाध्याय में भगवान् के प्राकट्य के हेतु (भक्तों के दुःख) का वर्णन है। वे दुःख तीन प्रकार के हैं। तीन प्रकार के दुःख भक्तों को (१. भूमि, २. माता और ३. अन्य भक्तों को) हुए हैं। कंस आदि दुष्ट राजाओं के कारण भूमि दुःखित हुई। आकाशवाणी द्वारा कालकृत दुःख माता (देवकी) को हुआ। अवतार के अज्ञान से (हमारी रक्षा के लिये भगवान् का प्राकट्य हुआ वा नहीं इस प्रकार अवतार के अज्ञान से) अन्य व्रजस्थों को (भक्तों को) दुःख हुआ। इस प्रकार के दुःखों का निवारण भगवान् के बिना इतर कोई नहीं कर सकता है। अतः परीक्षित ने प्रथम भगवत्प्राकट्य विषयक प्रश्न किया है। इस १ अध्याय में भगवान् के प्राकट्य के हेतु का कथन है। इस अध्याय के ४ भाग इस प्रकार समझने चाहिये।

१- भाग में प्रश्न प्रकरण। २- भाग में भूमि के दुःख का वर्णन। ३- भाग में, माता देवकीजी के सङ्कट की कथा। ४- भाग में, अन्य भक्तों का दुःख वर्णन किया गया है। माता देवकी को कंस न मार सके इसलिये भगवान् वासुदेम व्यूह रूप से वसुदेव के हृदय में प्रकटे, जिससे वसुदेव कंस से देवकी की रक्षा कर सके ये सब चरित्र हेतु रूप से प्रथमाध्याय में वर्णित हैं।

२- अध्याय में, चार प्रकार से उद्यम वर्णन किया गया है। भगवान् की लीला विहार और सामग्री सिद्धायर्थ, बलराम तथायो गमाया की कथा, सर्व देव स्तुति, माया द्वारा सप्तम गर्भ कोखींचकर रोहिणीजी में स्थापन करना। इस अध्याय में भगवान् का दैत्यनाशार्थ सङ्कर्षण व्यूह रूप से प्राकट्य हुवा है।

३- अध्याय में भगवान् का चार प्रकार से रूपान्तर स्वीकार करने का वर्णन है।

१- वसुदेव की स्तुति में वर्णित स्वरूप से

२-देवकी की स्तुति में सम्प्रोक्त स्वरूप से

३-स्वयं प्रभु के मुखारविन्द से वर्णित स्वरूप से

४-लौकिकवत् शिशु स्वरूप के दर्शन देने से

चार प्रकार से हुए रूपान्तर के साथ काल में भी रूपान्तर हुआ जिससे लौकिक काल में आधिदैविक मूल काल स्वरूप का प्रादुर्भाव हुआ। यहां (वसुदेव के गृह में) वंश सम्बन्धी लीला करने के कारण 'प्रद्युम्न-व्यूह' स्वरूप से प्रभु का प्राकट्य तृतीय अध्याय में हुआ है।

४-अध्याय-इस अध्याय में देवकीजी ने रुदन, याचना संतति के गोपन से कंस से कपट किया। कंस के अपने कर्म ही कंस के वध के कारण बने तदर्थ उससे ब्रह्म हिंसा+ कराना हितकर है। वैसी लीला कर भगवान् ने भी कंस से वञ्चना की। इस प्रकार चतुर्था कापट्य निरूपण एवं अनिरुद्ध व्यूह स्वरूप से भगवान् के प्राकट्य का वर्णन ४ अध्याय में हुआ है।

भगवान् के स्वरूपात्मक चार व्यूह अन्तः करण चतुष्टय के स्वामी हैं। जैसा कि वसुदेव बुद्धि का स्वामी है, सङ्कर्षण अहङ्कार का स्वामी है, प्रद्युम्न चित्त का स्वामी है, अनिरुद्ध मन का स्वामी है। इन अन्तःकरण चतुष्टय के स्वामियों के पधारने से भक्तों का अन्तः-करण चतुष्टय शुद्ध होकर भजनानन्द रूपामृत पान के योग्य होता है एवं रस स्वरूप गुणातीत श्रीकृष्ण स्वरूप में आसक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण के इस प्रकार प्राकट्य का यही मुख्य तत्व वा रहस्य है।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध को हरि का हृदय कहा गया है उसमें की हुई लीलाओं से भगवद्भक्त को हरि के हृदय की विशेष विशालता का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। शरणागत व्रजवासियों के दोषों पर ध्यान न देकर उन दोषों को स्वप्रमेयबल से नाश कर व्रजभक्तों का निरोध सिद्ध करने से हरि के हृदय की विशालता का प्रमाण दशम स्कन्ध में हो मिलता है। अतः दशम स्कन्ध हरि का हृदय माना गया है।

देश, काल, देह संयोग और व्यवहारों पर दृष्टिपात करने से समझ सकते हैं कि शास्त्रों के ज्ञान, ध्यान, उपासनादि साधनो से उस भजनानन्द के आनन्द की प्राप्ति इस समय दुःशक्य नहीं किन्तु अशक्य है। अतः सर्व प्रकार के रुचि वाले एवं अधिकारी जीवों को सरलता से रस स्वरूप का अलभ्य लाभ प्राप्त हो सके, तदर्थ श्रीमद्भागवत के हृदय रूप दशम स्कन्ध में हरि की उन लीलाओं का वर्णन किया गया है, जिससे सर्व प्रकार के जीव चित्त प्रवण कर केवल उन लीलाओं के श्रवण से निरोध को सिद्ध कर सकते हैं।

इस जन्म प्रकरण में श्रीकृष्ण के प्राकट्य का विषय मुख्य है, जिसका वर्णन वेदव्यासजी ने कथा को सरल बनाने के लिये बहुत विशिष्ट प्रकार से किया है। जिससे सामान्य पाठक वा श्रोता उसके भीतर के रहस्य को समझने में असमर्थ होते हैं। इतना ही नहीं किन्तु विद्वानों की भी बुद्धि भागवत के भावार्थ समझने में चक्कर खाती है अथ च कुण्ठित हो जाती है, इसलिये कहा गया है कि-

धनञ्जये हाटकसम्परीक्षा, विपत्तिकाले गृहिणीपरीक्षा।
महाहवे शस्त्रभृतां परीक्षा विद्यावतां भागवते परीक्षा॥

+ योगमाया, ब्रह्म से अभिन्न होने से ब्रह्मरूप हो है अतः उसकी हिंसा ब्रह्म हिंसा के समान है। अनुवादक

अर्थ– सुवर्णपरीक्षा अग्नि में डालने से होती है, स्त्री को परीक्षा आपदा के समय में होती है, शस्त्रधारियों की परीक्षा युद्ध के समय होती है और विद्वानों की परीक्षा भागवत के भावार्थ बताने के समय होती है।

श्रीमद्भागवत के जन्म प्रकरण के भावार्थ समझने के लिये आवश्यक है कि पाठकों को श्रीकृष्ण स्वरूप तथा उनको शक्तियों के स्वरूप का कुछ परिचय कराया जाय जिससे वे श्री सुबोधिनीजी के आशय को सरलता से समझ सके।

श्रीमद्भागवत भक्तिशास्त्र है अतः इसके तत्व को समझने के लिये हृदय भक्तिमान् होना चाहिये। इसलिये वेदव्यासजी ने भी कहा है कि–

अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा।
भक्त्या भागवतं शास्त्रं न बुद्धया न च टीकया ।।

अर्थ– श्रीमद्भागवत को मैं जानता हूँ और शुक जानता है पूर्णतया कह नहीं सकते हैं कि सञ्जय जानता है वा नहीं जानता है। श्रीमद्भागवत शास्त्र को केवल (भक्ति के विना) बुद्धि वा टीका से कोई नहीं समझ सकता है।

भागवत के तत्व की जिज्ञासा वाले को श्रीकृष्ण और भागवत में श्रद्धायुक्त होकर उसका पठन और श्रवण करना चाहिये। श्रीकृष्ण स्वरूप एवं उनकी लीलाओं को लौकिक न समझ अलौकिक समझना चाहिये।

भगवान् जब लौकिकवत् मनुष्याकृति का नाट्य करता है उस समय भी वह सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् सर्वान्तरात्मा और सकल सृष्टि तथा देवादिकों का नियामक है। उनको शक्तियों में किसी प्रकार की कमी उस समय भी नहो होती है। लौकिक नट अनेक वेश धारण करता है तो भी उसका मूल रूप वही रहता है जब उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है, तब सर्व शक्ति सम्पन्न प्रभु के अनेक रूप धारण करने पर उसमें विकार वा परिवर्तन मानना मूर्खता वा अश्रद्धालुपन के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। भगवान् तो भक्त हितार्थ स्वकीय अचिन्त्य शक्तियों से विना किसो अन्य उपकरण के आश्रय लिये अनेक स्वरूप धारण कर, विविध अद्भुत लीलाएँ करते हैं। अतः आपको (नटवर) कहते हैं। इसलिये भगवान् की लीलाओं को देखकर उनमें असम्भावना, वा विपरोत भावना उन हृदयों में होती है, जो हृदय भक्ति श्रद्धा हीन होते हैं।

वेद में केवल रसात्मक आनन्द स्वरूप (जिसमें व्यूहादि अन्य शक्ति स्वरूप तिरोहित हैं उस स्वरूप) को कृष्ण कहा गया है, किन्तु आपको (रस स्वरूप श्रीकृष्ण को) इस अवतार में भक्तों को रसमयी लीलाओं द्वारा रसदान देने के अतिरिक्त अन्य कार्य भो करने थे अतः जिस समय वे (अन्य) कार्य करने पड़ते थे उस समय कार्यानुरूप उस शक्ति का प्रादुर्भाव कर उसके द्वारा वे कार्य आपने सिद्ध किये हैं

जैसे कि धर्म रक्षा आदि कार्य व्यूहात्मक स्वरूपो से किये हैं और निज भक्तों के मनोरथ पूर्त्यर्थ आपने केवल रसस्वरूप से रसप्रद रसमयी लीलाएँ की है।

सर्वान्तर केवल रसमय स्वरूप कृष्ण के प्राकट्य का मूल कारण आपकी इच्छा ही है, जब भक्तों को अपने रसस्वरूप से रसदान देने की एवं अपने स्वरूप के ज्ञान कराने की आपकी इच्छा होती है तथा अपने दिये हुए वरदान पूर्ण करने का समय आता है तब आप उस केवल रसमय स्वरूप से अपने पात्र (स्थिति के पात्र) वासुदेव व्यूह के अन्दर गुप्त प्रकार से विराजकर प्रकट होते हैं। उस समय सब स्वरूपों को एवं शक्तियो को अपने में अन्तर्हित (अदृश्य) कर देते हैं। भगवान् प्रकट समय में भी अपनी योगमाया को अपने साथ रखते हैं। जिससे आपके स्वरूप को प्रत्येक पहचान न सके। उस समय भी अधिकारानुसार स्वइच्छा से दर्शन कराते हैं। जब अपने शुद्ध अन्तरङ्ग भक्तों के समीप अपने रसात्मक स्वरूप के प्रकट दर्शन देने की इच्छा होती है तब आप उस माया का संवरण करते हैं अर्थात् माया का पड़दा दूर कर देते हैं।

कृष्णावतार के समय श्रीकृष्ण लीलार्थ दो स्वरूपों से प्रकट हुए हैं। धर्म विशिष्ट चतुर्भुज स्वरूप से मथुरा में और केवल रस मय धर्म रूप से श्री नन्दरायजी के घर गुप्त रूप से वासुदेव व्यूह में विराजमान होकर माया के साथ प्रकट हुए हैं।

यशोदा के गृह में गुप्त रूप से प्रकट हुए श्रीकृष्ण ने अपने केवल रसात्मक बाल स्वरूप का देवकी को दर्शन देकर उस बाल स्वरूप में, वसुदेव के यहां प्रकट किये हुए अपने धर्म विशिष्ट चतुर्भुज स्वरूप को माता देवकी की प्रार्थना से अन्तर्हित कर लिया। जिस बाल स्वरूप को वसुदेवजी गोकुल पधरा के लेगये। मथुरा में अथवा गोकुल में प्रकट दोनों स्वरूप मूलरूप पुरुषोत्तम के ही स्वरूप हैं, उनमें किसी प्रकार का भेद वा द्वैत नहीं है। केवल जिस स्थान पर जैसी लीला जिस स्वरूप से करनी है उस स्थान पर उस स्वरूप से आप प्रकट हुए हैं। एक स्थान+ पर गुप्त रीति से केवल रस स्वरूप से और दूसरी❀ जगह पर धर्म विशिष्ट स्वरूप से प्रकटे हैं।

श्रीकृष्ण के प्राकट्य का कारण मुख्यतः आपकी इच्छा ही है तो भी भक्त दुःख असहिष्णु स्वभाव के कारण भक्तों के दुःखो का निवारण भी आपके प्राकट्य का कारण होता है। जैसे कि आचार्य श्री आज्ञा करते हैं–

सर्वेषां च महद्दुः नान्येनखं निवार्य्यते।
यदा तदा हरिः कृष्णः प्रादुरासीदिति स्थितिः॥

श्रीकृष्ण आनन्द स्वरूप होने से एवं दयालु तथा कोमल हृदय होने से अपनी सृष्टि का स्वल्प भी सुखाभाव (दुःख) सहन नहीं कर सकते हैं। जब भी सृष्टि में सुख का अभाव और दुःख का बोलबाला

+ श्रीनन्दरायजी के गृह में ❀ वसुदेवजी के यहां

होता है तो अंश, कला और विभूति आदि स्वरूपों से प्रकट होकर उन दुःखों का नाशकर सुखों का आविर्भाव करते हैं। किन्तु जब दुःख पराकाष्ठा को पहुँचते हैं जो किसी से, अंशादि से मिटाये नहीं जा सकते हैं, तब आप स्वयं पूर्ण रूप से प्रकट होकर भक्तों का दुःख एवं देवादिकों के मद का नाश करते हैं। इस पूर्ण अवतार में सर्व प्रकार के अनेक कार्य (लीलाएँ) करने के लिये आप एक ही रूप में अन्य व्यूहादि स्वरूपों को निहित कर धर्म स्वरूप एवं धर्मी स्वरूप से प्रकट होते हैं।

भागवत के दशम स्कन्ध में की हुई लीलाओं में आये हुये मुख्य पात्र तथा स्थानों के स्वरूप के ज्ञान बिना उस लीला का रहस्य पूर्णतया समझ में न आ सकेगा अतः यहां उनका सूक्ष्म परिचय कराना आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) **श्री कृष्ण** :— रसात्मक, आनन्दमय, निर्गुण पर ब्रह्म मूल स्वरूप ।
(१) **श्री बल राम** :— अनन्त, अक्षर ब्रह्म, गणितानन्द, अन्तर्यामी, व्यापी वैकुण्ठ, धर्मी रूप, ब्रह्म, आवेश युक्त ।
(३) **श्री देवकी के छ पुत्र** :— भगवान् के छ गुण-ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ।
(४) **श्री देवकी** :— सर्वदेव मयी ।
(५) **श्री वसुदेव** :— शुद्ध सत्त्व रूप ।
(६) **श्री नन्दराय** :— आनन्द युक्त सत्त्वगुण रूप ।
(७) **श्री गोकुल** :— दैवी सम्पद् का स्थान ।
(८) **श्री मथुरा** :— रजोगुण युक्त स्थान, राजस वृत्ति ।
(९) **कंस** :— मृत्यु रूप काल, पूर्व जन्म में **कालनेमि** (भगवान् ने अमृत मन्थन द्वारा उसका नाश किया था) भयानक (मृत्यु रूप) काल अर्थात् भगवान् से विमुख कराने वाली (दुष्ट बुद्धि) ।

इस प्रकार अन्य दैत्य भी काम क्रोधादि के रूप थे। जिनका विशेष ज्ञान कृष्णोपनिषद् तथा भगवत्पीठिका ग्रन्थ से हो सकता है। श्री सुबोधिनी पढ़ने के समय भी इनका परिज्ञान होता जायगा।

दशम स्कन्ध का अर्थ '**निरोध**' है उस निरोध के कर्ता **श्रीकृष्ण** के प्राकट्य का वर्णन इस स्कन्ध के १, २, ३ और ४ अध्यायों में हुआ है। इसलिये इन चार अध्यायों को मिला कर जन्म प्रकरण कहा जाता है। इन चारों अध्यायों से ब्रह्मादि देवस्तुति द्वारा भगवत्स्वरूप एवं उनके जन्म के हेतु आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। इस संक्षिप्त प्रस्तावना में भागवत के स्वरूप तथा जन्म प्रकरण सम्बन्धी विषयों का सूक्ष्म परिचय कराया गया है, जिससे जन्म प्रकरण के समझने में सरलता हो। किन्तु भागवत तथा श्री सुबोधिनीजी के समझने का वास्तविक एवं सरल उपाय श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणों में श्रद्धा तथा भक्ति ही है।

पाठकों को भूमिका में पुनरुक्ति दोष दृष्टि गोचर होगा किन्तु वह विषय को स्पष्ट करने के लिये एवं पाठक सरलता से विषय को हृदयङ्गम कर लेवें तदर्थ हुआ है। अतः सुज्ञ पाठक एवं विद्वद्वृन्द इसके लिये क्षमा करेंगे।

आशा है कि सुज्ञ हिन्दीज्ञ धर्म प्रेमी इस अनुवाद से पूर्ण लाभ लेने का प्रयत्न कर **सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल** की आशा को पूर्ण करेंगे।

इत्यलम्

॥ श्रीमदवल्लभाचार्यचरणाश्रयी ॥

फतहचन्द पुष्करणा (वासू)

॥ श्री भागवत वर्णन ॥

कह्यो शुक श्री भागवत विचार ।
हरि की भक्ति युग युग बरतें आन धरम दिन चार ॥ १ ॥
चिंता तजो परीक्षित राजा, सुनि शुक शीष हमारि ।
कमल नयन की लीला गावत कटे अनेक बिकारि ॥ २ ॥
खट्वांग पलीप महूरत में तरि गये, तुमरे हैं दिन सात सुसार ।
दृढ विश्वास करो उर अन्तर हरि को नाम अधार ॥ ३ ॥
सत युग सत, त्रेता तप किये, द्वापर पूजा सार ।
सूरभजन कलि केवल कीजै, लज्या कान निवार ॥ ४ ॥

दशम स्कन्ध के प्रथम दो अध्यायों का सार, सूर सागार सारावली के अनुसार निम्न लिखित है । तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों का सार उनके मुख-पत्र की पीठ पर पढ़ें ।

सूर सागर सारावली से :—

अंस कला अवतार श्याम के कविपैं कहत न आवे ।
जहं जहं भीर परत भक्तन को तहं तहं वपुधरी धावे ॥
माया कला ईश चतुरानन चतुर्व्यूह धरि रूप ।
वायु वरुण अरु यम कुबेर शशि मृत्यु अग्नि सुर भूप ॥
रविशशि भृगु मरीच सुर गुरु अरु चार वेद वपु जान ।
जगकों प्रगट करन परजापति प्रगटे कला निधान ॥
जो जो भूप भये भुव मंडल लोक पाल निज जान ।
निज महिमा हरि प्रगट करी है विधि के वचन प्रमान ॥
सुर अरु असुर रची हरि रचना सो जग प्रगट सब कीन्ही ।
क्रीडा करी बहुत नाना विधि निगम बात दृढ चीन्ही ॥
यहि विधि होरी खेलत खेलत बहुत भांति सुख पायो ।
धरि अवतार जगत में नाना भक्तन चरित दिखायो ॥
अंश कला अवतार बहुत विधि राम कृष्ण अवतारी ।
सदा बिहार करत वृजमंडल नन्द सदन सुखकारी ॥
नित्य अखंड अनूप अनागति अवगत अनघ अनन्त ।
जा को आदि कोऊ नहीं जानत कोऊ न पावत अंत ॥
जब हरि लीला की सुधि कीन्ही प्रगट करन विस्तार ।
श्री वृषभान रूप ह्वै प्रगटे पुनि व्रजराज उदार ।
विद्या ब्रह्म कही यशुमति सों जा की कृष उदार ॥
सोरह कला चन्द ज्यों प्रगटे दीनों तिमिर बिदार ॥
पुन वसुदेव देवकी कहियत पहिले हरि वर पायो ।
पूरण भाग्य आय हरि प्रगटे यदुकुल ताप नसायो ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी

का

हिन्दी अनुवाद

दशम स्कन्ध : जन्म प्रकरण : प्रथम व द्वितीय अध्याय

●

अनुवादक :
प. भ. पं० फतहचन्दजी शास्त्री,
विद्याभूषण, जोधपुर.

●

प्रकाशक :
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल (रजि०)
मानधना भवन, चौपासनी मार्ग, जोधपुर।

●

सर्वाधिकार सुरक्षित

निवेदन

श्रीमद् गोस्वामी श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज चौपासनी वालों की श्री सुबोधिनीजी का हिन्दी में अनुवाद करने की जब मुझे आज्ञा हुई, तब मेरे मन में यह स्फुरणा हुई की यह भगवान् की कौतुकी लीला ही है, जोकि मुझ जैसे अयोग्य को इस कार्य में नियुक्त करवा रहे हैं। अपनी सर्वथा अल्पज्ञता को देखकर कार्य को हाथ में लेने का मुझे साहस नहीं होता था, किन्तु 'दुर्बोधं सुबोधं स्यात्' इस श्री विठ्ठलेश प्रभुचरण 'गुसाईजी' की उक्ति पर दृढ़ विश्वास करके मैंने कार्य प्रारम्भ किया।

श्री वाक्पति वल्लभ प्रभु की असीम कृपा से श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्ध के प्रथम व द्वितीय अध्यायों का अनुवाद सम्पूर्ण हुवा, महाराज श्री ने उनका अवलोकन करके जब सन्तोष प्रकट किया और छपवाने की आज्ञा दी तब मेरे मन की विह्वलता, शान्त हुई।

आचार्य श्री की वाणी गूढ, गम्भीर तथा संक्षिप्त होने से, उसके भाव समझने का कोई भी साहस नहीं कर सकता है। यद्यपि उस पर इतना विपुल साहित्य है तो भी जब तक आचार्य श्री की कृपा नहीं होती है तब तक उसका स्वारस्य समझ में नहीं आता है। आप जितना जताते हैं अनुवादक उतना ही लिख सकता है। फिर भी अज्ञ जोव से भूलें हो ही जाती हैं, जैसे कि कहा है कि 'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः' इस उक्ति के अनुसार भी श्री सुबोधिनी जैसे आकर ग्रंथ के अनुबाद में मुझ जैसे अल्पज्ञ से भुलों का होना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, 'श्री सुबोधिनीजी के अर्थ और भावों को मैं पूर्णतः समझ सकता हूँ' ऐसा दुःसाहस तो मैं कदापि नहीं कर सकता हूँ। वैसे आकर ग्रंन्थ का हिन्दी में अनुवाद करने का कार्य मेरे लिये नवीन ही है, इसके साथ यह भी है कि मुझे ऐसी आज्ञा थी कि अनु-वाद की हिन्दी तथा लेखन शैली बहुत सरल और सुगम हो, जिससे उसे साधारण जन भी समझ सके। उपरोक्त अध्यायों के अनुवाद को देखकर जिन प्रातः स्मरणीय पूज्य गोस्वामी आचार्य महानुभावों ने एवं पूज्य विद्वानों ने कृपा कर अपने अभिमत दिये हैं मैं उन सर्व महानुभावों का कृतज्ञ हूँ और उनके सुझावों तथा दिखाई हुई त्रुटियों पर यथाशक्य ध्यान दूंगा, अन्त में सर्व विद्वद्वय पाठकों को सादर प्रार्थना करता हूँ कि जो भी त्रटि आपको द्रष्टि गोचर हो उसको सूचना देने को कृपा करें जिससे द्वितीयावृत्ति में उनका संशोधन किया जाय और आगे के अनुवाद में भी ध्यान रखा जा सकें।

कहीं कहीं पर व्याकरण के विषयों को विशेष स्पष्ट नहीं किया गया है व कहीं पर छोड़ भी दिया गया है जिसका कारण यह है कि अनुवाद करते समय बहुत से महानुभावों की ऐसी राय थी कि साधारण पाठक जो संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ हैं वे व्याकरणादि सम्बन्धी विषय को समझ नहीं सकेंगे और उनको पढने में उलझन होगी अतः व्याकरणादि कठिन विषयों को अनुवाद में न लाना ही हितावह समझा गया है।

किमधिकम्

फतहचन्द वासू 'पुष्करणा'

हैदराबाद 'सिन्ध' निवासी

वर्तमान पता–लोडों की गली जोधपुर (राज.)

⌘ श्री सुबोधिनी ⌘

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी
काश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी
मेघन

प० भ० श्रीदामोदर-
दासजी हरसानी

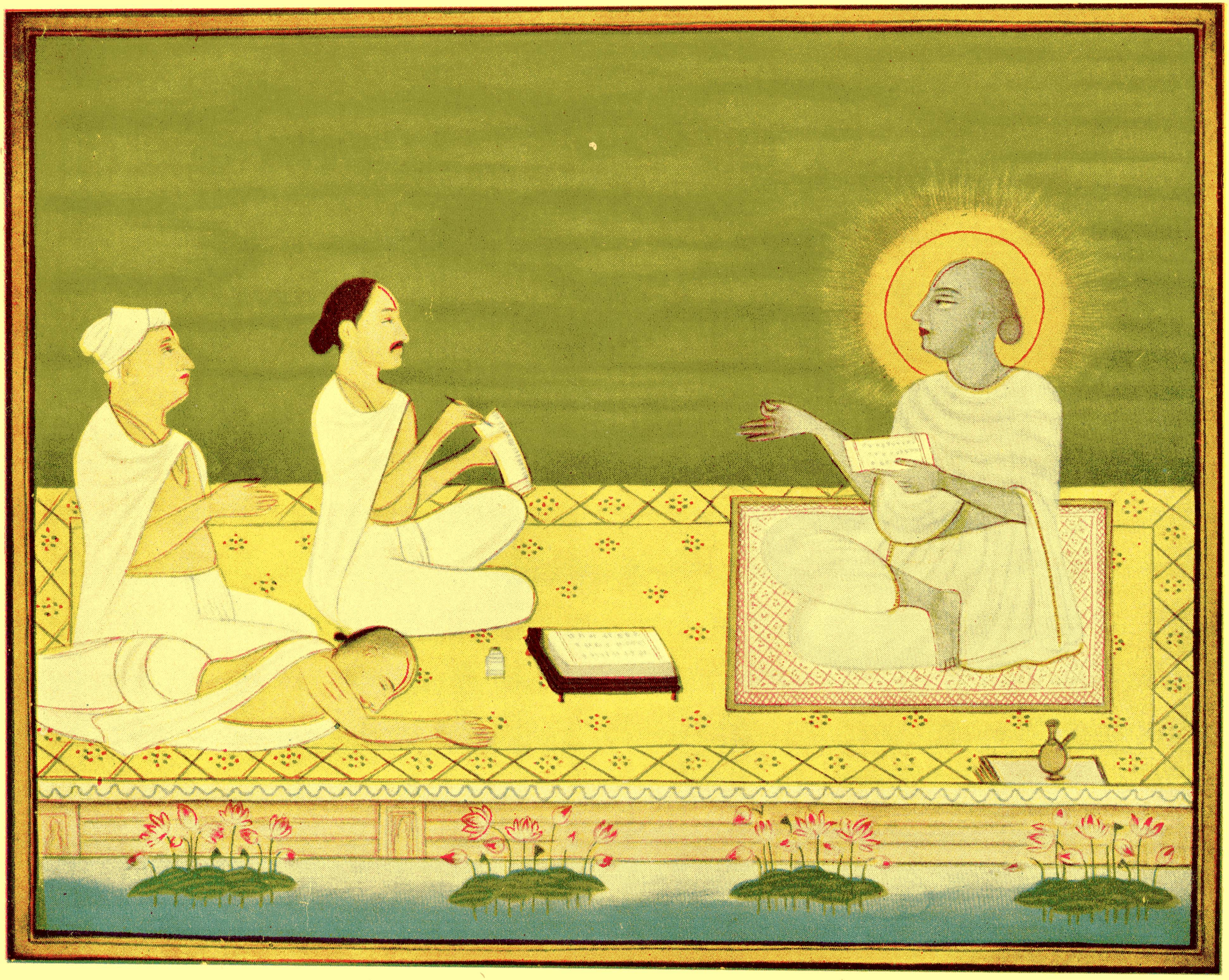

अखण्ड भूमण्डलचार्य
चक्र चूडामणी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण
(श्री महाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

।। श्री कृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपोजनवल्लभाय नमः ।।

❋ श्रीमद्भागवत--महापुराण ❋

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित-सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवादसहित

दशम--स्कन्ध (पूर्वार्ध)

जन्म-प्रकरण

प्रथम अध्याय

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण, दशम-स्कन्ध के विवरण (व्याख्यान) को प्रारम्भ करते हुए सर्व प्रथम कारिका-१, में उस स्कन्ध के अर्थरूप, निरोधस्वरूप प्रभु को नमन करते हैं।

मङ्गलाचरण

कारिका-१ नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्।
लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम् ।।१।।

कारिका-शब्दार्थ—सर्वात्मभाव से दासभाव को प्राप्त मेरे हृदय-रूप-शेष पर स्थित, लीलारूपक्षीर-सागर में जो (दशम स्कन्ध के अर्थरूप निरोधस्वरूप) प्रभु शयन (स्थिति) करते हैं, (बिराज रहे हैं) एवं जिन प्रभु की अनन्त लक्ष्मीएँ स्वरूप तथा अनेक प्रकार के कटाक्षादि लीलाओं से सेवा कर रही हैं, उन कलानिधि (पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु) को मैं नमस्कार करता हूँ।

कारिका १ व्याख्या—श्री वाक्पति निजजनों की शिक्षा के लिये, शिष्टपुरुषों के नियमानुसार, ग्रन्थ प्रारम्भ करते हुए स्वयं भी मङ्गलाचरण करते हैं।

श्री निगम (वेद) रूप कल्पवृक्ष के रसात्मक फलरूप श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में 'निरोध-स्वरूप' श्री प्रभु निरोधात्मक लीलाओं द्वारा, निःसाधन जीवों को 'निरोध' का दान करते हैं। अतः श्री-मदाचार्यचरण मङ्गलाचरण में, उस स्कन्ध के अर्थ-स्वरूप निरोध लीला कर्ता, लीला (पूर्ण) पुरुषोत्तम को नमस्कार करते हैं।

श्री महाप्रभुजी ने इस कारिका में व्यतिरेक[1] अलङ्कार द्वारा शेषशायी "नारायण" से "निरोध-स्वरूप" प्रभु की विशेष (खास) विलक्षणता (अद्भुतता) बताई है, जैसे कि शेषशायी नारायण, क्षीर-

---

[1]अलङ्कार शास्त्र में—उपमान से उपमेय की विशेषता बताने वाले अलङ्कार को व्यत्तिरेक अलङ्कार कहते हैं। यहां उपमान 'शेषशायी' नारायण से, उपमेय 'निरोध स्वरूप प्रभु की विशेषता बताई गई है।'

सागर में शेष शय्या पर शयन करते हैं वैसे ही "निरोध स्वरूप प्रभु" भक्तों के हृदय रूप शेष पर लीला रूपी दूध के समुद्र में शयन करते हैं। क्षीर सागर में एक लक्ष्मी है जो विधि अनुसार नारायण भगवान् की सेवा करती है, परन्तु यहाँ तो अनन्त, नित्यसिद्ध, पुष्टपुष्टिभक्त (गोपिकाएँ) अनेक लीलाओं से "निरोध स्वरूप प्रभु" की सेवा करते हैं। शेषशाया नारायण केवल धर्मनिधि हैं किन्तु निरोधस्वरूप प्रभु सम्पूर्णकलाओं के भण्डार हैं अतः पूर्ण धर्म्मी स्वरूप हैं। इस भांति इस कारिका में शेषशायी 'नारायण' से निरोध लीला में स्थित 'निरोध स्वरूप प्रभु' की विशेष विलक्षणता बताई है।

यहाँ प्रमाण मार्ग (मर्यादा मार्ग) और प्रमेय मार्ग (फल रूप-पुष्टि मार्ग) को विलक्षणता (अद्भुतपन) का भी स्पष्टी करण (खुलासा) इस प्रकार होता है। जैसे कि प्रमाणश्रेष्ठ प्रभु के श्वास रूप वेद में, दास्य धर्म की उत्तमता बताई गई है, अतः उस (दास्यधर्म) को सिद्ध कर बताने के लिए स्वयं वेद, शेष रूप धारण कर, धर्मनिधि नारायण भगवान्, की शय्या होके सेवा करता है, तथा श्री लक्ष्मीजी भी दास्य धर्म की उत्तमता बताने के लिये अपने रहने के स्थान प्रभु के वक्षः स्थल (छाती) को छोड़ कर प्रभु के चरणारविन्द को सेवा करती हुई चरणों के पास निवास करती है। यह प्रमाण मार्ग का सर्वोत्तम दास्य धर्म है।

उपनिषद् में कहे हुए सर्वात्मभाव होने के अनन्तर, उससे पुष्टिमार्गीय फलात्मक दास्य भाव की प्राप्ति होती है। सर्वात्मभाव जिस भक्त का सिद्ध हो जाता है उस भक्त के हृदय में अगाधलीलासागर का उद्भव (प्राकट्य) होता है। भक्त के हृदय में स्थित, इस लीला महोदधि में निरोधस्वरूप प्रभु शयन (स्थिति) करते हैं. अर्थात् रसदानार्थ सदैव विराजते हैं वे भक्त, रस को प्राप्त कर, आनन्द[1]मग्न, हो जाते हैं। इस १ कारिका में 'लीला' शब्द दो बार आया है जिससे पुनरुक्ति दोष[2] का आभास (झलक) होता है, किन्तु इसका आशय (मतलब) समझने से यह शङ्का स्वतः (आपही) मिट जायगी। दूसरे पाद में लीला शब्द सामान्य लीला बताने के लिये दिया है और तीसरे पाद में लीला शब्द, विशेष (मुख्य) लीलायें जो व्रजभक्तों (गोपियों) ने स्वरूप तथा कटाक्षादि भावों द्वारा प्रभु से की है उनको स्पष्ट समझाने के वास्ते दिया है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है।

'शयन' शब्द का अर्थ निद्रा भी होता है किन्तु यहाँ 'शयन' शब्द का अर्थ 'स्थिति करना' है, अर्थात् प्रभु दूसरे स्थान पर न जाकर वहाँ पर हो (लीलार्थ) निवास करते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि प्रभु को जिस समय और जहाँ २ जैसी २ लीला करनी होती है वहाँ आप उस समय पर उसी प्रकार विराजते हैं इसको प्रभु का शयन[3] कहते हैं जैसे साधारण रीति से कहा जाता है कि नारायण भगवान् शेष शायी हैं अर्थात् शेष पर शयन कर रहे हैं परन्तु वास्तव में तो नारायण नाभि से कमल उत्पन्न कर,

---

१—'रसंब्लध्वा आनन्दी भवति' श्रुति को चरितार्थ करते हैं।

२—एक ही बात को दुबारा कहने को पुनरुक्ति दोष कहते हैं।

३—सारांश यह है कि उन लीलाओं का ज्ञान और आनन्द भक्त ही लेवें (पा सकें) अन्य समझे कि भगवान् सो गये हैं। इसलिए स्थिति न कह कर शयन दिया है।

उससे ब्रह्मा का प्राकट्य करते हैं और उसके द्वारा जगत् की रचना कराते हैं। इससे शयन से स्थिति ही जानी जाती है। वैसे ही हृदयाकाश में पुरुष शयन करता है, जिसका भी तात्पर्य यह है कि पुरुष हृदय में स्थिति करता है।

इस प्रकार शास्त्रों में जैसे 'शयन' शब्द 'स्थिति' के अर्थ में दिया है वैसे ही आचार्य श्री ने 'श्री सुबोधिनीजी' में 'शयन' शब्द का अर्थ स्थिति लिया है।

जैसे शेषशायी नारायण इस दृश्य जगत् को प्रकट करते हैं। वैसे ही 'निरोधात्मक प्रभु' भक्त के हृदय में स्थित होकर लीलाक्षीराब्धि में 'शयन' करते हुए अपने स्वरूप में स्थित विचित्र (अजीब व नवीन २) प्रचुर (परमोत्तम, बहुत) भावों द्वारा, भक्ति रसस्वरूप जगत् को प्रकट करते हैं।

यदि शयन शब्द का अर्थ निद्रा लेने में आवे तो प्रभु कोई भी लीला का कार्य नहीं कर सके। इसलिये शयन का अर्थ स्थिति योग्य है।

प्रथम कारिका में इस प्रकार मंगलाचरण से स्कन्धार्थरूप प्रभु को नमस्कार कर आचार्य चरण द्वितीय कारिका में बताते हैं कि प्रकरणार्थ रूप प्रभु मेरे हृदय में बिराजते हैं।

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा ।
षड्भिर्विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम ॥२॥

अर्थ—जो यह प्रकरणार्थ रूप प्रभु; पाँच प्रकार से मेरे हृदय में विराजते हैं उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

व्याख्या—प्रकरणार्थ प्रभु के पाँच प्रकार बताते हैं।

ऊपर श्लोक में दिये पहले 'चतुर्भिः' शब्द से तात्पर्य जन्म प्रकरण के चार अध्यायों से है। जिनमें क्रमानुसार हेतु उद्यम अन्य रूप धारना और कापट्य विषयों का वर्णन है। ❀ दूसरे 'चतुर्भिः' शब्द से तात्पर्य 'तामस' प्रकरण के चार अवान्तर प्रकरणों से है, जो प्रत्येक सात २ अध्यायों का है और जिन अवान्तर प्रकरणों का क्रमानुसार नाम 'तामस' प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल है। तीसरे 'चतुर्भिः' शब्द से मतलब राजस प्रकरण के चार अवान्तर प्रककणो से है, जो प्रत्येक सात अध्यायों का है और क्रमानुसार उनके नाम 'राजस' प्रणाम प्रमेय साधन और फल है।

त्रिभिः शब्द से तात्पर्य सात्विक प्रकरण के तीन अवान्तर प्रकरणों से है जो प्रत्येक सात २ अध्यायों का है और इनके नाम क्रमानुसार प्रमेय, साधन और फल है। इस प्रकरण में प्रमाण अवान्तर प्रकरण नहीं है क्योंकि सात्विक जीव शुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं और उनके हृदय में श्रद्धा होती है इससे उनको शङ्काएँ नहीं होतो है इसलिये उनको प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती है।

❀ प्रथम अध्याय में जन्म लेने का हेतु, द्वितीय अध्याय में शीघ्र प्रकट होने के लिये उद्यम, तीसरे अध्याय में चतुर्भुज स्वरूप को बालरूप में तिरोहित कर बालस्वरूप से प्रकट दर्शन देना, चतुर्थ अध्याय में 'कापटय' (माया के कार्य) का वर्णन है।

षड्भिः का अर्थ गुण प्रकरण से है जिसमें ६ अध्याय हैं और क्रमानुसार उनमें ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य का वर्णन है।

इस प्रकार कुल ८७ अध्याय हैं।

जन्म प्रकरण – ४ अध्याय, तामस प्रकरण २८ अध्याय, राजस प्रकरण २८ अध्याय, सात्विक प्रकरण २१ अध्याय और गुण प्रकरण ६ अध्याय हैं।

तीन अध्याय प्रक्षिप्त हैं इस प्रकार दशम स्कन्ध के कुल ९० अध्याय हैं।

कारिका–दशमार्थः प्रकरणाध्यायार्थश्च विचार्यंते। २॥।

कारिका शब्दार्थ–इस कारिका में,- दशम स्कन्ध का अर्थ और उसके प्रकरण तथा अध्यायों के अर्थ का विचार किया जाता है।

व्याख्या–मङ्गलाचरण और प्रकरण विभाग करने के अनन्तर आचार्यश्री स्कन्धार्थ का विचार करते हैं, स्कन्ध का अर्थ सुदृढ (पक्का) अर्थात् पूरी तरह समझ में, आ जावे इसलिये प्रकरणों तथा अध्यायों के अर्थ का भी विचार करते हैं। यद्यपि (हालांकि) आचार्य चरणों को यहां सुबोधिनी में केवल वाक्यों के पदों के, और अक्षरों के अर्थ ही करने थे किन्तु कितनेक टीकाकारों को स्कन्धार्थ के विषय में जो संशय है उसको मिटाने के लिये यहां स्कन्ध, प्रकरण, एवं अध्यायों के अर्थ का भी दिग्दर्शन आवश्यक समझ कर कराया है। २॥।

कारिका–नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्णस्तस्य निरूपणात् ॥ ३ ॥
आश्रयः क्रमभावित्वात् निरोधो वेति संशयः ॥ ३½ ॥

कारिकार्थ–दशम स्कन्ध का अर्थ आश्रय है? वा 'निरोध' है? यह संशय है। कितनेक टीकाकारों का मत है कि दशम स्कन्ध का अर्थ 'आश्रय' है क्योंकि उस स्कन्ध में सर्ग आदि नव लीलाओं से लक्ष्य (समझने के योग्य) श्री कृष्णचन्द्र की लीलाएँ हैं। इन लीलाओं से श्रीकृष्ण का स्वरूप जाना जाता है, इससे दशम का अर्थ 'आश्रय' है। अन्यों की राय है कि द्वितीय स्कन्ध के दशमाध्याय के प्रथम श्लोक में जो लीलाओं का क्रम दिया है उसके अनुसार दशम का अर्थ 'निरोध' होना चाहिए॥ ३½ ॥

इस प्रकार दो मत होने से सन्देह है कि दशम का अर्थ "आश्रय" है या "निरोध" है। "आश्रय" मानने वालों का पक्ष इन कारिकाओं में बताते हैं:—

पूर्व पक्ष की कारिकाएँ—

लीलानिर्धारको ह्यर्थः क्रममात्रं तु दुर्बलम्॥ ४॥

यथा कथञ्चिच्छ्रवणं सफलत्वाय कल्पते ।
निरोधः प्रलयो लोके प्रसिद्धः प्रकृते न सः ।। ५ ।।
प्रतीतो द्वादशेऽन्यत्र महत्वाच्छुद्धलीलया ।
सहितो ह्याश्रयः स्कन्धे प्रतिपाद्य इहेतिचेत् ।। ६ ।।

कारितार्थ–पूर्व पक्ष वाले अर्थात् दशमस्कन्ध का अर्थ आश्रय मानने वाले कहते हैं कि प्रत्येक (हरएक) स्कन्ध में जिस लीला का वर्णन हो उससे हो स्कन्ध के अर्थ का निर्णय करना चाहिये । 'क्रम" से निर्णय करना ठीक नहीं क्योंकि "लीलाओं" से "क्रम" निर्बल है । वेद में भी "अर्थ" का निर्णय करने की विधि दी है । जैसे पूर्व मीमांसा के अनुसार क्रम को छोड़कर विषय सामग्री पर निर्णय करने की परिपाटी है । उदाहरण 'अग्निहोत्रं जुहोति' (अर्थ- 'अग्निहोत्र में होम करता है') यह वाक्य प्रथम आया है 'यवागूं पचति' (दूध में चावल पकाता है) यह वाक्य पीछे आया है तो भी यज्ञ में पहले चावल पकाये जाते हैं पश्चात् (पीछे) होम किये जाते हैं - क्योंकि यहां पर क्रम मानने से अर्थ ठीक नहीं होता है इसलिए 'क्रम' निर्बल है और अर्थ सबल है । अतः भागवत् में भी पूर्व मीमांसा के अनुसार पाठक्रम दुर्बल है उसको छोड़कर लीलाओं के अनुसार 'आश्रय' ही स्कन्ध का अर्थ लेना चाहिए । श्रीमद्भागवत के शास्त्र का श्रवण जिससे सफल हो, उसको स्कन्धार्थ समझना चाहिए । यद्यपि क्रम से दशम का अर्थ 'निरोध' हो सकता है । निरोध का अर्थ 'प्रलय' है ऐसा लोक में प्रसिद्ध है. इसलिये निर्बल "क्रम" से प्राप्त निरोध (प्रलय) स्कन्ध का अर्थ ग्रहण न कर फल देने वाला 'आश्रय' ही ग्रहण करना ठीक है ।। ४ ।।

यह (दशम) स्कन्ध अन्य स्कन्धों से उत्तम है कारण कि इसमें स्वयं भगवान श्री कृष्ण लीला पुरुषोत्तम की शुद्ध लीलाएं ही हैं । निरोध[1] (प्रलय) लीला (नैमित्तिक प्राकृत आदि) द्वादश स्कन्ध में है । इससे उस द्वादश स्कन्ध का अर्थ 'निरोध' है और दशम स्कन्ध का अर्थ आश्रय है ।। ६ ।।

सन्देह मिटाकर जो सिद्धान्त स्थिर किया जाता है उसको 'उत्तर पक्ष' कहते हैं:–उत्तर पक्ष की–

---

१ आचार्य श्री दशम स्कन्ध का अर्थ 'निरोध' स्वीकार करते हैं किन्तु 'निरोध' का अर्थ 'प्रलय' नहीं करते हैं निरोध को तीन अर्थों से समझाते हैं कि 'निरोध' क्या है ?

(१) जगत में स्वशक्तियों के साथ खेलना ।

(२) संसार रूप प्रपञ्च को भूलकर भगवान में भक्त की आसक्ति ।

(३) भक्त के लौकिक देहेन्द्रियादिकों का अलौकिक हो जाना ।

कारिकाएं–नहि सापेक्षरूपस्य प्रथमं सुनिरूपणम् ।
नवलक्षणलक्ष्यं सापेक्षो ह्याश्रयो रूप्यते कथम् ।। ७ ।।
अग्रे लीलाद्वयकथा (फलसिद्धौ) वृथा भवेत्
पूर्वोत्तरस्कन्धयोश्च नश्येत् कारणकार्यता ।। ८ ।।
कृष्णस्त्वेकादशेऽप्यस्त्यस्ति क्रमश्च स्वीकृतो भवेत् ।। ८½ ।।

कारिकार्थ–सर्ग, विसर्ग, आदि नव लक्षण की अपेक्षा वाले 'आश्रय' का प्रथम निरूपण नहीं हो सकता है, क्योंकि नवलक्षणलक्ष्य तो आश्रय है उसका दशम स्कन्ध में शुकदेवजी ने कैसे निरूपण (वर्णन) किया होगा ? क्योंकि जबकि दशम में आश्रय से फल-सिद्धि हो गई तो इसके पश्चात् दो लीलाओं का कहना किसी भी काम का नहीं रहता है वह तो वृथा ही हो जाता है इसके सिवाय आश्रय के पश्चात् मुक्ति और निरोध के वर्णन करने से स्कन्धों की आपस में कारण–कार्य सङ्गति भी नष्ट हो जाती है ।।७-८।।

यदि कहो कि दशम स्कन्ध में श्री कृष्ण की लीलाएँ है अतः इसका अर्थ 'आश्रय' ही है तो श्रीकृष्ण की लीलाएँ तो एकादश स्कन्ध में भी हैं । इन सब का पूर्वापर (आगा पीछा) विचारने से यही सिद्धान्त निःसंशय (बिना संशय वाला) सिद्ध होता है कि श्रीमद्भागवत में क्रमानुसार ही 'स्कन्धार्थ' निर्णय करना चाहिये ।। ८½ ।।

उत्तर पक्षीय कारिका की व्याख्याः—

दशम स्कन्ध में 'आश्रय' नहीं है किन्तु निरोध लीला हैं इस पक्ष को सिद्ध करने के लिये एवं वादी के पक्ष को अपूर्ण बताते हुए श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि, यदि दशमस्कन्ध में आश्रयलीला स्वीकार की जायगी तो श्रीशुकदेवजी के द्वितीय स्कन्ध में कहे हुए आश्रय को सर्ग आदि नवलीला की अपेक्षा (आवश्यकता) है । श्रीशुक का वह कहना निरर्थक (बिना मतलब का) होगा । वास्तव में श्री शुकदेवजी ने तृतीय स्कन्ध से सर्ग आदि लीलाएँ प्रारम्भ कर दशम में निरोध एकादश में मुक्ति एवं द्वादश में आश्रय का वर्णन किया है । श्री शुकदेवजी के इस क्रम का प्रबल प्रमाण यह है कि यदि परीक्षित का दशम में ही आश्रय सिद्ध हुवा होता तो न तो श्री शुकदेवजी को एकादश और द्वादश दो स्कन्धों के कहने की जरूरत होती और न परीक्षित को सुनने की ही चाह रहती । फिर तो यों मानना पड़ेगा कि दो स्कन्धों का कहना ही वृथा था । दशम में आश्रय मानना श्री शुकदेवजी की उक्तियों का अपमान करना है । इसके सिवाय दशम में आश्रय मानने से लीलाओं के परस्पर कार्य कारण की सङ्गति भी नष्ट होती है । जैसे—

प्रथम स्कन्ध में— अधिकारियों के साधन लक्षण हैं ।
द्वितीय स्कन्ध में— साधन युक्तों का श्रवण है ।
तृतीय स्कन्ध में— १. पहिली सर्ग लीला-निराकार का पुरुष शरीर धारण करना है ।

चतुर्थ स्कन्ध — २ विसर्ग लीला-पुरुष रूप से ब्रह्मादिकों की उत्पत्ति होना है।

पञ्चम स्कन्ध में — ३ उत्पन्न किये हुए सर्व की मर्यादा से स्थापना के लिये धर्मादि पुरुषार्थों का साधन है।

षष्ठ स्कन्ध में— ४. पुष्टिलीला-किन जीवों पर अनुग्रह है।

सप्तम स्कन्ध में— ५. उतिलीला-वैषम्य दोष के निवारण के लिये वासना है।

अष्टम स्कन्ध में— ६. मन्वन्तरलीला-वासना के मिटाने के लिये सद्धर्म्म का वर्णन है।

नवम स्कन्ध में— ७. ईशानुकथा-निवृत दोष वालों के लिये भक्ति चरित्र

दशम स्कन्ध में— ८. निरोधलीला, भक्तों की प्रपञ्च विस्मृति कराके भगवान् के स्वरूप में उनकी आसक्ति होना है।

एकादश स्कन्ध— ९. मुक्तिलीला, निष्प्रपञ्च अर्थात् जिनका प्रपंच (संसार) नाश हो गया है वैसे, तथा भगवान में आसक्ति वाले जीवों को स्वरूपज्ञान के द्वारा मुक्तिदान।

द्वादश स्कन्ध में— १०. आश्रयलीला, स्वरूपज्ञान द्वारा जीवन्मुक्त जीवों की ब्रह्मस्वरूप से स्थिति रूप 'आश्रय' है।

इस प्रकार स्कन्धों में जो कार्य कारण संबन्ध है वह दशम में आश्रय मानने से भङ्ग हो जायँगा अतः दशम का अर्थ 'निरोध मानना ही प्रमाण तथा युक्ति से सङ्गत (योग्य) है। दशमस्कन्ध में 'निरोध' लीला स्वीकार करने से श्रीशुकदेवजी के कहे हुए क्रम का भी समादर होगा।

कारिका—निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीड़नं हरेः ॥९॥
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम् ॥ ९½ ॥

कारिकार्थ—इस (पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) श्री हरि की, अपनी अचिन्त्य (जिसका विचार भी जीव नहीं कर सकता है) शक्तिओं सहित जगत् में क्रीड़ा करना ही 'निरोध' है।

व्याख्या— श्रीमद् भागवत की टीकाओं को देखने से प्रतीत होता (जाना जाता) है कि उन्होंनें भागवत् में दिये हुए 'निरोध' शब्द का वास्तविक (असली) अर्थ नहीं किया है। श्री शुकदेवजी के 'निरोध' शब्द का भाव न समझकर कहते हैं कि 'जीव का शक्तियों के साथ लय ही 'निरोध' है। यों अर्थ करना श्रीशुकदेवजी के कथन के विरुद्ध है। द्वितीय स्कन्ध के दशम अध्याय के ६ श्लोक में 'अस्य' शब्द दिया है, जिससे परमात्मा का बोध (ज्ञान) कराया है, नहीं कि जीवात्मा के लिये 'अस्य' शब्द दिया है। अतः आचार्य श्री ने इस कारिका में 'अस्य' शब्द का अर्थ स्पष्ट समझाने के लिए 'हरेः' तथा 'श्रीकृष्णस्य' भगवान के दो नाम दिये हैं। इसके सिवाय जो अन्य (दूसरे) दुष्ट राजाओं का नष्ट रूप प्रलय को 'निरोध' मानते है, वह भी सत्य पूर्ण नहीं है, कारण कि मारना आदि कार्य श्रीकृष्ण स्वयं तो करते नहीं है किन्तु सङ्कर्षणादि व्यूहों से करवाते हैं। श्रीकृष्ण ने तो वे लीलाएँ की हैं और करते हैं, जिससे भक्त जनों की अविद्या नष्ट हो और उनकी 'प्रभु' में आसक्ति हो, भक्तों की प्रभु में आसक्ति हो तथा प्रपञ्च को भूल जाय

यह ही प्रभु के प्राकट्य एवं लीला करने का हेतु है। दशम स्कन्ध में इस प्रकार की लीलाएं की गई हैं, अतः दशम स्कन्ध में जो 'निरोध' लीला का वर्णन है उसका सत्य अर्थ इस कारिका में आचार्य श्री ने स्पष्ट समझाया है।

श्रीमद्गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में विशेष रूप से समझाते हैं कि दशमस्कन्ध में ८७ अध्याय का कारण भी यह है कि (निरोध) का अर्थ (शयन) है। और शयन की तीन अवस्थाएँ हैं, प्रथम जाग्रत द्वितीय स्वप्न और तृतीय सुषुप्ति हैं। इसके सिवाय देह की ७२ नाड़ियां तथा आत्मा की श्री, कान्ति आदि १२ शक्तियां हैं। इन सब का योग (जोड़) ८७ होता है अतः (निरोधार्थ) दशमस्कन्ध के ८७ अध्याय भी (निरोध) लीला इस स्कन्ध के अर्थ का समर्थन करते हैं ॥ ९॥ ॥

कारिका—नैमित्तिकोनिरोधोऽन्यो धर्मग्लानिनिमित्ततः ॥ १० ॥

शब्दार्थ—धर्मग्लानि के निमित्त (कारण) से जो दुष्ट राजाओं का नाश रूप निरोध है वह सर्ग आदि दश लीलाओं से पृथक् (अलग) है।

व्याख्या—श्रीमदाचार्यचरण ने इस कारिका में आज्ञा की है कि दशम स्कन्ध में दुष्ट राजाओं के नाशरूप नैमित्तिक (कारण से होने वाले) प्रलय को मानना भी योग्य नहीं है, क्योंकि नैमित्तिक प्रलय रूप निरोध की सर्ग आदि दशलीलाओं में गणना नहीं की है। यहां इस स्कन्ध में तो श्रीशुकदेवजी के वचनानुसार, सर्ग आदि दशलीला द्वारा हुआ भगवदासक्ति रूप निरोध ही विवक्षित है।

कारिका—स चात्र नैव सद्ग्राह्यो हरिणा दुष्टभूभुजाम् ।
आद्यन्तयोरिहाभावान्मुक्तावप्यनुवृत्तितः ॥ ११ ॥
लक्षणस्याप्रवेशश्च लीलाधिक्यं तथा भवेत् ॥ ११½ ॥

शब्दार्थ— हरि ने दुष्ट राजाओं का नाश रूप जो (निरोध) किया है वह निरोध सत्पुरुषों को यहां ग्रहण नहीं करना चाहिये। यहां 'आदि' और 'अन्त' के प्रकरण में प्रलयात्मक (प्रलयरूप) निरोध का अभाव है। एवं मुक्तिलीला (एकादश स्कन्ध) में दुष्ट राजाओं का नाशात्मक निरोध है। इस निरोध (नाशात्मक) में निरोध के लक्षण नहीं हैं तथा दशलीला-से १ लीला भी विशेष होती है। अतः मारणरूप निरोध अलग होने से इस स्कन्ध में वह है यों कहना व्यर्थ है।

व्याख्या—भगवान् ने सङ्कर्षण व्यूह द्वारा जो दुष्ट नृपतियों (राजाओं) का नाश रूप निरोध किया है वह मुख्य निरोध का "अङ्ग" रूप निरोध है अतः वह दशम स्कन्ध का "अर्थ" रूप निरोध नहीं है। यदि कोई इस निरोध को ही दशम का अर्थ मानने का आग्रह (हठ) करे तो उसके उत्तर में आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि दशम स्कन्ध के पहिले जन्म प्रकरण-में तथा अन्तिम-गुण प्रकरण-में दुष्ट नाश रूप नैमितिक प्रलय रूप निरोध का लक्षण नहीं है, इसलिये हठ करने वाले वादी के कहने में अव्याप्ति दोष आता है,

उसके सिवाय एकादश स्कन्ध में भी प्रलय रूप निरोध की कथा है जिससे वादी के कहने में अति व्याप्ति दोष भी आता है और दश लीलाओं के स्थान पर एकादश लीलाएँ होती हैं। इन दोषों के कारण प्रलयात्मक निरोध को दशम स्कन्ध का अर्थ सत्पुरुषों को नहीं मानना चाहिये ॥ ११½ ॥

कारिका– तदर्थं जन्मकथनं पृथास्तोत्रविरोधि हि ॥ १२ ॥

शब्दार्थ–दुष्ट नृपपियों के नाश के लिये भगवान् ने अवतार लिया है यों मानना पृथा (कुन्ती) द्वारा की हुई स्तुति के विरुद्ध है ॥१२॥

व्याख्या—श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि बोपदेव ने भागवत का अर्थ करते हुए लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने दुष्ट राजाओं को नाशकर भूभार को उतारने के लिये अवतार लिया है, यह उनका कहना अपूर्ण है क्योंकि कुन्ती ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है कि—

तथा परम हंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।　　　स्क० अ० श्लो०
भक्ति योग विधा (ता) नार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ।　　　१ ८ २०

अर्थ— हे प्रभो ! यदि आपका प्राकट्य शुद्ध अन्तः करण वाले परमहंस मुनियों में भक्ति योग के विधान अथवा विस्तार के लिये नहीं होता तो हम स्त्रियां आपके दर्शन कैसे कर सकती ? इस प्रकार कुन्ती ने श्रीकृष्ण के प्राकट्य का कारण भक्ति विस्तार कहा है अतः दुष्ट वध को मुख्य कारण मानना असंगत है ॥ १२ ॥

कारिका– कार्यकारणहानिश्च प्रक्रान्तत्याग एव च
भक्तत्वाद्भुव उद्धारो भारहारान्निरूपितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ–दशम स्कन्ध में 'आश्रय' लीला मानने से, कार्य कारण की तथा उपक्रम की हानि होती है। इस स्कन्ध से भक्त-श्रेष्ठ-भूमि, के उद्धार का भूभार हरण करने से वर्णन किया है।

व्याख्या—द्वितीय स्कन्ध में कहा है कि (दशमस्य विशुद्धयद्धयर्थ नवानामिहलक्षणम्) दसवीं लीला आश्रय के विशेष शुद्धि के लिये यहाँ प्रथम सर्गादि लीलाएँ प्रारम्भ कर द्वादशस्कन्ध में आश्रय लीला कही है। इस प्रकार कारण कार्य सङ्गति तथा क्रम की रक्षा की गई है। उनका त्यागकर बीच में (दशम-स्कन्ध में) आश्रय मानने से कार्य कारण सङ्गति तथा क्रम का नाश होता है अतः बीच में आश्रय मानना असङ्गत (अयोग्य) है। सर्ग आदि नव लीलाओं के ज्ञान होने के अनन्तर (बाद) ही आश्रय का ज्ञान व प्राप्ति होती है। कारण कि पहली लीला कारण है दूसरी लीला कार्य है। इसी तरह सर्व लीलाओं का क्रमशः कारण कार्य सम्बन्ध होने से श्रीमद्भागवत में लीलाओं का वर्णन भी इसी क्रम से हुआ है।

अतः दशम में आश्रय अथवा दुष्ट मारण रूप प्रलय निरोध मानना सर्वथा असङ्गत है।

दशम में तो प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक भगवदासक्ति रूप मुख्य (निरोध) मानना ही सुसङ्गत है, इसलिये सुज्ञों को शास्त्रीय सिद्धान्त ही स्वीकार करना चाहिये।

कारिका— प्रकटः परमानन्दो यदा भूमेस्तदैव हि।
मर्दनक्लेशहानिः स्यादिति तस्याः समुद्यमः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—दुष्ट नृपतिओं द्वारा किये हुए पापादि भार से पीड़ित पृथ्वी का क्लेश तब निवृत हो जब स्वयं परमानन्द प्रकट हो; इसलिये पृथ्वी ने ही सफल उद्यम किया ॥१४॥

व्याख्या—भूमि बोझ से अत्यन्त पीड़ित हुई तब उस (पीड़ा) को मिटाने के लिये उसने उद्यम किया जो सफल भी हुआ। भूमि को दुष्टतापूर्ण मनुष्यों की अधिक संख्या बढ़ने के बोझ से पीड़ा नहीं होती है, क्योंकि पृथ्वी पर्वतादिकों का भार भी वहन करने में समर्थ है, किन्तु पाप के बोझ को सहन करने में असमर्थ है। पाप के बोझ की पीड़ा तो प्रभु के प्राकट्य के सिवाय नहीं मिटती है। जैसे सूर्य के उदय होते ही रात्रि का अन्धकार स्वतः (आप ही) नाश हो जाता है। वैसे ही प्रभु के प्राकट्य मात्र से भूमि की पीड़ा मिट जायेगी। अतः दशम के प्रथम अध्याय में भगवत्प्राकट्य के लिए पृथ्वी के किये हुए उद्यम का वर्णन है ॥१४॥

कारिका— ब्रह्मरुद्रादिदेवानामत एवान्यसंश्रयः।
भक्तानामेव निस्तारः कृतः कृष्णेन संसृतेः ॥१५॥
अतो निरोधो भक्तानां, प्रपञ्चस्येति निश्चयः ॥ १५½ ॥

शब्दार्थ—प्रभु के प्राकट्य के लिए ब्रह्मा, रुद्र आदि देवों को दूसरों का आश्रय[1] लेना पड़ा। दूसरी गौ (भगवान् की भक्त) का आश्रय लेकर भगवान् को प्रार्थना करने के लिए शिव आदि देव क्षीर-सागर पर गये। श्रीकृष्ण ने भक्तों का ही "संसार" नाश किया है, अतः प्रपञ्च से विस्मृतिपूर्वक भगवान में आसक्ति रूप निरोध भक्तों का ही हुआ है।

व्याख्या—जब भूमि पाप-बोझ से अति पीड़ित हुई और समझने लगी कि यह मेरा दुःख भगवान् के प्रकट होने के सिवाय नष्ट नहीं होगा।

भगवान् का प्राकट्य देवताओं को अभीष्ट (प्रिय) था किन्तु उनमें पृथ्वी जितनी न आर्ति थी और न वैसा अधिकार था। भगवान् तो आर्त एवम् भक्तों के दुःख दूर करने के लिए ही प्रकट होते हैं।

---

१ दूसरों का आश्रय—इसका भावार्थ बताते हुए श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि ब्रह्मा रुद्र आदि देव स्वयं प्रार्थना के लिये प्रभु के पास न जा सके जो वे अधिकारी न थे कारण कि जैसी आर्ति भूमि में है वैसी इन्होंमें नहीं है। अतः भक्तों का आश्रय लेकर प्रभु की सेवा करते हैं इसलिए गौ रूप पृथ्वी जो भक्त है, उसको साथ लेकर प्रभु के पास पधारे। तब भगवान् को प्रकट कराने के लिए प्रयत्न करने लगे।

वैसी योग्यता देवताओं में नहीं थी केवल पृथ्वी में थी। अतः ब्रह्मादि देवों को पृथ्वी का सहारा लेकर भगवान् के पास प्रार्थना के लिए जाना पड़ा।

यदि यहां (दशम स्कन्ध में) दुष्ट भूपति-नाथ-रूप निरोध माना भी जाय तो भी वह दशम का मुख्य अर्थ रूप 'निर्णय' नहीं माना जायेगा। कारण कि दशम में मुख्य 'निरोध तो वह है जो भगवान् प्राकट्य आदि लीलाओं द्वारा भक्तों के प्रपंच का नाश तथा भक्तों के अन्तःकरण में अपनी आसक्ति एवं लीलाओं की स्फूर्ति (फुरती-उत्साह) कराते हैं। यही मुख्य 'निरोध' दशम स्कन्ध का अर्थ है -

नवम स्कन्ध में वर्णन की हुई 'भक्ति' का जिन भक्तों के हृदय में आविर्भाव (प्रकाश) हुआ है, उन भक्तों के ही प्रपञ्च का नाश दशम में वर्णन किया है। लीलाओं द्वारा दुष्ट भूपतियों के प्रपञ्च का नाश नहीं किया है। अतः दशमार्थ (दशम स्कन्ध का अर्थ) भक्त प्रपञ्च नाशात्मक, भगवदासक्ति रूप (निरोध) ही है। भरताचार्य ने भी 'निरोध' का स्वरूप बताते हुए कहा है कि 'यातु व्यसन सम्प्राप्ति-निरोधः सतु कथ्यते' व्यसन दशा की पूर्ण प्राप्ति को 'निरोध' कहा जाता है ॥१५½॥

कारिका— यावद्बहिः स्थितोवह्निः प्रकटो वा विशेन्न हि ॥१६॥
तावदन्तः स्थितोऽप्येष, न दारुदहनक्षमः।
एवम् सर्वगतोविष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्विशेत् ॥१७॥
तावन्नलीयते सर्व–मिति कृष्णसमुद्यमः।
रूपान्तरम् तु नटवत्स्वीकृत्य त्रिविधान्निजान् ॥१८॥
प्रपञ्चा–भाव करणा–दुज्जहारेति निश्चयः ॥ १८½ ॥

कारिकार्थ–जब तक बाहिर की अग्नि प्रकट होकर काष्ठ में प्रवेश नहीं करती है तब तक काष्ठ के भीतर रही हुई अग्नि उसको (काष्ठ को) जला नहीं सकती है। इसी प्रकार परमात्मा जब तक बाहिर प्रकट होकर भीतर प्रवेश नहीं करते हैं तब तक अन्तः स्थित ईश्वर कुछ नहीं कर सकते हैं अर्थात् परमात्मा सर्वत्र व्यापक है एवम् देह इन्द्रिय आदि में भी स्थित है तो भी इन लौकिक देहादि (संसार) का लय नहीं कर सकते हैं। अतः जैसे अग्नि काष्ठ में प्रवेश कर उसको जला सकती है वैसे परमात्मा भी बाहिर प्रकट होकर भीतर प्रवेश करते हैं तब जीव की लौकिक देह इन्द्रियादि अलौकिक होती हैं। तात्पर्य है कि जीव का संसार नाश हो जाता है। इसलिए (जीव का संसार नाश कर अपने में आसक्ति कराने के लिए) ही श्रीकृष्ण का उद्यम है। श्रीकृष्ण में नटवत् रूपान्तर (मनुष्य रूप) स्वीकार कर तीन प्रकार के अपने भक्तों का प्रपञ्च नाश कर उद्धार किया है, यह निश्चय है ॥ १८½ ॥

व्याख्या– आचार्य श्री ने उपरोक्त कारिकाओं में दो शङ्काओं का निवारण किया है।

शङ्का १ – दशम स्कन्ध में हरि ने भक्तों के प्रपञ्च का नाश किया है, यह स्पष्ट देखने में नहीं आता है।

शङ्का २ – अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र व्यापक होने से सब में विराजमान् हैं, तो भीतर ही स्थित स्वरूप से, भक्तों के प्रपञ्च का नाश कर सकते थे, तो फिर प्रकट होने की क्या आवश्यकता थी ? प्रपञ्च का नाश करना तो भीतर का ही कार्य है अतः दुष्ट भूपतियों के नाश करने के लिये ही प्रभु का प्राकट्य हुवा है यों मानना ही सुसंङ्गत (योग्य) है और नृपतियों के नाशरूप प्रलय को ही 'निरोध' मानना चाहिये।

इन दोनों शङ्काओं का दृष्टान्त देकर निवारण करते हैं।

अग्नि सर्व व्यापक है अतः काष्ठ में भी स्थित है किन्तु वह अग्नि काष्ठादि को जला नहीं सकती है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव प्रबल है, अथवा लीला में जो कार्य जिस प्रकार करना है तथा जिस स्वरूप से करना है और जब करना है, वह कार्य उस प्रकार, उस स्वरूप से तथा उस समय किया जाता है। अतः अग्नि काष्ठ में होते भी काष्ठ को नहीं जलाती है समय आने पर बाहिर प्रकट होकर उस स्वरूप से काष्ठ में प्रवेश कर काष्ठ के काष्ठरूप को नष्ट कर उसको अग्निरूप प्रदान करती है, वैसे ही लीलात्मक जगत् में वस्तु के स्वभावानुसार प्रभु, सर्व व्यापक होते हुए भी, उस स्वरूप से भक्त के प्रपञ्च का नाश नहीं करते हैं किन्तु प्रकट होकर उस (प्रकट) स्वरूप से सत् (जड़-देहादि) और चित् (जीव) में आनन्द प्रकट कर भक्त को अलौकिक सच्चिदानन्द स्वरूप प्रदान करते हैं। जिससे भक्त का लौकिक प्रपञ्च नाश होकर भगवदा-सक्ति रूप फल मिल जाता है।

साधन से साध्य की प्राप्ति होती है। यहाँ भगवान् का शक्तियों के साथ प्रपञ्च में खेलना साधन (कारण) रूप निरोध है। भक्तों का भगवान में आसक्ति रूप निरोध "व्यापार" है और भक्तों के लिये प्रपञ्च का अभाव रूप 'निरोध' फल है। यह त्रिविध निरोध भक्तजनों को ही सिद्ध हुआ है न कि राजाओं को। अतः इस प्रकार का त्रिविध (तीन तरह का) 'निरोध' ही दशम स्कन्ध का अर्थ है।

श्री देवकीजी के गृह में चतुर्भुज स्वरूप से प्रकट होकर फिर बाल रूप से दर्शन देने लगे। इस का रहस्य भी कारिका में 'नटवत्' शब्द देकर बताते हैं कि जैसे नट कितने ही वेश बदलता है तो भी उसके मूल स्वरूप में थोड़ासा भी विकार वा भेद (फर्क) नहीं होता है, नट कोई भी वेश धारण करे तो भी नट का स्वरूप सब वेशों में वही रहता है, नट में उस समय भी वही सामर्थ्य मौजूद रहती है परन्तु नट खेल के कारण वेश के अनुकूल ही उस लीला का कार्य उस प्रकार करके दिखाता है, वैसे ही प्रभु भी त्रिविध भक्तों के उद्धारार्थ नटवत् रूप धारण करते हैं, जैसी जैसी भक्त की, भावना होती है प्रभु भी तदनुसार (उसी तरह का) रूप स्वीकार करते हैं। किन्तु उन रूपों के धारण करने से प्रभु स्वरूप में नटवत् कोई विकार का भेद फर्क नहीं होता है। यहाँ प्रभु की भक्ताधीनता लीला है।

प्रकरण ज्ञान—

कारिका– पञ्च प्रकरणान्यत्र चतुर्भिर्जन्म सत्पतेः ॥ १६ ॥
अष्टाविंशतिभिः पूर्वं तामसत्वाद्व्रजोद्धृतिः ।

तथैव राजसानां च यादवानां विशेषतः ॥ २० ॥
सात्त्विकानेकविंशत्या निःप्रपञ्चांश्चकार ह ।
भगवानेव नान्योत्र तदर्थं षड्भगाभिधाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थः– आचार्य श्री ने पूर्व कारिकाओं में स्कन्धार्थ का निर्णय किया है अब इस (दशम) स्कन्ध के प्रकरण विभाग बताते हैं।

दशम स्कन्ध में पाँच प्रकरण हैं—

(१) प्रकरण, जन्म प्रकरण है जिसमें भगवान् के जन्म का वर्णन हुआ है। उसके ४ अध्याय हैं।

२– प्रकरण, तामस प्रकरण है, जिसमें प्रथम तामस व्रज के उद्धार का वर्णन है, उसके २८ अध्याय हैं।

३– प्रकरण, राजस प्रकरण है, जिसमें राजस भक्तों का तथा विशेष प्रकार से यादवों का वर्णन है, उसके भी २८ अध्याय हैं।

४– प्रकरण, सात्विक प्रकरण है, जिसमें सात्विक भक्तों की कथा है, उसके २१ अध्याय हैं।

५– प्रकरण, गुण प्रकरण है, जिसमें भगवान् के षड्गुणों की की हुई लीला का वर्णन है, उसके ६ अध्याय हैं। इस प्रकरण में भगवान् का ही गुण रूप से वर्णन है न कि दूसरे किसी का वर्णन है। २१ ॥

व्याख्या– श्री आचार्य चरणों ने 'चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च' कारिका में तो प्रकरण विभाग का केवल इङ्गित (संकेत) ही किया है, उस प्रकरण विभाग को स्पष्ट समझाने की कृपा इन कारिकाओं में की है।

यहाँ यह समझना आवश्यक (जरूरी) है कि आचार्य श्री ने प्रकरण विभाग में जो अध्यायों की नियमित संख्या दी है, उसका भावार्थ क्या है ?

१— जन्म प्रकरण में ४ अध्याय इसलिये हैं कि भगवान् चतुर्मूर्ति स्वरूप (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध व्यूह स्वरूपों) से प्रकटे हैं। आप पूर्ण स्वरूप है, आपको सर्व प्रकार से (भूभारहरण आदि) कार्य करने पड़ते हैं अतः आप अपने साथ अपने सर्व परिकर (परिवार) को भी उन कार्यों को कराने के लिये ले आये थे। प्रत्येक अध्याय में एक एक व्यूह स्वरूप से आप प्रकटे हैं। ४ व्यूह हैं अत. प्राकट्य के ४ अध्याय हैं।

२– तामस प्रकरण में प्रमाण, प्रमेय साधन और फल के कारण ४ अवान्तर प्रकरण हैं। प्रत्येक (हर एक) अवान्तर प्रकरण में भगवान ने ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, इन छः धर्म स्वरूपों से तथा अपने धर्मी स्वरूप से लीला की है। इसलिये इनमें प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल के

७ - ७ अध्याय हैं जिससे चारों के मिलकर २८ अध्याय होते हैं। अतः तामस प्रकरण के २८ अध्याय हैं।

३– राजस प्रकरण में, भी तामस के समान २८ अध्याय हैं। उसमें भी प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल के ४ अवान्तर प्रकरण हैं। प्रत्येक ७ अध्याय का है।

४– सात्विक प्रकरण में- २१ अध्याय हैं, कारण कि उसमें प्रमेय, साधन और फल के होने से अवान्तर प्रकरण तीन हैं। सात्विकों को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कारण कि सात्विक जीव शुद्धान्तः-करण वाले होने से श्रद्धालु तथा संशय रहित होते हैं जिससे उनको प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

५– गुण प्रकरण में- ६ अध्याय इसी लिये हैं कि भगवान् ने इस प्रकरण में अपने ऐश्वर्यादि (६) छः धर्म स्वरूपों से लीला की है अर्थात् एक एक अध्याय में एक एक गुण द्वारा लीला की है।

पाठक समझ गये होंगे कि प्रत्येक प्रकरण में इसी भांति अध्यायों का विभाग क्यों किया है।

सात्विक राजस और तामस तीन प्रकार के भक्तों का लीला द्वारा जिसने प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक भगवदासक्ति रूप निरोध किया है, यह परात्पर भगवान् ही है। इसलिये पांचवें प्रकरण में भगवान् के षड्गुणों की स्वरूपात्मकता (षड्गुण भी भगवान् के ही स्वरूप हैं) यह दिखाई गई है। २१ कारिका में 'अन्य' (दूसरा) शब्द से यह कहा है कि यहाँ माया शबल ईश्वर, वा निर्धर्मक आदि स्वरूप नहीं है किन्तु शुद्ध, परात्पर, निर्गुण (लौकिक तथा प्रकृति के गुणों से रहित) श्रीकृष्ण ही लीला कर्त्ता है। अन्यथा (दूसरी तरह मायिक आदि) समझना भ्रान्तों की भ्रान्ति मात्र है ॥२१॥

प्रकरण विभाग से भी दशम स्कन्ध का अर्थ 'निरोध' ही निश्चित होता है। इसलिये दशम का अर्थ 'निरोध लीला' है। इसमें किञ्चतमात्र (थोड़ासा) भी संशय नहीं करना चाहिये।

कारिका– चतुर्मूर्तेर्जन्मतोत्र तथाध्याया निरूपिताः।
तत्तत्प्रकरणे तेषामुपयोगस्तु वक्ष्यते ॥ २२ ॥
हेतूद्यमस्वीकरण-कापट्यैः प्रथमो महान्।
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च वासुदेवस्तथापरः ॥ २३ ॥
हेतुश्च त्रिविधो ह्यत्र गुणा भक्ताहितप्रदाः।
कंसादेःकालतोऽज्ञानात्त्रिधा दुःखं तु तद्गतम् ॥२४॥

शब्दार्थ– इस जन्म प्रकरण में चतुर्मूर्ति भगवान् के प्राकट्य के कारण ४ अध्याय हैं। किस स्वरूप से कौनसी लीला की है वह उस प्रकरण में कहा जायेगा ॥२२॥

हेतु (कारण) उद्यम (प्रयत्न) स्वीकरण (दूसरा स्वरूप लेना) और कापट्य (छिपकर छल से कार्य करना) के कारण प्रथम प्रकरण (जन्म प्रकरण) महान् (बड़ा) है इसमें प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वासुदेव और सङ्कर्षण रूप से लीलाओं का वर्णन है ॥ २३ ॥

तीन गुणों के कारण दुःख भी तीन प्रकार के होते हैं। ये तीन गुण भक्तों को तीन

प्रकार के दुःख देने वाले हैं। भक्तों को कंसादि से, काल से तथा अज्ञान के कारण दुःख होने से, तीन प्रकार के दुःख हुवे थे। ये दुःख ही भगवान् के प्रकट होने में कारण हैं ॥२४॥

व्याख्या—जन्म प्रकरण के अध्यायों का अर्थ समझाते हुए, आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि पांचों प्रकरणों में जन्म प्रकरण उत्तम है क्योंकि इसमें परब्रह्म श्री कृष्णचन्द्र स्वयं निरोध तथा विविध प्रकार की लीलाओं के करने के लिये चतुर्मूर्ति[1] स्वरूप से प्रकट हुए हैं, इसलिये जन्म प्रकरण चार अध्यायों का है।

"प्रकरण" का अर्थ 'अङ्गी' (शरीर) है और अध्यायों का अर्थ 'अङ्ग' (भाग) है। अङ्गी जन्म प्रकरण के ४ अध्याय, ४ अङ्ग हैं। प्रथम अध्याय में हेतु, द्वितीय अध्याय में उद्यम, तीसरे में रूपान्तर ग्रहण (दूसरा रूप-ग्रहण) करना, चौथे अध्याय में माया का कार्य कापट्य (छिपा कर कार्य करना) का वर्णन है। इसके सिवाय प्रथम अध्याय में वासुदेव, द्वितीय में सङ्कर्षण, तृतीय में प्रद्युम्न और चतुर्थ में अनिरुद्ध रूप की लीलाओं का समावेश है।

प्रथम अध्याय में भगवान् के प्रादुर्भाव का कारण भक्तों का दुःख बताया गया है। भक्तों को गुणों द्वारा जो त्रिविध दुःख प्राप्त हुवा उसके निवारण (मिटाने) की शक्ति सिवाय भगवान् के और किसी भी दूसरे में नहीं है। प्रथमाध्याय में पृथ्वी, देवकीजी, यादव आदि भक्तों के दुःखों का वर्णन हुआ है।

कारिका— **भूमिर्माता तथा चान्ये दुःखभाजो हरिप्रियाः।**
यथायोग्यं दुःखमेषामत्रैवेति निरूप्यते ॥ २५ ॥
त्रयं भगवता शक्यं दूरीकर्तुमितीर्यते।
प्रश्नोऽप्यत्राधिकः प्रोक्तः स्कन्धद्वितयवर्तनः ॥२६॥
अनुवादः स्तुतिः प्रश्ने भक्तस्वज्ञापकावुभौ।
अन्यथा ह्यतिगुप्तार्थं श्रीशुको वर्णयेत्कथम् ॥२७॥
अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते।
प्राणनत्वं कथायाश्च दयासिद्ध्यै शुकस्य हि ॥२८॥
एवं प्रश्नो द्वादशभिः समतो गुणदोषगः ॥२८½॥

शब्दार्थ— पृथ्वी, माता देवकी और दूसरे भक्तों के यथा योग्य (जैसा जैसा जिसको) दुःख था उसका वर्णन यहां ही निरूपण किया गया है। ॥२५॥

तीन प्रकार के भक्तों का तीनों दुःख भगवान् के सिवाय अन्य कोई मिटाने में समर्थ नहीं है।

---

[1]पूर्णावतार में केवल भक्तों के निरोध के वास्ते ही प्राकट्य नहीं है किन्तु अन्य कार्य भी (भू-भार हरन आदि कार्य भी) करने हैं। अतः उनके लिये, स्वरूपात्मक (अपने ही स्वरूप के रूप) वासुदेव आदि चतुर्व्यूह रूपों को भी साथ में प्रकट किया है। इसीलिये भगवान् को 'चतुर्मूर्ति' कहा है।

दशम और एकादश स्कन्ध दोनों स्कन्धों को ध्यान में लाकर १ प्रश्न अधिक कहा गया है। अनुवाद और स्तुति ये दो ही परीक्षित का भक्त होना सिद्ध करते हैं। यदि परीक्षित भक्त नहीं होता तो श्री शुकदेवजी अति गुप्त अर्थ का वर्णन कैसे करते?

वह वर्णन श्री कृष्ण के स्वरूप के अज्ञान तथा अन्यथा ज्ञान (दूसरी तरह का झूठा ज्ञान) का निवारण करता है। कथा ही प्राण देने वाली है यह श्री शुकदेव के दयालुत्व की सिद्धि के लिये कहा है। अतः गुण तथा दोषों की समानता दिखाने के लिये १२ (द्वादश) श्लोकों से प्रश्न किये हैं। ॥२८½॥

व्याख्या—भगवान् के प्रकट होने का कारण भक्तों का दुःख है, भक्तों को दुःखी देखकर भक्तों के दुःखों को न सह सकने वाले भक्तवत्सल भगवान् भक्तों के दुःखों को मिटाने के लिए शीघ्र ही प्रकट होते हैं। इसलिए जन्म प्रकरण के ४ अध्यायों में से प्रथम[1] अध्याय में भगवान् के प्रकट होने का कारण जो भक्त दुःख हैं उसका वर्णन किया गया है। जब से कंस ने नारदजी के मुख से यह सुना कि व्रज में नन्द आदि गोप तथा उनकी स्त्रियें तथा यादव सब देवता हैं, तब से कंस ने यादव और नन्दादिकों को कष्ट देना प्रारम्भ किया।

भूमि को कंस आदि से दुःख हुआ था, माता देवकी को आकाशवाणी सुनने से दुःख उत्पन्न हो गया था और अन्य भक्तों (यादव नन्द आदि) को भगवान् के प्रकट होने के अज्ञान से दुःख था। यदि यादव और नन्दादि को भगवान् प्रकट होंगे, ऐसा ज्ञान होता तो वे दुःखी नहीं होते क्योंकि वे समझते कि ये दुःख ही भगवान् के शीघ्र प्राकट्य के कारण हैं किन्तु वैसा ज्ञान न होने से वे दुःखी थे। इन त्रिविध भक्तों को जो त्रिविध दुःख है वह भगवान् ही मिटा सकते हैं। अतः ये दुःख भी निरोध के अङ्ग हैं।

तीन प्रकार के भक्तों का दुःख भगवान् ने कैसे मिटाया, उसका प्रकार आचार्य ने निबन्ध में स्पष्ट रीति से समझाये हैं, जैसे कि—

१—कंसादि-वध से भूमि का कष्ट मिटाया।

२—भगवान् ने प्रकट होकर माता देवकीजी का दुःख मिटाया। भगवान् मेरे हैं, इस सम्बन्ध के ज्ञान से देवकीजी का दुःख नाश हुआ।

३—वचनामृत द्वारा यादव तथा अन्य भक्तों के दुःख दूर किये।

*** कारिका समाप्त ***

१—आचार्य श्री निबन्ध में लिखते हैं कि प्रथम अध्याय में चार प्रकरण हैं—(१) प्रश्न प्रकरण, (२) भूमि प्रकरण, (३) मातृ प्रकरण और (४) अन्य प्रकरण।

अतिशय स्नेह के कारण प्रथम देवकीजी के दुःख का नाश किया। व्रजस्थ भक्तों के आधिदैविक दुःख की निवृत्ति मूलस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र ने अन्यत्र (दूसरी जगह) की है। दशम स्कन्ध का प्रारम्भ नवम् तथा दशम् स्कन्ध के विषय को लक्ष्य में रखकर किया है।

परीक्षित दशम स्कन्ध के प्रारम्भ के १½ श्लोक में नवम् स्कन्ध का सूक्ष्म अनुवाद और भगवान् के चरित्र की स्तुति कर, श्री शुकदेवजो को अपना भक्तपन बताता है। इसलिए कि श्री शुकदेवजी भक्त समझकर अति गुप्त विषय भी बतावें। परीक्षित ने यह भी बताया है कि मुझे श्रीकृष्ण के स्वरूप का ज्ञान है, अतः मेरा जीवन प्राण अन्नजल नहीं है किन्तु श्रीकृष्ण कथामृत ही है। इसी भांति परीक्षित अपने को आर्त-भक्त बताकर श्री शुकदेवजी की दया सम्पादन (प्राप्त) करना चाहता है तथा भगवत्कथा सुनने का मैं अधिकारी हूँ, यह भी बताता है।

श्री शुकदेवजी ने प्रश्न द्वारा परीक्षित को अधिकारी समझ दयार्द्र (दया से गीले) हृदयवाले हों, परीक्षित की उत्कट (तेज) आकांक्षा (अभिलाषा) को पूर्ण करने के लिए श्रीमद्भागवत सुनायी है।

जैसे भगवान् में गुण उत्कट हैं, वैसे ही लोक में ६ दोष भी उत्कट हैं। दोनों की समता के कारण ही प्रश्न के द्वादश (१२) श्लोक हैं।

प्रथम अध्याय

प्रश्न प्रकरण—नवम् स्कन्ध में भक्तों के चरित्रों का वर्णन करके भक्ति का प्रतिपादन (समर्थन) किया गया है। जिससे राजा परीक्षित को श्रीकृष्ण भगवान् के चरित्र श्रवण करने की उत्कण्ठा हुई। अतः पूर्व स्कन्ध (नवम्) में कही हुई कथा का सार १½ श्लोक से वर्णन करते हैं।

राजोवाच-कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः।
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥१॥
यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम ॥

श्लोकार्थ—राजा परीक्षित कहने लगा—हे मुनियों में परमश्रेष्ठ! आपने चन्द्र और सूर्य के वंश का विस्तार से वर्णन किया एवम् उन वंशों में पैदा हुए राजाओं के परम अद्भुत चरित्र भी कहे और स्वभाव से धर्मात्मा यदुराजा का सम्पूर्ण चरित्र कहा ॥ १½ ॥

श्री सुबोधिनी—भक्तत्वादेव तत्रत्यानां वंशयोर्विस्तार उक्तः। अभ्यर्हितत्वात्सोमस्य पूर्वनिपातः। वंशविस्तारप्रश्नभ्रमं वारयति-विस्तार इति। अन्यतमकथननिवारणायोभयग्रहणम्। रात्रिन्दिवं सर्वेषां सर्वान्धकारनिवारकत्वाद्वंशविस्तारकथनं युक्तमिति पूर्वोक्ताभिप्रायं च वदन् स्वस्य श्रोतृत्वं च समर्थयति—उभयवंश्यानां राज्ञां चरित्रमपि कथितमिति। उत्पत्त्यैव भक्ताः। चरित्रमपि तेषामन्येषां भक्तिजनकमित्यम्बरीषादेश्चरित्रस्य तथात्वात्पृथगनुवादः। अत्र षष्ठी जननसम्बन्धप्रतिपादिका। चकारात्तत्र भगवतोऽपि चरित्रं प्रतिपादितमित्युक्तम् विशेषतोभिप्रायेण कथने श्रवणे च हेतुः परमाद्भुतमिति। परमेण भगवता, परमया भक्त्या वा ॥१॥ यदोः पितुरादेशोल्लङ्घनादधर्मपरत्वेन कथनायुक्तत्वमाशङ्क्य जराया भगवद्भजनप्रतिबन्धकत्वान्मुख्यपितुः सेवार्थं गौणपितुराज्ञोल्लङ्घनं युक्तमित्याह—यदोश्चेति। धर्मशीलस्येति पृथगनुवादे हेतुः। जरया च धर्मनाशः। शीलपदेन पितुर्धर्माज्ञानमुक्तम्। पुत्रवयसा तन्मातृसम्बन्धस्यात्यन्तमयुक्तत्वात्। अतो भगवदवतारात्पूर्वमेव पूरोर्वंशो निर्वर्त्तितः। अन्यथा तैः भगवत्सम्बन्धोऽपि न युक्तः स्यात्। भीष्मस्य वस्ववतार—

अनुवाद—चन्द्र तथा सूर्य वंश के राजा भक्त थे। इसी कारण से उनके चरित्रों का वर्णन विस्तार से किया है। नवम् स्कन्ध में सूर्यवंश का वर्णन पहले और चन्द्रवंश का पीछे किया है। यहां वैसा न कहकर 'सोम' शब्द पहले और 'सूर्य' शब्द पीछे दिया है इसका कारण यह है कि यहाँ चन्द्रवंशीय श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र का प्रधान रूप से वर्णन कराना है और वह सर्व से विशेष पूजनोय है। उसके श्रवण की हो परोक्षित को उत्कट विशेष अभिलाषा थी। मैं उनके चरित्रों का पुनः विस्तार कराऊँगा। इस प्रकार के प्रश्न के भ्रम का निवारण 'विस्तार' शब्द देकर किया है। जैसा कि आपने चन्द्र तथा

सूर्य दोनों के वंश का वर्णन विस्तारपूर्वक कर दिया है अतः पुनः उसके वर्णन के विस्तार की आवश्यकता नहीं है। आपने जो दोनों वंशों का विस्तार से वर्णन किया है, वह योग्य ही है। जैसे सूर्य दिन के अन्धकार का नाश करता है तथा चन्द्र रात्री के अन्धकार का नाशक है। ये दोनों मिलकर सम्पूर्ण अन्धकार को मिटा देते हैं वैसे ही दोनों के चरित्र सब प्रकार के मनुष्यों के सकल अज्ञान अर्थात् अन्धकार को मिटाकर भक्ति का प्रकाश करेंगे तथा राजा परीक्षित ने यों कहकर अपने में श्रोता होने की योग्यता भी बतादी है। वे राजा उत्पत्ति से ही भक्त थे अर्थात् स्वभाविक, सहज भक्तिमान् थे। केवल स्वयं भक्त नहीं थे, किन्तु उनके चरित्रों से अन्यों में भी भक्ति उत्पन्न होती है। राजा अम्बरीष आदि के चरित्र वैसे होने के कारण पृथक कहे गये हैं। श्लोक में 'च' शब्द इसलिए दिया है कि नवम् स्कन्ध में केवल चन्द्र और सूर्य वंश का वर्णन ही नहीं किया है किन्तु भगवान् का चरित्र भी कहा है। जब वहां भगवान् के चरित्र भी कहे हैं तो फिर अब उस विषय पर प्रश्न क्यों? इसके लिए कहते हैं कि 'परमाद्भुतम्' भगवान् के चरित्रों के श्रवण से उन चरित्रों में जो अद्भुतता प्रकट होती है उससे हृदय में भगवदानन्द की स्फूर्ति होती है तथा उसके श्रवण से वह भक्ति उत्पन्न होती है जिससे परब्रह्म का स्वरूप एवम् लीला आदि समझ में आकर आनन्द मिलता है ॥१॥

जिसने पिता की आज्ञा नहीं मानी उस यदु को अधर्मी कहना चाहिए था, वह न कह उसको परीक्षित ने 'धर्मशील' कैसे कहा? इस शङ्का का निवारण करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि यदु पिता की आज्ञा न मानने से अधर्मी नहीं हुआ है किन्तु उसने अपने धर्मात्मापने को दृढ सिद्ध कर बताया है जैसा कि यदु को यह ज्ञान था कि मुख्य पिता भगवान् है, यह पिता केवल देह सम्बन्धी है तथा इस जन्म के पिता होने से गौण है। युवावस्था देने से एक तो मुख्य पिता की सेवा, बुढापे के कारण छूट जायेगी। और मेरे मुख्य धर्म का नाश होगा तथा मेरी युवावस्था से मेरी माता से सम्भोग होगा वह पाप है। अतः यदु ने युवावस्था न देकर धर्म की रक्षा की। परीक्षित ने 'शील' पद देकर यह कहा है कि यदु ने स्वभाव से समझ लिया कि मेरे पिताजी को इस समय धर्म का अज्ञान हो गया है अर्थात् वे धर्म को भूल गये हैं इसलिए मुझसे युवावस्था मांग रहे हैं।

जिस पुत्र 'पुरु' ने अपनी युवावस्था पिता को देकर अधर्म किया इसलिए भगवान् ने अपने प्राकट्य होने से पूर्व उसके वंश का इसीलिये नाश कर दिया कि उससे मेरा सम्बन्ध न हो क्योंकि उससे मेरा सम्बन्ध होना योग्य नहीं है।

भीष्म से सम्बन्ध इसीलिए अयोग्य नहीं है कि वह वस्तु का अवतार और भक्त है। भीष्म में केवल पुरुवंश का बीज होने से दोष है। इसलिये उसको (भीष्म को) आगे तिमिङ्गिल (अपने जातीय बान्धवों को निगलने वाला मत्स्य) कहेंगे। अतः यदु स्वभाव से ही धर्मरूप है, इसलिए उसके वंश का सम्पूर्ण वर्णन करना सर्वथा योग्य है। जो मनन करते रहते है वे 'मुनि' हैं। मुनि होकर जिन्होंने ज्ञान भी प्राप्त कर लिया है वे 'मुनिसत्' (मुनियों में उत्तम) हैं और 'मुनिसत्' होकर जिन्होंने भक्ति प्राप्त कर

अपने को भगवद्भक्त बना लिया है वे 'मुनिसत्तम' हैं। श्री शुकदेवजी मननशील, ज्ञानी एवम् भक्त थे। इसलिये परीक्षित ने श्री शुकदेवजी को 'मुनिसत्तम कहा है।

इस प्रकार पूर्व स्कन्ध का १ श्लोक में आशय कह कर अब निम्न १½ श्लोक से राजा परीक्षित भगवान् के पराक्रम तथा चरित्र पूछते हैं।

तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः ॥२॥
अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः।
कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥३॥

श्लोकार्थ—यदुवंश में अंश से प्रकट हुए विष्णु के पराक्रमों को हमें सुनाओ। भूतमात्र (सकल जगत) का पालनकर्त्ता विश्व की आत्मा भगवान् ने यदु के वंश में अवतार लेकर जो चरित्र किये वे विस्तार से कहिये।

श्री सुबोधिनी—

त्वात् सम्बन्धोऽपि। दोषस्तु तत्कृत एव। अग्रे च तेषां तिमिङ्गिलत्वं वक्ष्यति। अतो यदुः स्वभावत एव धर्मरूपः। अत एव तद्वंशस्य च नितरां कथनमुक्तम्। मननशीला मुनयः तत्रापि प्राप्तज्ञानाः सन्तः। तादृशा अपि भक्ता अतिशयिताः। अनुवादप्रश्नयोर्मध्ये मुनिसत्तमेतिसम्बोधनमुभयहेतुत्वार्थम्। एवमनूद्य, भगवतो वीर्याणि चरित्राणि च पृच्छति सार्द्धेन—तत्रांशेनेति। तत्रैव वंशे। विष्णोर्व्यापकस्य। सर्वत्रोद्गमने प्रयोजनाभावात्, प्रपञ्चविलयप्रसङ्गाच्च तत्रैव वंशेदेवकीगृहदेशे मादृग्मेन प्रकटित परमानन्दस्य तावति देशे तेन प्रकारेण मायां दूरीकृतवानिति अंश एव स भवति। द्वितीयस्कन्धविवरणे चैतत् समर्थितम्, 'अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लस' दित्यत्र . शास्त्रार्थापरिज्ञानादंशभगवत्पदाभ्यां लोको भ्राम्यति। अंशावतारप्रसिद्ध्या वा प्रश्ने तथोक्तम्। प्रद्युम्नांशेनेति केचित्, वंशसम्बन्धस्तस्यैवेति। अवतरणं वैकुण्ठादत्रागमनम्। तच्च तत्त्वद्वारापि भवतीति तन्निवारणार्थं साक्षात्त्वकथनाथ विष्णोरित्युक्तम्। माहात्म्यज्ञानार्थं वीर्याणां प्रश्नः। अचिन्त्यैश्वर्यबोधकानि चरित्राणि वीर्याणि। शंस कथय। सूक्तसाधारण्येनानुशासनरूपेण कथयेत्यर्थः। न इति विशेषतः स्वस्य तदाकांक्षित्वं निरूपितम् ॥२॥ स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वाच्चरित्रमात्रमेव पृच्छन् मत्स्याद्यवतारेष्वप्ययमेव भगवानवतीर्ण इति, तस्य च वीर्याणि चरित्रं चोक्तमिति व्यर्थः प्रश्न इति शङ्कां निवारयति—अवतीर्येति।

यदोर्वंशे भगवानवतीर्य यानि कृतवांस्तानि सर्वाण्येव कथयेतिसम्बन्धः। वीर्याधिक्यास्तित्वकथनाय बहुकालावस्थानं सूचयति—वंश इति। तच्चरित्रं सर्वमेव धर्मात्मकमपीति वक्तुं यदुसम्बन्धः। असमासस्तु ततोऽप्याधिक्यसूचकः।

व्यसनावेशतया अप्रयोजककरणं वारयति–भगवानिति । अवतारप्रनौजनं सामान्यतः स्वज्ञात-माह–भूतभावन इति । भूतानि भावयत्यनुभावयतीति । भगवानेव संसारे स्थितो न बद्ध्यते । अन्ये तु बद्धयन्त इति निर्द्धारितत्वाद्भगवद्भावेनान्येऽपि चेद्भाविताास्ते कृतार्था भवन्तीति भगवदवतारः । एवमवतीर्य यानि कृतवान्, इच्छयापि तत्रत्यानां मुक्तिदानसामर्थ्ये विद्यमा-नेऽपि यत्कार्याणि कृतवाँस्तदग्रिमप्रयोजनार्थमेवेत्यवसीयते । अत एव व्यासावतारः । ज्ञातानि तान्युपयुज्यन्त इति । एतज्ज्ञापयति विश्वात्मेति । भगवानेव स्वतन्त्रतया यदि हितं न कुर्यात्तदान्योन्याश्रयः प्रसज्ज्येत । स्वतःकरणे विश्वात्मत्वं हेतुः । तानि सर्वाण्येव, पूर्ववन्नो वद । यद्यपि 'जातो गतः पितृगृहा' दित्यत्र, द्वितीयस्कन्धादिषु च चरित्रमुक्तं, तथापि विस्तरेण कथयेत्याह–विस्तरादिति ॥३॥ एवं भगवद्वीर्याणां चरित्रस्य च प्रश्न–मुक्त्वा चरित्रस्य भगवतश्च माहात्म्यमाय त्रिभिः । भगवतो माहात्म्यं द्विविधम् । अदृष्टदृष्ट–भेदेन । तत्र प्रथमं चरित्रमाहात्म्यमाह—निवृत्तेति ।

अनुवाद—श्लोक में 'विष्णु' (सर्व व्यापक परमात्मा) के पराक्रम को पूछते हुए 'अंश' कहा जिससे लोकों को यह भ्रम हो जाता है कि कृष्ण पूर्णावतार नहीं है किन्तु अंशावतार है। अतः आचार्य श्री इस भ्रम के निवारण के लिए 'अंश' शब्द देने का आशय बताते हैं कि सर्व व्यापक भगवान् जिस स्थान (देवकी के गृह–कारागृह) में प्रकट हुए उस स्थान में माया को दूर कर आपने अपना प्रकाश किया, इस आशय से 'अंश' शब्द दिया है, यदि सर्व व्यापक परमात्मा सर्वत्र माया को हटा देते तो जगत् का विलय (नाश) हो जाता जिससे लीला हो नहीं सकती थी एवम् सब जगह से माया को हटाने का कोई प्रयोजन भी नहीं था। अतः जितनी जगह से माया हटाने की आवश्यकता थी उतनी जगह से माया हटाकर वहाँ प्रकट हुए। यही कारण 'अंश' पद देने का है, प्रभु तो स्वयं सर्व व्यापक रूप से प्रकट हुए हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण द्वितीय स्कन्ध में 'अदीन लीला हसित' श्लोक में कर दिया है अथवा 'अंशावतार' प्रसिद्ध है इसलिए परीक्षित ने प्रश्न में यों कह दिया है। कितनेक 'अंश' शब्द से यह आशय प्रकट करते हैं कि प्रद्युम्न अंश से भगवान् प्रकट हुए हैं कारण कि यदुवंश से सम्बन्ध प्रद्युम्न अंश का ही है। श्लोक में कहे हुए 'अवतीर्णस्य' शब्द का भाव बताते हैं कि वैकुण्ठ से पृथ्वी पर पधारना अवतार है। वह तत्त्वों के द्वारा भी हो सकता हैं। इस शंका को दूर करने के लिए 'विष्णोः' पद देकर यह बता दिया है कि तत्त्वों द्वारा पधारना नहीं हुआ है किन्तु साक्षात् सर्व व्यापी विष्णु स्वयं पधारे हैं। परीक्षित ने वीर्यों का प्रश्न इसलिए किया है कि भगवान् के चरित्र अचिन्त्य ऐश्वर्य प्रकट करने से वे पराक्रम वाले हैं जिनसे भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होता है। वे सुन्दर ढंग से वा उपदेश रूप से कहो। यहाँ परीक्षित ने 'नः' हमको कहो कहकर यह बताया है कि दूसरों को उन चरित्रों के सुनने की कितनी आकांक्षा है वह तो पता नहीं किन्तु मुझे तो विशेष रूप से सुनने की अभिलाषा है। अतः मुझे सुनाओ यद्यपि 'नः' बहुवचन से सब सुनें वैसा उदारता भी बताई है।

स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप होने से भगवान् के केवल चरित्रों का ही जब प्रश्न किया है तो वह प्रश्न व्यर्थ है, कारण कि मत्स्य आदि अवतारों में भी ये ही भगवान् प्रकट हुए हैं। इस शङ्का का निवारण करने के लिए कहते हैं कि, मैं अन्य अवतारों के चरित्र नहीं पूछ रहा हूं, मुझे तो केवल वे चरित्र सुनाओ जिन चरित्रों को भगवान् ने यदु के वंश में प्रकट होकर किये हैं। वे सब चरित्र कहो। 'वंश' शब्द कहकर यह बताया है कि वहां के किये हुए चरित्रों में पराक्रम की अधिकता है एवम् प्रभु उस वंश में विशेष समय तक भी बिराजे हैं। यदु के वंश में होने से भगवान् के सब चरित्र धर्म रूप हैं। श्लोक में 'यदोः वंशे' कहा है, समास करते तो 'यदुवंशे' कहते। समास न करने का कारण यह है कि यदु के चरित्र धर्म रूप थे किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र उनसे भी विशेष धर्म रूप हैं।

'भगवान्' शब्द कहने का आशय बताते हैं कि सात प्रकार के जो व्यसन[1] हैं वे सात ही यहाँ इस स्वरूप में निरर्थक हैं अर्थात् वे अपना प्रभाव इस पर नहीं चला सकते हैं। कारण कि भगवान् में ऐश्वर्यादि छः गुण हैं और सातवें आप धर्मी रूप हैं इसलिए सातों व्यसनों का भगवान् में अभाव है।

राजा परीक्षित ने अपनी बुद्धि से साधारणतः जो भगवान् के अवतार का प्रयोजन जाना वह 'भूत भावनः' पद से कहा है। इस पद का अर्थ है कि भगवान् भूतों को आनन्द देने वाले हैं अर्थात् भगवान् का अवतार जीवों के कल्याण के लिये है। भगवान ही संसार में रहते हुए बन्धन में नहीं आते हैं, दूसरे तो बन्धन में फंस जाते हैं। यदि वे भी भगवान् के चरित्रों को श्रवण कर उनके प्रेम से पूर्ण हो जावे तो संसार बन्धन से छूट जाते हैं, इसलिए भगवान् का अवतार है।

इस प्रकार अवतार लेकर आप इच्छा से भी वहाँ के निवासियों को मुक्तिदान कर सकते थे तो भी जो चरित्र आपने किये हैं वे आगे के प्रयोजन के लिए किये हैं,अर्थात् जब भगवान् प्रकट विराजमान् न हो तो उन चरित्रों को सुनकर संसार-बंधन से छूट जावे इसके लिए किये हैं। इसी कारण से व्यासजी[2] का अवतार है। भगवान् के चरित्र लाभदायक तब होते हैं जब उनको पूर्ण रूप से जाना जाता है। पूर्ण रूप से उनका ज्ञान क्या है? उसको समझाने के लिए कहते हैं कि भगवान् 'विश्वात्मा' हैं। अतः प्रभु जीवों का हित स्वयं स्वतन्त्र रूप से करते हैं। इसलिए अनेक प्रकार की लीलाएँ कर जीवों की अविद्या आदि नाश करते हैं, जिससे उन जीवों में स्वतः बिना साधन भगवान् में प्रेम होने से उनका (जीवों का) हित हो जाता है। यदि भगवान् इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से स्वतः जीवों का कल्याण न करें तो 'अन्योऽन्याश्रय' दोष हो जावे। जैसे कि यदि भगवान् जीव का हित न करें तो जीव को अपने हित के लिये भक्ति का आश्रय लेना पड़े और भगवान् तब हित करें जब जीव भक्त हो। इस प्रकार जीव को भक्ति का आश्रय लेना पड़े (साधन करना पड़े) और भगवान् को भक्त का आश्रय करना पड़े जिससे भगवान् का विश्वात्मा होना एवम् स्वातन्त्र्य अन्योन्याश्रय दोषयुक्त हो जायगा। अतः भगवान् में यह दोष न हो, इसलिये स्वयं स्वतन्त्र होने से जीवों का हितकर अपने विश्वात्मापन तथा स्वातन्त्र्य का परिचय देते हैं। यह ज्ञान जब जीव को दृढ होवे तब भगवल्लीला लाभदायक होती है।

---

१ क्षुधा, प्यास, रोग, कर्म, जूआ, मदिरापान और स्त्री संग।

२ व्यासजी ने उन लीलाओं को समाधि में अनुभव कर भागवत् में कहा है जिनको सुनकर जीव बन्धन से छूटते हैं।

यद्यपि 'जातोगतः पितृगृहात्' जन्म लेकर पिता के घर से चले गये और द्वितीय स्कन्ध में भी चरित्र कहे हैं तो भी अब यहाँ वे सब पूर्व की तरह कहो किन्तु विस्तार से कहो।

इस प्रकार भगवान् के वीर्य और चरित्रों का प्रश्न कहकर अब भगवान् का और उनके चरित्रों का माहात्म्य तीन श्लोकों से कहते हैं। माहात्म्य दो प्रकार का है। पहला अदृष्ट (जो देखने में नहीं आता है) दूसरा दृष्ट (जो देखने में आता है)

प्रथम 'निवृत्ततर्षै' श्लोक से चरित्र का माहात्म्य कहते हैं—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥४॥

श्लोकार्थ—वह भगवान् की कथा जो तृष्णा रहित पुरुषों से गायी जाती है तथा जो संसार रोग की औषध रूप है और कानों तथा मन को आनन्द देने वाली है वैसी भगवान् के गुणानुवादरूप कथा से अपने जीव की हत्या करने वाले व्यक्तियों के सिवाय और कौन पुरुष है जो विरक्त (उदासीन) होगा ? अन्य कोई नहीं।

कारिका— स्वरूपतः फलतश्चापि महापुरुषयोगतः।
विषयोत्तमतश्चापि चरित्रं परमं मतम् ॥१॥
मुक्तस्यकार्यमेतद्धि मुमुक्षोर्भवनाशकम्।
अनिन्द्य विषयश्चायं विषयेऽस्मिन् यतेद्ध्रुवम् ॥
आत्मघाती कर्मजड़ो निन्दितार्थरतः सदा।
पशुस्त्रीव्यतिरिक्तश्चेत्, विरक्तो न ततः पृथक् ॥३॥

कारिकार्थ—स्वरूप से, फल से, महापुरुष के सम्बन्ध से और विषय की उत्तमता से श्री भगवान् के चरित्र उत्कृष्ट (उत्तम) हैं ॥१॥

मुमुक्षु, मोक्ष की इच्छा वाले का भव संसार नाश करना मुक्त जीवन्मुक्त का कर्त्तव्य है। यह चरित्र अनिन्द्य, जिनकी निन्दा न हो सके बल्कि प्रशंसा की जाय वैसे हैं इसलिए विरक्त को गुणों के गान में निश्चयपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए ॥२॥

जो कोई भी यदि भगवान् के चरित्रों के गुणगान से विरक्त (उदासीन) हो तो समझना चाहिए कि वह आत्मघाती, कर्मजड़, निन्दितार्थरत, पशु वा स्त्रीजीव, इन पांच में से कोई भी एक है। वैसे जीवों के सिवाय अन्य भगवान् के गुणगान से प्रेम करते ही हैं ॥३॥

व्याख्या–भगवान् के चरित्र 'निर्वृत्ततर्षैरुप[1]गीयमानात्'[1] इस विशेषण से बताया है कि ये चरित्र फल रूप होने के कारण ब्रह्मानन्द से भी अधिक रसरूप हैं अतः स्वरूप से उत्तम हैं।

'भवौषधात्'[2] इस विशेषण से यह बताया है कि भगवान् के चरित्र अविद्या से उत्पन्न होने वाले अहन्ता ममता आदि संसार रूप दोष की औषध है जिसका उत्तम फल इन दोषों की निवृत्ति है।

'महापुरुषयोगतः' इस विशेषण से यह बताया है कि इन चरित्रों से महापुरुष (भगवान्) से सम्बन्ध होता है। अतः चरित्र का भी महत्व है। कारिका में 'चरित्र का विशेषण 'परमं' दिया है उससे तो स्पष्ट चरित्र की विशेष उत्तमता बताई है। क्योंकि इन चरित्रों के श्रवण से व गुणगान से, पर पुरुषोत्तम स्वरूप का पूर्ण ज्ञान (अनुभव) हो जाता है।।१।।

द्वितीय कारिका में 'अनुवाद' का उत्कर्ष (बड़ाई) बताते हैं। यह अनुवाद करना अर्थात् भगवान् के चरित्र स्वयं सुनकर व पढकर पुनः दूसरों को सुनाना एवं समझाना जोवन्मुक्त अर्थात् जिसकी अहन्साममता नाश होकर भगवान् में आसक्ति हो गई है उन पुरुषों का कर्त्तव्य है। इसलिए भागवत् के श्लोक में 'निवृत्ततर्षैः कहा है। ऐसा कहने से यह शङ्का हो सकतो है कि तब जिनका संसार नाश नहीं हुआ हो क्या वे नहीं सुन सकते हैं ? इस शङ्का के निवारण के लिये दूसरा विशेषण 'मुमुक्षोः' दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि संसार नाश न भी हुआ हो परन्तु मन में यह चाहना हो कि मैं इस ससार से छूट जाऊँ, मेरा मोक्ष हो, वैसी चाहना वाले भी श्रवण कर सकते हैं। कारण कि ये चरित्र संसार नाशक औषधि है। अतः संसार नाश के लिये उनको भी अवश्य सुनने चाहिये। चरित्रों का उत्कर्ष इसलिए है कि चरित्र का 'विषय' भगवान् में आसक्ति कराने में 'अनिन्द्य'[1] है।

स्वरूप और फल से उत्तम तथा अनिन्द्य विषय होने से संसार से विरक्त अर्थात् भगवान् के रस में आसक्त पुरुषों को इसमें भगवान् के चरित्रों के गुण गान में) निश्चय-प्रयत्न[2] करना चाहिए।

तृतीय कारिका में कहते हैं कि प्रभु के चरित्रों का गुणगान अन्तःकरण के दोषों का नाश करने वाला है। जो मनुष्य उस गुणगान से प्रेम नहीं करता है अर्थात् उदासीन रहता है वह 'आत्मघाती' (अपनी हत्या करने वाला) है।

गुणानुवाद, मोक्ष का साधन है, जो इस साधन रूप गुणानुवाद से दूर रहता है वह 'कर्मजड़' (कर्तव्य का पालन नहीं करने वाला) है।

---

१ ये चरित्र फल रूप होने से इनका गान भी वे कर सकते हैं जिनके तृष्णादि दोष अन्त करण से नष्ट हो गये हैं अर्थात निर्दोष अन्तःकरण वाले ही इन चरित्रों का गान करते हैं।

२ 'संसार की औषधि' है। इन चरित्रों के गान से प्रतिबन्धक (रुकावट करने वाले) दोष नाश हो जाते हैं। अतः गुणगान को औषध कहा है। दोष नाश करने वाले फल से भी उत्तम है।

१ दूसरे विषय संसार में आसक्ति कराने वाले हैं। अतः वे निन्द्य हैं, यह विषय भगवान् में आसक्ति कराने से अनिन्द्य है।

२ कारिका में 'यतेत्' की तरह 'पतेत्' पद भी है, जहाँ पतेत् हो उसका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि जो पुरुष भगवान् के चरित्रों के गुणगान से प्रेम नहीं करता है वह अवश्य ही गिरेगा अर्थात् उसकी बुरी गति होगी।

चरित्र, कर्ण तथा मन को आनन्द देने वाला अनिन्द्य विषय है। जो इस अनिन्द्य विषय में आसक्ति नहीं करता है वह 'निन्दितार्थ रत' है।

'आत्मघाती', 'कर्मजड़' और 'निन्दितार्थ रत' अर्थात निन्द्य लौकिक विषयों का स्नेही इन तीनों के सिवाय 'स्त्री-जीव' और 'पशु-जीव' गुणानुवाद से विरक्त रहते हैं। आत्मघाती, कर्मजड और निन्दितार्थरत ये तीन ही पशुघ्न[1] (जीव-हत्यारे) हैं। स्त्री-जीव[2] प्रकृति के अधीन होने से और पशु-जीव[3] विवेक-शून्य होने के कारण गुणानुवाद से विरक्त रहते हैं। इसलिए इन दोनों को पशुघ्न नहीं कहा है।

सु०— प्रथमतः फलरूपं चरित्रमेतदित्याह—निवृत्ता तर्षा तृड् येषाम्। तृष्णा अन्तः-करणदोषोपलक्षिका। निवृत्ताः सर्व एव दोषा येषामिति। नह्यल्पदोषवतापि भगवद्गुणा गातुं शक्याः। उप समीपे गीयमानाद्गमनप्रयासो निवारितः। श्रवणानन्दत्वेन च विषया-नुभवेपि प्रयासो निवारितः। बहुवचनेनावृत्त्या निवार्यदोषनिवृत्तिरपि सूचिता। अनिवार्या-स्त्वग्रे फलिष्यन्ति। स्वतन्त्रफलत्वादेव सर्वत्रागत्य गानम्। अनेन रसाभिनिवेशो ज्ञापितः। एवं वक्तुः फलरूपत्वं, श्रोतुर्दोषनिवारकत्वं चोक्तम्। चरित्रस्य फलसाधकत्वमाह—भवौषधा-दिति। भवस्य संसारस्यौषधं निवर्त्तकम्। अत उपकारस्मरणाद्गानम्। श्रोतुस्तु कर्मज्ञानभक्तिभ्य इदं परमं साधनं मोक्षस्य। औषधं हि रोगनिवृत्तौ न पुरुषव्यापारमपेक्षतेऽन्तःप्रवेशनातिरिक्तम्। अत्र चान्तःप्रवेशः श्रवणद्वारा। अतः फलत्वसाधनत्वे एव यद्यपि वक्तव्ये, तथापि श्रवणस्य प्रविष्टग्राहकमनसश्च यदि सुखकरं न भवेत्तदा पूर्वोक्तं न सम्भवतीति जघन्यत्वेपि विषयत्वेन पश्चान्निरूपयति—श्रोत्रमनोभिरामादिति। श्रोत्रं मनश्चाभितो रमयतीति। प्रविष्टमेव तथा करोतीति ज्ञातव्यम्। अनिवर्त्यदोषेण चाप्रवेशः। उपेत्यप्राप्तिदोषो निवारितः। तृष्णाभावेन धनार्पणदोषः। गानेन शब्दमाधुर्यम्। जन्ममरणदुःखस्य बहुधानुभूतत्वात्तन्निवारकमौषधम-त्यादरेण सेव्यम्। कर्णाकिटुत्वं परिणाममनोहरत्वं चोक्तम्। परलोकमभिव्याप्य रमयती-त्यभिशब्दार्थः। एवं स्वरूपगुणकार्यैश्चरित्रस्योत्कृष्टत्वमुक्त्वा सम्बन्धतोऽपि तस्योत्कर्षमाह—उत्तमश्लोकेति। उत्तमैः श्लोक्यन्ते ये गुणाः, उत्तमश्लोकस्य वा माहात्म्यख्यापकास्तेषामनु-वादः कथनं यत्रेति वा भागवतादिरूपात्। गतदोषाणामप्युत्कर्षो भगवता। भगवतोऽप्यु-त्कर्षज्ञापका गुणाः। अनुवादस्तेषामप्युत्कर्षहेतुरिति समभिव्याहारादवगम्यते। पुमानिति।

---

१ पशु शब्द का अर्थ जीव है और 'घ्न' का अर्थ हत्यारा है। अर्थात् जीव की हत्या करने वाला।

२ 'स्त्री-जीव' से स्त्री देह धारण करने वाला जीव नहीं समझना चाहिये। किन्तु जो जीव प्रकृति के वश में है वह पुरुष देह में हो तो भी वह स्त्रीजीव है। यदि स्त्री कहने से स्त्री देहधारी जीव ही माना जाय तो स्त्रियाँ भक्त होनी ही नहीं चाहिए किन्तु स्त्रियां भी भक्त होती हैं। अतः यहाँ स्त्री जीव कहने का तात्पर्य है कि जो जीव प्रकृति के आधीन है वह 'स्त्री-जीव' है।

३ पशु जीव कहने का भी तात्पर्य यह है जिस जीव को विवेक ही न हो। मनुष्य देह में होते हुए भी जो विवेक (ज्ञान) हीन है वह 'पशु' है।

ये पश्वबतारास्त्र्यवतारास्तेऽत्र नाधिकारिणः। या अपि स्त्रियः श्रवणाद्यासक्तास्ता अपि निमित्तवशादेव स्त्रियः, स्वभावतः पुरुषा एव। अतः पुमान् कोपि न विरज्येत। इत उत्कृष्टरसस्य वैराग्यजनकस्याभावात्। निवर्तमानानां दैत्यत्वमिति वक्तुं दैत्यलक्षणपुरःसरमाह—विना पशुघ्नादिति। ये हि पशुघातिनस्ते दैत्याः। दित्युपाख्याने दैत्यानां दयाभावः स्वभावतः प्रतिपादितः। ते च नित्यं भगवत्प्रत्यनीका एवेति न तद्दोषः परिहार्यः। दैत्यानां च मुक्तिर्दोषस्यात्यन्तनिवृत्तिख्यापनाय। आविष्टानामपि मुक्त्यभावे पुनरन्यत्राविश्य तथा कुर्युरित्याधारभूतास्तु मुच्यन्त एव। अपुनरावृत्ति तम एव तेषां मुक्तिः। विरक्तं दृष्ट्वाऽन्यो विरक्तो मा भवत्वित्येतदर्थमुक्तम् ॥४॥

अनुवाद—भगवान् के चरित्र फलरूप हैं उनका वर्णन करते हैं, जिनकी तृष्णा (अन्तःकरण के सर्व प्रकार के दोष) पूर्णरूप से नाश हो गई है, जिनमें थोड़े भी दोष नहीं रहे हैं, वैसे ही निर्दोष व्यक्ति भगवान् के गुणों का गान उनके समीप में कर पाते हैं-समीप कहने से यह बताया है कि वैसे भक्तों को अन्यत्र जाने का परिश्रम भी नहीं करना पड़ता है, गुणगान से एवम् श्रवण से ही आनन्द की प्राप्ति हो जाती है, इसलिये जैसे अन्य विषयों से आनन्द की प्राप्ति तब होती है जब विषय के अनुभव के लिए प्रयास व परिश्रम किया जाय, यहाँ वह प्रयास भी नहीं करना पड़ता है। श्लोक में 'निवृत्ततर्षै' बहुवचन कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् के गुणों को गाते हैं एवं बारबार गाते ही रहते हैं जिससे जो दोष नाश होने योग्य हैं वे नाश हो जाते हैं। शेष जो दोष आगे फल रूप होने वाले हैं, वे नाश नहीं होते हैं। भगवान् के चरित्र स्वतन्त्र फलरूप हैं, इसलिए भगवद्भक्त जहाँ भी कीर्त्तन होता है वहां आकर स्वयं गुणगान, बिना संकोच के करते हैं क्योंकि आकर, सब साथ में मिल के जब गुणगान करते हैं तब रस का अन्तःकरण में (चारों तरफ) प्राकट्य होता है जिससे गुणगान करने वाले रसमहोदधि में मग्न हो जाते हैं। इससे यह बात समझाई है कि गुणगान करने वालों के लिए यह गुणगान फलरूप होता है और जो श्रवण करते हैं उनके दोषों का नाश करने वाला होता है।

चरित्र फल को सिद्ध कर देता है। इसको बताने के लिए 'भवौषधात्' विशेषण दिया है जिसका अर्थ है कि संसार को नाश करने वाली औषधि है। यह गुणगान हमारा उपकार करने वाला है। ऐसा समझ गुणों का गान करते हैं। श्रोता (श्रवण करने वाले) के लिए तो कर्म, ज्ञान और भक्ति से भी विशेष, मोक्ष के वास्ते उत्तम साधन है। औषधि, रोग के नाश के लिए केवल उसको उदर में भेजने का ही मनुष्य से प्रयत्न चाहती है, शेष रोग का नाश तो स्वयं औषधि स्वतः कर देती है। लौकिक औषधि मुख द्वारा भीतर उदर में जाती है किन्तु यह औषधि कर्ण द्वारा सुनकर अन्तःकरण में पहुँचती है। यद्यपि यहाँ केवल फलत्व (फलपन) और साधकत्व (साधकपन) कहने चाहिए। विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। तो भी 'श्रोत्रमनोभिरामात्' कान और मन को आनन्द देने वाला है यह क्यों कहा ? इसका भावार्थ आचार्य श्री कहते हैं कि यह औषधि जघन्य (अन्तिम फल रूप होने से कठिन

है) इसलिए जिन कानों द्वारा यह भीतर प्रवेश करेगी उनको तथा जिस मन में प्रवेश करेगी उसको यदि अरुचिकारक (दुःख देने वाली) होगी तो कोई भी इसको लेना पसन्द नहीं करेगा। इसलिए कहा है कि यद्यपि यह विषय जघन्य है तो भी कान और मन को आनन्द देने वाला है और आनन्द के साथ-साथ रोग का भी नाश करने वाली औषधि है और इस औषधि का श्रवण द्वारा मन में प्रवेश होते ही सर्व प्रकार के दोष जो कहीं भी हों, वे अन्तःकरण के सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं। जिनके मन में इस औषधि का प्रवेश नहीं होता है उनके दोष आसुरी हैं जिससे औषधि का भीतर प्रवेश नहीं होता है।

'उपगीयमानात्' इस विशेषण में 'उप' शब्द देकर यह समझाया है कि श्रवण करने के लिए न कोई परिश्रम करना है और न कहीं जाना है अर्थात् किसी प्रकार से भी श्रवण अप्राप्य नहीं है क्योंकि वहाँ समीप में भी श्रवण हो रहा है। श्रवण के लिए धन की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुणगान करने वाले वक्ता वे शुकदेवजी हैं, जिनकी तृष्णा नष्ट हो गई है। 'गीयमान्' 'गान करना कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि गान से शब्दों की मधुरता प्राप्त होती है। जन्म और मरण के समय जो दुःख होता है उसका जीव ने बहुत बार अनुभव किया है अतः उसको दूर करने के लिये यह औषधि, जो उस दुःख को निवारण करने वाली है, उसे विशेष आदर के साथ लेना चाहिये क्यों कि यह कर्णों को कड़वी नहीं लगती है और परिणाम में लाभ देने वाली है। श्लोक में 'अभिरामात्' पद में 'अभि' देने का तात्पर्य यह है कि परलोक में भी आनन्द कराने वाली है। वहाँ परलोक में भी भगवान् में आसक्ति होती है।

इस प्रकार, रूप, गुण तथा कर्म से भगवान् के चरित्रों की उत्कृष्टता कह कर अब संबन्ध से भी उसकी उत्तमता कहते हैं, 'उत्तमश्लोक गुणानुवादात्' इस पद से उसको समझाते हैं! वे गुण कैसे है? उन गुणों का गान उत्तम पुरुष करते हैं। भगवान् के माहात्म्य को बताने वाले हैं जिनका वर्णन भागवतादि शास्त्रों में है। जिनके दोष पूर्णतया नाश हो गये हैं वैसे भक्तों का उत्कर्ष (बड़ाई) भी भगवान् के कारण है। भगवान् महान् हैं, यह भगवान् का उत्कर्ष करने वाले भी उनके गुण ही हैं। गुणों की उत्तमता अनुवाद करने से होती है। इस प्रकार सबों का उत्कर्ष 'उत्तम श्लोक, गुण और अनुवाद' इन तीनों का एकत्र कहने से सिद्ध होता है।

श्लोक में 'पुमान्' शब्द आया है उसके देने का जो रहस्य है वह बताते हैं कि जिन पुरुषों का पशु अवतार है या स्त्री अवतार है वे पुरुष आकार, में होते हुए भी श्रवण के अधिकारी नहीं हैं। जो स्त्रियाँ श्रवण में आसक्त है। चाहे वे किसी निमित्त से स्त्री देह में प्राप्त हुई हो पर वास्तव में वे पुरुष जीव ही हैं। अतः कोई भी पुरुष इस श्रवण से उदासीन नहीं होगा। कारण कि श्रवण के सिवाय कोई भी साधन ऐसा नहीं है जो इस प्रकार के उत्कृष्ट रस तथा वैराग्य को सिद्ध कर सके।

आत्मघाती आदि पाँचो प्रकार के दैत्यपन को बताने के लिये दैत्यों का लक्षण कह कर उनका दैत्यपन सिद्ध करते हैं। जैसे कि–'पशुघ्न' उसे कहते हैं जो अपनी जिह्वा के रस के लिये पशुओं की हत्या करते हैं। वैसे मनुष्य, मनुष्य आकृति में होते हुए भी दैत्य हैं। दैत्य, स्वभाव से, दया हीन होते हैं इस बात को दिति के चरित्र में सिद्ध किया गया है। दैत्य, सदैव, भगवान् के शत्रु होते हैं, इसी कारण

से उनके दोषों की निवृत्ति नहीं होती है। दैत्यों की मुक्ति तब होती है जब उनके दोष पूर्णतः (पूरो-तरह) नष्ट हो जाते हैं।

जो सहज (जन्म से ही स्वाभाविक) असुर हैं जैसे कालनेमि आदि। कंस (उस सहज असुर काल नेमी का आधार रूप) आवेश स्थान है। इसलिये आवेशी कंस की तो मुक्ति (आवेश नष्ट होने से दोष भी नाश हो जाते हैं) हो सकती है किन्तु सहज दैत्य की नहीं हो सकती क्योंकि उसकी मुक्ति तो अन्धः-तम है जहाँ से वह लौट कर नहीं आते हैं। यदि अनिष्टों की इस प्रकार की मुक्ति नहीं की जाय तो वे सहज दैत्य लौटकर पुनः उनमें प्रवेशकर वैसे ही उपद्रव करने लग जायेंगे। अतः आविष्टों की मुक्ति की जाती है। इन पांच प्रकार के पुरुषों को श्रवण से विमुख देखकर दूसरे भी वैसे न हो जाय, इसलिए इस श्लोक में उनके स्वरूपों का वर्णन किया है॥ ४॥

एवं चरित्रं स्तुत्वा पुण्यद्वारमात्रतां वारयितुं भगवन्तं स्तौति—पितामहा इति द्वाभ्यां, श्रुतदृष्टभेदेन ।

इस प्रकार भगवान् के चरित्रों की स्तुति की। अब वे चरित्र स्वतः पुरुषार्थ सिद्ध करने वाले हैं, न कि पुण्यों के कारण पुरुषार्थ सिद्ध करने वाले हैं। इस बात को समझाने के लिये निम्न दो श्लोकों में भगवान् की स्तुति करते हैं। दो श्लोकों में इसलिये करते हैं कि वे दृष्ट (देखे हुए) और श्रुत (सुने हुए) भेद से दो प्रकार के हैं।

पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः ।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वाऽतरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः ॥५॥

श्लोकार्थ—युद्ध में देवताओं को भी जीतने वाले, भीष्म जी आदि अतिरथि रूप तिमिङ्गिलों (अपनी जातिवाले मत्स्यों को निगलने वालों) के होने से दुस्तर कौरवों के सैन्य रूप सागर को मेरे दादे (पाण्डव) भगवत् रूप नाव के आश्रय से बछड़े के खुर के समान खड्डा मानकर तर गये।

मे पितामहाः पाण्डवाः समरे दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं वत्सपदं कृत्वा यत्प्लवा अतरन्निति संबंधः। एक एव पौत्र उर्वरितः। पञ्चापि पितामहाः, त्रयो वा। क्षेत्रजेषु क्षेत्रस्य स्वकीयत्वाभावान्न बीजिनः। यत्र पुनः क्षेत्रं यथाकथञ्चित् स्वकीयं तत्फलं बीजिन एव। समर इति। मरो मरणं, तत्सहिते। अवश्यं युद्धे मरणमिति। तथा सति कोपि न मृत इति भगवत्सन्निधिमाहात्म्यमुक्तम्। अमरञ्जया भीष्मादयः। तेषाममरञ्जयः संज्ञाहेतुरिव जात इति 'संज्ञायां भृतृवृजी' त्यादिना खश्। देवानपि जयन्तीतीन्द्रपुत्रत्वादिनापि न निस्तारसम्भावना, देवदत्तशस्त्रैश्च न प्रतीकारः। न च तेषां कदाचिदपि अमरञ्जयत्वं गच्छतीत्याह—देवव्रतेति। देववत् सत्यसङ्कल्परूपं व्रतं यस्य। अनेन भीष्मस्य स्वधर्मत्याजनसाम-

र्थ्यमपि तेषां जातमित्युक्तम् । देवव्रतो भीष्मस्तथात्वेन प्रसिद्धः । अन्येपि द्रोणादयस्तथा । देवव्रताद्या ये अतिरथाः । स चेदाद्यः, तद्रूपा एवान्ये । तथाभूता अप्यतिरथा अलौकिक-सर्वसामर्थ्यातिशययुक्ताः । 'अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृत' इतिवाक्यात्तद्भक्षक-स्ततोऽप्यधिकः सहस्रांशेन । अनेन तत्समुद्रे पतितस्तत्रत्योपि न जीवति, विजातीयस्य का वार्तेत्युक्तम् । तेषां दैत्यावेशेनातिक्रूरत्वाज्ज्ञातिघाताय तथोक्तम् । ततः सम्बन्धित्वेन पिता-महत्वेन वा त्यक्ष्यतीति निवृत्तम् । अविचारश्चोक्तः । गिलनेनास्थ्यादीनामिव सर्ववंशना-शकत्वं च । बहिःस्थितमपि ते मारयन्ति, किं पुनः स्वसेनापतितमिति समुद्रत्वम् । अत एव दुरत्ययं, साधनघातकत्वान्मकरादेः । कुरुवंशोद्भवाश्च नार्वाङ् निवर्तन्ते । सैन्यसागरमिति । चेतनसागरत्वेन स्वरूपतो नाशकत्वमुक्तम् । महानौकादिसाधनानामपि दुःखेनातिक्रमोति-क्रमणं यस्य । यो भगवान् प्लवो येषामिति । भगवतोल्परूपेण सन्निधिमात्रेण रक्षकत्वम्,अयुद्ध्य मानत्वात् । मनःशङ्कानिवृत्त्यर्थं वत्सपदं कृत्वेति । तुच्छकरणतरणयोर्भगवदाश्रयत्वमेव हेतुः । गीतायां भीष्मादिमरणज्ञानात्तुच्छकरणम् । तथापि सम्यगाश्रयणाभावात्पाण्डवानां पिपीलिकात्वमेव, स्वदृष्ट्या भगवान् गृह्यत इति । भगवद्भावे कथमेवं स्यात् । तेषामवस्था-पनात्तुच्छकरणम् । उभयमलौकिकं सकृदेव जातमिति । अन्ततस्त्रयाणाममारणाद्वत्स-पदम् । द्विधा विदीर्णो मुखस्थानीयोऽश्वत्थामा, वारद्वयमपकारकरणात् । प्लवमारुह्य तीर्णं तीर्णं समुद्रांशं शोषयन्तोऽन्ते किञ्चित्स्थापयित्वोत्तीर्णा इत्यर्थः । कीर्तेरपि प्राप्तत्वात्तत्कर्तृत्वम् । इदमत्यन्तमलौकिकं एवमेव पूर्वपूर्वसंसारमपि शोषयित्वा भगवत्सेवामात्रं संसारपदार्थ-परिग्रहं स्थापयित्वा पारस्थितं भगवन्तं भगवदाश्रयाः प्राप्नुवन्तीत्युक्तम् ॥ ५ ॥

अनुवादः—मेरे दादे, पाण्डव, भगवत् रूप नाव के आश्रय से युद्ध में दुस्तर, जिसको पार करना कठिन है ऐसे कौरवों के सैन्यरूप सागर को बछड़े के खुर के समान खड्डा बनाकर तिर गये। पाण्डवों के वंश में एक (परीक्षित) पौत्र ही बचा था। परीक्षित के दादे पांचों पाण्डव थे अथवा कुन्ती के संबन्ध से युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन तीन दादे थे। क्योंकि दूसरे के क्षेत्र में बीज डालने से उस बीज से उत्पन्न सन्तान, क्षेत्र के पति (मालिक) का होता है। कुन्ती का पति पाण्डु है उसमें बीज डालने वाले धर्म, वायु और इन्द्र थे किन्तु उनका सन्तान पर इसलिए अधिकार नहीं है क्यों कि कुन्ती उनकी पत्नी (क्षेत्र) नहीं थी। अतः पाण्डु और कुन्ती दोनों से सम्बन्ध होने से युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन तीनों पितामह (दादे) हैं। जहां फिर क्षेत्र जैसे तैसे जिसके अधिकार में आगया हो तो, उस समय बीज डालने से, जो सन्तान पैदा हो तो वह संतान बीज डालने वाले की होती है जैसे बुधको चन्द्रमा का पुत्र माना जाता है। यद्यपि वह बृहस्पति की स्त्री से पैदा हुवा था।

श्लोक में, युद्ध के लिये (समर) शब्द दिया है उसका भावार्थ बताते हुए (आचार्य श्री) कहते हैं कि (मर) शब्द का अर्थ मरना है (स) देकर कहा कि जिसमें मरना अवश्य होता है उसको समर कहते हैं वैसा होने पर भी कोई (पाण्डव) नहीं मरा। कारण कि उनके साथी भगवान् थे, यह भगवान के सान्निध्य साथ में होने) का माहात्म्य कहा।

इस समर (लड़ाई) में सामने लड़ने वाले कैसे हैं उनको बताते हैं कि वे (कौरव) देवताओं को भी जीतने वाले थे, इस विशेषण से यह समझाया कि यद्यपि पाण्डव देवताओं के पुत्र थे और उनके पास देवों के दिये हुए शस्त्र भी थे किन्तु वे उन कौरवों को जीत नहीं सकते थे कारण कि जो देवों को जीतने वाले हैं उनको देवों के पुत्र कैसे जीत सकेंगे ? उनका अमरञ्जय पना कभी भी नाश नहीं होता है कारण कि वह उसका व्रत सत्य सङ्कल्प वाला है किन्तु उसमें अपने धर्म के त्याग करने की सामर्थ्य भी है। क्योंकि जो विचार आवे उसको पूर्ण करना वह भी एक प्रकार का सत्यव्रत है अतः भीष्म देव व्रत होते हुए भी कौरवों के संसर्ग से, भगवान् की इच्छा के विरुद्ध कार्य (कौरवों के पक्ष में जाना) करने से (दैत्यव्रत) कहलाये। भीष्म देवव्रत है यह प्रसिद्ध है। दूसरे द्रोणादिक भी भीष्म के मुख्य होने से देवव्रत हुए। समस्त योद्धा अतिरथ[1] होने से अलौकिक एव अत्यन्त सामर्थ्य वाले थे। समुद्र में एक सौ योजन लंबा (तिमि) नाम वाला मत्स्य रहता है, ऐसे को भी जो निगलजाय वह (तिमिङ्गिल) कहलाता है। वह जिस समय समुद्र में पड़ता है तो वहां का कोई भी मत्स्य जीवित नहीं रहता है, जब वे ही नाश हो जाते हैं तो दूसरी जाति वालों का नाश हो इसमें कहना ही क्या है ? उस तिमिङ्गिल में इतना बल दैत्य आवेश के कारण है कि वह अपनी ज्ञाति का नाशक होता है और क्रूर भी इसलिये है। इसी प्रकार ये देवव्रत (भीष्मजी) भी तिमिङ्गिल है क्योंकि उनमें भी दैत्यांश है जिससे वे अति क्रूर हैं, ऐसा होने से वे अपने सम्बन्धियों अथवा पौत्रों को जीवित छोड़ दें वह उनके स्वभाव से विपरीत है। क्योंकि दैत्य आवेश होने से उनमें विचार या विवेक रहा ही नहीं था। जैसे तिमिङ्गिल समुद में पड़े हुए अपनी जाति वालों का भी नाश करता है तो दूसरो को कैसे छोड़ेगा ? वैसे ये भी तिमिङ्गिल के समान दैत्यावेशी होने से जो भी इस समर रूप समुद्र में आवे वह चाहे कौरव पक्ष का ही क्यों न हो उसको भी नष्ट कर देवे जैसे थे, तो दूसरो को नाश करने में उनको कौनसी देरी लगेगी। अतः कहा है कि यह कौरव सैन्य सागर दुस्तर है। जिस प्रकार समुद्र को पार करने के साधनों को (नौका आदि को) समुद्र के जीव मकर आदि नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार ये कुरुवंशी भी, लड़ाई में शत्रु को नाश करने के सिवाय कभी भी शान्त नहीं होते हैं। समुद्र अचेतन होने से स्वयं नौकादि साधनों को नाश नहीं कर सकता है किन्तु उसमें रहने वाले चेतन मकरादि जीव करते हैं यहाँ तो ये कौरव लोग स्वयं चेतन होने से साधनों को नाश करने में महा समर्थ हैं। ये चेतन हैं इसलिये स्वरूप से भी नाशक हैं। इतना सब होते हुए भी जिसके रक्षक भगवान्हैं अर्थात् इस कौरव सैन्य सागर से पार उतारने वाली नौका भगवान् स्वयं हैं उस नौका को कौन नष्ट करने की सामर्थ्य रखता है ? कोई नहीं। यहां प्लव शब्द इसलिये दिया है कि भगवान्

१. एक ही योद्धा दशहजार सैनिकों के साथ लड़े वह (अतिरथ) होता है।

केवल उनके सान्निध्य में रहकर उनके रक्षक बने थे, आप लड़ते नहीं थे। ऐसे महान् सेनारूप सागर को गोवत्स के पद के समान छोटा बनाकर पार हो गये, उसमें कारण भगवदाश्रय ही है। गीता में भगवान् ने अर्जुन को कहा है कि हे अर्जुन! तूं इनको मारने के लिये केवल नाम मात्र निमित्त बन, इनको तो मैंने प्रथम ही मार दिया है।

इस प्रकार भगवान् के वचनों को सुनने से पाण्डवों के लिये कौरव सैन्य सागर गोवत्स के खुर के सदृश खड्डे के जैसा बन गया, किन्तु तो भी पाण्डवों को परिपूर्ण आश्रय न होने से उनको वह खड्डा भी जैसे पीपिलिकाओं (चीटिओं) को महान् देखने में आता है वैसे दुस्तर देखने में आया। कारण कि वे (मेरे दादे) भगवान् को अपनी दृष्टि से देखते थे, जिससे उन्होंने श्रीकृष्ण को अपने समान समझलिया था। यही कारण था कि उनको दृढ विश्वास न हुआ। यदि कृष्ण में भगवद्भाव होता तो वत्स पद समान खड्डे को पार करने में संशय क्यों रहे? तथा शस्त्र ग्रहण करने की भी कौनसी जरूरत पड़ी थी? किन्तु ये सब आश्रय के अभाव से हुए हैं। यदि श्रीकृष्ण को अपने समान न समझ भगवान समझते तो उत्तरा के समान भगवान् के शरण जाते और शस्त्र ग्रहण कर हम शस्त्रों द्वारा शत्रुओं का वध करेंगे वैसा अहंकार मेरे दादों को न होता। इतना होने पर भी कृपानिधि श्रीकृष्ण ने अपने चक्र से उनको रक्षाकर अपनापन बताया। जो भगवान् इस प्रकार रक्षा नहीं करते तो, उनको सामर्थ्य शत्रुनाश में किसी प्रकार प्रयोजक (काम कर सकने वाली) नहीं थी, उनका (मेरे दादों का) अवश्य नाश हो जाता। उस छोटे गड्डे में डूबना ही यहाँ नाश था। भगवान् ने पहिले भी इनकी रक्षा की थी, वह उपकार भी भूल गये और भगवान् का माहात्म्य भी भूल गये, यही इन्हों में (पाण्डवों में) क्षुद्र पन था अर्थात् चींटी पन था। युद्ध में अन्य सर्व वीर नाश हो गये शेष अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ये तीन बचे इस कारण से कौरव सैन्य सागर तुच्छ जैसी हो गई, तो भी अश्वत्थामा ने पाण्डवों पर ब्रह्मास्त्र छोड़े उनसे भी सुदर्शन चक्र द्वारा भगवान् ने रक्षा की तथा इस कौरव सैन्य सागर का पार किया ये दोनों कार्य अलौकिक साथ में हुए हैं। मेरे तीनों दादे मरे नहीं यही कौरव सैन्य सागर का वत्सपद के समान होना है।

अश्वत्थामा अग्रभाग के समान है, उसने दो बार अपकार (बुरा कार्य) किया एक बार पाण्डवों के पुत्रों का नाश किया, दूसरी बार उत्तरा तथा पाण्डवों पर ब्रह्मास्त्र फेंक कर अपकार किया था उनका दोनों ही बार निवारण भगवान् ने किया। पाण्डव भगवद्रूप नाव का आश्रय कर इस समुद्र को तरते तरते पार कर गये, ज्यों-ज्यों आगे बढते जाते थे त्यों त्यों पार किये सागर को शुष्क करते (सुखाते) जाते थे। अन्त में पाण्डव कुछ शेष छोड़कर सैन्य सागर को पार कर गये और यश प्राप्त किया। यह अत्यन्त अलौकिक है। कारण कि कौरवों का नाश तो कालरूप से भगवान् ने कर ही रखा था किन्तु विजय की माला पाण्डव पहनकर यश के भागी बने यही भगवान् का अलौकिक प्रभाव तथा कृपा है।

भगवान् के आश्रित भक्त भी इसी प्रकार अपने अहन्ता ममता रूप संसार से प्राप्त धनादि

पदार्थों का त्याग कर संसार शोषण करते हैं और केवल भगवत्सेवा के कार्य में आने वाले दैवी द्रव्य का ही कुछ संग्रह कर भगवत्सेवा द्वारा संसार के परलीपार स्थित भगवान् को प्राप्त करते हैं।

एवंश्रुतमाहात्म्यमुक्त्वा दृष्टमाहात्म्यमाह-द्रौण्यस्त्रेति।

उपरोक्त श्लोक में श्रुत माहात्म्य का वर्णन कर अब स्वयं देखे हुए भगवान के माहात्म्य का वर्णन करते हैं —

**श्लोक—द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो मातुश्च मेयः शरणं गतायाः ॥ ६ ॥**

श्लोकार्थ—कौरव तथा पाण्डवों की सन्तति का बीज रूप यह मेरा शरीर, जब अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जल गया था। तब शरण गई हुई मेरी माता के उदर में स्थित हो कर, जिस चक्रधारी भगवान् ने मेरी रक्षा की उनके चरित्र कहो।

सर्वथा पाण्डवाशक्तौ स्वयमपि कृतवानिति वदन् स्वस्मिन् कृपातिशयमप्याह। सुबोधिनी-माहात्म्यमारणेपि पितृनाम्ना द्योतिते। द्रोणो ह्यस्त्रविद्यायां मूलभूतः। पितृमारणं चाप्रतीकार्यं वैरम्। तस्य चानिवर्त्यब्रह्मास्त्रेण विप्लुष्टं विशेषेण दग्धमिदं मम शरीरम्। अर्जुनस्य वैष्णवत्वाद्वंशात्मकं बीजभावावशिष्टमत एव सन्तानबीजम्, कुरूणामपि मुक्तिदाना द्वंशाभावे न मुक्तिरिति कुरुपाण्डवानां ग्रहणम्। कुरुभिः सहिताः पाण्डवाः कुरुपाण्डवाः कौरवाः पाण्डवाश्चेतिपक्षे 'जनपदे लुबि' तियोगविभागाल्लुप्। अन्तर्बीजमात्ररूपेण स्थितं देहं दग्धैरप्यंशैरदग्धभावनयाऽन्यथाप्रतीतैः सह जुगोपेत्यर्थः। दाहानन्तरं रक्षणमशक्यम्[1]। दाहो धर्मरक्षार्थः[2]। मोक्षे प्रतिबन्धाभावार्थश्च। इदमित्यविकलत्वायाङ्गुल्या निर्देशः। मदङ्गमिति स्वानुभवो दर्शितः। सन्तानस्य वंशस्य बीजमिति तदानीं रक्षायामिदानीं चारक्षायां हेतुः। कुरुवंशोद्भवा ये पाण्डवा इति मूलतो भक्तत्वम्। कुक्षिगत इति प्रकारान्तरेणान्यतो रक्षाभावो दर्शितः। आत्तचक्र इति तत्त्वसहितं स्वस्वरूपं दर्शितवान्। उत्तरत्र ध्यानार्थ इत्युपकार उक्तः। न तु चक्रेण रक्षा, अस्त्रतेजोदूरीकरणं वा। अत ए 'वास्त्रतेजः स्वगदये' त्यनेनाविरोधः। कालनिग्रहार्थं वा चक्रग्रहणम्। अत एवं भगवति सानुभावे निवृत्ते तच्चक्रं परिभ्रान्तमितीदानीमियमवस्था। मातुर्मेयो ज्ञेयः। चकारान्ममापि। शरणं गतत्वाद्दर्शनं, कुक्षिप्रवेशोपि। माहात्म्यस्यानुभूतत्वाद्भवदुक्ते विश्वासो भविष्यतीति भावः ॥ ६ ॥

अनुवाद— जिस कार्य को पाण्डव नहीं कर सकते थे उन कार्यों को स्वयं भगवान् ने किया। यह भगवान् की मेरे ऊपर अतिशय (बहुत बड़ी) कृपा है। यह बताते हैं, पहली बात तो यह है कि

अश्वत्थामा ने मुझ पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग क्यों किया ? अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य को मेरे दादों ने मारा था, पिता के वैरी से बदला लेना पुत्र का कर्त्तव्य है अतः उसने मुझ पर ब्रह्मास्त्र चलाया था। इसलिये अश्वत्थामा न कहकर (द्रौणि) (द्रोणाचार्य का पुत्र) कहा है। (द्रौणि) कहने से इनका (द्रोणाचार्य का) मरण और महत्त्व दोनों (द्रोणाचार्य अस्त्र विद्या के अद्वितीय जानकार थे अतः सर्व योद्धाओं के शिक्षक-आचार्य थे) बताये हैं। उसका (अश्वत्थामा का) ब्रह्मास्त्र कोई भी लौटा नहीं सके अथवा वह जिस पर फेंका हो उसको नाश करने में असफल न हो, वैसा था, जिससे मेरा शरीर तो जल गया किन्तु अर्जुन वैष्णव थे क्योंकि नर के अवतार थे उनके वंश का बीज रूप में (लिङ्ग शरीर) नष्ट नहीं हुवा अतः कुरु (पाण्डवों) का सन्तान बीज मेरा वह शरीर बच गया। यद्यपि परीक्षित पाण्डवों का वंश है किन्तु कौरवों को भी पिण्डदानादि से मुक्ति दिलाने वाला परीक्षित ही है क्योंकि कौरवों के वंश में कोई नहीं बचा है इसलिये यह परीक्षित कुरु और पाण्डवों के वंश का शेष बीज कहा गया है।

देह के जल जाने के पश्चात् उसकी रक्षा करना अशक्य (मुश्किल) है। इस पर कहते हैं कि ऊपर से देह जल तो गई थी किन्तु भीतर से बीज रूप से नष्ट नहीं हुई थी अतः जले हुवे हिस्से भी बिना जले हुए जैसे प्रतीत होते (देखने में आते) थे। ऐसे मेरे शरीर की भगवान् ने रक्षा की। भगवान् ने शरीर के जल जाने के पहिले ही ब्रह्मास्त्र को रोककर रक्षा क्यों नहीं की ? इस शङ्का के निवारण के लिये आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि (दाहो धर्म रक्षार्थः, स्थूल शरीर को जलाने जितना, ब्रह्मास्त्र का कार्य था वह धर्म रक्षार्थ, करने दिया कारण कि (ब्रह्मास्त्र) में वेद मन्त्रों से, ब्रह्मरूप देवता की स्थापना की जाती है, अतः यदि भगवान् ऐसे ब्रह्मास्त्र को रोकदें तो, वेद मार्ग की रक्षा करने वाले भगवान् हैं अतः उनका यह धर्म नष्ट हो जाता है, इसलिये भगवान् ने इस अपने धर्म की रक्षार्थ ब्रह्मास्त्र को बीच में न रोककर स्थूल शरीर को जलने दिया जिससे मोक्ष में भी प्रतिबन्ध न हो और केवल स्थूल शरीर ही जला। यह भी भगवान् का प्रताप है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर बचाकर उसको पुनः पूर्ववत् बनाकर इसलिये भी रक्षा की, कि कुरु पाण्डव वंश के मोक्ष में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न होवे। परीक्षित ने (इदम्) शब्द कहकर अपने, शरीर का अङ्गुली से निर्देश किया है, कि यह मेरा शरीर है जिसको ब्रह्मास्त्र ने जलाया था भगवान् ने उसको कृपया बचाया है। श्रीकृष्ण द्वारा रक्षा होने से शरीर में किसी प्रकार की कमी नहीं रह गई हैं। (मदङ्ग) मेरा अङ्ग यों कहने से यह बताया कि यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है।

भगवान् ने गर्भ में तो रक्षा की अब ब्राह्मण के शाप से आपकी रक्षा क्यों नही की ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उस उमय यदि रक्षा नहीं करते तो कुरु (पाण्डवों) के सन्तान का बीज नष्ट हो जाता। भगवान को इस वंश के सन्तान बीज की रक्षा करने की आवश्यकता इसीलिये थी कि कुरु भक्त थे उनके वंश में पाण्डव हुवे थे वे भी भक्त थे। परम्परा से यह कुल भक्त है भक्तों की रक्षा करना भगवान् अपना प्रथम कर्त्तव्य समझते हैं इसीलिये रक्षा की है, अब मेरे सन्तान हो गई है, वंश चालू रहेगा अतः रक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। उस समय मेरी रक्षा का यही प्रकार था कि जो भगवान् ने मेरी माता के गर्भ में प्रकट हो, चक्र धारण कर, तेजस् तत्व सहित, अपने स्वरूप को दिखाने

की कृपा की, यह कृपा इसलिये भी की है कि उस स्वरूप का पीछे ध्यान किया जा सके। उस समय न तो चक्र से रक्षा की और न उससे ब्रह्मास्त्र के तेज को दूर किया था। अस्त्र के तेज को तो अपनी गदा से नष्ट किया था इसलिये कोई विरोध नहीं है। भगवान् ने काल को रोकने के लिये कालरूप चक्र को हस्त में धारण किया था जिससे काल अपना कार्य (मारना) इस समय न कर सके। इस प्रकार भगवान् ने गदा से ब्रह्मास्त्र के तेज (शक्ति) को दूर किया और कालरूप सुदर्शन चक्र को अपने हस्त में पकड़ कर काल की गति रोकली, जिससे मेरी रक्षा पूर्ण रूप से हो गई। तदनन्तर उत्तरा के गर्भ में विराजमान होने की आवश्यकता न होने से आप तिरोहित हो गये।

भगवान् के तिरोहित हो जाने के अनन्तर काल चक्र सर्वत्र परिभ्रमण करने लगा है। अब मैं भी इस समय काल चक्र द्वारा बन्धा हुआ हूँ।

जो प्रभु मेरी माता के अनुभव में आये थे उन्होंने मुझे भी अनुभव कराया था। मेरी माता उनके शरण में गई थी अतः उसको प्रभु ने दर्शन दिये और उसकी कुक्षि (कोख) में प्रवेश किया।

भगवान् के माहात्म्य का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है अतः आप भगवान् के जिन चरित्रों को सुनाओगे उनमें मेरा विश्वास होगा। कारण कि आपकी उक्ति (कथन) में भी मेरी श्रद्धा है ॥ ६ ॥

एवं स्वस्य भगवच्छ्रवणाधिकारं बोधयित्वा पूर्वपृष्टं भगवच्चरित्रं पुनः प्रकारान्तरेण फलसाधकमिति वदन्ननुवदति—वीर्याणीति।

इस प्रकार राजा परीक्षित भगवान् के चरित्रों के श्रवण में अपना अधिकार बताकर, प्रथम पूछे हुए भगवच्चरित्रों को, पुनः (फिर) दूसरे प्रकार से, अर्थात् जिस समय भगवान् का प्राकट्य नहीं है, उस समय के जीवों का भी, ये चरित्र साधन रूप से उद्धारक हैं। जिसका निम्न श्लोक में वर्णन करता है-

श्लोक—वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ–हे विद्वन्! समग्र देहधारियों के भीतर और बाहिर पुरुष रूप तथा काल रूप से जो अमृत और मृत्यु देते हैं जिनको अज्ञान से, मनुष्य समझा जाता है, उन मनुष्याकृतिधारी पुरुषोत्तम के पराक्रमों का वर्णन करो।

सुबोधिनी–केचिदिमं प्रश्नं पूर्वस्माद्भिन्नमाहुः—यच्चरित्रं मानुषभावेन कृतं सर्वजनीनं, तत्पूर्वं पृष्टम्। यत् पुनरवतारसम्बन्धरहितं वरुणलोके गत्वा नन्दादिविमोचनरूपं वैकुण्ठप्रदर्शनादिरूपं वा तत्पुनःप्रश्नविषयमिति। तथासत्यस्य चरित्रस्यामृतत्वसम्पादकत्वं वक्ष्यमाणं फलं भवेन्नान्यस्येति चिन्त्यम्। तस्य कृष्णस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिर्भेदेन पुरुषरूपैः कालरूपैश्चामृतं मृत्युं च प्रयच्छतः पुरुषोत्तमस्यैव मायामनुष्यस्य वदस्वेति सम्बन्धः। अनेन भगवतात्रावतारे रूपद्वयं प्रदर्शितं मूलरूपमवताररूपं च। इदमेव मूलरूप-

मिति तन्माहात्म्यं वा । तस्येति रूपान्तरव्युदासाय । माहात्म्यज्ञानाय वीर्याणीति । अखिलेति प्रकारान्तरव्युदासाय । न हि केषामपि भगवद्व्यतिरेकेणान्यस्मान्मृत्युरमृतं वा भवति । देहभाजामिति आत्मत्वेऽपि निमित्तवशात्तेषां तथाकरणमिति सूचितम् । पुरुषरूपाणि मत्स्यादीनि, कालरूपाणि विषया इति केचित् । भगवद्ध्यानरूपाणि पुरुषरूपाणीत्यन्ये । कालरूपाण्याब्रह्मरूपतृणस्तम्बरूपाणि । यद्यपि सर्वाण्येव रूपाणि भगवतस्तथाप्यन्तर्बहिर्भेदकृतो विशेषोऽयमित्याह–अन्तर्बहिरिति । अतः कथमपि साधनैर्बहिर्मुखा मृत्युमेव प्राप्नुवन्ति । अन्तर्मुखास्त्वमृतमेव । तथात्वे तस्य किं सामर्थ्यं, किमन्तर्बहिष्ट्वकृतमेव, मर्यादार्थं तथेच्छा वाऽतस्तादृशस्य पराक्रमे ज्ञातेऽयं सन्देहो निवर्त्तत इति तदवश्यं श्रोतव्यम् । एतत्, गोकुलवासिनां वैकुण्ठगमने निर्णीतं भविष्यति । मानुषभावे नैतत्सम्भावितमितिशङ्काव्युदासायाह–मायामनुष्यस्येति । बुद्ध्यावरिका सेति पुरुषोत्तमत्वबुद्धिमावृत्य मनुष्यत्वबुद्धिं करोतीति तया कृत्वा तथाज्ञानविषयस्येत्यर्थः । न केवलं भगवद्वीर्यकीर्तनमस्मदुपकारायैव, किन्तु कीर्तनफलं तवापि भविष्यतीत्यात्मनेपदम् । विद्वन्निति ज्ञानं सर्वत्र हेतुः ।।७।।

अनुवाद—कितनेक इस प्रश्न को प्रथम पूछे हुए प्रश्न से पृथक (अलग) मानते हैं। वे कहते हैं कि जो चरित्र मनुष्यरूप से किये जाते हैं वे चरित्र तो ऐसे हैं जो मनुष्यों की समझ में आ जाते हैं। इस प्रकार के प्रश्न पूर्व ही पूछे गये हैं। अतः अब दूसरे प्रकार के प्रश्न पूछते हैं जिनका अवतार से सम्बन्ध नहीं है, जैसे कि वरुण लोक में जाकर नन्दादि को छुड़ाना, वैकुण्ठ आदि का दिखाना ये चरित्र मनुष्यों की समझ से ऊपर है अतः इस प्रकार के प्रश्न अब पूछते हैं। इसी भाँति विश्लेषण करने (हर एक भाग को भिन्न-२ कर उसके भाव बताने) से इस चरित्र का जो फल कहा जाने वाला है उसका अमृत पान सिद्ध होगा दूसरों का नहीं होगा। इस अभिप्राय पर विचार करना चाहिये।

किन्तु यहाँ तो समग्र देहधारियों के अन्दर पुरुषरूप से तथा बाहिर काल रूप से विराजमान होंकर अमृत और मृत्यु देने वाले उस पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चरित्रों को कहो, इस प्रकार २ श्लोक का अन्वय (आपस में पदों का सम्बन्ध) है। श्लोक में 'तस्य' पद देकर यह बताया है कि यह वही मूल रूप है, जिसका वेदों में भूमा तथा रस स्वरूप से वर्णन किया गया है। यदि वही है तो मनुष्य जैसे क्यों दिखते हैं? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'माया-मनुष्यस्य' अर्थात् वही पूर्ण रस स्वरूप है किन्तु माया से (अज्ञान से) हम उसको मनुष्य समझते हैं। आपने अपनी इच्छा से भक्तों को दर्शन देने के लिए यह रसमयी मनुष्याकृति धारण की है। आपने (भगवान् ने) अपनी माया से मनुष्यों की बुद्धि पर माया का पर्दा डाल दिया है जिससे लोग उस परम तत्त्व को मायिक वा कल्पित मनुष्याकृति समझते हैं तथा भगवान् की इच्छानुकूल प्रत्येक जीव अपने अधिकार के अनुसार उसी स्वरूप में विविध प्रकार से दर्शन करते हैं। इससे यह समझना चाहिए कि इस अवतार में भगवान् ने मूलरूप और अवतार रूप

दोनों को प्रकट किया है। इस श्लोक में यही (श्रीकृष्ण) रूप मूलरूप कहा है और उसके ही माहात्म्य का वर्णन किया गया है।

भगवान् का अनन्त माहात्म्य है इसको प्रकट करने के लिये 'वीर्याणि' बहुवचन दिया हैं।

'अखिल देह भाजां' पद में 'अखिल' पद से सब कहे हैं, इसका भाव यह है कि भगवान् के सिवाय कोई भी अन्य (देवादि) किसी को मृत्यु वा अमृत फलदान करने में समर्थ नहीं हैं। दोनों ही फल सबको भगवान् ही देते हैं, भिन्न-भिन्न दाता नहीं हैं। कारण कि आप ही प्रत्येक प्राणी के देह में अन्तर (अन्तर्यामि) रूप से वा व्यापक रूप से विराजमान है। समस्त देहधारी जीव भगवान् के ही आत्मरूप (अपने रूप) हैं उन्हों को कारणवश (लीला[1] करने के लिये) जुदे जुदे देह आदि दिये हैं। इसीलिए हरएक को पृथक्-पृथक् मृत्यु वा अमृत की प्राप्ति होती है।

आचार्य श्री कहते हैं कि इस पुरुष रूप और कालरूप का स्वरूप कितनेक नीचे दिये हुए प्रकार से बताते हैं—

१–भगवान् ने जो मत्स्य आदि अवतार लिये हैं, वे भगवान् के पुरुषरूप हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विषय भगवान् के 'काल-रूप' हैं।

२–भगवान् के जिन रूपों का ध्यान किया जाता है वे भगवान् के 'पुरुष-रूप' हैं और ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त रूप भगवान् के 'काल-रूप' हैं। इस प्रकार अन्य मत (विचार) कहकर आप श्री कहते हैं कि सब रूप भगवान् के ही हैं तो भी अन्तर और बाहिर इस प्रकार अन्य मत कहकर भी आप श्री कहते हैं कि भेद के कारण उनमें इस प्रकार (पुरुष रूप और काल रूप से) विशेषता रहती है। जैसे कि किसी प्रकार भी साधनों से जो बहिर्मुख होते हैं वे मृत्यु को पाते हैं तथा जो अन्तर्मुख होते हैं वे अमृत को ही प्राप्त करते हैं।

बहिर्मुख जीवों को मत्स्यादि रूप मृत्यु देते हैं अतः वे भी तब 'काल-रूप' बन जाते हैं और अन्तर्मुखों को विषय भी अमृत देते हैं, वे विषय भी पुरुष रूप होते हैं। श्लोक में 'उत' शब्द का भाव यह

---

१ भगवान् अपने आत्मरूप जीवों को लीला के कारण मृत्यु भी देते है इसको स्पष्ट इस प्रकार समझना है (एकाकी न रमते स द्वितीय मैच्छत्) अकेले रमण नहीं हो सकता है। अतः भगवान् ने दूसरे होने की इच्छा की। उस इच्छा से आप 'एकोऽहं बहुस्याम्' मैं जो एक हूँ वह बहुत हो जाऊं इस विचार से आप बहुत हुए– जिसका साक्षात् प्रत्यक्ष स्वरूप सृष्टि है। अग्नि से चिनगागियाँ की भांति आपने अपने में से अंश रूप जीव प्रकट किये परामिध्यानात् तु तिरोहितं ततोह्यस्य बन्धविपर्ययौ' इस व्यास सूत्र के अनुसार भगवान् की इच्छा से जीवरूप में से ऐश्वर्यादि छ गुण तिरोहित हो गये जिससे जीव का बन्ध तथा विपर्यय (उलट फेर-एकका दूसरा हो जाना) हुवा। उसका परिणाम यह हुआ कि, १– ऐश्वर्य के छिप जाने से जीव अपने को पराधीन समझने लगा। २– वीर्य के छिप जाने से दुःख भोक्ता हुआ। ३– यश के छिपने से अपने को हीन समझने लगा। ४– श्री के छिप जाने से जन्मादि भोगने पड़े। ५– ज्ञान छिप जाने से, देहादि में अध्यास से अहं मम बुद्धि हो विपरित बुद्धि हो गई। ६– वैराग्य छिप जाने से विषयासक्ति हुई। इस प्रकार भगवान् ने जैसे स्वइच्छा से लीला कर अपने आत्मरूप जीव से षड् ऐश्वर्यादि धर्म तिरोहित किये वैसे मृत्यु आदि भी दिये। यह सर्व रमण के प्रकार (नमूने) हैं। इसमें सन्देह व शङ्का व्यर्थ है।

है कि भगवान् अन्तर्मुखों को पुरुष रूप तथा काल रूप दोनों रूपों से अमृत का ही दान करते हैं उनमें अन्तर्मुखों के लिये काल रूप भी पुरुष रूप हो जाते हैं यही भेद है। इससे मृत्यु और अमृत के तारतम्य (भेद) को समझना चाहिये। यों करने का भगवान् में किस प्रकार की अपनी सामर्थ्य है। क्या इसी भांति भगवान् श्रीकृष्ण खेल खेलते हैं? वह आपकी स्वाभाविक सामर्थ्य है, या अन्तर्भाव का बहिर्भाव का फल है? अथवा मर्यादा की रक्षा के लिये वैसी भगवान् की इच्छा है। इन सब सन्देहों का निवारण तब होगा जब हम उस श्रीकृष्ण के पराक्रमों का ज्ञान प्राप्त करेंगे। वह ज्ञान तब प्राप्त होगा जब उनके चरित्रों का श्रवण किया जायगा। अतः भगवान् के चरित्र अवश्य श्रवण करने चाहिये। इस सन्देह का निर्णय गोकुल वासियों के वैकुण्ठ गमन[1] प्रसङ्ग सुनने पर हो जायगा।

मनुष्य रूप से वैसा होना असम्भव है। इस शङ्का का निवारण करने के लिये भगवान् को (माया मनुष्य) कहा है, अर्थात् वह पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु है हम अज्ञान से उनको मनुष्य समझते हैं, अतः वह मनुष्य न होने से किन्तु कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं प्रभु होने के कारण सर्व करण में सामर्थ्यवान् है जिससे उसके किये हुए कार्य में असम्भवता समझनी हमारी अज्ञानता है।

हे विद्वन्! इस सम्बोधन से यह बताया कि आप जानकार ज्ञानी हो भगवान् के वीर्यों का कीर्तन जो आप करोगे उससे हमारा तो उपकार होगा ही, किन्तु साथ में कीर्तन करने का फल आपको भी प्राप्त होगा और 'विद्वन्' विशेषण का यह भी आशय है कि आपको भगवान् के सर्व चरित्रों का ज्ञान है ॥ ७ ॥

एवं भगवच्चरित्राणि पृष्ट्वा सन्दिग्धान् युक्तिविरुद्धानर्थान् पृच्छति—रोहिण्या इति पञ्चभिः

राजा परीक्षित इस प्रकार भगवान् के चरित्रों को पूछकर अब ५ श्लोकों से जिन चरित्रों का वर्णन युक्ति के विरुद्ध देखने में आता है तथा जिसमें संशय होता है वे पूछता है।

श्लोकः— रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः सङ्कर्षणस्त्वया।
देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना ॥ ८ ॥

श्लोकार्थः— आपने रोहिणी के पुत्र सङ्कर्षण (राम) को देवकी का पुत्र कहा किन्तु उनका, देवकी के गर्भ से सम्बन्ध, दूसरी देह के बिना कैसे हो सकता है ॥ ८ ॥

सुबोधिनी:— 'बलं गदं सारणं चे'त्यत्र रोहिण्यास्तनयः प्रथमत उक्तः। 'वसुदेवस्तु देवक्यामि'त्यत्र 'कीर्तिमन्तमि' तिगणनायां सप्तमोऽहीश्वरो गणितः, 'सङ्कर्षणमहीश्वर' मिति। यद्यपि तत्र भगवत्प्रभाव एव कारणं, तथापि लौकिकप्रकारविषयः प्रश्नः। देहान्तरं विनेति तस्मिन्नेव जन्मनि कथमुभयत्रोत्पत्तिः? ॥ ८ ॥

अनुवाद—नवम्-स्कन्ध के २४वें अध्याय के 'बलं गदं' इस ४६वें श्लोक में बलरामजी को रोहिणी

---

[1] इस प्रसंग में भगवान् ने बहिर्मुखों को भी अमृत दान दिया है जिससे दूसरा पक्ष ही सिद्धान्त (निर्णय) होगा।

का पुत्र कहा है और वहीं पर 'वसुदेवस्तु देवक्यां............सङ्कर्षणमजीजनत्' ५४वें श्लोक में सङ्कर्षण (बलराम) को वसुदेव ने देवकी से उत्पन्न किया ऐसा कहा है। यह परस्पर विरुद्ध वर्णन है। लोक में दूसरी देह के सिवाय दो स्थान पर प्रकट होना बन नहीं सकता है। इसका राजा ने प्रश्न किया है अन्यथा ईश्वर के प्रभाव से सर्व कुछ हो सकता है। अतः यों होने में भी भगवान् का प्रभाव ही कारण है ॥ ८ ॥

भगवतो मथुरापरित्यागे को हेतुरिति पृच्छति-कस्मादिति ।

भगवान् का मथुरा छोड़ने का क्या कारण था ?

श्लोक—कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितुर्गेहात्व्रजं गतः ।
क्व वासं ज्ञातिभिः साकं कृतवान् सात्वतां पतिः ॥९॥

श्लोकार्थ—मुकन्द भगवान् अपने पिता (वसुदेवजी) के घर से व्रज में किस लिए पधारे ? शुद्ध सतोगुण वालों के पति उन भगवान् ने वहां बान्धवों के साथ कहाँ निवास किया ? ॥९॥

सुबोधिनी—कालादिभयनिवारकस्य शुद्धब्रह्मणो भयाभावे व्रजगमने को हेतुरिति मुकुन्दपदेन सूचितम्, सर्वेभ्यो मोक्षदाता मुकुन्दः। बृहद्वनवृन्दावनादिषु मध्ये नन्दादीन् ज्ञातित्वेन परिकल्प्य ज्ञातिभिः सह क्व वासं कृतवान् ? । अथवा असञ्ज्ञातिभिः सम्यग्ज्ञातिभावरहितैः क्व वा साकं सहभावं कृतवान् । भगवतस्त्ववतारः सतामेव संरक्षार्थः[1] । यतः स सात्वतां शुद्धसत्त्वे प्रतिष्ठितानामेव पतिः ॥ ९ ॥

अनुवाद— जो भगवान् अन्यों के (कालादि के) भय को दूर करने वाले हैं और सब को मुक्ति देने वाले हैं वे अभय स्वरूप स्वयं, वैसा कौनसा कारण था जिसके लिये पिता का घर त्यागकर व्रज में गये ? महावन तथा वृन्दावन में नन्दादिक गोपों को अपना कुटुम्बी बनाकर उनके साथ कहाँ निवास किया ? अथवा जिनसे अन्य वर्ण के कारण कोई संबन्ध[1] नहीं, पहचान नहीं उनके साथ सहकार कर व्रज में कहाँ और कैसे निवास करने लगे ? जब आप शुद्ध सतोगुण में स्थित सत्पुरुषों के ही पति हैं और आपका अवतार भी वैसे सत्पुरुषों के लिये ही है तब आप भगवद्भाव रहित तथा अन्य ज्ञाति वाले, तामसों के वहाँ जाकर कैसे निवास करने लगे ? ॥ ९ ॥

सुबोधिनी— प्रश्नान्तरम्—व्रजे वसन् किमिति ।

श्रीकृष्ण ने व्रज में रहते हुए क्या किया ?

---

१. परीक्षित ने जो इस प्रकार कहा कि नन्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, यह इसलिये कहा कि उसने अभी तक दशमस्कन्धकी कथा नहीं सुनी थी, इसलिये अज्ञान के कारण यह प्रश्न किया भगवान् का तो नन्दादि के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा वसुदेव के साथ, इसीलिये श्रीकृष्ण ने कहा है कि (वयं गोवृत्तयोनिशम्) हम सदैव गौ चराने वाले हैं, और (श्रूयतां मे पितः) हे पिता मेरा कहना सुनो, इन वचनों के न सुनने से राजा भगवान् को केवल यदुकुल में प्रकट हुआ ही समझता था। इसलिये नन्दादिकों को अन्य समझ इस प्रकार कहा ।

श्लोक—व्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः ।
भ्रातरं चावधीत्कंसं मातुरद्धाऽतदर्हणम् ॥ १० ॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने व्रज में और मथुरा में रहते हुए कौन २ से कार्य किये ? मामा कंस को मारने जैसा निन्दित कार्य कैसे किया ? ॥ १० ॥

सुबोधिनी—तज्जात्यनुकरणतद्भावानुकरणलीलाप्रश्नः । पूर्वोक्तानुवाद एव वा । व्रजे च वसन् किमकरोत् ? कंसवधादिकं स्पष्टमपि लोके विगर्हितमिति पृच्छति भ्रातरमिति । मातुर्भ्रातरमद्धा स्वहस्तेन । मातुलस्य मान्यत्वादतदर्हणं वधानर्हम् । कस्मादिति पूर्वस्यानुषङ्गोऽत्रज्ञेयः । व्रजे मथुरायां च के के उद्धृताः ? कंसस्यापि का व्यवस्थेति प्रश्नः ॥ १० ॥

अनुवाद—इस श्लोक में दो प्रश्न हैं, एक व्रज में रहकर क्या किया और दूसरा मथुरा में रहकर क्या किया ? इनमें व्रज में रहकर क्या किया यह प्रथम प्रश्न स्पष्ट नहीं है, अतः आचार्य श्री उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि । क्या व्रज में रहकर उन व्रजवासियों के समान सब प्रकार के वस्त्र आदि धारण सम्भाषण और गौपालन आदि कार्य करते थे ? दूसरा प्रश्न तो स्पष्ट है जो उसने (कंस ने) वसुदेव देवकी को अनेक कष्ट दिये थे। किन्तु अपने हाथ से मातुल[1] को मारने का काम लोक में निन्दित गिना जाता है, क्योंकि मामा मानदेने योग्य अर्थात् पूजनीय है अतः वह मारने योग्य नहीं है। यों होते हुए भी वैसा निन्दित कार्य किसलिये किया ? यह पहले किये हुए प्रश्नों का अनुवाद ही है। श्लोक के उत्तरार्ध में कंस को क्यों मारा ? ऐसा प्रश्न बताने वाला कोई शब्द नहीं है इसलिये आचार्य श्री कहते हैं कि ऊपर के श्लोक में दिये हुए (कस्मात्) शब्द से इसका सम्बन्ध समझकर अर्थ करें (कस्मात् अवधीत्) किस कारण से (क्यों) मारा। इन प्रश्नों का सार यह है कि व्रज में और मथुरा में रहकर किन २ का उद्धार किया ? तथा कंस की भी क्या व्यवस्था की गई ॥ १० ॥

द्वारकायां कियत्कालं स्थितवानित्याह-देहमिति ।

द्वारका में भगवान् ने कितना समय निवास किया ? यह प्रश्न निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक— देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः ।
यदुपुर्यां सहावात्सीत् पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—मनुष्य आकृति स्वीकार कर यादवों के साथ द्वारका में कितने वर्ष पर्यन्त रहे ? और प्रभु की पत्नियां कितनी थी ?॥ ११॥

सुबोधिनी— अत्यन्तनटोपि प्रहरमात्रं वेषं करोति, कपटमानुषवेषं कियत्कालमास्थाय स्थित इति कालप्रश्नः ।

१. मामा

तत्र स्थितस्य विशेषप्रयोजनाभावाद् हं मानुषमाश्रित्येति तत्रैवोक्तम् । वृष्णिभिर्यादवैः सहेति असमानसमानतापि बहुकालमयुक्तेति सूचितम् । यदुपुर्यामिति परस्थाने वासः । अवात्सीदिति वासे न सन्देहः । लक्ष्मीसमानभाग्यं कियतीनां जातमिति पत्न्यः कत्यभवन्निति प्रश्नः । प्रभोरित्यनेन सर्वसामर्थ्यं तस्य वर्त्तते इति सङ्कोच्य नान्यथा कथनीयमिति सूचितम् ॥ ११ ॥

अनुवाद—राजा ने प्रथम, समय का प्रश्न किया है, साधारण नट तो थोड़े समय के लिये ही रूप बदल सकता है । किन्तु विशेष कुशल नट एक प्रहर तक भी रूप बदल कर रह सकता है, तो बतलावे कि भगवान् ने जो नटवत्[1] मानुष देह धारण की वह कितने समय तक धारण कर रखी थी ? द्वारका में रहने का भगवान् का कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं था तो भी मानुष देह धारण कर वहाँ कब तक रहे ? और जो व्यक्ति किसी प्रकार भी भगवान् के समान नहीं थे उनके साथ विशेष समय तक क्यों एवं किस प्रकार रहे, जो रहना योग्य भी नहीं था । भगवान् का वहाँ विशेष समय तक रहने का कारण यह है कि आप पृथ्वी पर जो दुष्ट राजाओं द्वारा किये हुए पापों का भार बढ़ गया था उसको यादवों द्वारा उतारना चाहते थे । अतः कोई भी लीला छिपाकर, अन्य प्रकार से न कहें । आप दुष्ट राजाओं को नाश करने के वास्ते सामर्थ्य का दान करने के लिये यादवों में प्रविष्ट होकर वहाँ उस समय तक रहे जब तक आपने दुष्ट राजाओं का नाश यादवों द्वारा नहीं कराया । यही (मानुषदेहं[2] आश्रित्य) का भाव है । इसीलिये ही भगवान् ने कहा है कि (नैवान्यतः परिभवो ऽस्यभवेत् कथञ्चित्) इस यादव वंश का कैसे भी किसी दूसरे से पराभव (तिरस्कार) नहीं हो सकेगा । इसका कारण यह है कि वे आपके आश्रित हुवे हैं आपने उनमें प्रविष्ट होकर उनको आश्रय[3] देदिया है । (अवात्सीत्) पद से वहाँ आप रहे यह तो निश्चय ही है और रहे भी दूसरों के स्थान में, यह (यदुपुरी) शब्द कहने से सिद्ध होता है । वहाँ जब तक रहे, तब तक कितनी पत्नियों को लक्ष्मी के समान भोग द्वारा भाग्यशाली बनाया गया ? यहाँ भघवान् का नाम (प्रभु) कहकर. यह बतादिया कि वह सर्व सामर्थ्यवान् है अतः उनके लिये कोई छोटा मोटा, पराया अपना नहीं है सब समान है । आप तो यह सब लीलाएँ, कर रहे हैं ॥ ११ ॥

अन्यदपि युक्तिविरुद्धं सोपपत्तिकं वक्तव्यमित्याह—एतदन्यच्चेति ।

अनुवाद—दूसरा भी कोई चरित्र युक्ति से विरुद्ध देखने में आवे तो उपपत्ति[4] पूर्वक, उसका वर्णन करें । इस प्रकार का प्रश्न निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम् ।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम् ॥ १२ ॥

---

१. दिखावे के लिये

२. 'मानुष देहं आश्रित्य' यादवों के देह में सामर्थ्य रूप से प्रवेश कर, राजाओं का नाश किया । यही मनुष्य देह का आश्रय करना कहा है ।

३. रक्षण

४. युक्ति से उस विरोध को मिटाकर ।

श्लोकार्थ—हे मुने ! आप प्रभु की सर्व लीलाओं को जानने वाले हो अतः मुझे श्रद्धालु को, जो लीलाएँ मैंने पूछी हैं। तथा अन्य जो कोई भी हो वे सर्व भगवान् की लीलाएँ विस्तार से कहने के लिये आप योग्य (समर्थ) हो।

सुबोधिनी—अन्यदपृष्टं सर्वं भगवत्कृतम् । म इति तदीयत्वान्ममैतदेव कृत्यमिति । मुन-इति ज्ञानार्थं सम्बोधनम् । कृष्णविचेष्टितमिति स्वतन्त्रफलत्वम् । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत' इति सदानन्दः कृष्ण उक्तः । तच्चरित्रमपि सदानन्दरूपमेवेति फलत्वात् सर्वमेव वक्तव्यम् । एतन्मर्माभिज्ञस्त्वमेवेति वक्तुमर्हसि । वीर्यात्यरूपेपि केवलचरित्रेऽप्यहं श्रद्दधानः । विस्तृतमिति तादृशोपि विस्तारो वक्तव्यः सर्वत्रैव चरित्रे चतुर्विधेपि विस्तारः । वीर्याणि, सर्वगेयचरित्राणि, अलौकिकवीर्याण्यगेयचरित्राणीति चातुर्विध्यम् ॥१२॥

अनुवाद—राजा परीक्षित ने शुकदेवजी को (मुने) यह सम्बोधन देकर यह बताया है कि आप ज्ञानवान् हो अर्थात् आपको भगवान् की लीलाओं का पूर्ण ज्ञान है, अतः मेंने जो लीलाएँ पूछी हैं वे, और जो न जानने से, नहीं पूछी है वे भी कहिये, कारण कि मैं भगवान् का हूँ इसलिये, भगवान के चरित्र सुनने, यही मेरा कर्त्तव्य है। श्लोक में (कृष्ण विचेष्टितम्) पद का भावार्थ बताते हैं कि– कृष्ण सदानन्द स्वरूप होने से 'स्वतन्त्र'[1] फलरूप है। वे स्वयं तथा उनकी लीलाएँ भी फलरूप हैं जैसा कि श्रुति भगवती कहती है कि **कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृत्ति वाचकः । तयोरेक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते**'। 'कृष्ण' शब्द में जो 'कृष्' है उसका अर्थ है सदा ही मौजूद रहना और 'ण' का अर्थ है 'आनन्द' दोनों के मिलाने से हो जाता है (सदानन्द) जिसका भाव यह है कि जो स्वरूप सदा ही आनन्द रूप है वही 'कृष्ण' पर ब्रह्म है यों वेदो में कहा गया है। इसी कारण से उनकी लीलाएँ भी सदानन्द रूप हो हैं जिससे वे भी फलरूप ही है, अतः सब चरित्र कहिये। आपसे इस प्रकार इसलिये पूछता हूँ कि आप ही चरित्रों के मर्म को जानने वाले हो। मैं तो भगवान् के चरित्रमात्र में श्रद्धा रखने वाला हूँ। वह चरित्र वीर्य (पराक्रम) आदि से रहित हो तो भी उसके सुनने में मेरी पूर्ण श्रद्धा है। अतः भगवान् कृष्ण का जो चरित्र वीर्य रहित हो वह भी विस्तार के साथ कहिये। वीर्य[2], सर्वगेय[3], अलौकिक वीर्य[4] और अगेय[5] ये श्रीकृष्ण के चार प्रकार के चरित्र हैं, वे सब विस्तार से कहिये ॥ १२ ॥

---

१. श्रीकृष्ण के सिवाय अन्य फल परतन्त्र हैं कारण कि वे साधनों द्वारा प्राप्त होते हैं, श्रीकृष्ण तो बिना साधन से स्व-कृपा से स्वयं अपनी प्राप्ति कराता है जैसे कि 'यमे वैषवृणु ते तेन लभ्यः' इस श्रुति में कहा है यह परमात्मा जिस जीव को स्वीकार करता है वह जीव ही भगवान् को पा सकता है। अतः श्रीकृष्ण को स्वतन्त्र फलरूप कहा गया है। (अनुवादक)

२. 'तत्रांशेनावतीर्णस्य' इस श्लोक में श्री कृष्ण के वीर्यों (पराक्रमों) का प्रश्न है।

३. 'अवतीर्य यदोर्वंशे' ,, ,, ,, सर्वगेय चरित्रों का प्रश्न है।

४. 'वीर्याणितस्य' ,, ,, ,, अलौकिक वीर्यों के चरित्रों का प्रश्न है।

५. 'रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तः ,, ,, अगेय चरित्रों का प्रश्न है।

एवं द्वादशभिः प्रश्नं निरूप्य सर्वथा कथनार्थमकथने वा बाधकमाह—नैषेति ।

इस प्रकार १२ श्लोकों में भगवान् के चरित्र विषयक प्रश्न किये जिससे यह बताया कि आपको वे चरित्र मुझे सुनाने चाहिये, यदि नहीं सुनाओगे तो प्राणों में बाधा पहुँचेगी । इसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—नैषाऽतिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—यद्यपि क्षुधा और तृष्णा सही नहीं जाती है, किन्तु जल का भी त्याग करने वाले मुझे वह क्षुधा कुछ दुःख नहीं दे सकती है कारण कि मैं आपके मुख रूप कमल से द्रवित (झरते) हुए कथा रूप अमृत का पान कर रहा हूँ ॥ १३ ॥

सुबोधिनी—आर्तिकथनायैषेति । अप्रयोजकत्वं वारयति–अतिदुःसहेति । क्षुन्मामिति प्रमाणकथनम् । उदकत्यागः प्रकारान्तरेण देहरक्षाभावार्थः । एषा परमोत्तमाधिकारस्थितिः । उदकस्योभयनाशकत्वात् तथोक्तम् । क्षुधो भ्रातृव्यत्वश्रवणादवश्यबाधकत्वात्तदेवोक्तम् । शीघ्रकथनाय वर्त्तमानप्रयोगः । अम्भोजत्वममृतस्रावात् । कथाकथने वक्तुः परवशत्वापादकं चरित्रमिति ज्ञापयितुं च्युतमिति । । पानमन्तःप्रवेशनमविस्मरणाय । इदानीमपिपूर्वोक्तकथनानुसन्धानाद्वर्त्तमानप्रयोगः । सम्भावनयेत्यन्ये । आनन्दत्वचेतनत्वद्योतनायाह-हरीति । विशेषतो दुःखनाशकत्वं तत्र प्रसिद्धमिति । विशेषतो हरिकथा अमृतमिवेत्यमृतपदे यौगिकोर्थो गृहीतः । असङ्कोचान्मुक्तिरेव फलति । अतस्त्वमेव मोक्षदातेति वक्ता स्तुतः ॥ १३ ॥

अनुवाद—राजा परीक्षित ने इस श्लोक में यह जो कहा है कि मुझे जो सर्वथा सहन नहीं की जासकती है, ऐसी क्षुधा भी नहीं सताती है, इस कहने का भावार्थ यह है कि राजा को भगवान् के चरित्र सुनने की अन्तःकरण में अत्यन्त आर्ति[1] थी, जिससे यह बताया कि मुझे देह रक्षा का विचार नहीं है, इसलिये अन्न के अभाव में, जल, क्षुधा और प्यास दोनों को शान्त करता है, तथा देह की भी रक्षा कर सकता है । मैंने तो वह जल भी छोड़ दिया है । यह कहना सूचित करता है कि राजा परम उत्तम अधिकारी है ।

प्यास न कहकर केवल क्षुधा कहने का यह आशय है, कि क्षुधा शत्रु है, क्यों कि शत्रु के समान अवश्य दुःख देने वाली है, अतः शीघ्र बाधा करती है । इसलिये 'बाधते' यह वर्तमान काल का प्रयोग किया है । शुकदेवजी के मुख को अम्भोज (कमल) कहने का आशय यह है कि उस (मुख) से अमृत बह रहा है । कथा कहने वाले शुकदेवजी आप उस अमृत को समझकर नहीं बहाते हैं किन्तु भगवान् के चरित्र ही ऐसे हैं जो कहने वाले को परवश कर देते हैं । जिससे कथा कहने के समय कथा रस में मग्न होने से, क्या हो रहा है ? या क्या कर रहा हूँ ? यह ज्ञान उस (वक्ता) को नहीं रहता है अतः श्लोक में (च्युत) शब्द दिया है जिसका भाव है कि वह कथा रूप अमृत रस, मुख से स्वयं बहा जा रहा है । जैसे परिपक्व

---

१. विशेष चाहना

फल पेड़ से स्वयं गिर पड़ता है। ऐसा रस मैं पान कर रहा हूँ, अर्थात् केवल श्रवण नहीं करता हूँ किन्तु पानकर अन्तःकरण में धारण कर रहा हूँ जिससे सदैव स्मरण रहे। यहां भी 'पिबन्तं' वर्तमान काल के प्रयोग करने का आशय यह है कि मैंने जो चरित्र पहिले सुने हैं वे भी मुझे पूर्ण रीति से अब स्मरण है। अन्य टीका करने वालों की यह सम्मति है कि यह वर्तमानकाल की क्रिया परीक्षित ने इस आशा से दी है कि शुकदेवजी शीघ्र भगवान् के चरित्र सुनाएंगे। यद्यपि बहुत करके भगवान् का 'हरि' नाम दुःख हता अर्थ में प्रसिद्ध है तो भी यहां हरि शब्द आनन्द रूप और चेतनरूप के प्रकाशक है, इसलिये दिया है अर्थात् भगवान् एवं उनके चरित्रों में आनन्द और चेतन, दोनों गुण मौजूद है। विशेषता यह है कि हरिकथा अमृत ही है। किञ्च यहां अमृत से रूढि अर्थ वाला अमृत जो देव पीकर अमर बने हैं, वह अमृत नहीं समझना चाहिये किन्तु उसका यौगिक अर्थ समझना अर्थात् जिसके पान करने से मोक्ष प्राप्त होता है उस मोक्ष से जन्म मरण सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं। अतः आप ही सच्चिदानन्दात्मक कथा सुनाने से हमारे मोक्ष दाता हो। इस प्रकार कथा के वक्ता (श्री शुकदेवजी) की स्तुति की है ॥ १३ ॥

शौनकादीन् सावधानतयाभिमुखान् करोति सूतः—एतमिति ।

सूतजी शौनक आदि ऋषियों को कथा सुनाने के लिये निम्न श्लोक से सावधान करते हैं।

श्लोक–

एतं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं वैयासकिः सभगवानथ विष्णुरातम्।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे भृगु को आनन्द देने वाले शौनकजी ! इस सुन्दर, भगवान् के सम्बन्धवाले चरित्रों के प्रश्नों को सुनकर, भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ एवं प्रशंसित श्री शुकदेकजी ने, भगवान् से रक्षा पाये हुए परीक्षित का अभिनन्दन कर कलि के मल को नाश करने वाले श्रीकृष्ण के चरित्र कहने प्रारम्भ किये ॥ १४ ॥

सुबोधिनी—परम्पराभिनन्दनेनायमर्थः स्फुरतीति तथा प्रतिपाद्यते। एतस्य प्रश्नस्य मूलत्वात् प्राधान्येन निर्देश एतमिति। पुनः पुनः प्रश्ने वक्तुरुद्वेगः सम्भवति। आक्षेपे क्रोधः। तदुभयं निरस्यति निशम्येति। नितरां श्रुत्वा, अर्थतोभिप्रायतश्च समीचीनमिति, न तु दाक्षिण्येनेत्यर्थः। विश्वासार्थं भृगुनन्दनेति सम्बोधनम्। हेतुभूतं विशेषणं साधुवादमिति। शब्दतो वदनं वादः साधूनां वादः साधुवादः, साधवः पदार्था भगवत्सम्बन्धिनोस्मिन्नुच्यन्त इति। साधूनां वादो यस्मादिति वा। वीतरागा भगवत्कथामेव कुर्वन्तीति निरूपितप्रमेयस्य साधुवादत्वज्ञापनाय विशेषणम्। भगवद्भक्ताश्चेन्मिलन्ति तदैवं वाक्यं प्रष्टव्यमिति महता कष्टेन व्यासो भगवद्गुणप्रतिपादकमिदं शास्त्रं चकार। तस्य प्रवर्तनार्थं च शुकः प्रवृत्तः। तादृशं प्रश्नरूपं साधुवादमेवापेक्षते। महता प्रयासेन भगवन्मतप्रवर्तकत्वात्। तदाह-वैयासकिरिति। तथापि भगवच्चरित्रस्य दुर्ज्ञेयत्वात्कथमुत्तरमत आह सभगवानिति। भगवता सहितः। तदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छतीत्यर्थः। नन्वेवं भगवान् स्वयमुत्तरं प्रयच्छति कथमित्याशंक्याह-विष्णुरातमिति। अथेति भिन्नोपक्रमे।

एतावत्कालं शुकः स्वयमेवाह । इदं चरित्रं तु तत्र स्थितो भगवानेवाऽऽहेति भिन्नः प्रक्रमः । विष्णुना एतदर्थमेव रक्षितः । अन्यथा पुरुषार्थो न सिद्धयतीति किं रक्षणेन । श्रवणे निमग्नचित्तत्वात् प्रत्यर्चनम् । पूर्वं शुकः स्तुतः । तेन शुकोपि तमग्रे स्तौतीति प्रत्यर्चनम् । पूज्यो हि भगवान्, भक्ताश्च । ते चोभयत्र पूर्णा इति परस्परं पूजा । एवमेव भगवत्कथायां परस्परार्चनं शास्त्रसिद्धम्, 'येऽन्योन्यतो भागवता' इति वाक्यात् । एतावदुद्योगस्य फलमाह-कृष्णेति । अवतारचरित्रत्वेनालौकिकत्वमुक्तम् । पापस्य प्रतिबन्धकत्वान्नात्र श्रद्धा भविष्यतीत्याह-कलीति । षण्णां शोधकानां देशादीनां धर्महेतूनां चाभावाच्चरित्रमेव शोधकम् । अन्यथा युगे धर्मप्रवृत्तिर्मोक्षो वा न स्यात् । महता प्रक्रमेण समारम्भे हेतुः—भागवतप्रधान इति । भागवता एव प्रधानं यस्येति । विशेषेणाहतुं वक्तुमारम्भं कृतवान् । अत एव मननपरित्यागेन कथामेव कथयति, सभाजयति च तामेव, न ज्ञानादिकमिति भावः ॥ १४ ॥

अनुवादः—श्रोता तथा वक्ता आपस में जो अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं उससे हृदय में अर्थ की स्फूर्ति[1] होती है. कारण कि श्रोता को वक्ता की योग्यता मालूम होने से उसको निश्चय होता है कि यह जो कहेंगे वह सत्य ही कहेंगे। इस प्रकार वक्ता भी श्रोता की योग्यता देखकर समझता है कि मैं जो कुछ कहूँगा वह पूर्ण रूप से समझकर यह धारण करेगा। जिससे वक्ता गुह्य भी कहने में संकोच नहीं करता है और श्रोता ध्यान देकर श्रवण करता है। श्री शुकदेवजी जो चरित्र वर्णन करने लगे उनका मूल कारण परीक्षित का प्रश्न है इसलिए श्लोक में 'एतं' (इस प्रश्न को) शब्द कहा है। बार बार पूछने से वक्ता के चित्त में उद्वेग (व्याकुलता) होता है, यदि वह प्रश्न आक्षेप (दोष लगाने आदि) से किया जाय तो वक्ता को क्रोध भी आता है। 'निशम्य' शब्द देकर इन दोनों (व्याकुलता एवं क्रोध) को मिटाया है। 'निशम्य' पद में दो शब्द है एक 'नि' दूसरा 'शम्य' जिनके कहने का भावार्थ यह है कि श्री शुकदेवजी ने परीक्षित के प्रश्न को शान्ति से सुना और प्रश्नों के अर्थ तथा अभिप्राय को समीचीन[2] समझा। और यह भी जाना कि परीक्षित ये प्रश्न चालाकी[3] से नहीं करता है किन्तु चरित्र श्रवण की उत्कट इच्छा से भाव एवं श्रद्धा पूर्वक करता है। शौनक को भृगुनन्दन कहा उसका भाव यह है कि उससे शौनक को सूचित किया कि मैं जो कहता हूँ उसमें विश्वास रखना, क्योंकि भृगु विश्वास रखते थे आप भी उसके पुत्र हो अतः आपको भी विश्वास रखना चाहिये।

शुकदेवजी ने परीक्षित के प्रश्न-प्रेम से शान्तिपूर्वक सुनें। उसका कारण 'साधुवाद' विशेषण से बताते हैं कि परीक्षित के जो प्रश्न थे उनमें भगवच्चरित्ररूप सुन्दरवाद था। जिन महानुभावों के हृदय से संसार का प्रेम निकल गया है, वैसे लोग जब परस्पर मिलते हैं तो सिवाय भगवान् के चरित्रों के कहने के अन्य किसी प्रकार की बातचीत नहीं करते हैं। परीक्षित ने भी जो प्रश्न किये हैं वे भी भगवच्चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले होने से 'साधुवाद' ही है। भगवद्भक्त जब भी मिलें तब उनको ऐसे ही प्रश्न पूछने चाहिए। व्यासजी ने भी महान् कष्ट से भगवान् के गुणों को प्रतिपादन[4] करने वाला यह शास्त्र बनाया है और ऐसे शास्त्र के प्रचार करने के लिए श्री शुकदेवजी प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार महान्

१. जानकारी   २. उत्तम, सत्य   ३. कपट   ४. समझाने वाला

कष्ट से जिन भगवान् के गुणों और चरित्रों का प्रतिपादन हुआ है और जिनके प्रचार के लिये शुकदेवजी जैसे वीतराग, निरपेक्ष मुनि सन्नद्ध[1] हुए हैं, उन चरित्रों को 'साधुवाद' की अपेक्षा होती ही है अर्थात् उनका 'साधुवाद' करना ही चाहिये।

शुकदेवजी के लिए यहाँ दो विशेषण दिये है, एक 'वैयासकिः' दूसरा 'सभगवान्' उनके देने का भाव बताते हैं कि जब भगवान् के चरित्र सहज समझ में आ जावें वैसे नहीं हैं, तब उनका उत्तर किस प्रकार दिया जायँगा ? ऐसी शङ्का करना व्यर्थ है क्योंकि उनका उत्तर देने वाले व्यासजी, (जिन्होंने समाधि में अनुभव कर चरित्रों का प्रतिपादन किया है) उनके पुत्र हैं। इस कारण से श्री शुकदेवजी उत्तर दे सकते हैं और आपके साथ भगवान्[2] भी है वे ही अन्तःकरण में स्थित होकर उत्तर दे रहे हैं। स्वयं भगवान् शुकदेवजो के हृदय में विराजमान होकर उत्तर देते हैं, उसका क्या कारण है ? इस शङ्का निवारण के लिए श्लोक में प्रश्नकर्त्ता परीक्षित के लिए 'विष्णुरातं' विशेषण दिया है, जिसका भाव है कि जिसको भगवान् ने गर्भ में इसलिए रक्षा की थी कि इसको मैं अपने चरित्रों को सुनाकर अपना पूर्ण ज्ञानी भक्त बनाकर मुक्त करूँगा। तात्पर्य यह है कि गर्भ में शत्रु से जैसे रक्षा कर परीक्षित को बचाया वैसे ही अब भगवान् ने संसार रूप शत्रु से बचाकर सदा के लिए उसको अमर बनाते हुए अपना ब्रह्मानन्द दिया।

श्लोक में 'अथ' पद देकर यह बताया है कि अब तक तो श्री शुकदेवजी कह रहे थे। इसके बाद जो चरित्रों का वर्णन होगा वह भगवान् करेंगे। यदि भगवान् वैसे स्वयं चरित्र कहकर परीक्षित की रक्षा नहीं करते तो पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती जिससे रक्षा करनी व्यर्थ सी हो जाती। परीक्षित के प्रश्नों के भाव को विचारते हुए शुकदेवजी उसमें मग्न हो गये जिससे प्रश्नों की उत्कृष्टता समझ राजा की प्रशंसा करने से उसका अभ्यर्चन[3] किया, परीक्षित ने तो प्रथम ही शुकदेवजी का अभ्यर्चन[3] किया है इस प्रकार श्रोता तथा वक्ता का परस्पर अभ्यर्चन[3] शास्त्रों से सिद्ध है। भगवान् के गुण तथा भगवान् दोनों पूजा के योग्य हैं। वे भगवान् के गुण, दोनों, राजा तथा श्री शुकदेवजी में प्रविष्ट हुए हैं। अतः दोनों ने परस्पर पूजा[4] की। यों करने की 'योऽन्योऽन्यतो भागवता' इस वाक्य में आज्ञा है। इस उद्योग का फल 'कृष्ण' ही है। इसलिये फलरूप श्रीकृष्ण के चरित्र जो भी फलरूप होने से अलौकिक हैं, उनको ही राजा ने पूछा है। राजा ने पूछा वह तो अच्छा किया, किन्तु उसके सुनने में यदि पाप प्रतिबन्धक होगे जिससे श्रवण में श्रद्धा नहीं होगी। इस शङ्का के समाधान (मिटाने) के लिये 'कलिकल्मषघ्नं' पद श्लोक

---

१. तैयार

२. श्रीलालू भट्टजी ने योजना में कहा है कि नवम स्कन्ध तक तो श्री शुक ने चरित्र कहे। अब जो चरित्र कहे जायँगे वे भगवान् स्वयं कहेंगे। कारण कि लीला पुरुषोत्तम की लीलाओं को आप (पुरुषोत्तम) ही जान सकते हैं। जैसे कि गीता में कहा है, 'नमे विदुःसुरगणा प्रभवं न महर्षयः' मेरी महिमा को देवगण और महर्षि भी नहीं जान सकते हैं। दशम स्कन्ध में तो उस पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप की लीलाओं का वर्णन है उसका वर्णन शुक भी नहीं कर सकेंगे। अतः भगवान् ने स्वयं शुक के अन्तःकरण में विराजमान होकर अपने चरित्र कहें। शुकदेवजी शङ्कर का रूप है। शङ्कर भगवद्भक्त वैष्णव है, इसलिए वैसे के हृदय में भगवान् बिराजे हैं। यह योग्य ही है।

३. समादर ४. आदर

में दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि कलियुग के दोष जो भगवत् गुण के श्रवण में प्रतिबन्धक होते हैं उनको भगवान् के चरित्र नाश करने वाले हैं। अन्य उपाय तो इस युग में प्रतिबन्धों को नाश करने में असमर्थ है केवल भगवच्चरित्र उनको नाश कर सकते हैं। यदि वे भी असमर्थ होते तो इस युग में धर्म में प्रवृति तथा मोक्ष की प्राप्ति सर्वथा न हो सकती। इस कहने का सारांश यह है कि भगवच्चरित्र, कलि के सर्व प्रकार के मल नष्ट करने वाले हैं जिससे भगवच्छ्रवण में पापादि प्रतिबन्धक नहीं होते हैं और श्रद्धा बनी रहती है। शुकदेवजी ने महान् उत्साह से एवं उत्तम ढंग से जो चरित्र वर्णन का प्रारम्भ किया उसका कारण यह है कि कथा के श्रोताओं में भगवद्भक्त ही प्रधान[1] थे। शुकदेवजी ने भी उनसे विशेष रस पाने की इच्छा से उत्साह पूर्वक विशेष रूप से चरित्र वर्णन करने का प्रारम्भ किया। इस कथा रस में मग्न श्री शुकदेवजी मनन का त्याग कर केवल कथा (भगवान् के चरित्रों का वर्णन) ही करने लगे। कथा (भगवद्गुणानुवाद) को ही प्रधानता दी, ज्ञानादिक को प्रधानता नहीं दी ॥ १४ ॥

समानशीलव्यसनं दृष्ट्वा राजानं प्रश्नं चाभिनन्दति द्वाभ्याम्—सम्यगिति।

श्री शुकदेवजी राजा को अपने समान शील तथा व्यसन वाला देखकर दो श्लोकों से राजा और उसके प्रश्नों का अभिनन्दन[2] करते हैं।

श्लोक—सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम।
वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि-हे राजर्षियों में भी अत्यन्त श्रेष्ठ। वासुदेव की कथा (श्रवण) में आपकी निश्चयात्मक[3] प्रीति हुई है, आपकी बुद्धि ने यह अच्छा निश्चय किया है ॥ १५ ॥

सुबोधिनी—भगवति लयात्पूर्वं स्थिरप्रज्ञतैव सर्वोत्तमा। सम्यग् व्यवसायं भगवत्कथैव श्रोतव्या, नान्यत्किञ्चिदित्यध्यवसायं प्राप्ता। ब्रह्मर्षीणामप्येतद्दुर्लभं, तव तु जातमित्याश्चर्येण सम्बोधनं–राजर्षिसत्तमेति। राजा स्वधर्मनिष्ठः, स च लौकिकः। ऋषिर्वैदिकधर्मनिष्ठः। स चासौ सन् भगवद्धर्मनिष्ठः,। तत्राप्युत्कर्षो भगवदङ्गीकारात्। अत एव तवैतादृशो व्यवसाय उचित इति भावः। द्विधा च निश्चयः सम्भवति, शास्त्रार्थनिश्चयात् स्वरुच्या वा। तत्राद्यो मध्यमः। त्वं तूत्तम इत्याह–वासुदेव इति। यत् यस्मात् कथायां रतिर्जाता। सापि न चञ्चला, न केनाप्यन्यथाकर्तुं शक्या। निश्चयस्य सम्यक्त्वपोषिका रतिः। यस्मान्निश्चयाद्वासुदेवकथायां रतिर्जातेति वा। अथवा हेतुद्वयं राजाभिनन्दन एव। दुर्लभत्वं कथारतेर्वदन् कारणभूतं निश्चयमाह। साध्यसाधनयोर्निष्पन्नत्वात्सभाजनम्। प्रश्नेन चैवम्भावस्तस्याभिज्ञातोऽतोऽर्थात्प्रश्न एव स्तुतः ॥ १५ ॥

अनुवाद—भगवान् में लय हो जाने से पहिले ही यदि बुद्धि स्थिर हो जाय उसकी चञ्चलता मिट जावे तो यह सब से उत्तम है। आपकी बुद्धि ने जो यह दृढ़ निश्चय करलिया है कि, भगवान् की कथा के सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं सुनना वह उत्तम है। आपकी बुद्धि के दृढ़ निश्चय जैसा निश्चय ब्रह्मर्षिओं को

१. मुख्य　　२. प्रशंसा　　३. स्थिर

भी दुर्लभ है अतः आप राजर्षि सत्तम हो। अपनी प्रजा के पालन रूप धर्म में निष्ठा वाला लौकिक रीति से केवल राजा कहलाता है, प्रजापालन के साथ वैदिक धर्म में निष्ठावाले को (राजर्षि) कहते हैं, इन दोनों गुणों के साथ यदि वह भगवत्धर्म में निष्ठावाला होता है तो उसको (राजर्षिसत्तम) कहते हैं। आपका तो उससे भी उत्कर्ष है क्योंकि भगवान् ने आपका अङ्गीकार भी किया है। इस कारण से भगवान् में लय होने से प्रथम आपकी ऐसी दृढ बुद्धि होनी योग्य ही है। बुद्धि के दृढ हुए बिना भगवान् की प्राप्ति नहीं होती है। स्थिर बुद्धि से भगवत्प्राप्ति होती है तब इस बुद्धि का लय भगवान् में हो जाता है और भगवद्भक्त को अलौकिक देह की प्राप्ति होती है इसलिये आचार्य श्री ने कहा है कि भगवान् में लय होने से पूर्व ही (स्थिर बुद्धि) होनी चाहिये। निश्चय दो प्रकार से होता है, एक शास्त्र में कहे हुए-जीव को भगवान् की भक्ति करनी चाहिये-ऐसे उपदेश को सुनकर, और दूसरा अपनी सहज (स्वभाव सिद्ध) रुचि से निश्चय करना इन दोनों में पहिला शास्त्र सुनने से निश्चय होना (दृढ बुद्धि होना) 'मध्यम' मर्यादा निश्चय है। और सहज रुचि से दृढ बुद्धि होना, (उत्तम) पुष्टिमार्गीय निश्चय है। आप तो उत्तम हो कारण कि आपकी भगवान् के कथा के श्रवण में दृढ बुद्धि वाली रति[1] स्वभाव सिद्ध है। जिसको कोई बदल नहीं सकता है क्योंकि प्रेम उस निश्चय को अच्छे प्रकार से स्थिर करने वाला है। उस स्थिर निश्चय से कथा श्रवण में रति बढती रहती है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में कहे हुए दोनों कारण राजा के अभिनन्दन[2] के लिये कहे गये हैं। भगवान् के चरित्रों के श्रवण में (रति) अर्थात् प्रेम का होना दुर्लभ है। दुर्लभ होते हुए भी आपका जो श्रवण में प्रेम हुआ है उसका कारण बुद्धि की स्थिरता है। सभा में यद्यपि देवर्षि, ब्रह्मर्षि, और राजर्षि ये सब उपस्थित हैं तो भी आपको ही वैसा प्रेम कथा श्रवण में हुआ है और साधन तथा फल भी आपको सिद्ध हो गये हैं अतः आप सत्कार करने योग्य हैं। आप (राजा परीक्षित) का स्वरूप क्या है? इसका ज्ञान आपके किये हुए प्रश्न से हो जाता है। आपको धन्यवाद करने से प्रश्न की स्तुति होती है अर्थात् प्रश्न की ही प्रशंसा की है ॥ १५ ॥

प्रकारान्तरेणापि साक्षात प्रश्नं स्तोति—वासुदेवेति ।

श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक से दूसरे प्रकार से प्रत्यक्ष प्रश्न की स्तुति करते हैं।

श्लोक—वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषाँस्त्रीन् पुनाति हि ।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄँस्तत्पादसलिलं यथा ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—वासुदेव की कथा का प्रश्न करने वाले, उत्तर देने वाले तथा सुनने वाले इन तीन प्रकार के पुरुषों को वैसे ही पवित्र करता है जैसे श्री गङ्गाजी, ब्रह्मा, महादेव और भगीरथ इन तीनों को पवित्र कर रही है ॥ १६ ॥

सुबोधिनी—वासुदेवस्य मोक्षार्थत्वात् तत्सम्बन्धि यत्किञ्चिद्वस्तु तत् पवित्रयत्येव। तत्रापि कथा तत्सम्बन्धिगुणदोषाभिनिवेशजनिका। तत्रापि प्रश्नस्तज्जिज्ञासाया दार्ढ्यहेतुः। त्रीन् पुरुषान्। प्रश्ननान्तरं कश्चिच्छ्रोता मध्यस्थः, प्रश्न-

१. प्रेम २. प्रशंसा

कर्ता च त्रयो भवन्ति । स्तब्धचित्ततया पूर्वं वक्ता भगवद्गुणाभिज्ञोपि तूष्णीं स्थित: । तत्र भगवद्गुणेषु तूष्णीम्भाव: पापादेवेत्यध्यवसीयते । प्रश्ने च यदुद्गता भवन्ति गुणास्तत्पापनाशादेव । श्रोतृऋणामपि विद्यमाने पापे भगवत्प्रवणं चित्तं न भवतीति, प्रश्ने च जायत इति तत्पापनाशकत्वमपि । प्रश्नं करिष्यामीति यदा मनसि प्रश्न उद्गतस्तजा पापे विद्यमाने मुखान्न नि:सरति । यदा पुनर्नि:सरति तदा तस्यापि पापं नाशयतीति ज्ञायते । अतस्त्रीन् पुरुषान् पुनातीति युक्तं तदाह-हीति । प्रश्नकर्तु: पितृपितामहादयो भविष्यन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं गणयति—वक्तारमिति । वक्तारमुत्तरस्य । पृच्छक: प्रश्नकर्ता । श्रोता मध्यस्थ: । यद्यपि श्रोतृत्वं पूर्वयोरप्यस्ति, तथापि निमित्तं भिन्नमिति तदेव प्रयोजकत्वेनोक्तम् । पुरुषपदं पूर्ववत् । तत्र कार्यान्तरार्थान् वारयति—त्रीनिति । पावित्र्यमनेकविधं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं पावनत्वं विशिनष्टि दृष्टान्तेन—तत्पादसलिलं यथेति ! प्रश्न: क्वचिदुद्गत: । कश्चित् प्रेरितवान् । कश्चिदभिमुखीचकार । नैतावता परम: पुरुषार्थ: सिद्ध:, यदा पुनस्त्रयाणां चित्तं भगवदेकनिष्ठं करोति तदा हि सफलता । गङ्गा च पुन: साक्षाद्भगवत्सेवौपयिकं शरीरमुत्पादयति पूर्वसम्बन्धि पापं तत्कार्यं नाशयित्वा, तथा भगवत्कार्योपयोगि चित्तं यावत्या भवति तावतीं शुद्धिं करोतीत्यर्थ: । त्रीन् त्रिलोकस्थान् सात्त्विकादिभिन्नान् वा । कूलद्वयस्थितान्मध्यस्थान् वा । ब्रह्माणं महादेवं भगीरथं च वा ।। १६ ।।

अनुवाद—वासुदेव शब्द का अर्थ मोक्ष है अत: उनसे सम्बन्ध वाले जो भी पदार्थ हैं वे सब, पवित्र करने वाले ही होते ही हैं । उसमें भी वासुदेव की कथा तो उससे सम्बन्ध रखने वाले गुण तथा दोषों वाली होते हुए भी, भगवान् में आग्रह पूर्वक विश्वास उत्पन्न करती है । जैसे कि लोक दृष्टि में पूतना वध आदि गुण है और मातुल[1] वध दोष है । इन चरित्रों की श्रवण जिज्ञासा[2] भी उस श्रद्धा को दृढ करने में कारण होती है । क्योंकि उन चरित्रों के श्रवण से, यथार्थ ज्ञान होता है, जिससे भगवान् में श्रद्धायुक्त और आग्रही मन होता है । जहाँ कथा का प्रसङ्ग होता है वहाँ एक प्रश्नकर्त्ता, कोई श्रोता और कोई वक्ता (उत्तरदाता) इस प्रकार तीन पुरुष होते ही हैं । यदि वक्ता भगवान् के गुणों का ज्ञाता होकर भी जब तक मौन धारण करता है, समझना चाहिये कि यह मौन पापों के कारण है, पाप उसको बोलने नहीं देते हैं । भगवान् की कथा से सम्बन्ध वाला प्रश्न पापों का नाश करता है तथा गुणों का उद्भव[3] करता है किन्तु यह प्रश्न वह कर सकता है जिसके पाप नाश हो गये हैं । श्रोताओं में जब तक पाप विद्यमान[4] हैं तब तक उनके मन की भगवान् में आसक्ति नहीं होती है । जब कथा संबन्धी प्रश्न होते हैं तब उनके सुनने से श्रोताओं के पाप नाश हो जाते हैं और कथा में मन लगता है । मन में प्रश्न करने की इच्छा हो किन्तु जब तक मुख से वह प्रश्न नहीं निकलता है समझना चाहिये कि तब तक पाप विद्यमान[4] है । जब प्रश्न मुख से बाहिर निकलता है तब उसके पापों को भी नष्ट करता है । अत: तीन पुरुषों को पवित्र करता है । यह कहना योग्य है । तीन पुरुष कहने का तात्पर्य (१) प्रश्नकर्त्ता (२) वक्ता और (३) श्रोता से है, न कि पिता, पितामह[5] और प्रपितामह[6] इन तीन पुरुषों से हैं ।

---

१. मामा को मारना । २. सुनने की इच्छा । ३. प्राकट्य । ४. मोजूद ।

५. दादा ६. परदादा

वक्ता एवं प्रश्नकर्त्ता भी श्रवण करने से श्रोता ही हैं, किन्तु निमित कारण सब के भिन्न भिन्न हैं। निमित्त ही प्रयोजक कहा गया है। कथा तीन पुरुषों को पवित्र करती है, पुरुष शब्द का अर्थ यहाँ भी वह लेना चाहिये जो (निवृत्ततर्षैः) श्लोक में कहा है। उस श्लोक में पुरुष उसको कहा है कि जो पशु तथा स्त्री जीव नहीं होवे, शेष सर्व पुरुष हैं। इस प्रकार के पुरुष ही श्रवण करने से पवित्र होते हैं असुर पवित्र नहीं होते। अन्य किसी कार्य करने के लिए आते हैं, वे भी पवित्र नहीं होते हैं। पवित्रता अनेक प्रकार की होती है, यहाँ कथा श्रवण से जिस प्रकार की पवित्रता होती है वह गङ्गाजी का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। १—जैसे गङ्गाजल पवित्र करता है वैसे ही प्रश्न भी पवित्र करता है। किस स्थल पर, प्रश्न उत्पन्न हुआ हो (कुछ पूछा गया हो) किसी वक्ता को प्रेरणा हुई हो, अथवा कोई सुनने की इच्छा से सन्मुख आया हो, केवल इतना ही करने से फल की सिद्धि नहीं होती है। किन्तु फल की सिद्धि तब होती है, जब वह कथा सबों के चित्त को एक निष्ठ करती है तब ही सफलता मिलती है। गङ्गाजी पहिले के सम्बन्धी पापों को तथा उनके कार्यों को नाशकर साक्षात् भगवान् की सेवा के योग्य शरीर को बनाती है। अर्थात् जिस शुद्धि से भगवान् की सेवा के लिये उपयोगी चित्त बने, वैसी उतनी शुद्धि करती है। कथा की भांति गङ्गाजी भी तीन पुरुषों को पवित्र करती है अर्थात् १—तीन लोकों में स्थित जीवों को पवित्र करती है, अथवा सात्विक आदि भेद करके भिन्न-भिन्न पुरुषों को पवित्र करती है, २—दोनों तीरों पर स्थित, तथा ३—जलमध्य में स्नानार्थ एवं पानार्थ स्थित, तीन को पवित्र करती है, एवं ब्रह्मा महादेव और भगीरथ तीनों को पवित्र करती है। इसी प्रकार कथा भी त्रिविध दैवी जीवों को शुद्ध कर उनकी देह को भगवान् की सेवा में उपयोगी बनाती है ॥ १६ ॥

एवं भगवत्सम्बन्धित्वेन प्रश्नमभिनन्द्य भगवदवतारप्रयोजनज्ञानार्थं कथामारभते—भूमिरिति

भगवान् से इस सम्न्ध होने के कारण प्रश्न की प्रशंसा कर भगवान् के अवतार धारण के प्रयोजन का ज्ञान हो इसलिये कथा का प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ—छल से, अभिमानी राजाओं के रूप में उत्पन्न असंख्य दैत्यों की सेना के दश सहस्त्र सेनाओं के विशेष बोझ से आक्रान्त[1] भूमि ब्रह्मा के शरण में गई ॥ १७ ॥

कारिका—१ भक्तानां दुःख नाशाय कृष्णावतरणं मतम् ।
भूमिर्माता तथा चान्ये भक्ता वै त्रिविधा मताः ॥ १ ॥

कारिकार्थ—सकल शास्त्रों की सम्मति है कि परब्रह्म का, श्रीकृष्ण स्वरूप से प्राकट्य. भक्तों के दुःख का नाश करने के लिये होता है। वे भक्त तीन प्रकार के माने गये हैं।

१. जोर से दबी हुई, दुःखी

भूमि, माता और अन्य ये तीन प्रकार के भक्त हैं।

कारिका—२ सर्वेषां महद्दुःखं नान्येन विनिवार्यते।
यदा तदा हरिः कृष्णः प्रादुरासीदिति स्थितिः ॥ २ ॥

कारिकार्थ—समस्त भक्तों को जो महान् दुःख था वह दूसरे साधनादि नहीं मिटा सके तब दुःख हरण करने वाले हरि, श्रीकृष्णस्वरूप से प्रकट हुए। यही प्रादुर्भाव की मर्यादा है ॥ २ ॥

व्याख्या १-२ श्रीकृष्ण के सिवाय किसी भी साधनादि से भक्तों के सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति नहीं होना ही श्रीकृष्ण के प्राकट्य का कारण है। अर्थात् जब सर्व साधनादि भक्तों के दुःख का निवारण करने में असमर्थ हो जाते हैं तब आप (श्रीकृष्णचन्द्र) को भक्त दुःख निवारण के लिये प्रकट होना पड़ता है। आप ही लीलाओं द्वारा भक्तों के दोषों की निवृत्ति कर उनके सर्व दुःख मिटाते हैं। तृतीय स्कन्ध में भगवान् के प्राकट्य का कारण इस "स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा। परावरेशो-महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाऽग्निः ॥ श्लोक में कहा है कि पर तथा अवर के ईश भगवान् अशान्त रूपों से जब अपने शान्त रूपों को पीड़ित देखते हैं, तब दयायुक्त अन्तःकरण वाले प्रभु अजन्मा होते हुए भी महदंशों से युक्त होकर जिस भांति काष्ठ से अग्नि प्रकट होती है, वैसे ही आप प्रकट होते हैं। इस प्रकार भक्त के दुःख निवारण के लिए भगवान् प्रकट होते हैं। परीक्षित ने इसको सुनकर भी यहाँ पुनः प्रश्न क्यों किया ? यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ उद्धार के विषय का निर्द्धार कराना है। इसलिए पुनः प्रश्न किया है।

भगवान् के प्राकट्य के कारण अनेक होते हुए भी दो कारण मुख्य कहे जाते हैं-(१) मर्यादा और (२) पुष्टि। जब भक्त दुःखी होते हैं और उनके दुःख साधनों से अथवा अन्य देवों से नहीं मिट सकते हैं, तब स्वयं श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। यह प्राकट्य शास्त्रीय प्रमाणानुसार है। अतः यह मर्यादा प्राकट्य है और जहाँ अन्य प्रकार से भक्त दर्शनार्थ प्राकट्य होता है वह पुष्टि है। जैसे कि जब भक्त, दर्शनार्थ प्रार्थना करते हैं, तब शीघ्र वहाँ प्रकट हो भक्तों को दर्शन देकर उनको आनन्दित करते हैं, जैसे प्रह्लादजी तथा नारदजी को। इसलिये नारदजी ने कहा है कि 'आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि'। अर्थ-मैं जब भगवान् को बुलाता हूँ तब मुझे चित्त में दर्शन हो जाते हैं और प्रल्हाद को सर्वदा ही दर्शन होते है। यह तृतीय स्कन्ध में कहा हैं ॥१॥२॥

कारिका— ये भक्ताः शास्त्ररहिताः स्त्रीशूद्रद्विजबन्धवः।
तेषामुद्धारकः कृष्णः स्त्रीणामत्र विशेषतः ॥३॥

कारिकार्थ— जो भक्त शास्त्रों में लिखे हुए साधनों को नहीं कर सकते हैं। उनका तथा स्त्री, शूद्र और द्विज बन्धुओं का उद्धार करने वाले तो श्रीकृष्ण ही हैं और

इस श्रीकृष्ण अवतार में स्त्रियों का उद्धार विशेषता से किया है।

व्याख्या—प्रथम कारिका में 'अन्ये' शब्द से भूमि और माता के सिवाय जो तीसरे प्रकार के भक्त कहे हैं। उनका स्पष्टीकरण यहां करते हैं। जैसे कि आरम्भ में भूमि ने गौ रूप धारण किया, अन्य जो शास्त्रीय साधनों से रहित हैं, मध्य में उनका कथन है तथा अन्त में 'माधव्योलोके' श्लोक में माधविप्रा परम गति को प्राप्त हुई का वर्णन है। इस वर्णन से सिद्ध होता है कि यह स्वरूप स्वयं भगवान् थे। अतः इस स्वरूप में सदैव सर्व सम्पूर्ण शक्तियों का समावेश रहता है, जिससे आपने सर्व प्रकार के जीवों का अर्थात् स्त्री, शूद्र तथा द्विज बन्धु आदि का उद्धार किया है, उसमें भी स्त्रियों का विशेषतः उद्धार किया है स्त्रियों का विशेष करके उद्धार करने से, यह बताया है कि स्त्रियाँ सबसे विशेष साधन करने में असमर्थ होती हैं, ऐसी स्त्रियों का भी उद्धार कर आपने अपने निःसाधनोद्धारकपन की पराकाष्ठा[1] सिद्ध की है। अन्य अवतारों में जो शबर, किरात् आदि का उद्धार हुआ है वह भी कृष्ण स्वरूप से ही हुआ है। क्योंकि जो उद्धार के योग्य नहीं तथा साधनहीन हैं, उनका उद्धार प्रमेय बल से ही होता है। वह प्रमेय बल पुरुषोत्तम स्वरूप श्रीकृष्ण में ही विद्यमान है।

कारिका—येषां निरोधकं शास्त्रं योगादिविनिरूपितम्।
शेषभावस्तत्र हरेर्न कदाचिद् गमिष्यति ॥४॥

कारिकार्थ—जिन जीवों का निरोध करने वाले योगादि साधन हैं, उन साधनों में भी हरि साधन रूप होते हैं उनसे वह साधनपन कभी भी नष्ट नहीं होगा ॥४॥

व्याख्याः—साधन करने वाले जीवों के आप उद्धारक किस लिए नहीं होते हैं? इस शङ्का का समाधान इस कारिका में किया गया है।

जो जीव, योग आदि शास्त्रीय साधनों से 'निरोध' सिद्ध करना चाहते हैं उनसे साधन करने वालों का केवल चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, उस साधन में ध्यान करने के समय भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना पड़ता है अर्थात् वे साधन करने वाले) चित्त की वृत्तियों का निरोध करने के लिए भगवान् को साधन बनाते हैं और चित्त की वृत्तियों के निरोध को साध्य (फलरूप) समझते हैं। अतः ऐसे ससाधन जीवों को भगवान् अनुपम, पुष्टिमार्गीय निरोध का दान, निःसाधन जीवों के समान नहीं देते हैं। यह फल तो जो जीव सर्व साधनों का बल त्यागकर, भगवदाश्रय लेते हैं, उनको ही कृपानिधि, अपने प्रमेय बल से दान करते हैं। ससाधन तो अपने साधन बल से चित्तवृत्ति 'निरोध रूप' फल को जैसे तैसे प्राप्त करते हैं। इस निरोध से, संसार विस्मृतिपूर्वक, भगवदासक्तिरूप निरोध विशेष है। वह निरोध योगियों को प्राप्त नहीं होता है। योग आदि साधन करने वाले पुरुषों में हरि को साधन बनाने के कारण उनकी गौणता बनी रहती है।

---

१. अन्तिम सीमा

कारिका—संसारदुःखव्यावृत्यै निरोधोऽत्र निरूप्यते ।
अतो निरोधो ज्ञानात्मा दुःखरूपा च संसृतिः ।।५।।

कारिकार्थ— साधन द्वारा निरोध चाहने वालों के मत में, संसार के दुःखों के नाश के लिए, निरोध कहा गया है । अहन्ता ममतात्मक संसार अविद्या के कारण उत्पन्न होता है । अतः उस अविद्या के नाशार्थ ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि अज्ञान का नाश ज्ञान से ही होता है । इसलिए इस मत में 'निरोध' ज्ञान रूप है । किञ्च भक्ति मार्ग में संसार भी लीला रूप होने से सुखरूप है । इस कारण से भी इनमें वैलक्षण्य[1] है । इस प्रकार भिन्नता के कारण निःसाधन ही भगवान् के लिए उद्धार के विषय हैं । निःसाधन फलात्मा पुरुषोत्तम का प्राकट्य निःसाधन भक्तों के लिए ही है ।

कारिका—एवमेकं फलं प्रोक्तं द्वयं वा न विरुद्ध्यते ।
साङ्गस्य प्रक्रिया युक्ता ततः स्कन्धोऽपि युज्यते ।।६।।

कारिकार्थ— इस प्रकार एक फल कहा अथवा दो फल हो तो भी विरोध नहीं है । अङ्ग सहित जो क्रिया कही गई है वह योग्य ही है । इससे दशम स्कन्ध की योजना पूर्ण हो सकती है ।

व्याख्या—निःसाधन भक्तों का एक ही फल अहन्ता ममतात्मक संसार की विस्मृतिपूर्वक भगवान् की प्राप्ति (आसक्ति) रूप जो कि भगवान् का प्राकट्य खास निःसाधनों के लिए ही हुआ है तो भी सर्वोद्धारक[2] होने से ससाधनों को भी संसार के दुःखों की निवृत्ति रूप फल आप ही देते हैं । इसलिए कारिका में 'द्वयं वा न विरुद्ध्यते' कहा है । कारण कि भगवान् ने ससाधनों का केवल दुःखरूप संसार ही नाश कराकर निरोध किया है और किसी को (निःसाधनों को) जगत् में लीला रूप दृष्टि देकर संसार को सुखरूप बनाते हुए अपने में आसक्ति कराई है । यह निरोध निःसाधनों का विलक्षण[3] है । इस भांति अधिकारी भेद से, पृथक् फल देने से, कोई विरोध नहीं है । आपका प्राकट्य 'निरोध' कराने के लिए ही हुआ है । अतः यहाँ (दशम स्कन्ध में) साङ्गलीला (समग्र अङ्ग सहित लीला अर्थात् पूर्ण निरोध लीला) का वर्णन हुआ है, यह योग्य ही है इसलिए दशम स्कन्ध का अर्थ 'निरोध लीला' है ।।६।।

कारिका—अवतारो निरोधाङ्गं, तदङ्गं दुःखमेवच ।
धैर्यार्थं सान्त्वनं प्रोक्तं भूमिमात्रोर्न चान्यथा ।।७।।

कारिकार्थ—अवतार होना निरोध का अङ्ग है और उसका अङ्ग दुःख ही है ।

---

१. अद्भुतपन　२. सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा–श्रीकृष्ण सबके उद्धार करने में प्रयत्न करने वाले हैं । –श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणाः　३. विचित्र, अजीब ।

पृथ्वी तथा माता को धीरज देने के लिए ही सान्त्वना[1] दी गई है अन्यथा नही ॥७॥

व्याख्या—हस्त पाद आदि से शरीर बनता है, मृतिका से घडा बनता है। हस्त पादादि शरीर के अङ्ग है, मृतिका घड़े का अङ्ग है। इसी भांति 'निरोध' का अङ्ग भगवदवतार है, क्योंकि यदि भगवान् प्रकट न होते तो 'निरोध' हो नहीं सकता। इस प्रकार भगवान् के प्रकट होने में अङ्गरूप भक्त का दुःख कारण है। यदि भक्त दुःखी न होते तो भगवान् का प्राकट्य नहीं होता, माता और भूमि को यदि धैर्य के लिये सान्त्वना[2] न, दी जाती तो दुःख से उनका जीवन नष्ट हो जाता तो भगवान् ने प्रकट होकर जो लीलाएं कर 'निरोध' सिद्ध किया है वह बन नहीं सकता था अतः धैर्य के लिये सान्त्वना देनी आवश्यक समझी गई है।

कारिका—अन्ते दुःखं भक्तकृतं प्रादुर्भावाय वै हरेः।
आकाशवाणी वाग्देवः सर्वमुक्त्यर्थमुद्गतः ॥ ८ ॥
अशक्तः संस्तथा चक्रे तथा नारद एव हि ॥ ८½ ॥

कारिकार्थ—भगवान् के शीघ्र प्राकट्य के लिये भक्त नारदजी ने कंस को कहा कि व्रज में 'नन्दादिक', सब देव प्रकट हुवे हैं जिन वचनों को सुनकर कंस भुलावे में पड़गया और पुनः दुःख देने लगा तथा आकाशवाणी भी इसलिये ही हुई, उसने (वाणी ने) समझा कि मैं तो भगवान् के प्राकट्य कराने में अशक्त हूँ और सर्व की मुक्ति के लिये भगवत्प्राकट्य की आवश्यकता है। अतः मैं जब इस प्रकार कंस को कहूँगी तब वह भक्तों को दुःख देगा, जिससे भगवान् शीघ्र प्रकट होंगे।

व्याख्या—आकाश वाणी से भगवत्प्राकट्य का निश्चय हो गया। और नारदजी के इन वचनों से पता नहीं पड़ा कि देवकी का कौनसा बालक हरि होगा जो मुझे मारेगा, इससे कंस सबको दुःख देने लगा। दुःख प्रतिदिन बढते ही गये। भक्त गण उन दुःखो को मिटाने के लिये सर्वथा असमर्थ थे, जहां दुःख मिटाने में देव भी अशक्त हो गये और जब निःसाधन भक्तों का दुःख मिटाने वाले प्रभु के सिवाय कोई नहीं रहा, तब निःसाधन जनोद्धारक प्रभु, निःसाधनों के उद्धारार्थ स्वयं प्रकट होकर उनके उद्धार का साधन स्वयं बन गये ॥ ८½ ॥

कारिका—दशभिः सान्त्वनं भूमेः पञ्चत्रिंशत्तमैस्तथा ॥ ९ ॥
अष्टभिर्नारदोक्त्यैव सर्वेषां दुःखमञ्जसा ॥ ९½ ॥

कारिकार्थ—दश श्लोकों से भूमि को और (३५) पेंतीस श्लोकों से माता को

१. आश्वासन २. तसल्ली

आश्वासन[1] दिया है तथा आठ श्लोकों में नारदजी के कहने से प्राप्त दुःख का वर्णन है।

※ कारिका सम्पूर्ण ※

सुबोधिनी—तत्र दशभिर्भूमिसान्त्वनं वाचा। उपायेन देवक्याः पञ्चत्रिंशद्भिः। ततोऽष्टभिः सर्वेषां दुःखं भगवदवतारार्थं हेतुभूतमुच्यते। उद्यमः स्वदुःखनिवेदनेन दैन्यम्। ततो भक्तानां भगवत्समीपगमनम्। निवेदनार्थं स्तोत्रम्। ततो भगवद्वाक्यनिवेदनम्। शब्दतस्तदर्थश्चतुर्भिर्विवृतः क्रियाजन्मसङ्कर्षणमायाभिः। तत उपसंहार इति। तत्र प्रथमं भूमेरुद्योग उच्यते। व्यापिवैकुण्ठ एव हरिः प्रकटः। अन्यत्र सर्वत्र गुप्त इति। भगवत्स्थाने न गताभूः। ब्रह्मणा च जनिता। अत उपायकरणार्थमेव भूम्युद्धरणवदधुनापि करिष्यतीति तत्र गमनम्। भूमिर्वस्तुतो दैत्यानाम्। 'यावदासीनः परापश्यति तावद्देवाना' मतस्तावद्रूपेण देवोपयोगिना गमनम्। शीघ्रं बाधाभावाय। कार्यावश्यकत्वाय च शरणागमनम्। दैत्याः सर्वे मायादेवताः कापट्येनैव भूमिं रसातलं नेतुं राजारूपेणावतीर्णाः। राज्ञां दैत्यत्वज्ञापकं लक्षणं दृप्तत्वमुच्छास्त्रवर्तित्वम्। एतदेव सर्वत्र लक्षणम्। हता अमुक्तास्ते देवेष्वपि प्रविष्टा इति देवा अपि तथा। अतस्तेऽप्यन्ते निराकृताः। अवतारे तद्धर्मा भविष्यन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—व्याजेति। ते च दैत्या नोपभोगार्थमागताः किन्तु घातार्थमिति ज्ञापयितुमाह—अनीकेति। दैत्यानामनीकानि तेषां शतान्यसंख्यातानि तानि चायुतान्यमिलितानि तत्र तत्र पुञ्जीभूय स्थितानि। अत एवासमन्तात् क्रान्ता, यथा सर्वतश्च शीघ्रं निमग्ना भवति। भूरिभारेणाक्रान्ता। दैत्यत्वं भारजनकत्वम्। यथा उन्मत्त एकोऽपि नौकारूढो नौकां मज्जयति। बलाक्रमणे च भारः। पूर्वं ब्रह्मणा उद्धारे उपायः कृत इति ब्रह्माणं शरणं ययौ॥ १७॥

अनुवाद—इस प्रकरण में दश श्लोकों से भूमि को आश्वासन[1], वाणी द्वारा दिया गया है, पैंतीस श्लोकों से देवकीजी की सान्त्वना उपाय द्वारा की गई है, पश्चात् आठ श्लोकों से भगवान् के प्राकट्य का कारण, जो सर्व का दुःख है वह कहा जायगा। प्रथम १० श्लोकों में (गौ का) उद्यम, १८ श्लोकों में अपने दुःख का वर्णन करते हुए गौ ने दीनता दिखाई है। (१९) श्लोकों में भक्त भगवान् के पास गये थे उसका वर्णन है। तथा २० श्लोकों में निवेदन पूर्वक उन्होंने भगवत्स्तुति की है, २१ श्लोकों में भगवान् ने जो आज्ञा की थी वह (आज्ञा) ब्रह्माजी ने देवताओं तथा अन्य भक्तों को सुनाई। २२ से २५ तक इन ४ श्लोकों में उन (भगवान्) के शब्दों का भावार्थ कहा है जैसे कि उनमें (१) क्रिया (देवता, यादवों में प्रकट होवे वैसी क्रिया) (२) जन्म (भगवान् का प्राकट्य) (३) संकर्षण तथा (४) माया इन चारों के विषय का विवरण[2] है। इसके अनन्तर[3] उपसंहार[4] है।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि पहिले भूमि ने उद्यम-ब्रह्मा के पास जाने का प्रयत्न किया। प्रभु सर्वत्र[5] गुप्त हैं। केवल व्यापि वैकुण्ठ में साक्षात्[6] विराजते हैं। भूमि ने सोचा कि वराहावतार में भी मेरे उद्धार के लिए ब्रह्माजी ने उपाय किया था। अब भी उनके द्वारा ही मेरे दुःख की निवृत्ति होगी। अतः मुझे ब्रह्माजी के पास ही चलना चाहिए। इस विचार से वह ब्रह्माजी के पास गई। भूमि,

---

१ ढाढस, दिलासा. २ बयान. ३ बाद में. ४ समाप्ति
५ सब जगह ६ प्रकट रूप में

वास्तविक दैत्यों की है, देवताओं* की भूमि तो केवल इतनी ही है कि मनुष्य बैठकर पीछे देखे तो उसके देखने में जितनी आवे, उतनी भूमि देवताओं की है, शेष असुरों की है। अतः भूमि देवताओं के उपयोग में आने वाला छोटा रूप (गौ का) धारण कर ब्रह्माजी के पास गई। जो गौ रूप धारण न कर यदि अपने ही विशाल रूप से जाती तो दैत्य बाधा करते। इसलिए उस बाधा के न होने के लिए गौ रूप से शीघ्र गई। अपने और दूसरों के दुःख मिटाने की तुलना में अन्य कोई कार्य आवश्यक नहीं है। अतः इस आवश्यक कार्य को पूर्ण कराने के लिए पृथ्वी ब्रह्माजो की शरण में गई। माया के उपासक सर्व दैत्य, पृथ्वी को रसातल में ले जाने के वास्ते राजाओं के रूप में जन्मे हैं। ये राजा दैत्य हैं इसका प्रमाण यह है कि ये अभिमानी तथा शास्त्र विरुद्ध आचरण करने वाले हैं। इसलिए शुकदेवजी ने इनको 'दृप्त' विशेषण दिया है। असुरों का यह शास्त्र विरुद्ध आचरण एवम् अभिमान' ही सर्वत्र कहा गया है।

जिन दैत्यों का वध तो हुआ किन्तु मुक्ति नहीं हुई, वे दैत्य देवताओं में घुस गये हैं। इस प्रकार देव भी वैसे बन गये हैं। अतः उन देवों में मिले हुए दैत्यों[1] का निराकरण किया गया है। मूल श्लोक में 'व्याज' शब्द देकर यह बताया है कि ये दैत्य यद्यपि राजाओं के रूप में उत्पन्न हुए हैं तो भी उनमें प्रजा पालन रूप राजधर्म तो नहीं है किन्तु प्रजा का घात करना, यह दैत्य धर्म है। अतः यह राजाओं का रूप उन दैत्यों ने छल से धारण किया है।

ये दैत्य, राजा का रूप धारण कर प्रजा को सुख देने और स्वयं सुख भोगने के लिए नहीं जन्मे हैं किन्तु प्रजा का घात करने के लिए आये हैं। इसलिए कहा गया है कि असख्य सेना रूप में इकट्ठे हो गये हैं, जिसके भार से भूमि इतनी आक्रान्त[2] होकर दब गई है कि चारों तरफ से शीघ्र निमग्न[3] हुई दिखती है। अत्यन्त भार से इसलिए दुःखी हुई है कि जो दैत्यपन भार को पैदा करता है, वह पाप भार डुबाने वाला है। जैसे एक ही उन्मत्त, नौका को डुबा देता है। यहाँ तो असंख्य उच्छृङ्खल सेनानियों की सेना के आक्रमण का भार पृथ्वो पर था। वह क्या नहीं कर सकता है? अतः पृथ्वी यह सोचकर ब्रह्माजी के पास गई क्योंकि पहले भी ब्रह्माजी ने उद्धार का उपाय किया था और अब भी वे ही करेंगे ॥१७॥

रूपान्तरेण गमनं देवानां हितकारि न भवतीति हविर्द्धानीरूपेण गतेत्याह—गौर्भूत्वेति।

---

* प्रकाशकार श्री पुरुषोत्तमजी इस विषय को स्पष्ट समझाने के लिए श्रुति का प्रमाण देते हैं। असुराणां वा इयमग्रआसीद्यावदासीनः पराश्यति तावद्देवानाम् इति, देवानां भूवाचनोत्तरं कियद्दोदास्यामीति प्रश्ने, ततः सालावृकीत्रिः परिक्रान्तिमितां याचित्वाघृतसालावृकोरूपेणेन्द्रेण सर्वस्याः परिक्रमणे। भूमेः प्रास्था वेदित्वमुक्तमिति श्रुतिः।

भावार्थ – यह पृथ्वी पहिले असुरो की थी, केवल उतना भाग देवों का था जितने को बैठकर मनुष्य पीछे देख सके। किसी समय इस पृथ्वी को देवताओं की करने के लिए इन्द्र ने कुत्ती का रूप धारण कर दैत्यों से पृथ्वी को मांगा। तब दैत्यों ने कहा कि कितनी पृथ्वी तुझे चाहिये? कुत्ती रूपधारी इन्द्र ने कहा कि मैं जितनी पृथ्वी की तीन बार मैं परिक्रमा कर आऊँ, उतनी पृथ्वी दीजिये। दैत्यों ने उस कुत्ती का कहना मान लिया। कुत्ती का रूप धारण करने वाला इन्द्र समग्र भूमि की प्रदक्षिणा कर आया। तब से पृथ्वी देवताओं की हुई।

१ भीष्मादिकों का २ दुःखी, पीड़ित ३ डूबती हुई

अनुवाद—भूमि, हविर्द्धानी (गौ)* का रूप धारण कर ब्रह्माजी के पास गई। इसका आशय यह है कि सब जीवों (पशु आदि) में गौ रूप ही दीनता वाला है। जिसको देखकर सबको दया आ जाती है। अतः इस रूप से ही देवताओं का हित होगा। दूसरे रूप (भूमि रूप) से जाने में देवताओं के हित में बाधा होने की आशङ्का रहती है। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना रुदन्ती करुणं विभोः।
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं समवोचत ॥१८॥

श्लोकार्थ—खेदयुक्त, दया उत्पन्न हो, इस प्रकार अश्रुपूर्णमुखवाली, रुदन करती हुई गौरूपधारी भूमि ब्रह्माजी के समीप उपस्थित होकर उन अपने दुःखों का वर्णन करने लगी।

सुबोधिनी—गौर्भूत्वा अन्तिके उपस्थिता तस्मै व्यसनं समवोचतेति सम्बन्धः। अश्रूणि अप्रोञ्छितानि निरन्तरं प्रवृत्तानि मुखे समायान्ति। अन्तःखेदात्मके तापे स्वेद एवाश्रूणि भवन्ति। खेदोपि ज्ञानजनितश्चेत्तदा ज्ञानद्वारा नेत्रयोर्निर्गतः स्वेदोऽश्रुशब्देनोच्यते। दैत्यानामभिप्रायज्ञानेन शोकः। अन्तःस्थितधर्मविसंवादि वाक्यमप्रमाणमिति धर्मप्राकट्यपूर्वकं धर्मकथनम्! बहूनां तादृशानां सम्भवान्निर्द्धारार्थं कथनम्। अधिकारित्वादविचारदशायां न सर्वज्ञतेति युक्तं कथनम्। खिन्नेति दुःखसन्ततिरत्यन्तं निरूपिता। दौर्बल्यं कान्त्यभावश्च तस्य ज्ञापकौ। तस्यास्ततोऽन्योपाय-बोधननिवृत्त्यर्थं तथोक्तम्। रोदनं शब्दात्मकं करुणं यथा भवतीति पितृवियोगजनितखेदाभावाय अधिकारित्वात् कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं रोदनम्। विभोरिति ब्रह्मणः सामर्थ्यं प्रतीकारे द्योतितम्। उप समीपे भगवत्येवाऽन्तर्यामिणि स्थिता बहिरन्तिके स्थिता ब्रह्मणः। व्यसनमप्रतीकारदुःखम्। स्वं सम्यगवोचतेत्यर्थः ॥१८॥

अनुवाद—भूमि, गौ का रूप धारण कर ब्रह्माजी के समीप स्थित होकर अपना दुःख उनको बताने लगी। जिस समय भूमि, गौ रूप से ब्रह्माजी के पास उपस्थित हुई। उस वक्त गौ के अन्तःकरण में जो दुःख था उस दुःख के ताप से उत्पन्न पसीना अश्रुरूप से आँखों में से निरन्तर बहता हुआ मुख में आ रहा था।

ज्ञान से (किसी बात के जानने से) जो अन्तःकरण में खेद होता है उस दुःख से उत्पन्न पसीना आँखों से निकल आता है। उस पसीने को 'अश्रु' कहते हैं। भूमि को भी दैत्यों के अभिप्राय का ज्ञान होने से खेद हुआ था। वाक्य वह प्रमाण माना जाता है कि जिसके भाव का अन्तःकरण के धर्म के साथ मिलन होवे, यदि वाक्य के भाव का अन्तःकरण के धर्म के साथ मिलाप न हुआ तो वह वाक्य प्रमाण नहीं है।

---

* हवि के पदार्थ दूध, दही, घृत देने वाली

१. लगातार　२ दुःख

भूमि के अन्तःकरण में दैत्यों के अभिप्राय जानने से जो दुःख हुआ था वह दुःख अन्तःकरण के धर्म से मिल गया था अतः भूमि ने उस धर्म को अश्रु द्वारा प्रकट करके दिखाया। किन्तु एक धर्म को तो केवल अश्रु द्वारा भी समझाया जा सकता है किन्तु जहाँ बहुत से दुःख हों वहां अश्रुओं से ही न समझाने में आने के कारण मुख से कहने की भी आवश्यकता होती है। इसलिये गौ रूपधारी पृथ्वी अपने दुःख मुख से कहने लगी। ब्रह्माजी, सर्वज्ञ होने से बिना कहे हुए भी दुःख को जान सकते हैं, तो फिर कहने की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि यों तो ब्रह्माजी ब्रह्म रूप होने से सर्वज्ञ हैं किन्तु अब यहाँ ब्रह्माजी की अधिकारी दशा है अर्थात् अधिकारी हैं इस कारण से इस समय वे सर्वज्ञ नहीं हैं इसीलिये भूमि को अपने दुःख का मुख से वर्णन करना पड़ा जो योग्य ही है। 'खिन्ना' शब्द से यह बताया कि भूमि को एक ढंग से दुःख नहीं था किन्तु अनेक प्रकार से दुःख थे अर्थात् खेद पूर्ण अन्तःकरण वाली थी। खेद पूर्ण थी इसका प्रमाण क्या है ? वहां कहते हैं कि खेद के कारण शरीर में एक तरफ दुर्बलता आगई है और दूसरी तरफ उसका तेज नष्ट हो गया है। यह दोनों प्रकट चिन्ह उसके दुःख के साक्षी हैं। पुत्री का दुःख जैसे पिता शीघ्र दूर कर सकता है वैसे अन्य नहीं कर सकता है, अतः भूमि ने अपने दुःख की निवृत्ति के लिये पिता के पास जाना ही उचित समझा। भूमि उस समय करुणा युक्त रोदन करती हुई ब्रह्माजी के समीप गई, इस प्रकार के रोदन का कारण यह था कि भूमि ब्रह्माजी को बताना चाहती थी कि मुझे आपके वियोग का वैसा कष्ट नहीं है जैसा दैत्यों के दुःख का है। आपके वियोग में इस प्रकार करुण रोदन हो नहीं सकता है यह रोदन तो दैत्यों के दुःखों के कारण मुझे आ रहा है, अतः आप पिता हो शीघ्र मेरे दुःख निवृत्ति का उपाय करो। इस प्रकार के रोदन का गौण कारण यह भी था कि पिताजी अधिकारी हैं। उनको अनेक अन्य कार्य करने पड़ते हें इसलिये कहीं मेरे दुःख निवृत्ति के उपाय में विलम्ब न कर देवें यह सोचकर कि दूसरों काम का पहले करलूं पुत्री का काम है पीछे ही कर लूंगा, कहीं यों न हो जाय इसलिये भी करुणाक्रंदन किया गया था।

भूमि ने सोचा कि पिताजी कदाचित् कह न देवें कि मुझसे यह तेरे दुःख की निवृत्ति नहीं होगी, इसलिये पिता को 'विभो' विशेषण देकर सावधान करती है कि मुझे मालूम है कि आप सब कुछ करने में समर्थ हो अतः मैं आपकी शरण में आई हूँ।

मूल श्लोक में 'उपस्थिता' इस पद में 'उप' उपसर्ग देने का आशय बताते हैं कि 'उप' कहने से समझना चाहिये कि 'भूमि' ब्रह्माजी के अन्तःकरण में अन्तर्यामि रूप से विराजमान प्रभु (भगवान्) के पास आकर अपने दुःख सुनाती है। कारण कि भूमि भक्त है वह अपने दुःख भगवान् को ही सुनाना चाहती है। समीप होने के सिवाय तो अपने दुःख सुनाये नहीं जा सकते हैं अतः भूमि भक्तिमार्गीय ध्यान द्वारा भगवान् की समीपता प्राप्त कर अपने क्लेश भगवान् को ही सुनाती है। श्लोक में 'उप' शब्द देकर उपरोक्त आशय को सिद्ध किया है कि भीतर तो भगवान् के पास प्रार्थना है और बाहिर केवल ब्रह्माजी के समीप खड़ी रही इसलिये 'अन्तिके' शब्द दिया है दुःख शब्द न देकर मूल में 'व्यसन' शब्द दिया है। उसका

आशय यह है कि यह दुःख ऐसा है जिसको आपके (प्रभु के) सिवाय कोई नहीं मिटा सकता है। अतः अपने दुःख प्रभु के पास स्पष्ट प्रकार से वर्णन करने लगी ॥ १८ ॥

ततो ब्रह्मा दैत्यसम्बन्धित्वाद्भूमेः सहायार्थमाकारणशङ्काव्यावृत्यर्थमालोचनज्ञानेन तदुक्तार्थं निश्चित्य प्रतीकारं कृतवानित्याह—ब्रह्मेति।

अनुवाद—जब गौ रूपवाली पृथ्वी ब्रह्माजी के सामने खड़ी होकर अपने दुःख प्रकट करने लगी तब ब्रह्माजी के हृदय में शङ्का* हुई कि क्या यह अपने दुःखों को मिटाने के लिये मुझे बुला रही है? इस शङ्का को ब्रह्माजी ने विचार पूर्वक ज्ञान से मिटाया और उस ज्ञान से गौ के वचनों का भाव समझकर उपाय करने लगे। उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह।
जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—गौ रूपधारी भूमि के वचनों के भावार्थ का निश्चय कर ब्रह्माजी अपने साथ महादेव, अन्य देव तथा भूमि को साथ लेकर क्षीर सागर के तीर पर गये ॥१९॥

सुबोधिनी—ब्रह्मत्वात्तथासामर्थ्यं ज्ञानात्मकत्वात्। अथेति स्वनिश्चयानन्तरं, न तु भूमिवाक्यमात्रेण। देवानां नयनमाज्ञापनार्थं, आलोचने प्रतीकारं ससाधनं ज्ञातवानिति। महादेवस्य नयनं दैत्यानामुपायान्तरोपदेशाभावाय। भूमेर्नयनं निमित्तज्ञापनाय। अत एव त्रिनयनपदम्। त्रिष्वपि देवदैत्यमनुष्येषु नयनं यस्येति। श्वेतद्वीपं भगवतः प्रियं धामेति व्यापिवैकुण्ठद्वारस्य तत्र नैकट्याद्वा क्षीरपयोनिधेस्तीरं जगाम, भूमावासक्त एव भूम्युपकारं करिष्यतीति ज्ञापनार्थं च ॥१९॥

अनुवाद—ब्रह्माजी ब्रह्म हैं, इसलिए ज्ञान स्वरूप भी हैं, भूमि के वचन सुनकर जो शङ्काएँ उत्पन्न हुई थी, उनको भूमि के वचनों से नहीं किन्तु अपने ज्ञान से मिटाकर भूमि के अन्तःकरण के भाव का निश्चय किया, तदनन्तर सबों को (देव, गौ आदि को) साथ में लेकर क्षीर सागर के तीर पर गये। देवताओं को साथ में इसलिए ले गये थे कि जो कुछ भगवान् आज्ञा करेंगे वह इनको वहाँ ही बता देंगे।

* योजनाकार लालू भट्टजी इस शङ्का को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं कि, भूमि के वचन सुनकर ब्रह्माजी के मन में दो प्रकार की शङ्काएँ पैदा हुई—(१) तो भूमि भगवद्भक्त है अतः यह केवल अपने दुख का निवारण ही नहीं किन्तु दुष्ट राजाओं के भार उतारने के लिये भगवान्, प्रकट हो, यह चाहती होगी। (२) शङ्का यह भी हुई होगी कि, भूमि की दैत्यों के सम्बन्ध होने के कारण स्वार्थ बुद्धि हो गई होगी जिससे वह अपना दुःख ही मिटाना चाहती होगी। भगवान् के प्राकट्य की आवश्यकता नहीं चाहती होगी। इस दोनों शङ्काओ पर ब्रह्माजी ने पूर्ण रीति से विचार किया, जिससे ब्रह्माजी को निश्चय हुआ कि भूमि परम भक्त है, अतः दैत्य सङ्ग होने पर भी इसमें स्वार्थ नहीं आया है इससे यह भगवान् का ही प्राकट्य चाहती है जिस प्रादुर्भाव से दोनों कार्य सिद्ध होंगे इस प्रकार ब्रह्माजी निश्चय कर सबको साथ ले के भगवान् के पास पहुँचने के लिये क्षीर सागर के तीर पर गये।

१ छिपे हुए

ब्रह्माजी ने जब मन में शङ्काओं के समाधान के लिए आलोचना की तो उस आलोचना से उपाय तथा उसके साधनों को भी जान लिया। महादेवजी को साथ ले जाने का कारण यह था कि यदि महादेवजी साथ में नहीं होगे तो दैत्यों को कहीं कोई दूसरा उपाय बता देंगे तो कार्य में विघ्न पड़ जायगा। इसीलिए यह हमारे साथ होगे तो दैत्यों को दूसरा उपाय नहीं बता सकेंगे। पृथ्वी को साथ में ले जाने का कारण यह था कि भगवान् को प्राकट्य के लिए निमित्त कारण चाहिए तो उस निमित्त कारण को प्रत्यक्ष दिखाने के वास्ते भूमि को भी ले गये। यहाँ मूल श्लोक में महादेवजी का नाम 'त्रिनयन' दिया है। उसका भाव बताते हैं कि देव, दैत्य और मनुष्य इन तीनों पर महादेवजी की दयादृष्टि रहती है। इस कारण से भी महादेवजी को साथ में ले जाना आवश्यक था। श्वेत द्वीप भगवान् का प्रिय धाम है एवम् व्यापि वैकुण्ठ का द्वार इस द्वीप के क्षीर सागर के समीप ही है। इसलिए क्षीर सागर के तीर पर गये। भूमि भगवान् की भक्त है। अतः भक्तों में आसक्त चित्त वाले भगवान् भूमि में भी आसक्त होकर ही उसका उपकार करेंगे, इसको जताने के लिए तीर पर ठहर गये ॥१६॥

तत्रापि भगवतस्तिरोभावात् स्त्रोत्रं कृतवानित्याह—तत्र गत्वेति।

वहां जाकर स्तुति करने की क्या आवश्यकता थी? इस पर कहते हैं कि जब ब्रह्माजी वहाँ गये तब भगवान् वहाँ भी तिरोहित थे, उनका आविर्भाव कर प्रार्थना करने के लिए स्तुति की है। उसका वर्णन 'तत्र गत्वा' इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम्।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ॥२०॥

श्लोकार्थ—वहाँ जाकर समाधि में स्थित ब्रह्माजी ने देवों के देव, जगत् के नाथ, सर्व यज्ञों के फल के भोक्ता पुरुष की पुरुषसूक्त से स्तुति की ॥ २० ॥

सुबोधिनी—गमनमात्रेणैव स्तोत्रम् कृतवानिति ज्ञापनार्थं गत्वेत्यनुवादः। तत्र गत्वा समाहितो योगारूढः पुरुषसूक्तेन उपतस्थ इति सम्बन्धः। स्वयं कथं न प्रतीकारं कृतवानिति शङ्काभावायाह–जगन्नाथमिति। जगतां स एव नाथस्ततः स्वस्याकरणम्। ननु जगन्नाथत्वे दैत्यानामपि नाथ इति प्रतीकारं न कुर्यादित्याशंक्याह—देवदेवमिति। देवानामपि स एव देवः। देवैर्दीव्यतीति वा। 'प्रजापतेः प्रजापतिरग्नेरग्निः सूर्यस्य सूर्यं' इति। अतो देवानां भगवानाधिदैविकरूप इति न दैत्यहितं करिष्यतीति भावः। जगन्नाथो मर्यादया। सांप्रतं दैत्यानामतिक्रमान्न पक्षपातः। ननु भूमे रसातलगमनेपि स्वर्गे देवैः सह क्रीडा देवहिताचरणं च सम्भविष्यतीत्याशंक्याह–वृषाकपिमिति। वृषो धर्मो यज्ञादिरूपः, तस्यासमन्तात् कं सुखं फलं स्वर्गादि तत् पिबतीति। सर्वयज्ञफलभोक्ता। भूम्यभावे ततो यज्ञाभावः। देवानां च देवत्वं यज्ञफलभोगादेव। नन्वदृष्टोऽसंनिहितश्च कथं स्तूयत इत्याशंक्याह–पुरुषमिति। स हि स्वहृदय एव वर्त्तते। 'पुरुषो वा नारायणः स्वपिते'ति। ततः कार्यावश्यम्भाव इति ज्ञापनार्थम्। पुरुषसूक्तेनेति वैदिकेन भगवत्प्रेरणया

प्राप्तेन भगवतोऽतिप्रियेण । पुरुषसूक्तं च तेजोमयम् । उपस्थानविद्यया तेजोमयः परितुष्यतीत्यन्तर्यामिपुरःसरं स्तोत्रकरणात् तत्सूक्तेनैव स्तोत्रमुचितम् ।। २० ।।

अनुवाद—उपरोक्त १९वें श्लोक में 'जगाम' (गये) यह क्रिया दी है । पुनः इस श्लोक में 'गत्वा' कहने का भाव यह है कि जाते ही बिना विलम्ब के ब्रह्माजी स्तुति करने लगे । इसलिए यहाँ 'गत्वा' पद दिया है । ब्रह्माजी ने वहाँ जाते ही समाधि लगाकर पुरुष सूक्त से भगवान् की स्तुति की । इस प्रकार श्लोक के पदों का सम्बन्ध लगाना चाहिए अर्थात् अन्वय (पदों का आपस में योग्य मिलन कराना) करना चाहिए । ब्रह्माजी ने स्वयं दुःख का प्रतीकार (उपाय) नहीं किया । इसका कारण बताते हुए श्लोक में कहा है कि 'जगन्नाथं' भगवान् जगत् के स्वामी हैं । उनको ही यह अधिकार है, ब्रह्माजी को नहीं है । यदि ऐसा है कि भगवान् जगत् के नाथ हैं । इसलिए उनको यह अधिकार है तो जगत् के नाथ होने से दैत्यों के भी तो नाथ हुए तो फिर केवल देवों का ही हित क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान् स्वतन्त्र रूप से खिलाड़ी हैं । अतः आपका नाम 'देवदेव' हुआ है (वह क्रीड़ा देवों से ही करते हैं न कि दैत्यों से) दैत्यों के भी स्वामी हैं किन्तु वह स्वामित्व मर्यादानुरूप है । इस समय दैत्य मर्यादा का भी उल्लङ्घन कर चुके हैं । अतः वे मर्यादा से भी हित करने योग्य नहीं रहे हैं इसके सिवाय भगवान् देवों के आधिदैविक[1] स्वरूप हैं । इसलिए भी भगवान् को देवों का हित करना आवश्यक है ।

यदि दैत्य भूमि को रसातल में लेजावे तो कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि भगवान् स्वर्ग में देवों से क्रीड़ा कर सकते हैं और देवों का हित भी कर सकते हैं । इसलिये दैत्यों के अपकार और देवों के उपकार के लिये स्तुति कर बुलाना योग्य नहीं है । इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक में (वृषाकपि) भगवान् का विशेषण दिया है । यदि भगवान् प्रकट होकर देवताओं की रक्षा न करें और दैत्यों का नाश न करें तो यह नाम निरर्थक हो जाय । (वृषाकपि) पद का अर्थ है यज्ञादिरूप धर्म के सम्पूर्ण फल का भोक्ता भगवान् है । यदि भूमि रसातल में चली जावे तो यज्ञ कैसे होंगे । यज्ञ न होने से देवों का देवत्व चला जायगा क्योंकि देवों का देवत्व यज्ञ के फल के भोग से ही है । जो देखने में नहीं आता है एवं जो समीप में नहीं है । उसकी स्तुति कैसे की जाती है ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि वह (पुरुष) है अतः वह सदैव ब्रह्माजी के हृदय में भी विराजते हैं, और भगवान् नारायण ब्रह्माजी के पिता भी हैं । पिता के नाते से ब्रह्माजी का कार्य अवश्य करेंगे । पुरुष सूक्त से स्तुति इसलिये की है कि वह एक तो वैदिक स्तोत्र है । दूसरे भगवान् के प्रेरणा से प्राप्त हुवा है, जिससे भगवान् को अतिप्रिय है । और (पुरुषसूक्त) तेजोमय है भगवान् भी तेजोमय हैं जो सूर्य के भीतर नारायण रूप से स्थित हैं वह इस उपस्थान विद्या के द्वारा स्तोत्र होने से प्रसन्न होंगे अतः अन्तर्यामिपने के धर्म को धारण करने वाले भगवान् पुरुषोत्तम की इस पुरुष सूक्त से ही स्तुति करना योग्य है ।। २० ।।

---

१. प्रजापतेः प्रजापतिः, अग्नेरग्निः, सूर्यस्य सूर्य इति भगवान् प्रजापति के प्रजापति हैं, अग्नि के अग्नि हैं, सूर्य के सूर्य हैं । इस प्रमाणानुसार भगवान् देवो के आधिदैविक स्वरूप हैं ।

ननु पुरुष एव तथा सत्यवतरिष्यतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणपूर्वकं भगवत उत्तरं जातं स्वान्तःकरणे उपलभ्यातिसूक्ष्मत्वाद्देवानामगम्यं तान् ज्ञापितवानित्याह—गिरमिति ।

पुरुषसूक्त से पुरुष रूप की स्तुति की है अतः पुरुष ने ही अवतार लिया होगा। न कि पुरुषोत्तम प्रकट हुवे होंगे। इस शङ्का का उत्तर जो भगवान् ने सूक्ष्म में कहा उसको अन्तः करण में ब्रह्माजी ने जान लिया, वह बहुत सूक्ष्म होने से देवों की समझ में नहीं आया, इसीलिये ब्रह्मा निम्न श्लोक में देवों को कहने लगे।

श्लोक—गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह ।
गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुनर्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ।२१।

श्लोकार्थ—आकाश में कहे हुए भगवान् के वाक्य को समाधि में सुनकर ब्रह्माजी कहने लगे कि हे देवों! भगवान् के कहे हुए वाक्यों को सुनो और उसके अनुसार शीघ्र बर्ताव करो, देरी मत करो ॥ २१ ॥

सुबोधिनी—समाधौ यो भावितो भगवान् सलोकः/ तत्राकाशे भगवद्वाक्यं भगवतोक्तं श्रुतवान् । तत्र प्रमाणमाह—वेधा इति । अन्यथा कथं विदधाति भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण । ननु देवा अपि ब्रह्मतुल्याः कथं न श्रुतवन्तस्तत्राह—त्रिदशानिति । तिस्रो दशा येषां, बाल्यं कौमारं यौवनमिति । अनेन तेषामुत्पत्त्याज्ञापि युक्ता भवतीति ज्ञापितम् । अकस्मात् क्षणं स्थित्वा किञ्चिद् विचार्य उक्तवानिति सर्वेषामाश्चर्यं हेत्याह । स्वतः कथनं वारयति—पौरुषीमिति । गामित्यखण्डनाय । तस्या वाचो दोग्धृत्वाय च । म इति प्रमाणार्थम् । न हि ब्रह्मवाक्यमन्यथा भवति । पुरुषसम्बन्धिन्येव मत्तो वा श्रोतव्येति । आदौ भगवत आज्ञापनमाह—अमरा इति । प्रथमतः श्रुत्वा पुनः पश्चाद्विधीयताम् चिरं मा विलम्बो न कर्तव्यः । सामग्रीमेव सम्पादयितुमादौ बोधयति पश्चाद्वक्ष्यत्याज्ञाम् । अग्रे च वक्तव्यमंशावतरणम् । तद् देवानां मरणानन्तरं भवतीतिशङ्काव्युदासाय अमरा इति सम्बोधयति । शृणुतेति सावधानार्थं वचनम् । पुनःपदं च पूर्वं रामावतारे रावणभीतेन ब्रह्मणा पूर्वमपि देवा आज्ञप्ता अंशावतारणार्थमिदानीमपि तथैवाज्ञेतिज्ञापनार्थम् । पूर्वं विलम्बेन कृतं तद्व्युदासायाश्चिति । पुनस्तथैवांशावतरणं विधीयतामित्यर्थः । तथैवेति । यो देवो यावतांशेन जातः पौर्वापर्येण वा । पूर्वं दशरथो नावतीर्ण इत्याज्ञया तमवतार्य षष्टिसहस्रवर्षानन्तरं स्वयमवतीर्णोतो विलम्बः । तां शङ्कां प्रकृते वारयति चिरं मेति ॥ २१ ॥

अनुवाद—ब्रह्माजी ने समाधि में लोक सहित भगवान् के स्वरूप की भावना की थी। उस वक्त समाधि में ही उस स्थान के आकाश में जो भगवान् ने वाक्य कहे वे ब्रह्माजी ने सुने, कारण कि ब्रह्माजी (वेधाः) हैं अर्थात् जगत् के रचने वाले तथा धारण करने वाले भी हैं इसलिये उनकी भावना सत्य स्वरूप है जिससे वह भगवद्वाणी सुनकर समझ सके, यदि वैसे नहीं होते तो भगवान् की आज्ञा के बिना देवों को आज्ञा कैसे करते? इससे जाना जाता है कि वे गुण ब्रह्माजी में हैं जिनसे भगवान् की वाणी सुन सके।

देवगण भी ब्रह्माजी के समान ही हैं उन्होंने क्यों नहीं सुनी ? इसके उत्तर में श्लोक में देवताओं का स्वरूप प्रकट करते हुए कहा गया है कि वे (त्रिदश) हैं अर्थात् उनकी मनुष्यों के समान तीन दशाएं (बाल यौवन तथा वृद्ध) होती है ब्रह्माजी की नहीं होती है अतः देव ब्रह्माजो के समान नहीं हैं। जब देवों की ये तीन दशाएँ होती हैं तब ही तो उनको जन्म लेने की आज्ञा करनी योग्य हुई है।

ब्रह्माजी अचानक क्षणमात्र के लिये चुप हो गए। फिर कुछ विचार करने लगे, विचार करने के अनन्तर कहने लगे। उस समय सब देवता अचम्भे में पड़गये कि ब्रह्माजी अचानक चुप क्यों हुए यह आशय श्लोक में जो (च) अक्षर दिया है, उसका है। ब्रह्माजी ने अपनी तरफ से कुछ नहीं कहा, इसलिये ब्रह्माजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हे देवों। भगवान् ने जो वाणी कही है वह सुनो। वह वाणी सत्य है तथा खण्डन करने योग्य नहीं है जैसे गौ दोहन कर, सार रूप दूध निकाला जाता है वैसे यह वाणी भी साररूप फलरूप सब का हित करने वाली है, और यह वाणी आपको सुनाने वाला मैं ब्रह्मा हूँ। मेरी वाणी अन्यथा[1] कभी नहीं होती है। अथवा यह वाणी भगवान् के सम्बन्धवाली है मैं तो केवल सुनाने वाला हूँ, अतः यह वाणी सर्वथा सत्य है यों समझो।

भगवान् ने जिस प्रकार आज्ञा की उस प्रकार ब्रह्माजो अब देवों को कहते हैं। हे अमर ! (देवो) पहिले सुनकर फिर जल्दी तदनुसार आचरण करो उसमें देरी नहीं करनी चाहिये। पहले सामग्री तैयार करने के लिये कहकर पश्चात् तदनुकूल कार्य करो। अंश से आप जन्म लो उसके करने में देरी नहीं करें यह सब समझाकर पश्चात् जो करना है वह बताएँगे।

दूसरी देह धारण तो मरने के अनन्तर होती है तो क्या हम इस देवयोनी को छोड़कर मनुष्य योनि में जावें। इस देवताओं की शङ्का को मिटाने के लिये, हे देवाः ! न कहकर (अमरा) कहा कि आप अमर हो इसलिये आपकी यह देव योनि नष्ट न होगी आपको अंशरूप से मनुष्य में प्रकट होना है। श्लोक में (श्रृणुत) सुनो। यह क्रिया सावधान होकर सुनने के लिये दी गई है। मूल श्लोक में (पुनः) पद इसीलिये दिया है कि पहिले भी रामावतार में भो रावण से डरे हुए देवों को अंश रूप से अवतार लेने की आज्ञा की थी, वैसे ही फिर इस अतवार में आपको आज्ञा दी जाती है। किन्तु उस आज्ञा पालने में तब देरी की थी उसी तरह अब भी कहीं देरी न करदो तो इसलिये श्लोक में (आशु) पद देकर सावचेत (सावधान) किया है कि अब देरी नहीं करना जल्दी ही आज्ञा का पालन करना। जिस प्रकार जो देव जितने अंश से आगे पोछे उत्पन्न हुवे थे उसी प्रकार अब भी होवे, यह "तथैव" शब्द कहने का आशय है। पहिले दशरथजी ने अवतार नहीं लिया था जिससे पुनः आज्ञा देकर दशरथजी को अवतार धारण करवाया था जिस कारण से साठ हजार वर्ष का विलम्ब होगया था। अब भी वैसा न हो जाय इसीलिये श्लोक में (आशु) (जल्दी) कहा है फिर भी उसको दृढ करने के लिये एवं आगे की भांति देरी न होवे अतः (मा चिरम्), देरी मत करना, यह स्पष्ट आज्ञा देदी है।

---

१. झूटी

ननु त्वया किमुक्तं किं वा भगवतोक्तमितिशंकां दूरीकुर्वन् पूर्वं वानरेष्ववतारे प्राप्य खेदो भूयान् प्राप्त इति देवाशंकां च परिहरन् भगवदुक्तमाज्ञापनमाह पुरैवेति ।

देवताओं ने रामावतार में प्रकट होकर महान् खेद पाया था । इसलिए वे देव ब्रह्माजी को कहते हैं कि हमको बताओ कि आपने भगवान् को कौनसी प्रार्थना की है और उसके उत्तर में भगवान् ने क्या कहा ? इस प्रकार की देवताओं की शङ्का के परिहार (मिटाने) के लिए ब्रह्माजी इस श्लोक को कहते हैं—

श्लोक—पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि ॥२२॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी का दुःख भगवान् ने हमारे कहने से पहले ही जान लिया है और उसने स्वयं आज्ञा की है कि आप देवों यादवों में अंश द्वारा प्रकट होकर पृथ्वी पर तब तक रहो, जब तक ईश्वरों के ईश्वर अपनी काल शक्ति से पृथ्वी का भार नाश करते हुए विराजमान रहें ॥ २२ ॥

सुबोधिनी—भूमेः पीडाकथनात् पूर्वमेव भगवता धराज्वरोवधृतो निश्चितः । तत्र हेतुः पुंसेति । पुरुषो हि भार्यां स्पृशति । ज्वरस्तु स्पर्शमात्रेणैव ज्ञायते । अतोस्मत्कृतं ज्ञापनं नापेक्षितम् । अतो भगवान् मद्वाक्यात् पूर्वमेव स्वयमेवोक्तवान् । आज्ञामाह भवद्भिरिति । भगवानप्यवतरिष्यति ततः पूर्वमेव भवद्भिरुपजन्यतां भगवज्जननसमीपे जन्यताम् । आवश्यकत्वायांशैरिति । भवन्तो हि भगवदंशा हस्तपादादय इव सेवकाः । प्रभु ससेवक एव सर्वत्र गच्छति । पूर्वस्माद्वैलक्षण्यं यदुष्विति । भगवानपि यदुष्ववतरिष्यति । अतो लोके प्राकट्याभावाय समीपे जन्यतामित्याज्ञा । इदं जननं सेवार्थत्वात् स्थितिपूर्वकम् । तत्र कियत्कालं स्थातव्यमित्याकाङ्क्षामाह यावदिति । यावत् स भगवान् यदुषु चरेत् तावदुपजन्यताम् । समीपे स्थातव्यम् । जननं पुत्रपौत्रादिरूपेणाऽऽनन्तमुत्पत्त्यर्थमुक्तम् । स्थितिस्त्वर्थादेव भविष्यतीति तन्नोक्तम् । भगवानपि कियत्कालं स्थास्यतीत्याशंकायामाह उर्व्या भरं स्वकालशक्त्या यावत् क्षपयंश्चरेदिति । तदपि कियत्कालमित्याशंकायामाह ईश्वरेश्वर इति । ईश्वर एव स्वच्छन्दचारी । तेषां सर्वेषां कालादीनामपि य ईश्वरः स कथं नियन्तुम् ज्ञातुम् वा शक्यत एतावत्कालं स्थास्यतीति ? अनेनैव नियतभोगयुक्तानां देवानामकरणशंकापि व्यावर्तिता । दैत्या अस्मान् मारयिष्यन्तीति न शङ्कनीयं यतः स्वकालशक्त्यैव भारं दूरीकरिष्यति । चरेदिति । भारभूता दैत्या नैकत्र तिष्ठन्तीति तदर्थं चरणम् । कालनियमस्य चाज्ञानम् । अज्ञातस्तु न भविष्यतीत्याह भुवीति । न हि भूमौ जातोलौकिकं करोति ॥ २२ ॥

अनुवाद—भूमि के पीड़ा की कथा कहकर सुनाने से पहिले ही भगवान् ने पृथ्वी का कष्ट निश्चित रूप से जान लिया था, कारण कि आप पृथ्वी के पति हैं । पुरुष[1] ही स्त्री को स्पर्श करता है । स्पर्श करने से (छूते मात्र से) ज्वर[2] का पता पड़ जाता है । अतः हम लोगों के द्वारा उसके क्लेश को बताने की कोई

१. पति, २. बुखार

आवश्यकता नहीं थी जिससे मैंने केवल पुरुष सूक्त से भगवान् की स्तुति ही की है। इसलिए मेरे, पृथ्वी के दुःख को कहने से पूर्व ही भगवान् ने स्वयं ही आज्ञा की है। ब्रह्माजी वह आज्ञा देवताओं को कहते हैं, भगवान् भी प्रकट होंगे, उससे पूर्व भगवान् के प्रकट होने के समय के लगभग आप भी यादवों में प्रकट हो जाओ। आपकी भी आवश्यकता है, कारण कि आप देवता लोग भगवान् का अंश होने से वैसे ही सेवक हो, जैसे हाथ पैर आदि शरीर के होते है। स्वामी सदा ही सब जगह सेवकों के साथ ही जाते हैं। रामावतार से विलक्षणता[1] दिखाने के लिए यही कहा है कि 'यादवों में' जन्म लेना। उस अवतार में भगवान् ने मनुष्य योनि में और आप लोगों ने वानर योनि में जन्म लिया था परन्तु अब भगवान् और आप लोग यादवों में ही प्रकट होगे। यह ही रामावतार और इस अवतार में आपके प्राकट्य की विलक्षणता है। अङ्ग तथा सेवक पास में हीं रक्खे जाते हैं। वैसे तो आप लोक[2] में कहीं अन्य स्थान में भी प्रकट हो तो, इसलिये पास में ही प्रकट होने के लिये स्पष्ट आज्ञा की है कि जहाँ मैं प्रकट होऊँगा, वहाँ ही यादवों में आप भी प्रकट होवें। कारण कि आपसे इस प्रकार की सेवा लेनी है। इसलिए उसमें थोड़ी भी रुकावट न पड़े। देवता रामावतार में वहुत समय तक रहने से दुःखी हुए थे। इसलिये उनकी इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि जब तक भगवान् यादवों में विचरण करें तब तक आप भी भगवान् के समीप ही रहना। आप प्रभु के साथ स्थिति करोगे तब यदुकुल में पुत्र पुत्रादि रूप से भी स्थिति होगी। इसलिए मूल में 'उप जन्यताम्' पद दिया है। यों करने से स्थिति तो स्वतः होगी ही, अतः 'स्थिति' न कहकर 'जनम' शब्द कहा है। भगवान् स्वयं कितने समय तक बिराजेंगे, इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं कि वे ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। जब ईश्वर ही स्वतन्त्र होते हैं तो ईश्वरों के (कालादिक सबों के) ईश्वर कितने समय तक रहेंगे वह कौन जान सकता है और उसका नियमन[3] कौन कर सकता है?

भगवान् ईश्वरों के ईश्वर होने से जो जो कार्य जब तक करेंगे तब तक ये देव कार्य कर सकेंगे वा नहीं यह शङ्का भी इससे ही मिटादी। यद्यपि देवता लोग ईश्वर द्वारा नियमित स्वर्गीय सुख भोगने वाले हैं तो भी हस्त पादादि के समान सेवक होने से ईश्वर के आज्ञानुसार सर्व कार्य कर सकेंगे।

हे देवों! दैत्य हमको मारेंगे, इस प्रकार की शङ्का भी आपको मन में नहीं लानी चाहिए; क्योंकि भगवान् अपनी काल शक्ति से ही भूमि का भार दूर करेंगे। भगवान् एक जगह न रहकर तब तक घूमते ही रहेंगे जब तक सब दैत्यों का नाश नहीं करेंगे। दैत्य एक स्थान पर नहीं हैं इसलिये भगवान् घूमकर जहाँ भी दैत्य होंगे वहाँ जाकर उनका नाश करेंगे। प्रभु पृथ्वी पर कब प्रकट होंगे और कब तक विचरण करेंगे, यह तो मैं भी नहीं जान सकता हूँ। तो भी भगवान् का प्राकट्य तथा उनकी लीला अलौकिक होने से छिपी नहीं रहेगी। पृथ्वी पर जन्मा हुआ साधारण जीव तो लौकिक कार्य ही कर

१. विचित्रता, २. जगत. ३. शासन, व्यवस्था

सकता है । अलौकिक कार्य तो सर्वेश्वर प्रभु ही कर सकते हैं ॥ २२ ॥

तथापि क्वावतरिष्यतीत्याकाङ्क्षायामाह वसुदेवगृह इति ।

यद्यपि ब्रह्माजी ने भगवान् के प्राकट्य काल का अपने लिये अज्ञान प्रकट किया, तो भी कहाँ प्रकट होंगे ? वैसी देवों की आकाङ्क्षा[1] देखकर भगवान् जहाँ प्रकट होंगे उस स्थान का वर्णन नीचे के श्लोक में किया है—

श्लोक—वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी के घर में साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम प्रकट होंगे । देवताओं की स्त्रियाँ उनकी सेवा के लिये प्रकट होवे ।

सुबोधिनी – तस्याप्यंशावतरणव्युदासायाह साक्षाद्भगवानिति । न तु चक्रादिरूपेण सत्त्वव्यवधानेन वावतारः । भगवच्छब्दो गौणेष्वपि वर्तत इति तद्व्युदासार्थं पुरुषः पर इति । पुरुषोत्तम इत्यर्थः । ब्रह्माण्डात् परस्य कथनादर्थादेव प्रकृतिप्रवर्तकः समागतः ततः परस्तु पुरुषोत्तम एव । स च जनिष्यते । अतस्तत्प्रियार्थं तत्सेवार्थं सुरस्त्रियः सम्यक् सर्वसौन्दर्यपुरःसरं तस्य योग्यस्थानेषु सम्भवन्तु । सुरस्त्रियोऽप्सरसो लक्ष्म्या सहिताः समुद्रादुत्पन्नास्तासां भोगो भगवता न कृत इति स्वजन्मसाफल्यार्थमेव तासामवतरणम् । तत्प्रियार्थमितिवचनं देवानां स्त्रीत्वेनावतरणं निवारितम् ॥ २३ ॥

अनुवाद—मूल-श्लोक में साक्षात् तथा भगवान् इन दो पदों के कहने का भाव यह है कि भगवान् वसुदेवजी के घर में अंश से, चक्रादि रूप से अथवा सत्व गुण के व्यवधान से (अर्थात् सत्वगुण में अपने को छिपाकर) प्रकट नहीं होंगे, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से प्रकटेंगे । यदि यह शङ्का हो कि भगवान् तो नारदादि ऋषियों को भी कहते हैं इसलिये यहां भी वह शब्द गौण है ऐसे क्यों न समझा जाय ? इस शङ्का को मिटाने के लिये मूल में "पुरुष" "परः" ये दो विशेषण दिये हैं । जिनका भावार्थ है कि यहाँ भगवान् शब्द गौण अर्थ में नहीं है किन्तु पुरुषोत्तम समझना चाहिये न कि 'अक्षर" ब्रह्म समझें, । कारण कि "पर" पुरुष ये दोनों ही "भगवान्" के विशेषण हैं । 'नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्द शब्दितः' इस प्रमाणानुसार भगवान् शब्द चतुर्थ (तुरीयस्वरूप) नारायण के लिये ही प्रसिद्ध है) और उसकी पुष्टि परः, पुरुषः विशेषणों से की गई है । गीता में जो व्यक्त (ब्रह्मांड) से परे अक्षर ब्रह्म को कहा गया है वह भाव रूप से कहा गया है पुरुष रूप से नहीं कहागया है, पुरुष रूप से तो, ब्रह्माण्ड से परे पुरुषोत्तम ही है जिनको ब्रह्माजी भी नहीं देख सकते हैं । वे ही प्रकृति प्रवर्तक रूप हैं । उनका ही यहाँ वर्णन है । समग्र कहने का भावार्थ यह है कि वसुदेवजी के गृह में प्रकट स्वरूप, अक्षरातीत पूर्ण पुरुषोत्तम ही है अतः उनकी सेवा के लिये सुर स्त्रियां जोकि लक्ष्मी के साथ समुद्र से उत्पन्न हुई थी, जिनका भोग भगवान् ने नहीं किया था, वे अपना जन्म सफल करने के लिये प्रकट होवें, किस प्रकार और कहाँ प्रकट होंवे ? वह बताते हुए कहते

हैं कि सर्व प्रकार की मनोहर सुन्दरता से अपने को विभूषित कर अपने योग्य स्थान में प्रकट होवें। श्लोक में जो (तत् प्रियार्थं) कहा है । उसका भीतरी भाव यह है कि देवता लोग स्त्री रूप धारण न करें ।। २३ ।।

भगवदवतरणात् पूर्वमेव सेवासावधानार्थं भगवच्छय्यारूपस्य शेषस्य सङ्कर्षणसहितस्यावतारमाह वासुदेवेति ।

अब इस श्लोक में, भगवान् के प्राकट्य से प्रथम ही, सेवा में पूर्ण प्रबन्ध (बन्दोबस्त) करने के लिए, सङ्कर्षण के साथ भगवान् के शय्या रूप शेषजी के प्रकट होने का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् ।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ।। २४ ।।

श्लोकार्थ—प्रभु को प्रिय हो इस प्रकार की सेवा करने की इच्छा से, वासुदेव की कला के रूप, सहस्रवदन[1] स्वयं प्रकाशमान अनन्त[2], भगवान् से प्रथम प्रकट होंगे ।। २४ ।।

भगवान् के प्रकट होने से पहिले, लीला के सम्पादन कार्य में यथा योग्य सावधानी हो । इसलिए, सङ्कर्षण के साथ शय्या रूप शेषजी का प्राकट्य होगा, उनके स्वरूप का स्पष्ट एवं पूर्ण परिचय आचार्य श्री ने नीचे की इन कारिकाओं में कराया है ।

कारिका—सात्विकेषु तु कल्पेषु यः शेते सलिले हरिः ।
वासुदेवः स विज्ञेयस्तस्यांशोऽनन्त उच्यते ।। १ ।।

कारिकार्थ—जो हरि सात्विक कल्पों में, जल में शयन[3] करते हैं, वह वासुदेव कहलाते हैं, उनका अंश 'अनन्त' में है ।। १ ।।

व्याख्या—२३वें मूल श्लोक में पुरुषोत्तम स्वरूप का वर्णन करने के अनन्तर इस २४वें श्लोक में 'तत्कला' उसकी कला प्रकट होगी । इतना कहने से विषय समझ में आ जाता था । यों न कहकर 'वासुदेवकला' कहने का क्या आशय है ? वह इस कारिका में समझाते हैं । 'यः' जो शब्द को कहकर बताया है कि व्यूहों में मुख्य जो अवताराधिकारी है, वह वासुदेव है । उस वासुदेव हरि का अंश 'अनन्त' में है । इससे समझना चाहिए कि जिस अंशी रूप हरि का अंश अनन्त में है । वह पुरुषोत्तम का दूसरा रूप है अर्थात् वह मूल रूप पुरुषोत्तम नहीं है । इसको समझाने के लिए मूल श्लोक में 'तत्कला' उसकी कला न कहकर 'वासुदेवकला' वासुदेव की कला (अंश) अनन्त में यों कहा है अर्थात् बलदाऊजी

१. हजार मुख वाले २. बलरामजी ३. स्थिति

में उस पुरुषोत्तम के रूपान्तर वासुदेव का अंश है। न कि 'कृष्णस्तुभगवान् स्वयं' इस मूल स्वरूप का अंश है ॥ १ ॥

कारिका—कालात्मा स विज्ञेयो भूभारहरणे प्रभुः ।
तत्र सुप्तो हरिश्चापि तदाविष्टो भविष्यति ॥ २ ॥

कारिकार्थ—वह कालात्मा है, एवं भूमि के भार हरण में भी समर्थ है। शेष पर सोया हुआ हरि भी उस अनन्त में आविष्ट[1] है।

व्याख्या—मूल में 'वासुदेवकला' और 'अनन्त' दोनों पद साथ में क्यों कहे हैं? उसके उत्तर में कहते हैं दोनों का रूप एक है तथा कार्य भी एक है इसीलिये साथ में कहे हैं तथा कालात्मा भी होने से, उनका साथ में कहना आवश्यक था। जब अनन्त में स्वतः सामर्थ्य है तो वासुदेव के आवेश के बताने की क्या आवश्यकता थी। इस पर कहते हैं कि उस समय वासुदेव की कला अनन्त में प्रवेश होती है। इसके ज्ञात कराने के लिये यह उक्ति है। अनन्त रूप शेष में सङ्कर्षण का आवेश है, सङ्कर्षण में वासुदेव की कला का आवेश है यह ही बलरामजी का स्वरूप सर्वदा है। बलरामजी में तो पूर्ण मूल पुरुषोत्तम का आवेश तो कभी कभी विशेष लीला समय में होता है। उस स्वरूप से को हुई लीला भी मूल रूप से की हुई लीला समझनी चाहिये कारण कि अंश और अंशी का परस्पर भेद नहीं हैं वे एक ही है।

कारिका—अतोऽनुशयनं विष्णोर्बलभद्रेण नात्मनः ।
एकवत् प्रोच्यते कृष्णो द्विवल्लोकैः प्रतीयते ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—इस कारण से बलराम में वासुदेव कला का ही आवेश है न कि श्री पुरुषोत्तम प्रभु का आवेश है। कृष्ण और बलराम एक ही कहे जाते हैं किन्तु लोक में दो की प्रतीति होती है।

व्याख्या-जब संकर्षणाविष्ट* अनन्त (शेष) अवतार लेते हैं तब उस स्वरूप में सात्विक कल्प में जल में स्थिति करने वाले वासुदेव ही अपनी कला से उनमें प्रविष्ट होते हैं। अतः इससे यह नहीं समझना चाहिये कि दशम् स्कन्ध का अर्थ बलदेवजी में आविष्ट वासुदेव कला की ही लीला है। ऐसी शङ्का के निवारण के लिये ही आचार्य श्री ने इस कारिका में 'न आत्मनः' कह कर बताया है कि अनन्त में पुरुषोत्तम का आवेश न होने से वह (वसुदेव की लीला) दशम स्कन्ध का अर्थ (निरोध लीला नहीं है। तब बलरामजी को लीला, निरोध लीला, कैसे कही जाती है? इस शङ्का को कारिका के उत्तरार्ध से मिटाया गया है। जैसे कि उसमें कहा है कि बलरामजी में वासुदेव का अंश सदैव रहता है और कृष्ण अंशी है,

---

१. भरा हुआ।

* सङ्कर्षण शेष का आधिदैविक स्वरूप है और वह व्यूह रूप है। —योजना

अंश अंशी का सदा ही अभेद है। अतः दोनों एक ही रूप है इसलिये वहां भी एकत्व का ही निरूपण है जिससे जैसे रूप एक है वैसे सर्व चरित्र भी उसी मूल स्वरूप के ही किये हुए समझने, इस प्रकार समझने से दशम स्कन्ध का अर्थ पुरुषोत्तम की निरोध लीला ही सिद्ध है। लोक में तो इस प्रकार देखने में नहीं आता है-इसको समझाकर कहते हैं कि एक रूप होते हुए भी लोक में कृष्ण-बलराम जैसे दो प्रतीत होते हैं वैसे ही चरित्र भी पृथक प्रतीत होते हैं, किन्तु है एक ही। जिस भाँति आनन्द मय विद्या, सद्विद्या तथा शाण्डिल्य विद्याओं में ब्रह्म के रूप भिन्न भिन्न वर्णन किये गये हैं किन्तु शास्त्र दृष्टि से वे सब एक ही ब्रह्म के रूप हैं वैसे ही यहां भी जुदे २ होते हुए भी वास्तव में अंशांशि भेद से उनका चरित्र एवं रूप एक ही है ॥ ३ ॥

कारिका—देवक्यां शयनस्यैव सम्भवो न हरेः स्मृतः ।
रोहिण्यामपरस्येति कर्षणान्नैव हीनता ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—देवकीजी के गर्भ में से शय्या रूप संकर्षण का प्राकट्य हुवा है न कि वासुदेव का। वासुदेवांश का रोहिणी में से प्राकट्य है अतः माया के कर्षण (खींच ले जाने) से उसकी कोई हीनता नही हुई है ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस कारिका में देवकीजी के गर्भ को माया ने खींचकर रोहिणीजी में स्थापन किया है जिससे वासुदेव, जो मोक्षदाता हैं, उनकी हीनता प्रकट होती है। इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं कि देवकीजी के गर्भ में वासुदेवांश नहीं था। केवल संकर्षणाविष्ट शेषजी थे। वासुदेवांश तो रोहिणीजी के गर्भ में पहिले ही था। रोहिणीजी इस गर्भ की स्थिति के अनन्तर नन्दरायजी के घर में रही थी, जिससे रोहिणीजी में अचानक गर्भ होने की शंका को भी मिटा दी है। और माया ने देवकीजी के गर्भ से शेषजी को ही लेके रोहिणीजी के गर्भ में स्थित वासुदेवांश में स्थापित किया था। इससे वासुदेवजी को हीनता को शंका का प्रश्न ही निरर्थक है।

सुबोधिनी - तं सङ्कर्षणमन्यस्माद्भिन्नतया ज्ञातुं विशिनष्टि वासुदेव इति। वासुदेवस्य प्रथमतः कला धर्मरूपः। सोपि शयनरूप इत्यनन्तः कालात्मा। स हि स्वाश्रय एव शेते। तत्राधिदैविकरूपमपि स्थितमिति ज्ञापयितुमाह सहस्रवदन इति। सङ्कर्षणो हि सहस्रवदनो वेदात्मा। शेषोपि केवलस्तथा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह स्वराडिति। यः स्वर्गेपि राजते। सङ्कर्षणरूपो यः 'सितकृष्णकेशः' सोग्रतो भविता। ननु तेनैव चरितार्थत्वे किं भगवदवतारेणेत्याशंक्याह देव इति। स हि देवकार्येणावतीर्णो नाधिकं कार्यं करिष्यति। तर्हि किं तदवतारेणेत्याशंक्याह हरेःप्रियचिकीर्षयेति। स हि भगवान् सर्वेषां दुःखहर्ता। दैत्यानां सुखार्थं भूभारहरणार्थे च साहाय्यकरणाद्भगवतः प्रियं करिष्यतीति ॥ २४ ॥

अनुवाद—उस संकर्षण को अन्य (वासुदेव) से पृथक् बताने के लिए मूल श्लोक में 'वासुदेव' शब्द दिया है। संकर्षण, वासुदेव की कला का रूप तथा धर्म रूप है, न कि स्वयं वासुदेव है। वह (सङ्कर्षण) का रूप भी शय्या रूप अनन्त (शेष) होने के कारण कालात्मक है। वह (वासुदेव भगवान्)

अपने आश्रय रूप शय्या पर ही शयन (स्थिति) करते हैं। अतः वह शय्या उनकी कला रूप है। वहाँ उसका (कला रूप शेष का) आधिदैविक सङ्कर्षण स्वरूप भी विराजमान है। इसलिए मूल में उसको 'सहस्रवदन'[1] कहा है। सहस्रवदन सङ्कर्षण वेदात्मा (वेद रूप) भी है। सङ्कर्षण के सिवाय केवल शेष भी उसके समान होगा। उसका विरोध करते हुए कहते हैं कि सङ्कर्षण श्रेष्ठ है। कारण कि स्वर्ग में भी वे प्रकाश करते हैं। सङ्कर्षण का जो 'सितकृष्ण केशरूप' है वह प्रथम व्रज में प्रकट होगा। यदि वह प्रथम प्रकट होगा तो अनन्तर भगवान् के अवतार की क्या आवश्यकता है? इस शंका को मिटाने के लिए मूल में संकर्षण का विशेषण 'देव' शब्द दिया है, जिसका भाव यह है कि वह (संकर्षण) साक्षी रूप से वहाँ कार्य करेंगे। विशेष कार्य नहीं करेंगे। अतः प्रभु के प्राकट्य की आवश्यकता है। यदि केवल साक्षी रूप से प्रकट होते हैं तो उससे कौनसा लाभ होगा? वा क्या कार्य सिद्ध होगा? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् का प्रिय करने की (सेवा करने की) इच्छा से प्रकट हुआ है। सर्व प्रकार के कार्य का प्रबन्ध करेंगे। समय पर युद्धादि में भी सहायता करेंगे। संकर्षण भगवान् सबों का दुःख हरने वाले हैं। दैत्यों[2] के सुख के लिए तथा भूमि के भार के हरण के वास्ते जो कार्य श्रीकृष्णचन्द्र करेंगे, उसमें सहायता देकर उनकी (प्रिय) सेवा करेंगे ॥ २४ ॥

एवं ससामग्रीकस्य गमने सर्वमुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कायामाह विष्णोरिति।

यदि सर्वसामग्रीसहित[3] प्रभु प्रकट होंगे तो सबकी मुक्ति हो जायगी। सबकी मुक्ति होने से सृष्टि क्रम बन्द हो जायगा? इस शंका का नीचे के श्लोक से निवारण करते हैं।

श्लोक—विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सा भविष्यति ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ—विष्णु की माया, कि जिससे सर्व जगत् मोहित है, वह भगवती भी प्रभु से आज्ञा पाकर, उनके कार्य सिद्ध करने के लिए अंश से प्रकट होगी ॥ २५ ॥

सुबोधिनी—यो हि विष्णुर्मायोद्घाटनेनावतरिष्यति सा तदंशभूता माया कार्यार्थे भविष्यति। सापि भगवती षडुगुणैश्वर्ययुक्ता भगवत्प्रसादात्। अतस्तस्याः स्वस्थानत्यागेन गमनेपि न दोषः। अत्रापि स्थास्यति कार्यमपि करिष्यतीति सर्वमुक्त्यभावश्च तत एव भवियतीत्याह यया सम्मोहितं जगदिति। कदाचित् तस्या अनागमनशङ्कां व्यावर्तयति आदिष्टा प्रभुणेति। अनेन यत्र सर्वव्यामोहिका भगवदाज्ञयावतीर्णा तत्र के भवन्त इति गर्वाभावोपि ज्ञापितः। कार्यं यशोदायाः स्तन्यं सङ्कर्षणं कंसादिव्यामोहो वसुदेवादिमोचनमिति ॥ २५ ॥

---

१. हजार मुख वाला

२. दैत्यों के सुख के लिए का आशय है कि भगवान् ने दैत्यों को भी मोक्ष दिया है।

३. सर्व सामग्री सहित का भावार्थ है कि यदि प्रभु सम्पूर्ण माया को तिरोहित कर आप सर्वत्र प्रकट दर्शन देने लग जांय तो सब की मुक्ति हो जायगी। अनुवादक

अनुवाद—विष्णु, जो सर्व व्यापक हैं तो भी जहां प्रकट होंगे वहां की ही माया का अपसरण[1] करेंगे। और जो माया कार्य सिद्ध करने के लिये प्रकट होगी, वह इसी माया का अंश है जिसको आपने अपने प्राकट्य स्थान से हटाया है। यह माया अंश रूप होते हुए भी भगवान् की कृपा से भगवती, ऐश्वर्य आदि छः गुणों वाली है। अतः वह अपने स्थान को छोड़ने से दोष वाली नहीं होती है। वह (माया) व्यापि वैकुण्ठ में रहते हुए भी यहां का कार्य सिद्ध करेगी। उस माया ने सम्पूर्ण जगत् को मोह में डाल दिया है जिससे सबों की मुक्ति नहीं होगी। यह भी शङ्का मन में नहीं लानी कि कदाचित् वह माया प्रकट न होवे तो ? वह अवश्य प्रकट होगी, कारण कि प्रभु ने उसको आज्ञा देदी है। जब सारे जगत् को मोहित करने वाली माया भी आज्ञा मानती है, तो आपको (देवों को) गर्व नहीं करना चाहिये। माया से आप बड़े नहीं हो। माया जो कार्य करेगी उसका वर्णन आचार्य श्री करते हैं–१–यशोदा में दूध उत्पन्न करना, २–सप्तम गर्भ को देवकीजो से खींचकर, रोहिणीजी में स्थापना करना, कंस को भुलावे में डालना वसुदेवजी तथा देवकीजो का कारागृह से छुटकारा कराना ॥ २५ ॥

एवं सर्वान् ज्ञापयित्वा ब्रह्मा ततो निर्गत इत्याह इत्यादिश्येति।

ब्रह्माजी इस प्रकार देवों को समझाकर वहाँ से चले गये। उसका वर्णन करते हैं–
श्री शुकदेवजी कहने लगे

श्लोक–इत्यादिश्यामरगणान् प्रजापतिपतिर्विभुः।
आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ ॥२६॥

श्लोकार्थ–श्री शुकदेवजी कहने लगे–ब्रह्माजी (प्रजापतियों के पति) जैसे भगवान् ने कहा था वैसे ही देवताओं को आज्ञा देकर तथा भूमि को वचनों से आश्वासन देकर अपने परम धाम को चले गये ॥ २६ ॥

सुबोधिनी—अनेकविधा देवाः। ते च स्वस्वमुख्याज्ञाकारिणः। अत एव सर्वानेव गणपतीनाज्ञापितवानित्याह अमरगणानिति। तर्हि ब्रह्मणः कथं नावतार इत्याशङ्क्याह प्रजापतिपतिरिति। प्रजापतीनां स नियन्ता। अन्यथा सृष्टिर्न स्यादित्यर्थः। ननु साक्षाद्भगवता नोक्तमिति देवा न करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह विभुरिति। ब्रह्मा स्वत एव समर्थो देवानाज्ञापयितुम्। अनेनैव वृत्तान्तेन भूमिः कृतार्था जाता तथापि गीर्भिरपि महीमाश्वास्य स्वधाम सत्यलोकाख्यं ययौ। गीर्भिरिति भूमेः प्रशंसावाक्यानि बहून्युक्तानीति ज्ञायते। भूमौ भगवदागमनं पूर्वं न सम्भावितमधुना जातमिति तद्भाग्याभिनन्दनं युक्तमिति ॥ २६ ॥

अनुवाद—देव अनेक प्रकार के हैं अतः उनके पृथक् पृथक् गण थे, हर एक गण अपने नेता की आज्ञा मानता था। अतः ब्रह्माजी को प्रत्येक गण के सरपंच को सर्व विषय समझाना पड़ता था। श्लोक

१. दूर

में 'अमरगणान्' पद में गण शब्द दिया है और बहुवचन भी दिया है। अतः ब्रह्माजी ने सब आगेवानों को सर्व विषय पृथक् २ समझाये। ब्रह्माजी भी देव है तो उनने क्यों नहीं अवतार लेने की आज्ञा मानी ? इस शङ्का को निवारण करने के लिये शुकदेवजी ने ब्रह्माजी को 'प्रजापति पति' कहा है कि ब्रह्माजी साधारण देवता नहीं है किन्तु सृष्टि करने वालों के भी स्वामी हैं। अतः भगवान् ने ब्रह्माजी को अवतार लेने की आज्ञा नहीं दी, यदि देते तो सृष्टि कार्य में विघ्न पड़ जाता।

देवताओं को भगवान् ने साक्षात् आज्ञा नहीं की है किन्तु ब्रह्माजी ने आज्ञा की है ब्रह्माजी की आज्ञा देव लोग नहीं मानेंगे यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि ब्रह्माजी 'विभुः' है अर्थात् देवताओं को कार्य करने की आज्ञा देने का अधिकार ब्रह्माजी को है। यद्यपि देवताओं को दी हुई आज्ञा को सुनकर भूमि सन्तुष्ट हो गई थी, तो भी ब्रह्माजी ने पृथ्वी को विशेष प्रसन्न करने के लिये अनेक प्रशंसावचन कह-कर आश्वासन दिया। भूमि को यह निश्चय नहीं हुआ था कि भगवान् स्वयं प्रकट होंगे। किन्तु अब ब्रह्मा-जी के आश्वासन के वचनों से निश्चय हो गया अतः भूमि के भाग्य का अभिनन्दन[1] करना युक्त था ॥ २६ ॥

एवं भूमेः सान्त्वनमुक्त्वा देवक्याः सान्त्वनं वक्तुं, तस्याःप्रथमं दुःखप्रापणोपायमाह शूरसेन इति दशभिः।

इस प्रकार भूमि की सान्त्वना हुई, अनन्तर देवकीजी की सान्त्वना करनी है किन्तु प्रथम देवकीजी को दुःख हुआ, उसके उपाय का प्रकार बताते हैं। अर्थात् देवकीजी को किस कारण से और कैसा दुःख हुआ उसका दश श्लोकों से वर्णन करते हैं–

श्लोक—शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम्।
मथुरान् शूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ-पूर्व समय में यादवों का अधिपति राजा शूरसेन मथुरापुरी में रहता हुआ, माथुर तथा शूरसेन देशों को भोगताथा अर्थात् राज्य करता था ॥ २७ ॥

सहस्रार्जुन से उत्पन्न हुए पुत्रों में से पांच पुत्र बचे थे उनमें से शूरसेन द्वितीय थे। यादवों का राज्य ययाति ने शाप द्वारा निवृत्त कर दिया था तदनन्तर वह राजा राज्य कर सके जो भगवद्वंश हो। इससे भगवान के अनुग्रह से ही राज्य चलता था अर्थात् जिस व्यक्ति वा वंश पर भगवान् की कृपा होती वह राज्य करता था। सहस्रार्जुन में भगवान् का अंश था अतः भगवान् के अनुग्रह से वह राजा हुआ। उसने जीते ही अपने द्वितीय पुत्र शूरसेन को माथुर और शूरसेन देश ये दो मण्डल राज्य करने के लिये दे दिये, बड़ा पुत्र तो माहिष्मती में ही राज्य करता था।

---

१. प्रशंसा

कारिका–सर्वोत्कर्षे तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्वल्पके स्मृतम् ।
देशतः कालतश्चैव अवस्थातः स्वतोन्यतः ॥१॥
द्रव्यतो मानतश्चेति सप्तैव सुखदाः स्मृताः ।
तथाभूता शब्दवशात् प्राप्ता दुःखं तदा पतिः ॥२॥
प्रतिक्रियां समारेभे नवभिश्च प्रतिक्रिया ॥ २½ ॥

कारिकार्थ–देवकीजी को सर्व प्रकार से उत्कर्ष[1] होने पर जो दुःख जरासे कारण होंने से हुआ वह स्वल्प था। देवकीजी को देश, काल, अवस्था, अपने, दूसरे, द्रव्य और मान, इन सातों से उत्कर्ष हो रहा था किन्तु जब शब्द सुनने से दुःख को प्राप्त हुई, तब उनके पति वसुदेवजी दुःख के निवारण का उपाय करने लगे ॥ २½ ॥

व्याख्या—भगवद्भक्तिमार्ग में भगवत्प्राकट्य तब होता है, जब भक्त दुःखी होता है। देवकीजी का सातों प्रकार से ऊत्कर्ष सिद्ध हो गया था। जिसमें उन देवकीजी को अल्प दुःख भी बहुत देखने में आया है। पूर्ण प्रसन्न तथा सुख सम्पन्न देवकीजी आकाशवाणी सुनते ही घबरा गई थी–स्वल्प कारण से प्राप्त दुःख को भी भगवान् शीघ्र तथा अनायास ही नाश करेंगे। क्योंकि भगवन्मार्गीय शास्त्रों में इस प्रकार का वर्णन है। अतः इस विषय की किसी प्रकार से भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यहाँ तो माताजी के दुःख प्राप्ति के उपाय का ही केवल वर्णन करना चाहिए। वह विवाह कर ससुराल जाते समय आकाशवाणी होने से हो गया। शेष दोषादि से उत्कर्ष का वर्णन करना व्यर्थ है ? इस शंका का निवारण (सर्वोत्कर्षेतु) ये कारिकायें कहकर किया गया है। देवकीजी के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। प्रथम तो जैसे वसुदेव का जन्म समय आनक तथा दुन्दुभि घोष होने से उत्कर्ष हुआ। वैसे देवकीजी विवाह कर जब श्वसुर गृह जाती थी, उस समय जो सम्मान हुआ उससे उसका भी उत्कर्ष प्रकट देखने में आया था। अब सात प्रकार के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। १–'शूरसेनो यदुपतिः' इस श्लोक से उत्तम देश में निवास करने के कारण 'देश' से उत्कर्ष बताया। २–राजधानी 'ततः' इस श्लोक से वह नगर उस समय राजधानी था। इसलिए 'काल से' भी उत्कर्ष बताया। ३–'तस्यां तु' इस आधे श्लोक द्वारा विवाह होने से अवस्था का उत्कर्ष बताया। ४–'देवक्या सूर्यया' इस पीछे के आधे श्लोक से स्वतः (अपने आप) ही अपना उत्कर्ष बताया। ५–'उग्रसेन सुतः कंसः' इस श्लोक में कंस रथ का सारथी बनकर पहुँचाने चला। जिससे भी देवकीजी का अन्य से उत्कर्ष हुआ है। ६–चतुः शतं तथा 'दासीनां' इन दो श्लोक से द्रव्य का उत्कर्ष देखने में आया है। ७–'शङ्खतूर्य' इस श्लोक से मान का उत्कर्ष दिखाया है। इसी भांति सात प्रकार के सुखों से सम्पन्न को आकाशवाणी से प्राप्त थोड़ा भी दुःख असह्य होने लगा।

१. सुख, बड़ाई

इसको बताने के लिए ही सात प्रकार के उत्कर्ष का वर्णन करना आवश्यक था।

वसुदेवजी इस प्रकार आकाशवाणी से घबराई हुई दुःखित देवकीजी के दुःख का प्रतिकार करने लगे। जिसका वर्णन नव श्लोकों से किया गया है।

※ कारिका व्याख्या सम्पूर्ण ※

सुबोधिनी—सहस्रार्जुनस्य पुत्राणां मध्ये ये पञ्चोर्वरितास्तेषां द्वितीयः शूरसेनः। यादवानां राज्यं ययातिना निवारितम्। ततः पुष्ट्यैव राज्यम्। यो महान् भगवदंशो भवति स राजेति। तत्र सहस्रार्जुनो भगवदंशः पुष्ट्या राजा बभूव। स जीवन्नेव शूरसेनाय मण्डलद्वयं दत्तवान् मथुराशूरसेनात्मकम्। ज्येष्ठस्तु माहिष्मत्यामेव।

तत्र प्रथमं देशस्योत्कर्ष उच्यते। पूर्वं शूरसेनः शत्रुघ्ननिर्मितायां मथुरायां तत्रत्यमानन्दमनुभूय निवासं कृतवान्। स च यदुपतिः। यादवानां प्रभुः। तन्नाम्ना जातानपि शूरसेनान् विसृज्य मथुरामेवावसन् उभयान् देशान् बुभुजे। अनेन यादवानां मथुरा स्वदेश इत्युक्तम्॥ २७॥

अनुवाद—सातों उत्कर्षों में से इस श्लोक में प्रथम देश के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। शत्रुघ्न की बनाई हुई मथुरा नगरी में शूरसेन रहकर सर्व प्रकार के सुख भोगने लगे। वह शूरसेन यादवों के स्वामी (राजा) थे और यद्यपि शूरसेन के नाम से वह देश 'शूरसेन देश' कहलाता था तो भी उसको त्याग कर अपना निवास स्थान उन्होंने मथुरा को बनाया। वहां रहकर शूरसेन तथा माथुर दोनों मण्डलों के राज्य को भोगते थे। इससे यादवों का स्वदेश मथुरा नगर हुआ॥ २७॥

कालभेदेनापि सा महती जातेत्याह राजधानीति।

काल भेद से भी वह (मथुरा) बड़ी नगरी बन गई।

श्लोक—राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम्।
मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः॥ २८॥

श्लोकार्थ—तदनन्तर वह समस्त यादव वंशज राजाओं की राजधानी बन गई, जिसमें सदैव भगवान् हरि विराजमान हैं॥ २८॥

सुबोधिनी—ततः प्रभृति यावन्तो राजानः कंसपर्यन्तं स्वबलाज्जाताः खण्डमण्डलाधिपतयस्तेषां तत्रात्यन्तं सुखानुभवान्मथुरैव राजधान्यभूत्। सर्वे च ते यादवभूभुजश्च। ततः शूरसेनप्रभृति। राजा धीयते प्रीयते यस्यामिति सा राजधानी। निधीयते पट्टाभिषिक्तः क्रियत इति वा। अनेन तत्र राज्यलक्ष्म्या नित्यं स्थानमित्युक्तम्। तत्र स्थितानामानन्दे हेतुर्भगवान्। यत्र नित्यं सन्निहित इति।

अनुवाद—उससे (शूरसेन से) लेकर कंस पर्यन्त जितने भी राजा हुए, वे अपनी शक्ति से ही

राजा बने थे। किन्तु वे अपनी वीरता से खण्ड मण्डल के अधिपति बने थे, समग्र मण्डल के नहीं बन सके थे उनको वहां ही अत्यन्त सुख की प्राप्ति हुई थी। जिससे उनकी मथुरा ही राजधानी हो गई। वे सब राजा यादव ही थे! जहां राजा आनन्द से रहते हैं वह नगरी राजधानी कही जाती है। अथवा जिस नगरी में राजा का राज्याभिषेक होता है वह नगरी राजधानी मानी जाती है। इससे उस नगरी में राज्य लक्ष्मी नित्य बिराजती है। जिससे वहां रहने वाले आनन्द में रहते हैं! उस आनन्द में रहने का कारण भगवान् हैं। क्यों की भगवान् नित्य 'मथुरा' में विराजते हैं॥ २८॥

मथुरा, भगवान् यत्र

कारिका—सर्वं तत्त्वेषु यो विष्टः स भूमावपि सङ्गतः।
स नित्यं क्वचिदेवास्ति तत्स्थानं मथुरा स्मृता॥ १॥
तत्रस्थित्वा द्वयं चक्रे सर्वेषां सकलं हितम्।
सर्वदुःखनिवृत्तिं च तत्र चेद्दुःखसम्भवः॥ २॥
प्रतीकाराः सर्व एव मर्यादामार्गसम्भवाः।
व्यर्था जाताः सर्वथेति ज्ञापनार्थं निरूपितम्॥ ३॥
देशकालादि मध्यस्थः षडङ्गत्वं य आगतः।
सोन्यत्र सर्व देशेषु शालग्रामादिषु स्थितः॥ ४॥ २८॥

कारिकाओं का स्पष्ट अर्थ—यहां पर विचार किया गया है कि भगवान् हरि, नित्य मथुरा में किस प्रकार बिराजते हैं। जब की सृष्टि के आरम्भ से 'तदेवानुप्राविशत्' त्रयो विंशति तत्त्वानां युगपद् आविशत्' इन श्रुति तथा पुराण के वाक्यों से निर्विवाद सिद्ध है कि परमात्मा सर्व तत्त्वों में प्रविष्ट हुए जिससे उनकी मध्यपाती पृथ्वी में भी प्रविष्ट हुए। वह स्वरूप अन्तर्यामि स्वरूप है अर्थात् सबसे व्याप्त होकर विराजते हैं। तो भी (गुहा प्रविष्टौ) इस श्रुति के अनुसार देह के एक देश 'अन्तःकरण' में ही विशेष रूप से व्यक्त (प्रकट) हैं। वैसे सर्वत्र भूमि में व्याप्त होते हुए भी भूमि के देश मथुरा में नित्य विशेष रूप से अभिव्यक्त होकर विराजते हैं। मथुरा में विराजमान होकर उन्होंने दो कार्य किये। सबका सम्पूर्ण हित तथा सर्व दुःखों की निवृत्ति।

जब भगवान् ने वहाँ विशेष रूप से विराजमान होकर ये दो कार्य किये तब देवकी-जी को दुःख क्यों हुआ? इस शङ्का का समाधान यह है कि भगवान् को शीघ्र अवतार लेकर प्रकट होना था तथा यह भी दिखाना था कि मर्यादा मार्ग के सर्व साधन व्यर्थ हो

जाते हैं जबकि मेरी इच्छा वा कृपा न हो अथवा मेरी सन्निधि न हो। इसलिए भगवान् ने उस समय अपना नित्य सन्निहित स्वरूप भी तिरोहित[1] कर दिया था।

श्रीरङ्गादिष्वपि नारायणस्य ब्रह्माण्डविग्रहस्य सान्निध्यम्।

श्रीरङ्ग आदि धामों में भी भगवान् का सान्निध्य[2] है किन्तु वहाँ नारायण का सान्निध्य है। तात्पर्य यह है कि वहाँ रङ्गादि धामों में अङ्ग रूप से अनुप्रविष्ट है और मथुरा में अङ्गी रूप से अनुप्रविष्ट है। अङ्ग से अङ्गी अधिक है। उन अङ्गी से ही जब सुख प्राप्ति नहीं है तो अङ्गभूत से कैसे होगी? इससे यह भी बता दिया है कि तापनीय में जो द्वादश स्वरूप कहे हैं उनसे भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता है।

मथुरादि के सिवाय अन्यत्र दूसरे स्थान पर भगवत्पूजादि नहीं करनी चाहिए? इसका समाधान ४ कारिका में करते हैं।

देश, काल, द्रव्य, कर्त्ता, मन्त्र और कर्म इन धर्म के ६ अङ्गों में भी भगवान् विराजमान है। वह भगवान् तीर्थ से अन्य देश, शालग्राम, तुलसी, एकादशी व्रतों में भी अङ्ग रूप से विराजते हैं। अतः समयानुसार वहाँ पूजादि की जा सकती है किन्तु मथुरा में नित्य अङ्गी रूप से विराजते हैं।

तस्या अवस्थोत्कर्षमाह तस्यामिति।

इस प्रकार देश तथा काल से उत्कर्ष सिद्ध कर अब इस श्लोक से उन देवकीजी की अवस्था 'उत्कर्ष' बताते हैं।

श्लोक—तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः।
देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत्[3] ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ— शूरसेन के पुत्र वसुदेवजो किसी दिन इस मथुरा नगरी में विवाह कर नवविवाहिता देवकीजो के साथ अपने घर जाने के लिए रथ में बैठे ॥ २९ ॥

सुबोधिनी—तुशब्दो दु खपर्यवसानेन भगवत्कृतसुखव्यावृत्त्यर्थः। सर्वानंशान् सर्वतो भगवान् स्वावतारार्थमाचकर्षेतिज्ञापनार्थं वा तुशब्दः। कर्हिचित् कस्मिंश्चित्काले। पूर्वोक्ते ता। सुमुहूर्तादिकं न भवतीति कर्हिचिदित्युक्तम्। शौरिर्वसुदेवः शूरस्य पुत्रः। अन्येपि वसुदेवाः सन्तीति पितृनाम्ना तन्निवृत्तिः। वसुदेवभ्रातरोपि बहव इति वसुदेवपदम्। कृत उद्वह उद्वाहो येन। देवक्या सूर्यया नवोढया सार्धं स्वगृहप्रयाणार्थं श्वशुरदत्तं रथमारुहत्। विवाहोत्सवसमयो भर्तृसान्निध्यं चोत्तमावस्था स्त्रियाः। देवक्या सूर्ययेति स्वत उत्कर्ष उक्तः। भर्तृप्राधान्यमपि पतिव्रतायामुत्कर्षहेतुः। यद्यपि देवको ज्येष्ठस्तथापि मर्यादाराज्यं न भवतीति उग्रसेन एव राजा कंसो वा ॥ २९ ॥

---

१ छिपा लिया २ समीपता

३ अरुहत् इत्यपि पाठः, अनुवादक,

अनुवाद—मूल श्लोक में कहे हुए 'तु' शब्द का भाव यह है कि अब तक तो देवकीजी को सुख था पर अब वह सुख, दुःख में पलटता है, जिससे सिद्ध होता है कि यह 'सुख' भगवान् ने नहीं दिया है। 'तु' शब्द का भाव दूसरे प्रकार से बताते हैं कि 'तु' कहने का यह भी आशय है कि भगवान् जो सुखरूप हैं उनके अंश भी जहाँ प्रकट विराजते हैं, वहां सुख ही होता है। किन्तु अब स्वयं भगवान् को अवतार लेकर पूर्ण आनन्द दान करना है और भगवान् का प्राकट्य तब होता है, जब भक्त आदि सब दुःखी होते हैं। अतः अपने अंशों को उन्होंने खेंच लिया। जिससे सुख तिरोहित हो गया और दुःख का आविर्भाव हुआ। मूल में 'कर्हिचित्' शब्द देने का आशय यह है कि जिस समय जा रहे थे, उस समय कोई सुन्दर मुहूर्त्त देखकर तैयारी नहीं की थी। अचानक विवाह हुआ और जाने की तैयारी कर ली। वासुदेव नाम वाले बहुत हैं और और वसुदेव के भाई अन्य भी हैं इसलिये वसुदेव के साथ 'शौरि' विशेषण दिया है जिससे किसी प्रकार भ्रान्ति न होवे। केवल 'वसुदेव' नाम देने से, यह शङ्का रह जाती कि कौनसा वसुदेव है? और यदि केवल 'शौरि' कहते तो शूर का कौनसा पुत्र विवाह करके जा रहा है 'दोनों' (शौरि, वसुदेव) पद देने से भ्रान्ति को अवकाश[1] नहीं रहा है। नवविवाहिता भार्या देवकीजी के साथ अपने गृह जाने के लिये श्वशुर के दिये हुए रथ में बैठे। स्त्री की उत्तम अवस्था वह है जब विवाह का समय हो और अपने पति का साथ हो। इसलिये इस समय देवकीजी को ये दोनों प्राप्त थे अतः देवकीजी का अवस्था से भी उत्कर्ष है। तथा 'सूर्यया' (नवविवाहिता) थी इसलिये 'स्वतः'[2] भी उत्कर्ष हुआ। पति की प्रधानता भी पतिव्रता स्त्रियों के उत्कर्ष होने में कारण है। यद्यपि देवकीजी का पिता देवक बड़ा था तो भी वह ऐसा समय था जिसमें मर्यादा के अनुकूल राज्य प्राप्ति नहीं होती थी जो बलिष्ठ होता था वह राजा बन बैठता था निर्बल शांति से रहकर व्यवहार चलाता था। इसी कारण से इस विवाह प्रसंग में देवक का नाम नहीं आया है उस समय उग्रसेन अथवा कंस राज्य की कार्यवाही करते थे॥ २९

मुख्य एव व्यवहारे सम्बन्धहेतुर्लोकप्रसिद्धः। अत उग्रसेनपुत्रोपि कंसो देवकपुत्र्या देवक्या भ्रातृकार्यं कृतवानित्याह उग्रसेनसुत इति।

लोक में यह प्रथा प्रसिद्ध है कि कोई भी व्यवहार का कार्य होता है तो वह बड़ा व्यक्ति ही करता है। अतः उग्रसेन का पुत्र कंस इस समय मुख्य होने से देवकी के भ्रातापन का सर्व कार्य करने लगा। जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—उग्रसेनसुतः कंसः स्वसुः प्रियचिकीर्षया।
रश्मीन् हयानां जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः॥ ३०॥

श्लोकार्थ—भगिनी[3] के सन्मान करने की इच्छा से, उग्रसेन के पुत्र कंस ने; सोने से मंडित सैकड़ों रथों के बीच में स्थित रथ के घोड़ों की बागडोरों को अपने हाथ में ले ली॥ ३०॥

१ स्थान, २ अपने आपका, खुदका, ३ बहिन

सुबोधिनी—स्वसुर्भगिन्या देवक्याः सम्माननरूपप्रियचिकीर्षया स्वयं हयानां रश्मीन् प्रग्रहान् जगृहे सूतो जात इत्यर्थः । केवलेन प्रतिष्ठा न भवतीति विशेषणम् । रौक्मैः सुवर्णपरिकरै रथशतैरनेकशतरथैर्वृतो वेष्टितः । अनेन वसुदेव एव मुख्यो राजा कृतः । स्वयमपि दासभावं प्राप्त इति महत् सम्माननम् । अन्यत उत्कर्ष उक्तः ।। ३० ।।

अनुवाद—बहिन देवकीजी के सम्मान पूर्वक प्रिय कार्य करने की इच्छा से कंस, राजा होते हुए भी स्वयं घोड़ों की लगामों को लेकर सूत बन गया । यदि कंस अकेला हो घोड़ों की लगाम ले उसको (रथ को) चलाकर वसुदेव को अपने घर पहुँचाने जाते तो न शोभा होती और न उनका, वसुदेव-देवकी का मान होता जिससे वे प्रसन्न न होते, तथा कंस राजा होकर इस साधारण रीति से बहिन को अकेला छोड़ने गया । यह कंस के लिये भी शोभास्पद नहीं था । अतः कहते हैं कि 'रौक्मैः रथ शतैः वृतः' सुवर्ण मण्डित सैंकड़ों रथ चारों तरफ थे जिनके मध्य में वसुदेव जी जिस रथ में बैठे थे वह 'रथ' था । कंस ने उसी रथ का सूत बनकर घोड़ों की बागडोरें पकड़ रक्खी थी । इस दृश्य से सिद्ध होता था कि 'वसुदेव' ही मुख्य राजा बन गये हैं, और कंस जो राजा थे वे दास होके बैठे थे । इस प्रकार यह अधिक सम्मान है । इस श्लोक से देवकीजी का दूसरों से अधिक उत्कर्ष बताया गया है ।। ३० ।।

पितृकृतं द्रव्यकृतमुत्कर्षमाह चतुःशतमिति द्वाभ्याम् ।
नीचे के दो श्लोकों से पिता और द्रव्य से देवकी का उत्कर्ष वर्णन करते हैं ।

श्लोक—चतुःशतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम् ।
अश्वानामयुतं सार्धं रथानां च त्रिषट्शतम् ।। ३१ ।।
दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृते ।
दुहित्रे देवकः प्रादात् यानैर्दुहितृवत्सलः ।। ३२ ।।

श्लोकार्थ—पुत्री पर प्यार करने वाले देवकजी ने अपनी पुत्री देवकी को विदा के समय दहेज में सुवर्ण मालाओं से सजे हुए चार सौ हाथी, पन्द्रह हजार घोड़े, अठारह सौ रथ शृङ्गार सहित सुन्दर सुकुमार दो सौ दासियां पालकियों समेत दी ।। ३१-३२ ।।

सुबोधिनी—क्षत्रिया हि चतुरङ्गिणीं सेनां विवाहे पारिबर्हं प्रयच्छन्ति वधूवरयोः सन्तोषार्थम् । तत्र पदातीनां स्थाने कन्याप्रीत्यर्थं दास्यो दत्ताः । हेम्नो माला येषां गजानाम् । अश्वानां पञ्चदश सहस्राणि । रथानां त्रिषट्शतमष्टादशशतम् ।। ३१ ।।

दासीनां सखित्वज्ञापनाय सुकुमारत्वमलङ्करणं चोक्तम् । दास्यः कन्यायै केवलं दत्ता न तद्भर्त्रे । अतो न यथेष्टं तेन विनियोगः कर्तुं शक्यः । ननु देवक्या एव विवाहे कथमेतावद्दत्तवानित्याशङ्क्याह देवक इति । अत्यन्तमयं दैवो भगवानत्रावतरिष्यतीतिज्ञानयुक्तः । ता अपि दास्यो यानैर्दोलाभिः सहिताः । तासां तथाकरणे हेतुर्दुहितृवत्सल इति । स हि दुहितृषु वात्सल्ययुक्तः । तासामपि कन्यात्वाद्देवकीवाक्याद्वा तथा कृतवानित्यर्थः ।। ३२ ।।

अनुवाद—क्षत्रीय लोग विवाह में वर तथा वधू के सन्तोष के लिये चतुरङ्गिणी[1] सेना दहेज में देते हैं। किन्तु देवक ने पैदल सिपाहियों के स्थान में कन्या की प्रसन्नता के लिये दासियां दी थीं। सुवर्ण माला से सुशोभित चार सौ हाथी, पन्द्रह हजार घोड़े, अठारह सौ रथ दिये ॥ ३१ ॥

दासियां जो देवक ने दी थी उसका कारण यह था कि सुसराल में देवकी को मन बहलाव के लिये सखियां अवश्य चाहिये, नहीं तो वहाँ उदास रहेगी अतः उसके समान सुकुमार एवं अलंकृत दासियां भी दी। वे दासियां कन्या, देवकी को दी थी उनमें वसुदेव का कोई अधिकार नहीं था जिससे वसुदेव उन दासियों से कोई भी सेवा न ले सके। देवक ने देवकी के विवाह में ही इतना दहेज क्यों दिया? इस शङ्का का निवारण उसके 'देवक' नाम से हो जाता है। देवक का अर्थ है 'ज्ञानवान्' ज्ञानवान् होने से इसको पता था कि देवकी के गर्भ से भगवान् का प्राकट्य होगा, इसीलिये विशेष दहेज दिया था। कन्या को जो दासियाँ दी थी उनके आने जाने को चढने के वास्ते पालकियां भी दी थी। उनके लिये भी पालकियाँ क्यों दी? इस शङ्का निवारण के लिये कहते हैं देवक 'दुहितृवत्सलः' कन्याओं में प्रेमवाले थे, वे दासियां भी कन्याएं ही थीं। अथवा देवकी के कहने से उनको पालकियां दी थी। ३२ ॥

सम्माननामाह शङ्खेति।

इस निम्न श्लोक में प्रयाण समय में जो सम्मान से विदा किया उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—शङ्खतूर्यमृदङ्गानि नेदुर्दुन्दुभयः समम्।
प्रयाणप्रक्रमे तावद्वरवध्वोः सुमङ्गलम् ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ—वर बहु के प्रयाण के समय, मङ्गल होने के लिये, शङ्ख, तूर्य मृदङ्ग और दुन्दुभि ये चारों साथ में बजने लगे ॥ ३३ ॥

सुबोधिनी—शङ्खो हि मुखवाद्यम्। तूरी हस्तवाद्यं मृदङ्गानि च। दुन्दुभयो दण्डवाद्यम्। सममेकदा। नैमित्तिकं तदित्याह प्रयाणप्रक्रम इति। वरवध्वोः सुमङ्गलं यथा भवति तथा नेदुः। अनेन शकुनमप्युक्तं पर्यवसानस्योत्तमत्वात् ॥ ३३ ॥

अनुवाद—शङ्ख मुख से बजाया जाता है तुरही और मृदङ्ग हाथ के बाजे हैं, दुन्दुभि डण्डों से बजाई जाती है। ये सब साथ में ही बजने लगे। ये क्यों और कब साथ में बजने लगे? जब वर और वधू के जाने का प्रारम्भ हुआ तब बजने प्रारम्भ हुए और मङ्गल सूचना देने के लिये बजने लगे। इनके बजने से यह मालूम हुआ कि शकुन अच्छे हैं, इसका फल उत्तम होगा ॥ ३३ ॥

कालो ह्यत्र प्रतिबन्धको जात इति वक्तुं तस्याधिभौतिकः कालनेमिः कंसे निविष्टः शेत इति तत्प्रादुर्भावार्थं तदनुगुणदेवतायास्तदुत्कर्षमसहमानाया अकस्माद् वाक्यं जातमित्याह पथीति।

---

१ पैदल सिपाही, घोड़े, रथ और हाथी इनकी सेना को चतुरङ्गिणी कहते हैं।

आनन्द युक्त प्रयाण के समय काल ने आनन्द में रुकावट डाली। कैसे रुकावट डाली ? वहाँ कहते हैं कि काल के आधि भौतिक स्वरूप कालनेमी ने कंस में आकर निवास किया। वह काल, देवकी के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सका अतः काल के अनुरूप देवता काल को प्रकट करने के लिये, अचानक रास्ते में आकाशवाणी हुई। जिससे कालनेमी के आवेश के प्रकट होने से कंस की बुद्धि विकार-वाली होने लगी। उसका वर्णन निम्न श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक्।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां नयसेबुध ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ—घोड़ों की लगाम को पकड़कर जाने वाले कंस को रास्ते में आकाशवाणी ने कहा कि, हे मूर्ख। जिसको तू पहुचाने जारहा है उसका आठवां गर्भ तुझे नष्ट करेगा॥ ३४॥

सुबोधिनी—शोभातिशयो मध्येमार्गं प्रादुर्भूत इति पथ्येवोक्तवती न तु गृहे नापि गमनानन्तरम्। अनेनाधिभौतिकः कालोस्मिन्मार्गे बाधकः स प्रतिविधेय इति ज्ञापितम्। सर्वप्रकारेण प्रग्रहिणं रश्मिग्राहिणमाभाष्य रे रे कंसेति सावधानपर्यन्तमुक्त्वा। अशरीरवागाकाशवाणी। शरीरात् ताल्वोष्ठपुटाघातेन न निर्गता। तस्या वाक्यमाह अस्या इति। अष्टमो गर्भ इति। सङ्ख्या निस्सन्दिग्धा। कन्या पुत्री वेति न विशेष उक्तः। मध्ये भगवता तथा प्रेरिता। स बालक एव त्वां हन्ता हनिष्यति। दासीषु प्रेक्षिकासु वेतिसन्देहव्युदासायाह यां नयस इति। न चेयं मम भगिनी न तथा कर्तुं दास्यतीति वक्तव्यं यतस्त्वमबुधः। कस्यापि तत्त्वं न जानासीत्यर्थः हे अबुधेतिसम्बोधनं वक्तुर्हितत्वज्ञापनाय॥ ३४॥

अनुवाद—मार्ग में अतिशय शोभा हो रही थी जिससे देवकी का भी उत्कर्ष प्रकट देखने में आरहा था, घर में वा पहुँच जाने के बाद होता तो ये दो तो उस समय नहीं होते। परन्तु आकाशवाणी को तो रंग में भङ्ग और हर्ष में दुःख पैदा करना था अतः वह आकाशवाणी मार्ग में ही हुई। इससे यह बताया कि आधिभौतिक काल इस मार्ग[1] में बाधक होता है। आकाशवाणी वागडोर पकड़े हुए-कंस को, सावधान करने के लिये प्रथम, रे मूर्ख ! कंस ! संबोधन करती है, जब वह सावधान हो जाता है तब आवाज आती है वह आवाज तालु, होठ आदि के मिलाप से नहीं निकल रही थी, योंही वायु में मिश्रित होकर आरही थी इसलिये श्लोक में 'अशरीर वाक्' पद दिया है जिसका अर्थ है वह वाणी जो शरीर से न निकली हो। उस वाणी से सुनने में आया कि जिसको तू प्यार से पहुँचाने ले जारहा है उस देवकी का आठवां गर्भ[2] तुझे नष्ट करेगा। इस प्रकार स्पष्ट कहने से वह बतादिया कि दासी आदि का गर्भ तुझे नष्ट नहीं करेगा। संख्या तो निश्चय बतादी किन्तु पुत्र व पुत्री यह स्पष्ट नही कहा। यों भी न समझना, कि

टिप्पणी—१ भक्ति मार्ग तथा विवाहोत्सव दोनों के मार्ग में आधिभौतिक काल प्रतिबन्धक होता है।
२. गर्भ से उत्पन्न बालक।

देवकीजीपर कंसका कोप

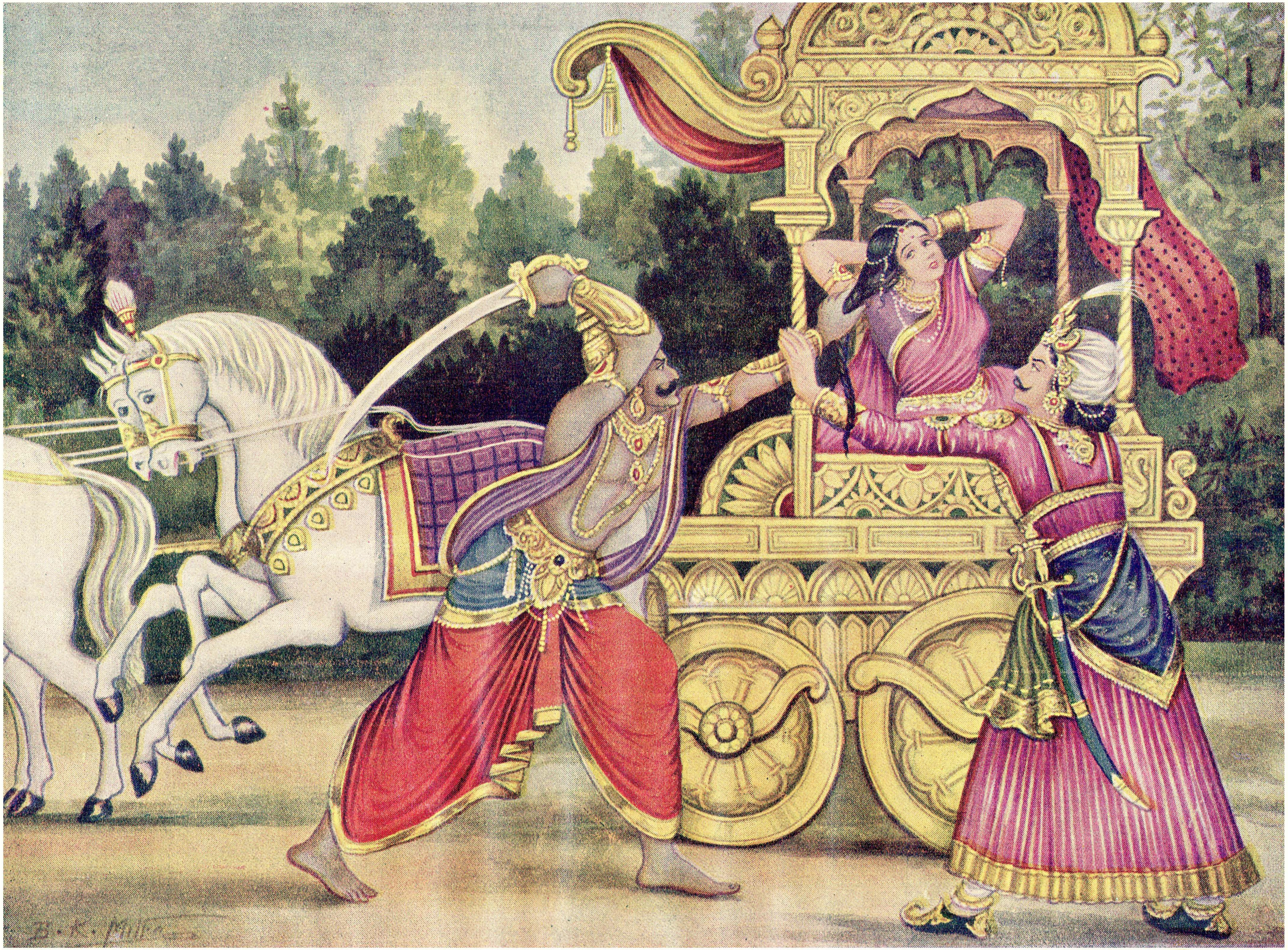

गीताप्रेस, गोरखपुर

वसुदेवजी कंसको साम और भेदनीतिसे समझाने लगे ।

यह मेरी बहिन है और इसकी सन्तान भानेज मुझे कैसे मारेगा, यदि यों समझ लिया तो तू मूर्ख है। मैं ऐसा स्पष्ट तुझे मूर्ख इसलिये कहती हूँ कि मैं तेरा हित चाहती हूँ ॥ ३४ ॥

ततो यज्जातं तदाह इत्युक्त इति ।

आकाशवाणी होने के अनन्तर जो कुछ हुआ उसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—इत्युक्तः सखलः पापो भोजानां कुलपांसनः ।
भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेग्रहीत् ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ—आकाशवाणी का इतना कहना सुनते ही भोज कुल के कलङ्क रूप पापी कंस ने बहिन को मारने के लिये एक हाथ में तलवारली, और दूसरे हाथ में देवकी के केशों को पकड़ लिया ॥ ३५ ॥

सुबोधिनी—आकाशवाण्यास्त्वभिप्रायः सा स्वगृह एव स्थापनीयान्यदा वा किञ्चित् कर्तव्यमिति । कंसस्तु इत्युक्त एव सखलः कालनेमिसहितः । स प्रसिद्धो दिग्वजयी खलः प्रकृत्या । भगिनीं हन्तुं खङ्गपाणिर्भूत्वा कचे केशपाशे तामग्रहीत् । ननु महत् पापं कथं करिष्यतीत्याशङ्क्याह पाप इति । निरन्तरपापकरणेन स पापात्मैव जातः । तस्मात् तस्य शास्त्रं न बाधकम् । खलत्वाल्लोकोपि न बाधकः । वंशजा अपि न तस्य बाधका जाता इत्याह भोजानां कुलपांसन इति । भोजवंशोद्भवा ये तेषां कुले पांसनो मलरूपः कलङ्करूप इतियावत् । कुले कलङ्कजननं तस्य स्वरूपम् । अतः कुल-विचारेणापि न निवर्तत इतिभावः । कचेषु किञ्चित् कर्तव्यं नास्तीति सप्तमी । स तु भगिनीमेव हन्तुं कालेन समारब्धः । आरब्धवान् वा । अपलायनार्थं तस्या ग्रहणम् ॥ ३५ ॥

अनुवाद—आकाशवाणी का इस प्रकार कहने का तो आशय यह था कि देवकीजी को घर में रखलेंगे अथवा और कोई समुचित[1] उपाय करेगा। किन्तु यह कंस दिग्विजयी, तथा स्वभाव से खल तो पूर्व था ही, और विशेष में उसके साथ आधिभौतिक कालस्वरूप कालनेमि शामिल होगया, इससे वाणी सुनते ही हाथ में तलवार लेकर भगिनी को मारने के लिये उसके बालों को पकड़ लिया। केवल वाणी सुनने से इतना बड़ा भारी पाप करने के लिये कैसे उद्यत हुआ? वहाँ कहते हैं कि वह निरन्तर पाप कर्म करता ही रहता था, जिससे पापात्मा[2] बनगया था। इसीसे शास्त्रवचनों की भी उसने परवाह नहीं की है और उसको लोक भी नहीं रोक सके क्योंकि वे खल हैं। इसी प्रकार बान्धव भी रोकने में असमर्थ थे कारण कि वह कुल कलङ्क था। अतः उसको अपने कुल की मानमर्यादा भी इस घृणित कार्य से नहीं हटा सकी। बालों को कुछ भी करना नहीं था इसलिये कच शब्द सप्तमी विभक्ति में दिया है यदि बालों को कुछ करना होता तो सप्तमी विभक्ति न देकर दूसरी देते। उस कंस को तो बहिन को ही मारने के लिये काल ने तैयार किया था। देवकीजी भाग न जावे केवल इसलिये बाल पकड़ रखे थे।

---

१. योग्य, उचित　　२. पापरूप

वसुदेवस्तु शूरोप्यसहाय: कंसबलं च जानातीति स्वतो दोषस्तस्य च न भवतीति निश्चित्य सान्त्वनार्थं प्रवृत्त इत्याह तमिति ।

यद्यपि वसुदेव शूरवीर थे और साथ में कंस का पराक्रम भी जानते थे, इसके सिवाय स्वयं उस समय शस्त्र तथा सेना आदि नहीं होने से, असहाय थे । एवं यह भी समझते थे कि कंस का स्वतः[1] दोष नहीं है । यह निश्चय कर कंस को शान्त करने का उपाय करने लगे । इस श्लोक में उसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—तं जगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम् ।
वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन् ।। ३६ ।।

श्लोकार्थ—निन्दा के योग्य कर्म करने वाले, निर्दयी और निर्लज्ज कंस को, महाभाग्यवान् वसुदेवजी शान्ति कराते हुए कहने लगे ।। ३६ ।।

सुबोधिनी—नायं स्त्रीलोभेन तथा करोति किन्त्वनुचितमिति दयाविष्टस्तं परिसान्त्वयन्नुवाचेतिसम्बन्धः । लोकलज्जया स्वयमेव न करिष्यतीति ज्ञात्वा कथं न तूष्णीं स्थितस्तत्राह जुगुप्सितमेव सर्वदा करोतीति तथा । स्वस्य दयया त्यक्ष्यतीत्यपि न यतो नृशंसः क्रूरात्मा । दैत्येष्वपि हीनत्वादपत्रपयापि न करिष्यतीत्यपि न । यतो निर्गता अपत्रपा यस्य । 'लज्जा सापत्रपायन्तः' । वसुदेव इति । उपेक्षायामयुक्तः सर्वप्रकारेण मोचयितुं शक्तः । किञ्च महाभागः । तस्य जन्मन्यानका दुन्दुभयश्च नेदुरतो महाभाग्यवान् ।। ३६ ।।

अनुवाद—वसुदेवजी, कंस की सान्त्वना इस लोभ से नहीं करते हैं कि मेरी स्त्री मर जायगी तो मैं दुःखी हो जाऊंगा वा मेरी हानि होगी, किन्तु यह कंस का कर्त्तव्य अयोग्य है इससे वसुदेवजी के हृदय में दया उत्पन्न हुई कि कंस ऐसा पाप कर्म करेगा तो उसका अनिष्ट[2] होगा और देवकी भी बिना दोष मारी जाती है । इसी दया के कारण वसुदेवजी ने कंस को शान्त कराने के लिये निश्चय किया । भगिनी की हत्या से मेरी लोक में अपकीर्ति होगी तो मैं समाज में मुख ऊपर कर कैसे चलूंगा, इस प्रकार लज्जा आने से स्वयं यह कार्य न करेगा, यों समझ कर वसुदेवजी को चुप रहना चाहिये था । इस पर कहते हैं कि लज्जा उसको आती है जिसने कभी भी निन्दित कार्य न किया हो, यह कंस तो सदैव निन्दित कर्म करने वाला है । उसको कैसे लज्जा आवेगी ? यदि लज्जा से नहीं तो 'भगिनी दयामूर्तिः' बहिन दया पात्र है यों समझकर छोड़देगा । इस पर कहा गया है कि वह कंस नृशंस[3] है अतः उसको कभी दया आती नहीं है इसलिये यह छोड़ेगा नहीं । इसके सिवाय वसुदेवजी यह भी जानते थे कि कंस, दैत्यों में भी अधम दैत्य होने से निर्लज्ज है, इन सब विषयों का विचार कर वसुदेवजी ने सोचा कि इसकी उपेक्षा[4] करनी अयोग्य है अतः किसी भी प्रकार सान्त्वना कराके देवकी को छुड़ाना चाहिये, यों करने की वसुदेवज

१. अपने आपका २. बुरा ३. निर्दयी ४. उदासीनता, बेपरवाह

में शक्ति थी क्योंकि उनके जन्म के समय देवों ने बड़े नगाड़े इसलिये बजाये थे कि यह महा-भाग्यवान् है ॥ ३६ ॥

आकाशवाणीं च श्रुत्वेयं च न मरिष्यतीति निश्चित्य कथञ्चित् प्रतीकारः कर्तव्य इति प्रतियुद्धादिकमकृत्वा कंसं परितः सान्त्वयन् तिष्ठ तिष्ठ मद्विज्ञापनां शृण्विति वदन्नाकाशवाण्याः समाधानार्थं वक्ष्यमाणमुवाच । आकाशवाण्युक्तं न मिथ्या । अयं च प्रतीकारार्थं यतते । तत्र क्रियया प्रतीकारो न भवति ज्ञानेनैव प्रतीकारो भवतीति नवभिः प्राणश्लोकैस्तस्य सर्वं तत्त्वमुपदिशति श्लाघनीयेति ।

वसुदेव ने आकाशवाणी सुनकर मन में निश्चय पूर्वक समझ लिया कि यह देवकी तो मरेगी नहीं । तो भी व्यवहारानुसार इसका प्रतीकार[1] करना चाहिये । सामासामी[2] शस्त्रों से लड़ाई न करके कंस को पूरी तरह शान्त करने तथा आकाशवाणी के वचनों के समाधान करने के वास्ते कहने लगे कि, ठहरो ! ठहरो ! मेरी प्रार्थना को पहले सुनलो । वसुदेवजी ने समझलिया था कि कंस को निश्चय हो गया है कि आकाशवाणी ने जो कहा है वह मिथ्या नहीं है अतः उसका प्रतिकार[1] करने का वह प्रयत्न कर रहा है । अब शस्त्र क्रिया[3] से मेरा कार्य सिद्ध नहीं होगा अतः इस कार्य की सिद्धि ज्ञान रूप प्रतिकार से ही होगी यों निश्चय कर नौ श्लोकों से कंस को सर्वज्ञान का तत्व समझाकर शान्त करते हैं । नौ श्लोकों से उपदेश करने का भाव यह है कि 'प्राण' नौ हैं जिनकी रक्षा करनी है ।

वसुदेव उवाच—श्लोक—श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान् भोजयशस्करः ।
स कथं भगिनीं हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी कहने लगे, कि-आपके गुण शूरवीर भी गारहे हैं, तथा आप भोज भूपति के वंश का यश बढा रहे हो । वैसे आप, इस विवाहोत्सव जैसे शुभ कार्य में स्त्री को वह भी बहिन को कैसे मारते हो ? ॥ ३७ ॥

सुबोधिनी—यद्ययं मृत्यौ निरभिमानस्तिष्ठेदक्लिष्टकर्मा भगवान् तं न हन्यात् । अत इदमुपदिश्यमानं देवगुह्यत्वात् प्रतिबन्धकत्वेन फलितम् । वसुदेवोपि भगवता प्रेरित इत्यनधिकारिणमनवसरे बोधयति । आकाशवाणीप्रामाण्येन हि स मारयितुमुद्यतः । सा चेन्मारिता स्यादाकाशवाण्यप्रमाणैव स्यादतोन्य एवोपायश्चिन्तनीयस्तेनापि । अतोनवसरेपि दयया तद्धितमेवोक्तवान् । नवधा एतदकर्तव्यम् । महतो निन्दितकरणमनुचितम् । नायं च प्रतीकारः । नापि प्रतीकारः कर्तव्यः पूर्वदेहस्य मलत्वात् । नापि देहान्तरं दुर्लभम् । नापि पूर्वदेहस्य त्यागे कश्चन प्रयासः । नापि वस्तुतो देहाध्या-

---

१. उपाय　　२. सामने खड़े होकर　　३. लड़ाई करने　　४. निश्चय ।

सव्यतिरेकेण देहिनः स्वतो जन्मास्ति । देहाध्यासश्चाज्ञानादिति ज्ञानेन निवर्तते । किञ्च यावदन्यस्मै न द्रुह्यति तावन्न तस्य भयं भवति । द्रोहे मया वा मन्निष्ठेन वा भगवता तव हननं निश्चतमाकाशवाण्या अमिथ्यात्वात् । लोकस्वभावविरुद्धश्चायमिति । तत्राद्यमन्त्यौ च लौकिकौ । मध्ये षट् पारमार्थिकाः । तत्र प्रथमं तत्र विगर्हितमनुचितमित्याह । शूरैर्जरासन्धादिभिः । श्लाघनीया गुणा यस्य । शूरा हि युद्धमभिमन्यन्ते कातरा एव मृत्युं विचारयन्ति । अतोस्याः पुत्रो मारयिष्यतीतिश्रवणे शूराणामुत्साह एव युक्तो न तु स्वशौर्यनाशकं तन्मारणमुचितं 'द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुरापा'विति वाक्यात् । भवांश्च क्षत्रियधर्मे निष्णात इति सर्वैः श्लाघ्यते । किञ्च भोजयशस्करो भवान् भोजवंशे नैतादृशः शूर इति । अतः स्वधर्मकीर्तिजनकत्वादाकाशवाणीवाक्यश्रवणेन वधो नोचितः । किञ्चैतादृशयशोधर्मयुक्तो दयापात्रं भगिनीं कथं हन्याद् यदर्थं लोकाः स्वयं म्रियन्ते ? किञ्च स्त्रियम् । स्त्रीवधोनुचितः शूराणाम् । भगिन्यपि कदाचित् क्षत्रियवंशोद्भवत्वाच्छौर्यमवलम्बते तादृश्यपीयं न भवति । सा तु पुम्प्रकृतिका भवति । इयं तु स्त्र्येवेति न पुनरुक्तिः । किञ्च वधे कर्तव्येपि कालान्तरे कर्तव्यो न तु विवाहोत्सवे । लौकिका राजानो मारणीयं विषादिनापि मारयन्ति । तस्माच्छौर्यादिधर्मवतस्ते नेदमुचितम् ।। ३७ ।।

अनुवाद—आकाशवाणी सुनकर कंस को निश्चय हो गया कि इसके आठवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी । अतः देवकी का ही नाश कर दूंगा तो मेरी मौत नहीं होगी । इस प्रकार के मृत्यु का निश्चय कंस के हृदय से निकालने के लिये वसुदेवजी प्रयत्न करने लगे । जो, वसुदेवजी के उपदेश से कंस के हृदय से मृत्यु का अभिमान[४] जिसका मूल कारण देहाध्यास है वह निकल जाता तो अक्लिष्टकर्मा भगवान् कंस को मारते नहीं । किन्तु यह वसुदेवजी का उपदेश, देवगुह्य, श्रीकृष्ण करके गुह्य है, जिससे कंस समझ न सका । न समझने के कारण उसका मृत्यु में वही अभिमान रहा, अतः उपदेश भी प्रतिबन्धक हो गया । वसुदेवजी का उपदेश देवगुह्य था उसका आशय यह भी था कि यदि देवकी मारी जायगी तो आकाशवाणी का कहना मिथ्या हो जायगा अतः देवकी की मृत्यु भी न हो और आकावाणी भी सत्य हो इसके लिये कोई दूसरा उपाय का विचार करना चाहिये । वसुदेवजी भी भगवान् की प्रेरणा से, उपदेश का समय तथा अपने अधिकारी न होने पर भी उपदेश देने लगे । कंस के कृत्यों को देखते हुए उसपर दया करने का अवसर नहीं था तो भी उसके हित के लिये वसुदेवजी दया के कारण उसको उपदेश देने लगे ।

हे कंस ! यह जो आप भगिनी-वध का कार्य कर रहे हो वह नौ प्रकार के विचार से सिद्ध होता है कि नहीं करना चाहिये ।

१—भगिनी वध जैसा निन्दित कर्म महापुरुषों के योग्य नहीं हैं, और यह दुष्कर्म मृत्यु से बचने का उपाय भी नहीं है ।

२—यदि वह (भागिनी का वध) मृत्यु से बच जाने का उपाय भी हो तो भी नहीं करना चाहिये, कारण कि, मृत्यु के अनन्तर, देह से जीव के चले जाने के पश्चात् यह देह मलरूप गिनी जाती है । जिसका कोई भी स्पर्श करना नहीं चाहता ।

६—दूसरी देह की प्राप्ति में किसी प्रकार की दुर्लभता नहीं है ।

४—पूर्व देह के त्याग में किसी प्रकार का प्रयास[1] नहीं है।

५—वास्तविक[2] रीति से विचारा जाय तो जीव का जन्म[3] ही नहीं होता है। केवल देह के अध्यास से जीव समझता है कि मेरा जन्म हुआ है।

६—देह में जो अध्यास हुआ है वह अज्ञान से हुआ है। वह अज्ञान, ज्ञान से मिटाया जा सकता है।

७—कोई भी जब तक दूसरे से द्रोह नहीं करता है तब तक उसको कोई भय नहीं है।

८—यदि आकाशवाणी सत्य ही समझते हो तो इस प्रकार के द्रोह करने पर भी मुझसे वा मेरे भीतर विराजमान प्रभु के द्वारा तेरी मृत्यु निश्चय होगी ही।

९—आपने अपने आपको बचाने के लिए जो उपाय सोचा है वह लोक तथा स्वभाव के विरुद्ध है।

इन उपदेश वाक्यों में पहला और अन्त के ८वें व ९वें लौकिक दृष्टि से दिये गये हैं। शेष बीच वाले ६ उपदेश पारमार्थिक हैं।

अब उस प्रथम प्रारम्भ किये निन्दित कर्म (भगिनी-वध) को छोड़ने के लिए कंस को उपदेश देते हैं—

हे कंस! आप थोड़ा विचार करो कि जरासन्ध जैसे शूरवीर भी आपका यश गाते हैं कि आप महा शूर हैं। शूर तो युद्ध ही चाहते हैं। वे मृत्यु से नहीं डरते हैं। कायर ही मृत्यु का विचार करते हैं। अतः शूरवीर होने से आपको तो इसका पुत्र मुझे मारेगा। यह सुनकर शूरवीरता आनी चाहिए। शूरवीर तो लड़ाई सुनकर उत्साहित होते हैं पर आप तो डरपोक बन गये हो। यह आपको उचित नहीं है और बहिन का वध कर अपनी वीरता को नाश करना भी योग्य नहीं है। युद्ध में 'मरने वाले तथा मारने वाले' का मृत्यु दोनों के इच्छानुकूल है किन्तु वैसी मृत्यु क्षत्रियों के लिए दुराप अर्थात् कष्ट से कभी मिलती है। आप तो क्षात्र धर्म को अच्छी तरह जानने वाले हो इस प्रकार आपकी प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि आप भोज के यश को फैलाने वाले हो तथा भोज वंश में आप जैसा शूर दूसरा कोई नहीं हुआ है। अतः आकाशवाणी सुनने मात्र से बहिन का वध उचित नहीं है। इसको छोड़ने से आपका धर्म तथा यश बढेगा। ऐसे धर्म तथा यश वाले आप, दया पात्र भगिनी को कैसे मारोगे? जिस बहिन के लिए मनुष्य अपना शरीर भी दे देते हैं। बहिन का विचार छोड़ा जाय तो भी 'स्त्री' जाति तो है। शूरवीरों को स्त्री का वध करना अनुचित है। यदि आप समझो कि यह मेरी बहिन भी क्षत्रिय होने के कारण शूरता आने से मुझसे लड़े वा मुझे मार डाले? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि यह वैसी नहीं है, जो वैसी होती है वे पुरुष प्रकृति की होती है यह स्त्री प्रकृति वाली है। यदि आपको इसको मारना ही है तो भी अब विवाहोत्सव के समय में तो मत मारो पीछे मार देना। लौकिक राजा लोग जिसको मारना चाहते हैं उसको विषादि से मरवा देते हैं। इन कारणों से शौर्य आदि धर्म वाले आपको इसका वध करना योग्य नहीं है॥ ३७॥

---

१. परिश्रम २. यथार्थ ३. वा मृत्यु (वा मैं मरूँगा)

किञ्च यदियं हन्यते तन् मृत्युप्रतीकारार्थं नतु वैरभावेन न च मृत्युरस्यां हतायां प्रतिकृतो भवति सहजत्वादित्याह मृत्युरिति ।

आप जब इस भागिनी को इसलिये मारते हो, कि मैं मरने से बच जाऊँ परन्तु बहिन से तो किसी प्रकार का वैर है नहीं जिसके लिये उसको मारते हो। तब आपको सोचना चाहिये कि इसको मारने से क्या मेरी मृत्यु टल जायँगी ? यह तो कदापि नहीं होगा, कारण की मौत तो जन्म के साथ जन्म लेती है।

वसुदेवजी इस नीचे के श्लोक में इसी प्रकार कंस को समझाते हैं—

श्लोक—मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेनसह जायते ।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! जन्म लेने वालों की मृत्यु उनकी देह के साथ ही उत्पन्न होती है, अतः प्राणी मात्र की मृत्यु होनो निश्चत है वह मृत्यु कब होगी उसका किसो को पता नहीं है। आज हो अथवा सौ वर्ष के बाद हो, जब आवेगी उसको कोई रोक नहीं सकता है ॥ ३८ ॥

सुबोधिनी—नापि विलम्बार्थम् । वाणीवचनादेव नेयं हन्ति नापि हनिष्यति । अस्या अप्यष्ठमो गर्भः शीघ्रमेव हनिष्यतीतिवाक्यमस्ति । अथ कदाचिद्धनिष्यतीतिशङ्का तन्नित्यमृत्योरनेनान्येन वा हननं सिद्धमिति नायं प्रतीकारः । तदाह जन्मवतामुत्पन्नानां मृत्युर्देहेन सहैव जायते । 'मृत्युनैवेदमावृतमासी' दित्युपाख्याने भगवान् मृत्योः सकाशात् प्राणिनो बहिः कृत्वा तेशामन्तर्मृत्युं पातितवान् । 'अशनाया मृत्युरेवे' तिश्रुतेः । अशनायारूपो मृत्युर्देहेन सहैव जायते । तस्मात् प्रत्यहमनुभूयमानो मृत्युर्नित्य इति । अद्य वाब्दशतान्ते वा प्राणिनां मृत्युः सिद्ध एव । वीरेतिसम्बोधनमेवङ्कथनेपि भयाभावाय । अब्दशतान्ते मृत्युः सर्वेषामभिमत इति तदैव वाकाशवाणी सत्या भविष्यतीति न मारणमुचितमितिभावः ॥ ३८ ॥

अनुवाद—हे कंस ! इसको मारने से तेरी मृत्यु जो अवश्य होने वाली है, वह टलेगी नहीं। इसका गर्भ या किसी दूसरे का गर्भ तुझे मारेगा तो अवश्य ही। यदि कहो कि मृत्यु टलेगी नहीं, किन्तु कुछ समय रुकने से उसमें विलम्ब तो होगी। इस पर कहते हैं कि विलम्ब तो यों भी है ही। यह देवकी तो तुझे नहीं मारती है तथा न मारेगी और मारने वाला इसका आठवां गर्भ भी अब जन्म नहीं लेता है। इसलिये विलम्ब के कारण मारना भी व्यर्थ है। अतः इसका वध करना तो तेरे बचजाने का उपाय नहीं।

मृत्यु तो प्राणियों के जन्म के साथ जन्म लेती है, (मृत्युना एव इदं आवृतं) वृहदारण्यक के प्र० अ० की इस श्रुति में कहा गया है कि यह सब; मृत्यु से घिरा हुआ था। भगवान् ने प्राणिओं को

उस मृत्यु से बाहिर निकाला और मृत्यु को प्राणिओं के भीतर स्थापन किया, वह भीतर स्थित मृत्यु का रूप अशना भूख है। यह भूख रूप मृत्यु देह के साथ पैदा होती है इसलिये। (अशना या मृत्युरेव) इस श्रुति में कहा है कि मृत्यु का रूप भूख है। अतः प्राणियों की वह मृत्यु नित्य होती है। इसका प्रत्येक प्राणी को अनुभव है। जब भोजन नहीं मिलता है, भूख सताती है तो प्राणी के मुख से ये शब्द निकलते हैं कि मैं भूखों मरता हूँ जल्दी भोजन दो नहीं तो मेरे प्राण निकलते हैं। इससे निश्चय है कि आज वा सौ वर्ष के अनन्तर मृत्यु तो होने वाली हीं है। वसुदेवजी ने कंस को हे वीर! संबोधन देकर यह बताया कि तूं शूरवीर है तुझे भय नहीं करना चाहिये। सौ वर्ष के बाद भी तो मृत्यु सब मानते ही हैं। तब ही आकाशवाणी सत्य होगी। अतः इस प्रकार विचार पूर्वक समझ लेने से आपको इसका वध करना उचित नहीं है ॥ ३८ ॥

न च देहत्यागे क्लेशो भविष्यतीति क्लेशनिवृत्त्यर्थमौषधपानवदस्या मारणमुचितमित्याह देह इति।

हे कंस! आप यों भी नहीं समझना कि देह के त्याग करने में जो दुःख होगा वह इसके वध से निवृत[1] हो जायगा इसके लिये इसका वध मेरे दुःख निवृत्ति की औषधि जानकर यह कर्म करता हूँ। निम्न श्लोक से कंस को समझाते हैं कि देह त्याग में कोई क्लेश नहीं होता है।

श्लोक—देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोवशः।
देहांतरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ—जब परवश जीव को कर्म के अनुसार इस देह को छोड़ना पड़ता है तब दूसरी देह को प्राप्त करने के पश्चात् पहिली देह का त्याग करता है ॥ ३९ ॥

सुबोधिनी—देहे पञ्चत्वमापन्ने पञ्चमहाभूतेष्वंशतो लीने सत्ययं देहाभिमानी जीवो देहान्तरं नवीनं कल्याणतरं प्राप्य प्राक्तनं मलप्रायं वपुस्त्यजते। ग्रहणे त्यागे वा नास्य प्रयासोस्ति यतः कर्मानुगः कर्मणैव तथोपस्थाप्यते। नाप्यस्य प्रयत्नापेक्षा यतोवशः। अनुप्राप्येति कालविलम्बो निराकृतः। अतः प्रयासाभावादौषधवदप्यस्या मारणमयुक्तम् ॥ ३९ ॥

अनुवाद—जब जीव इस देह के त्याग की तैयारी करता है तब देह के पांचों तत्त्व पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतो में क्रमशः लीन होने लगते हैं। उसके पश्चात् देहाभिमानी जीव, कल्याणकारी नवीन दूसरी देह को पाकर पहिली मलरूप बनी हुई देह को छोड़ देता है। जूनी देह के त्याग तथा नयी देह के ग्रहण

---

१. मिट जाएगा।

करने में जीव को परिश्रम नहीं करना पड़ता है। कारण कि जीव कर्म के आधीन है। कर्म जहां जीव को लेजाते हैं वहां उसको जाना ही पड़ता है। कर्म ही उसको पहिली देह छुड़ाता है और नवीन देह दिलाता है। जीव को परिश्रम करने की भी अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह कर्म के आधीन है। 'अनुप्राप्य' शब्द से यह बताया है कि इस एक देह को छोड़कर दूसरी लेने में काल को कुछ भी विलम्ब नहीं होता है। देह के त्याग तथा ग्रहण करने में परिश्रम न होने से, औषध लेने की तरह भी इसका वध करना अयोग्य ॥ ३९ ॥

किञ्च देहान्तरप्राप्तौ विलम्बो भविष्यतीत्यपि न शङ्कनीयमित्याह व्रजन्निति।

पहिली देह छोड़कर दूसरी देह की प्राप्ति में विलम्ब होगा, यह भी शङ्का मन में नहीं लानी चाहिये। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलौकैवं देही कर्मगतिं गतः ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ—जैसे चलता हुआ मनुष्य पृथ्वी पर आगे के एक पैर से देह को टिकाकर पीछे दूसरा पांव उठाता है तथा जैसे तृणकीट अन्य तृण को पकड़कर प्रथम तृण का त्याग करता है वैसे जीव भी कर्म के अनुसार नवीन देह को प्राप्त करने के पश्चात् पहिली देह को छोड़ता है ॥ ४० ॥

सुबोधिनी—यथा गच्छन् पुरुष एकेन पदा तिष्ठन्नेकेन गच्छति। प्रथमतः स्थितिः पश्चाद्गतिस्तथा प्रथमतो देहान्तरग्रहणं पश्चादस्य परित्यागः। गमने देशभेदस्य दुर्ज्ञेयत्वाद् दृष्टान्तान्तरमाह यथा तृणजलौकेति। तृणान्तरे स्थित्वा पूर्वतृणं त्यजतीति प्रत्यक्षसिद्धम्। यथात्र बुद्धिप्रयत्नौ तथा देहान्तरे कर्मगतयः। तदाह कर्मगतिं गत इति। कर्मगतिं देवतिर्यगादिदेहम् ॥ ४० ॥

अनुवाद—जैसे पैदल जाने वाला मनुष्य प्रथम एक पैर से अगली भूमि पर स्थित होने के बाद, पीछे की भूमि से दूसरा पैर उठाता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि पहले ठहरने का स्थान स्थिर कर पीछे आगे वाला स्थान छोड़ाजा सकता है, यों करने से ही चलने वाला मनुष्य चलने में सफल हो सकता है अन्यथा नहीं। विशेष समझाने के लिये दूसरा दृष्टान्त देते हैं जैसे तृण कीट (तिनके का कीड़ा) दूसरे तिनके पर ठहरने के पश्चात् पहिले तृण का त्याग करता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

जिस प्रकार इस लौकिक कार्य में प्रयत्न तथा बुद्धि की आवश्यकता है वैसे ही देह धारण करने में कर्म की गति की आवश्यकता है। अर्थात् जीव कुछ नहीं कर सकता है वह कर्म के वश है। कर्म अनुसार देह का त्याग तथा देव तिर्यग् आदि देह की प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

नन्वधिकप्रयासाभावेपि दृष्टान्तानुरोधेनाल्पप्रयासो भविष्यति सोपि शीघ्रं मा भव- त्विति मारणमिति चेत्तत्राह स्वप्ने यथेति ।

यदि कंस कहे, कि अधिक प्रयास नहीं होगा किन्तु दृष्टान्त के अनुसार थोड़ा प्रयास तो होगा, वह भी जल्दी न हो इसलिये इसका वध करता हूँ । तो इसका उत्तर निम्न श्लोक से देते हैं ।

श्लोक—स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः ।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन् प्रपद्यते तत् किमपि ह्यपस्मृतिः ॥४१॥

श्लोकार्थ—जीव जो कुछ देखता है अथवा शास्त्रों से सुनता है उन विषयों का मन से चिन्तवन करता रहता है, और उसी प्रकार के पदार्थों अथवा देहों को प्राप्ति की इच्छा करता है जिससे उसके मन में वे संस्कार दृढ़ हो जाते हैं । इसी कारण से जीव स्वप्न में वैसी देह मुझे मिली है ऐसा देखता है यहां तक की अपनी देह को भूल जाता है । जैसे स्वप्न में होता है वैसे ही जाग्रत में भी यों ही होता है इसमें किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता है ॥ ४१ ॥

सुबोधिनी—न हि स्वप्नदेहग्रहणे परित्यागे वाणुमात्रमपि प्रयास उपलभ्यते । वैलक्षण्यमपि कदाचिदेव प्रतीयते न सर्वदेत्याहेदृशमिति । ननु स्वप्नदेहः कर्मसाध्यो न भवतीति न प्रयास इति चेत्तत्राह मनोरथेनाभिनिविष्टचेतन इति । मनोरथेन तत्तद्वस्तुभावनया मनोगत्या कर्मणा तादृशे देहे तदुपभोग्ये विषये वाभिनिविष्टा चेतना बुद्धिर्यस्य । मनोरथेनापि स्वप्नो दृश्यते । ज्ञानकर्मणी च तत्र भवतः । यथा लोकान्तरगतौ " तं विद्याकर्मणी समारभेते पूर्वप्रज्ञा चे " ति । ततः स्वप्नदेहलोकान्तरदेहयोस्तुल्यत्वान्न ग्रहणपरित्यागयोः प्रयासः । न च वक्तव्यं मनोरथस्य तत्र कारणता नास्तीति यतो दृष्टश्रुताभ्यां प्रत्यक्षशास्त्राभ्यां प्रमाणाभ्यां मनसा राजादिदेहमिन्द्रादिदेहं वानुचिन्तयंस्तत्र प्रतिपद्यते स्वप्ने राजाहमस्मीन्द्रोहमस्मीति । पूर्वदेहस्य तु स्मरणमपि नास्ति कुत्र ग्रहणपरित्यागप्रयाससम्भावना ? तदाहापगता स्मृतिः पूर्वदेहस्मरणं यस्य । तत् पूर्वानुभूतमेव किमप्यनिर्वचनीयम् । स्वाप्निकस्य मायिकत्वात् । ' तदुदितः स हि यो यदनन्तर ' इतिन्यायेन स्वप्नो मनोरथहेतुक इति ॥ ४१ ॥

अनुवाद—स्वप्न के समय देह के ग्रहण तथा परित्याग में थोड़ा सा भी परिश्रम नहीं होता है और विलक्षणता[1] भी कभी-कभी ही प्रतीत होती है, सदा नहीं होती है । स्वप्न की देह में इसलिए प्रयास नहीं होता है क्योंकि वह कर्म द्वारा प्राप्त नहीं को जाती है, बिना कर्म के ही मिलती है । इस पर कहते हैं कि वह भी यों ही नहीं देखने में आती है किन्तु उसके लिए एक प्रकार का कर्म करना पड़ता है । वह कर्म है 'मनोरथ' । जीव मनोरथ से जब जिस-जिस देह वा वस्तु की भावना करता है तब उस

१. अद्भुतपन ।

जीव की बुद्धि उस देह अथवा उससे भोग्य विषय का रूप बन जाती है। उस ज्ञान और कर्म से ही 'स्वप्न' आते हैं। जैसे दूसरे लोक देह की गति में विद्या, ज्ञान तथा कर्म सहायक होते हैं। उनके द्वारा ही उसका प्रारम्भ होता है। वैसे ही स्वप्न में देहादि का आरम्भ भी ज्ञान एवम् कर्म से युक्त मनोरथ से ही होता है। इस प्रकार दोनों देहों की समानता है और इसलिए दोनों के ग्रहण तथा परित्याग में कोई प्रयास या परिश्रम नहीं है। यों भी आप नहीं कह सकते हो कि स्वप्न की देह में मनोरथ कारण नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा शास्त्र श्रवण द्वारा जो कुछ विषय मन में स्थित होते हैं उनका चिन्तन होता रहता है। जो दिन का चिन्तन किया जाता है वही प्रायः स्वप्न में देखने में आता है यह प्रत्येक का अनुभव है ही। कभी-कभी पूर्व जन्मों के संस्कारों का भी मन में स्मरण हो आता है कि मैं राजा था वा इन्द्र था अथवा युद्ध में सिर कट गया वा किसी कर्म से फाँसी हुई वे संस्कार भी जागृत हो जाते हैं और उनका अनुभव भी स्वप्न में होता है। अतः स्वप्न में मनोरथ रूप कर्म ही कारण है। यदि आप कहो कि पूर्व देह (जन्म) की स्मृति ही नहीं है तो ग्रहण और त्याग की सम्भावना (कल्पना) कैसे होगी? इस पर कहते हैं कि 'अपगत स्मृतिः' जीव को देह सम्बन्धी स्मृति नहीं रहती है। 'स्वप्न' तो वह है जो पूर्व काल में कभी भी अनुभव किया गया है। अतः इसको अनिर्वचनीय (जिसका पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता है) कहा जाता है। मन में पहिले मनोरथ पैदा होता है, उससे स्वप्न उत्पन्न होता है, इससे स्वप्न का कारण मनोरथ है। उस मनोरथ का कारण केवल दृष्ट[1] या श्रुत[2] है और वह स्वप्न निद्रा के समय आने से, मनोरथ किये हुए विषय पूरी तरह से दिखने में नहीं आते हैं, कारण कि निद्रा भी माया का रूप है, उसमें आने से स्वप्न को भी मायिक कहते हैं। ॥४१॥

किञ्च देहस्योत्पत्तिमरणे न त्वात्मनः। आत्मा तु तदध्यासाज्जायते म्रियते वा। तदाह यतो यत इति।

'यतोयतः' इस निम्न श्लोक में कुछ और भी समझाते हैं। जैसा कि जीव न उत्पन्न होता है और न नाश होता है, उत्पत्ति तथा नाश देह का होता है, जीव तो देह में अध्यास (देह ही मैं हूँ) समझने से अपना जन्म और मरण होना मान लेता है।

श्लोक–यतो यतो धावति दैवनोदितं मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रपद्यमानः सह तेन जायते ॥४२॥

श्लोकार्थ–दैव के द्वारा प्रेरित, अनेक विकारों से भरा हुआ मन माया से उत्पन्न जिन २ पञ्चभूतात्मक देहादिकों में से दौड़कर आता है अर्थात् जिन को छोड़कर आता है और जिन देहों को प्राप्त करता है अर्थात् ग्रहण करना चाहता है, उनमें अभिनिवेश[3] होने से जीव भी मन के साथ उसमें जन्म लेता है ॥ ४२ ॥

---

१. देखा हुआ। २ सुना हुआ। ३. आग्रह बुद्धि।

सुबोधिनी—अस्मिन्सिद्धान्ते मन एव देहग्रहणपरित्यागयोर्हेतुस्तच्च मनो विकारात्मकं नानाविकाराः सङ्कल्प-विकल्पात्मका आत्मा यस्य। तस्य प्रेरकं कालकर्मभगवदिच्छानामन्यतरद्दैवशब्दवाच्यम्। तेन दैवेन प्रेरितं मनो माया-रचितेषु विषयेषु मोहेनोत्तमत्वं प्रापितेषु मध्ये यस्माद्यस्माद्यं यमर्थं विहाय यत्र यत्र लग्नं भवति तत्र तत्रैवासौ देही तदेव प्रपद्यमानोहमिति मन्यमानस्तेन सह जायते न तु स्वतः। मनश्च यदा यद्भावयिष्यति तादृशो देहो भविष्यति यच्च त्यक्ष्यति तद्गमिष्यति। विषयास्तु समा एव। एवमपि सति यमेवार्थं मन उत्कृष्टत्वेन मन्यते तदस्मादुत्कृष्टं भवतीति नोत्कृष्टदेहरक्षार्थं इयं मारणीयेत्यर्थः॥ ४२॥

अनुवाद—इस सिद्धान्त[1] में (असुरों के मत में) मन ही देह के ग्रहण तथा त्याग का कारण है। सङ्कल्प तथा विकल्प रूप, अनेक प्रकार के विकार रूप आत्मावाला मन है। उस मन को प्रेरणा करने वाला दैव है। काल कर्म और भगवदिच्छा प्रत्येक को दैव कहा जाता है। तीनों में से अधिकारानुसार किसी एक से प्रेरित होकर मन, माया से रचित विषयों में, मोह से जिन जिन विषयों को उत्तम समझता है उन २ विषयों में से किसी का त्यागकर, जिनको ग्रहण करना चाहता है उनमें आसक्त हो जाने से उनमें ही मन के साथ जीव जन्म लेता है अपने आप जन्म नहीं लेता है। मन जैसी भावना करता है वैसी देह बनती है और जिस भावको छोड़ देता है वह देह नष्ट हो जाती है अर्थात् छूट जाती है। यद्यपि सब विषय समान हैं तो भी मन जिसको उत्तम समझता है वह उसके लिये उत्तम है वही विषय उस (मन) को प्राप्त होता है वा वह (मन) उस विषय को ग्रहण करता है। आपके मन को यह देह उत्तम जची इसलिये उसने यह ग्रहण की है। अतः इस उत्तम देह को रक्षा के लिये इस देवकी का वध नहीं करना चाहिये॥ ४२॥

एवं मनोऽनुसरणेन देहानुसरणमपि मोहादेव प्रतिबिम्बन्यायेन न त्वात्मनस्तथा-त्वमस्तीत्याह ज्योतिरिति।

जीव जैसे मन के पीछे चलता है वैसे ही देह का भी अनुसरण मोह से करता है। वह अनुसरण आत्मा का नहीं है किन्तु वह प्रतिबिम्ब या परछाई के समान है। अर्थात् जैसे बिम्ब के चलने से ही प्रतिबिम्ब चलता है अपने आप नहीं चलता है वैसे ही जीव अपने आप जन्म आदि ग्रहण नहीं करता है मन के पीछे घसीटता जाता है। जीव का वास्तविक रीति से देहादि में कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उसका जन्म आदि होता है उसका प्रतिपादन निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोक—ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः समीरवेगानुगतं विभाव्यते।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान् गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति॥४३॥

---

१. कंस असुर प्रकृति का है अतः वसुदेवजी उसको असुर सिद्धान्त से समझाना योग्य समझ कर इस श्लोक में असुरों का सिद्धान्त कहते हैं।

श्लोकार्थ—जैसे जल से भरे हुए मिट्टी के पात्रों में प्रतिबिम्ब रूप से रहे हुए सूर्य तथा चन्द्र, वायु के वेग से कम्पायमान दीखते हैं इसी प्रकार माया से रचित अन्तःकरण-युक्त देहों में राग के कारण आत्मा अर्थात् जीव अपने को कृश और स्थूल समझकर मोहित होता है ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी—उदकयुक्तेषु पार्थिवेषु शरावादिषु तथोदकस्थानीयमन्तःकरणं पार्थिवस्थानीयो देहः । उदकेषु उदकयुक्तेषु पार्थिवेषु काचादर्शादिषु वा समीरवेगाश्चाञ्चल्यमालिन्यादयस्तैरनुगतं सूर्यादिज्योतिर्विभाव्यते । प्रतिबिम्बितस्यैव सूर्यादेस्तत्सम्बन्धो नाकाशादिस्थितस्य । अद इति । सम्बन्धाभावायाकाशादिस्थितः प्रदर्शितः । एवमेव स्वमोहेन रचितेषु सम्यक्तयाभिमतेषु देहेन्द्रियादिष्वसौ जीवः पुमान् भगवानेव, रागेणानुगतस्तेन सहैकत्वं प्राप्तः प्रतिबिम्बन्यायेन प्रविष्टो विशेषेण मुह्यति । यस्माद्देहसम्बन्धो भ्रमादतो न तद्वशादात्मनोपकारः कर्तव्यः ॥ ४३ ॥

अनुवाद—जैसे आकाश में स्थित सूर्य वा चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब[1] नदी के जल में अथवा जल से भरे हुए मिट्टी के बर्तनों में पड़ता है, तब वायु से जल को हिलते देखकर अज्ञजन[2] समझते हैं कि सूर्य वा चन्द्र हिलता है और न कि प्रतिबिम्ब हिलता है यों समझना अज्ञजनों की अज्ञता[3] है। केवल जल हिल रहा है पर उसके द्वारा भ्रम से समझा जाता है कि वे हिलते हैं। वैसे ही यहां अन्तः करण, जल है और मृतिका का बर्तन, देह है मोह, वायु है उस मोह रूप वायु से अन्तः करण चलायमान होकर देहादि द्वारा अनेक कार्यों में मन को आसक्त कराता है। यों तो जीव भगवद्रूप है किन्तु मोह के कारण मन का अनुगामी[4] होने से देहादि को में एकत्व को प्राप्त होता है अर्थात् मोह के तथा अज्ञान अथवा अध्यास के कारण अपने को देह इन्द्रियादि समझकर भ्रम में पड़ जाता है। अतः इससे समझना चाहिये कि देह का सम्बन्ध भ्रम से है अतः उस भ्रम के वश होकर आत्मा की हानि नहीं करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

एवं तत्त्वं निरूप्य देहरागान्नात्मनोऽपकारः कर्तव्य इति यदुक्तं तल्लोकेपि तुल्यमिति वदन् मारणे भेदात्मकं भयं प्रदर्शयति तस्मादिति ।

वसुदेवजी कंस को इस प्रकार तत्व समझाकर निम्न श्लोक में कहते हैं कि देह में प्रेम होने से आत्मा की बुराई नहीं करनी चाहिये लोक में भी, इस देह के कारण आत्मा (जीव) की बुराई करने को अच्छा नहीं कहते हैं। यों कहते हुए वसुदेवजी अब देवकी के वध से भेदात्मक भय होना दिखाते हैं। अर्थात् वध तब किया जाता है जब जिसका वध किया जाता हो उसको अपने से पृथक् दूसरा समझा जावे। यह भेद दृष्टि भयावह[5] है तथा अपकार करने वाली है।

---

१. परछाई। २. नासमझ। ३. मूर्खता। ४. पीछे चलने वाला।
५. भय पैदा करने वाली।

श्लोक—तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः ।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम् ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ—जिसको आत्मा के कल्याण की इच्छा हो वह किसी से द्रोह न करे। क्योंकि द्रोह करने वाले को जिसका वह द्रोह करता है उससे सदैव भय बना रहता है। और उसको यह भी समझना चाहिये कि देह नाशवान् है वह तो नाश होगी ही, फिर उसकी रक्षा के भ्रम में दूसरे का द्रोह क्यों करूं ? ॥ ४४ ॥

यस्माद्देहो नात्मा तस्माद्देहार्थं कस्यचिदपि द्रोहं नाचरेत् । यतः स तथाविधः । यादृशो हन्यते तादृशः । अनेन स्वसाम्येन दया निरूपिता । यथा स्वरक्षा विचार्यते तथा पररक्षापि विचारणीयेत्युपदेशफलम् । अविचारे बाधकमाहात्मनः क्षेममन्विच्छन्निति । यदि विचारयति तदात्मनोपि क्षेमो भवति सोपि विचारयतीति । यदि न विचारयति तदा द्रोग्धुर्घातकस्य परतो मार्यात् मत्त एव तव भयं भविष्यतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अनुवाद—जब यह देह आत्मा नहीं है तब उस देह की रक्षा के लिये किसी का भी द्रोह नहीं करना चाहिये। अपनी देह भी वैसी ही है जैसी अन्य की नाश की जाने वाली देह है अतः उस देह को अपनी देह के समान समझकर उस पर दया ही करनी चाहिये। यों उपदेश करने का फल यह है कि जैसे अपनी रक्षा का विचार किया जाता है कि मेरा कोई भी वध न करे किसी प्रकार भी मैं वध से बचजाऊं तो अच्छा है, इसी प्रकार दूसरों की रक्षा के लिये भी विचार करना चाहिये। जो मनुष्य दूसरे की रक्षा का विचार नहीं करता है तो उसमें जो बाधक (रुकावटें) आते हैं वे बताते हैं। जब मनुष्य अपने क्षेम (कल्याण-सुख) को चाहता हुआ दूसरे की रक्षा का विचार करता है तो वह अपना भी क्षेम होगा यों विचार करता है अर्थात् दूसरे की रक्षा से (हित से) मेरी भी रक्षा (हित) होगी। नहीं तो द्रोह करने वाले को दूसरे से (जिसको वह मारता है उससे) भय होगा। अर्थात् वह भी इसका (घातक का) द्रोह करेगा अर्थात् इसको मारेगा। इसलिये यदि तुम इसका वध करोगे तो वह मेरा ही वध है कारण कि यह मेरी पत्नी होने से मेरा आधा भाग है अतः मुझसे तुझे भय होगा अर्थात् कभी भी मैं तुझे मार दूं ॥ ४४ ॥

लौकिकव्यवहारेणापि मारणं नोचितमित्याहैषा तवानुजेति ।

लोक के व्यवहार से इसका वध करना योग्य नहीं है। इसका वर्णन निम्न श्लोक से कहते हैं।

**श्लोक—एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा ।
हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः ॥ ४५ ॥**

श्लोकार्थ—यह आपकी छोटी बहिन अभी ८ वर्ष की ही है और दुःखी तथा उदास है एवं आपकी तो यह पुत्री के समान है । आपको, जो दीनों पर प्रेम करने वाले हो, इस कल्याण रूप वाली जिसके शरीर पर अभी विवाह के आभूषण हैं दया तथा स्नेह करने योग्य बहिन का वधकरना योग्य नहीं है ॥ ४५ ॥

सुबोधिनी—लोके कनिष्ठभगिनी स्नेहपात्रं भवति तत्रापि बालाष्टवार्षिकी लालनयोग्या तत्रापीयं दीना भयविह्वला चातुर्यानभिज्ञा च । पुत्रिकोपमा प्रतिमोपमा । तस्मादेषैव परं नेया न तु मारणमुचितमित्याह हन्तुं नार्हसीति । कल्याणीं विवाहालङ्कारयुक्ताम् । इमामिति । प्रदर्शनेन दयामुत्पादयति । त्वं च दीनवत्सलः । अनाविष्टस्वरूपस्य तथात्वात् । स हि तमनाविष्टमेव मन्यते ॥ ४५ ॥

अनुवाद— लोक में छोटी बहन तो स्नेह करने के योग्य है, उसमें भी वह आठ वर्ष की होने के कारण दुलार करने योग्य है तथा यह भय से व्याकुल है और इसमें चतुराई भी अभी तक नहीं आई है । अतः काष्ठ की पुतली जैसी अबोध है । अतः अपने को वध से छुड़ाने के लिये कुछ प्रार्थना भी नहीं कर सकती है । इसके सिवाय आप से छुड़ा के भाग जाय वह भी शक्ति वा युक्ति इसमें नहीं है और अभी तक विवाह के आभूषण शरीर पर होने से मङ्गल (कल्याण) स्वरूपा है इसलिए ऐसी का वध करना योग्य नहीं है । इसको तो अब श्वशुरगृह ही लेजाकर छोड़ आना योग्य है कारण कि आप दीनों पर दया करने वाले हो । वसुदेवजी इस समय कालनेमी का आवेश कंस में न समझकर कहते हैं कि आप दीनों पर दया करने वाले हो ॥ ४५ ॥

(एवं) शास्त्रार्थनिरूपणेन दयाभयादिजननेपि न मारणान्निवृत्त इत्याहैवमिति ।

वसुदेवजी ने कंस को शास्त्रों का तत्व बताया और दया भय आदि भी उस कंस में पैदा किया, किन्तु कंस ने मारने का निश्चय छोड़ा नहीं । उसका वर्णन निम्न श्लोक से करते हैं ।

**श्री शुक उवाच-श्लोक—एवं स सामभिर्भेदैर्बोध्यमानोपि दारुणः
न न्यवर्तत कौरव्य पुरुषादाननुव्रतः ॥४६॥**

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि– हे परीक्षित, इस प्रकार वसुदेवजी ने साम और भेद से समझाया तो भी राक्षसों का अनुसरण करने वाला वह क्रूर कंस देवकी के वध से निवृत नहीं हुआ ॥ ४६ ॥

सुबोधिनी—भेदा आत्मानात्मविवेकपरमार्थलौकिकभयरूपाः। साम ज्ञानं साम्यं दया च। एवमनेकप्रकारेणापि बोध्यमानो दारुणो दैत्यात्मा न न्यवर्तत। तस्माद्वधान्निवृत्तो न जातः। तत्र हेतुः पुरुषादान् राक्षसाननुव्रतोनुसृतः। पुरुषादाननु मारणलक्षणं व्रतं यस्येति वा। आविष्टो हि तथैव ॥ ४६ ॥

अनुवाद—वसुदेवजी नीति के ज्ञाता थे इसलिये उन्होंने साम और भेद से कंस को समझाया। प्रथम भेद नीति समझाई जिसमें उसको कहा कि आत्मा (जीव) का स्वरूप यह है और अनात्मा, (देहादि) का स्वरूप यह है और पाप कर्म से परलोक नरकादि की प्राप्ति तथा लोक में अपकीर्ति होती है इत्यादि भय बताये। उसके पश्चात् साम नीति से समझाया जिसमें ज्ञान, समानता तथा दया का उपदेश दिया। ऐसे अनेक प्रकार से भेद और साम नीति द्वारा समझाने पर भी वह कठोर चित्तदैत्यात्मा इस वध के कार्य करने से रुका नहीं। कारण कि उसने राक्षसों के समान वध का व्रत धारण कर रखा था। कंस में कालनेमि आविष्ट[1] थे अतः उसके तुल्य[2] यह भी करेंगे ही ॥ ४६ ॥

एवं पूर्वप्रयास उपदेशात्मके विफले जाते पुनर्भगवदिच्छया प्रकारान्तरेण समाधानार्थं यत्नं कृतवानित्याह निर्बन्धमित्यष्टभिः।

अयं लौकिको नालौकिकेन परमार्थेन निवर्ततेतोस्य लौकिक्येव युक्तिर्वक्तव्या। तस्माद्युक्तः स्फूर्तिः प्रथममुच्यते। सा च। पुत्रदानात्मिका। तस्याश्चायुक्तत्वमाशङ्क्य युक्त्या युक्तत्वसमर्थनम्। ततः स्फुरितस्योपायस्यानुवादः सोपपत्तिकः। तस्यैव प्रतिकूलतर्कपराहत्या समर्थनम्। अशक्तावदृष्टशरणागतिः। तस्याप्युपायस्य ग्रहणार्थं साधनानुष्ठानम्। तत उद्योगः कथनञ्चेति। अलौकिकस्फुरणात् तस्याङ्गीकारः। तेनायमुपाय आपाततः सफलः।

इस प्रकार उपदेशरूप प्रथम प्रयास[3] जब सफल न हुआ तब भगवान् की इच्छा से वसुदेवजी फिर अन्य प्रकार से समाधान करने के लिये प्रयत्न करने लगे। उसका वर्णन (निर्बन्धं तस्य) श्लोक से आठ श्लोकों में करते हैं—

यह कार्य लौकिक है इसलिये पारमार्थिक एवं अलौकिक युक्तियों से इस कार्य को कंस छोड़ेगा नहीं अतः अब लौकिक युक्ति ही करनी चाहिये। वह युक्ति जिसकी मन में स्वतः स्फूर्ति हो आई प्रथम वह कहते हैं। वह युक्ति यह थी कि, जो पुत्र उत्पन्न होगा वह तुझे उसी समय दे दूंगा। पुत्र दे देना अयोग्य देखने में आता है, किन्तु उसका समर्थन युक्ति से करते हैं कि पुत्र देना योग्य है फिर जो उपाय ध्यान में आया उसका उपपत्ति[4] पूर्वक अनुवाद करेंगे। उसके बाद के श्लोक में प्रतिकूल तर्क देकर उसका खण्डन करते हुए प्रथम दी हुई युक्ति का समर्थन करेंगे। पांचवें श्लोक में अशक्त होने पर अदृष्ट[5] बलवान है उसके ऊपर भरोसा रखना चाहिये यों कहकर समझाया है। उस प्रारब्ध के उपाय को ग्रहण करने के लिये साधन छठे श्लोक में बताए गए हैं। सातवें श्लोक में उद्योग कहे हैं। आठवें श्लोक में वसुदेवजी के मन में अलौकिक शक्ति की स्फुरणा से आये हुए वचनों की अङ्गीकृति का वर्णन है। तात्पर्य यह है कि वसुदेवजी का यह प्रयत्न भगवान की प्रेरणा से होने के कारण सफल हो गया।

---

१. घुसा हुआ, प्रवेश हुवा। २. बराबर। ३. प्रयत्न। ४. हेतु देकर उसका समर्थन। ५. प्रारब्ध।

पूर्वोपायवैयर्थ्यमनुवदति निर्बन्धं तस्येति ।

इस श्लोक में प्रथम किये हुए उपाय की विफलता बताते हैं—

श्लोक—निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्यानकदुन्दुभिः ।
प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत ॥४७॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी उस[1] का इस देवकी के वध करने का आग्रह देखकर विचार करने लगे कि इस अवसर को युक्ति से टालना चाहिये, इसके टालने के लिये वसुदेवजी के मन में निम्न विचार उत्पन्न हुए ॥४७॥

सुबोधिनी—तस्य कंसस्य वधरूपं तं निर्बन्धमवश्यक्रियासाधनयत्नं तच्चेष्टया ज्ञात्वातःपरं किं कर्तव्यमिति विचिन्त्येदमग्रे वक्ष्यमाणमन्वपद्यतेतिसम्बन्धः । विरोधस्त्वनेनाशक्यो दृष्टप्रकारेणालौकिकप्रकारेण च । अन्ये उपाया निर्वर्तिताः अतःपरं द्वयमवशिष्यते । इयं वा देया । अस्याः पुत्रा वा । एतस्या दान एतां मारयिष्यत्येव । मत्सम्बन्धिपुत्राणामाकाशवाण्यामश्रुतत्वाद् देवद्वारापि तथात्वशङ्कया मारणमावश्यकम् । इदानीं स्वतो मारयति पश्चान्मारणे तु ममापि दोषः स्यादिति । पुत्रदानं चायुक्तं यतः स पुत्रो भगवद्रूपो भविष्यतीत्यानकदुन्दुभिपदेन ज्ञापितम् । तस्य जन्मन्यानका दुन्दुभयश्च नेदुरिति तत्र भगवदुत्पत्तिरावश्यकी । सापि न भार्यान्तरे । आकाशवाणीप्रामाण्यात् । एवं सङ्कटे पतित आनकदुन्दुभिः स्वस्मिन् भगवदुत्पत्तिं निश्चित्यास्यामेवेत्यपि पुत्रदानमेव कर्तव्यत्वेन ज्ञातवान् । तदपि न सर्वथा । भगवद्वैमुख्यप्रसङ्गे सति भगवदवतार एव न स्यादिति । तदाह प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिति । इदानीं मृत्युः प्राप्तस्तस्याः स दूरीकर्तव्योयुक्तमप्युक्त्वेतीदं पुत्रदानलक्षणं तत्र तस्मिन् समयेन्वपद्यत । अकस्माद्धृदये समागतमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

अनुवाद—वसुदेवजी ने, कंस की आवश्यक क्रिया, साधन और प्रयत्न रूप चेष्टा से जान लिया कि यह देवकी का वध अवश्य करेगा ऐसा इसका आग्रह[2] है, अब मुझे इसको बचाने के लिये क्या उपाय करना चाहिये । यह जो आगे कहा जायगा उसकी मन में स्फूर्ति हुई । इस कंस के साथ लौकिक व अलौकिक प्रकार से विरोध करना मेरी शक्ति से बाहर है । दूसरे उपाय कर चुका हूँ जो विफल हुए हैं । अब शेष[3] दो उपाय हैं– (१) एक तो देवकी इसे देदूं अथवा (२) इसके जो पुत्र होंगे वे इसे देदूंगा । इस देवकी को देदूंगा तो कंस अवश्य इसका वध करेगा । क्योंकि आकाशवाणी के जो शब्द सुने गये हैं उनमें यों तो नहीं कहा गया है कि वसुदेव से उत्पन्न हुआ, आठवां गर्भ तुझे मारेगा । किन्तु देककी का वह गर्भ, देव द्वारा होने वाला समझकर, कंस इसको अवश्य मारेगा । अब तो वह स्वतः मारता है पीछे मारने में मैं भी दोषी ठहरूंगा । पुत्र देना भी योग्य नहीं, कारण कि वह आठवां पुत्र तो भगवद्रूप होगा । यह ज्ञान इन वसुदेवजी को इसलिये हुआ कि इनके जन्म के समय इसीलिये आनक और दुन्दभि बजने लगे थे कि इनके यहां भगवान् का प्राकट्य अवश्य होगा और वह भी देवकीजी से, न कि दूसरी स्त्री से, देवकीजी से

१ कंस २. हठ ३. बाकी

ही होगा उसमें आकाशवाणी प्रमाण है। इस प्रकार विचार करते हुए वसुदेवजी संकट में थे कि क्या करना चाहिये ? वसुदेवजी को यह निश्चय हो गया कि, मेरे द्वारा इस देवकी से ही आठवां गर्भ भगवान् होगा। वह दूंगा ऐसा कहने से मैं भगवद्विमुख होता हूँ जिससे भगवान् अवतार ही न लेवें तो विशेष आपदा होंगी, यों विचार करते हुए अचानक मन में यह युक्ति, जो पीछे कही जायगी स्फुरित हुई कि अभी तो इस अवसर को टालने के लिये कह दूं कि पुत्र होंगे वे आपको दे दूंगा। जब उनसे ही आपको भय है तो देवकी का वध क्यों करते हो। यद्यपि पुत्र देदूंगा यह कहना भी योग्य नहीं है तो भी इस समय अयोग्य भी बोलकर मृत्यु को तो टाल ही देना चाहिये ।।४७।।

ननु 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्ये' त्यादिन्यायेनेदानीमेव कथं न तूष्णीम्भावस्तत्राह मृत्युर्बुद्धिमतापोह्य इति ।

'कीचड़ में पैर डालकर पीछे उसको धोना' यो करने से पहले ही शान्ति क्यों नहीं की, इस पर कहते हैं कि बुद्धिमान को मृत्यु किसी भी प्रकार टालनी चाहिये, यह वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम् ।
यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोस्ति देहिनः ।। ४८ ।।

श्लोकार्थ—बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि जहां तक अपनी बुद्धि पहुँचे वहां तक तो मृत्यु को टाल ही देने का का प्रयत्न करें। इस प्रकार यत्न करते हुए भी मृत्यु नहीं टली तो यत्न करने वाले को कोई भी अपराधी नहीं कहेगा ।। ४८ ।।

सुबोधिनी—अन्यथा भगवान् पश्वादिभ्यो विशिष्टानस्मान् किमित्युत्पादितवान् ? अतो बुद्धिमता मृत्युरपोह्यः स्वस्य परस्य वा। ननु कृत एवैकवारमुद्यम इति चेत्तत्राह यावद्बुद्धिबलोदयमिति । बुद्धेर्बलस्य च यावदभ्युदय उत्तरोत्तरोद्गतिः । न तु समता ह्रासो वा। तावद्विवेकवता यत्नः कर्तव्यो बुद्धया क्रियया वा। ननु यथा पूर्वमुद्यमो त्रिफलो जात एवमग्रेपि चेद्भविष्यति तदा किमुद्यमेनेतिचेत्तत्राह यद्यसौ मृत्युर्न निवर्तेत तदोपेक्षालक्षणोपराधो देहाभिमानिनो नास्ति । देहाभिमानी कालादिदण्डमर्हति । अतो नापराधः कर्तव्यः । शास्त्रञ्च यच्छक्नुयात् तत् कुर्यादिति । फलं तु दैवाधीनमतोयमुपायः कर्तव्य इति निर्धारः ।। ४८ ।।

अनुवाद—यदि मनुष्य होकर भी मृत्यु को टालने का प्रयत्न हम नहीं करते हैं तो भगवान् ने हम मनुष्यों को पशु आदिकों से जो विशेष बुद्धिमान् बनाया है वह किस लिये बनाया है। अतः बुद्धिमान् को अर्थात्, मनुष्य[1], को चाहिये कि अपनी अथवा दूसरे की मृत्यु को टाल दे। एक बार यत्न करने पर मृत्यु

१. बुद्धिहीन मनुष्य पशु के समान है।

नहीं टली, तो फिर हम क्या करें ? इस पर कहते हैं कि नहीं, एक बार प्रयत्न कर रुक न जाओ, किन्तु जहाँ तक बुद्धि का बल चले वहाँ तक प्रयत्न करते रहो। बुद्धिमान् को क्रिया से तथा बुद्धि से प्रयत्न करते रहना ही योग्य है। जैसे पहला प्रयत्न विफल हुआ वैसे आगे के प्रयत्न भी विफल होंगे तो बार बार उद्यम करने से क्या लाभ ? इस पर कहते हैं कि यदि बार बार उद्यम करने पर भी मृत्यु नहीं टली तो लोग इस मनुष्य के लिये यों नहीं कहेंगे कि उसने उपेक्षा[1] कर इसको मृत्यु से नहीं बचाया, परन्तु यही कहेंगे कि इसने तो भरसक प्रयत्न किया इसका कोई दोष नहीं है। शास्त्र तो कहते हैं कि जितना बन सके उतना प्रयत्न करो। फल तो दैव के आधीन है। देहाभिमानी तो काल के दण्ड के योग्य होता ही है। वसुदेवजी ने इस प्रकार विचार कर, यह उपाय करना चाहिये ऐसा निर्णय किया ॥ ४८ ॥

तमुपायमाह प्रत्यर्प्येति ।

इस श्लोक में यह उपाय बताते हैं—

श्लोक—प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्रान् मोचये कृपणामिमाम् ।
सुता मे यदि जायेरन् मृत्युर्वा न म्रियेत चेत् ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ—अभी तो पुत्रों को कंस के अर्पण का कहकर इस दीन देवकी को छुड़ादूं यदि मुझे बालक हो तो वे जीवित रहेंगे या मर जायंगे अथवा देवकी की मृत्यु मरजाय अर्थात् मृत्यु टल जाय, क्या होगा ? उसका पता नहीं, इसको तो अब छुड़ालूं ॥ ४९ ॥

सुबोधिनी—मृत्युरयं कंसे निविष्टः प्रतीयते । तस्य हि सर्वे भक्ष्याः । अप्रतीकार्यश्च । स तु पुत्रान् कदाचिद्भक्षयिष्यत्येव । स चेदिदानीं मह्यं दास्यत्येतां तदा पुत्रानपि स एव दत्तवानतो दत्तस्य प्रतिदाने न कोपि दोषः । तथाकरणे विशेषमाह मोचये कृपणामिमामिति । इयमिदानीं मोचिता स्यात् । अधिकोस्मिन् पक्षे लाभः । अरक्षायां तु नापि पुत्रा नापीयम् । नन्वेतदप्यनुचितम् । इयमेका पुत्राश्च बहवस्ते च बालका स्वस्यान्तरङ्गा दोषाधिक्यञ्च । अर्पणञ्च न सम्भवति । इदानीं पुत्राणामभावात् । विद्यमानाविद्यमानयोः सिद्धवत्कारेण विषयविभागोप्यसङ्गतः । अतो धर्महानिप्रसङ्गाल्लोकापकीर्तेश्च नायमुपाय इति चेत्तत्राह सुता मे यदि जायेरन्निति । तेषां नरकत्राणाभावान्न पुत्रत्वम् । प्रसवाज्जायन्त इति सुतत्वमस्त्येव । पुत्रोत्पादनं स्वाधीनम् । तस्मादियं भिन्नतयैव स्थापनीया । तथा सति न कोपि दोषो भवेत् । प्राणरक्षाया ऋतुकालगमनापेक्षयाधिकफलत्वात् । नन्वेतदप्यशक्यं 'कामाच्चोदनयापि वे' ति चेत्तर्ह्येकः पुत्रो भवतु । नैकः पुत्र पुत्र इतिचेत्तर्हि द्वौ भविष्यतः । पुत्रयोर्जातयोर्नगमनेपि न दोषः । एतावती लौकिक्युपपत्तिः । अथालौकिकी । भगवदिच्छयाकाशवाणीप्रामाण्याच्च यदि मे बहव एव सुता जायेरंस्तेपि बहुकालेनोत्पादनीयाः । कालेपि भगवदिच्छा चेत्तदा पुत्ररक्षार्थं मृत्युरेव म्रियेत । प्राणिमात्रे शतं मृत्यवस्तत्रतत्रस्थाने निरन्तरमुत्पद्यन्ते 'अत्रात्र वै मृत्युर्जायत' इतिश्रुतेः।

---

१. लापरवाही

तत्रतत्रैव प्रतीकारः कर्तव्यः । 'यत्रयत्रैव मृत्युर्जायते तत एवैनमवयजत' इतिश्रुतेः । तस्माद्य उत्पद्यते स म्रियत एव । अत इदानीमुत्पन्नो मृत्युः प्रतीकारे कृते म्रियेत । अन्यस्यान्य उपायः कर्तव्यः एको मृत्युरित्यपि पक्षः । तस्मिन्नपि पक्षे स नियतकालः । स चेदिदानीं निवृत्तः पुनस्तस्य कालाभावात् तं प्रति म्रियेतैव । अतःशब्दनित्यत्ववदस्या मृत्युरेव गच्छेत् । नन्वेकमृत्युमरणपक्षे मृत्योर्मरणं न श्रूयते'लोकाल्लोकादेव मृत्युमवयजते नैनं लोके लोके मृत्युर्विन्दती'तिश्रुतेः । तत्राह मृत्युर्वा न म्रियेत चेदिति । तदा नियतत्वात् पुत्रान् समर्पयिष्ये । कंसो मृत्युरित्यपव्याख्यानम् । 'अत्रात्र वै मृत्युर्जायत' इतिश्रुतिविरोधात् । मृत्योरधिकरणमेव सः । लक्षणया तत्परः शब्द इतिचेन्मृत्युत्वादेवामरणे सिद्धे व्यर्थोनुवादः प्रसज्ज्येत । अस्तु वा तथा । सोप्याकाशवाणीप्रामाण्यान्न मरिष्यत्येव तथापि दास्यामीतिसम्बन्धः ।। ४६ ।।

अनुवाद—विश्वास किया जाता है कि मृत्यु कंस में प्रवेश हो गयी है, मृत्यु तो सबको खाजायगी, और वह मृत्यु टाली नहीं जा सकती है वह तो कभी न कभी पुत्रों को खायगी ही । इसने मुझे अब देवकी दी, तो मैं समझूंगा कि पुत्र भी दे दिये । अतः जो देता है उसको फिर लौटा देने में कोई दोष नहीं हैं । यों करने से पुत्र दूंगा ऐसा कहने मात्र से इस दीन देवकी को अब छुडालूं । इस तरह का कार्य करने में ही विशेष लाभ है । यदि इसको नहीं छुड़ाता हूँ तो, न यह रहेगी और न पुत्र होंगे । इस प्रकार करना भी अनुचित है, क्योंकि यदि इसको छुडाऊंगा तो यह एक बचेगी और पुत्र बहुत देने पड़ेंगे तथा वे मेरे अपने अन्तरङ्ग अंग है, उनको देना (मरवाना) विशेष दोष है । और पुत्रों का अर्पण करना भी कठिन है तथा अब तो पुत्र नहीं है । विद्यमान[1] और अविद्यमान[2] दोनों को समान समझ कर विषय का निर्णय कर लेना भी असङ्गत है अर्थात् जो पदार्थ मौजूद नहीं है उसका अस्तित्व मानकर वह दूंगा यह कहना भी योग्य नहीं है । ऐसा करने से धर्म की हानि का प्रसङ्ग उपस्थित होगा तथा लोक में अपकीर्ति भी होगी । कारण की यदि पुत्र हुए उस समय मोह के कारण न दे सका तो प्रतिज्ञा लोप होने से अधर्म लगेगा अथवा पुत्र नहीं हुए तो देने की प्रतिज्ञा की पूर्ति न होने से भी अधर्म होगा जिससे लोक में अपकीर्ति[3] होगी । अतः यह भी उपाय ठीक नहीं है । इसके उत्तर में दो प्रकार की युक्ति '१–लौकिकी, २–अलौकिकी' देकर कहते हैं कि १–लौकिकी–जो मुझे बहुत 'सुत' पैदा होवें तो अर्पण करदूं कारण कि वे सुत तो केवल पैदा होते हैं और पिता के जीवित होते ही मर जाते हैं अतः वे पिंडादिदान न देने से नरक से नहीं बचाते हैं जिससे वे पुत्र नहीं कहे जाते हैं केवल उत्पन्न होने से 'सुत' कहे जाते हैं उनको देने में मन भी निषेध नहीं करेगा । अथवा पुत्र पैदा करना तो अपने आधीन है कैसे कि इस देवकी को अपने से अलग रखलूंगा । यों करने से कोई दोष नहीं लगेगा । दोष तो लगेगा क्योंकि शास्त्र कहता है कि ऋतु के समय पति को स्त्री के पास जाना चाहिये यह शास्त्राज्ञा का न मानना भी दोष है इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ऋतु काल में जाने से प्राण रक्षा करना विशेष धर्म है । कह तो देते हो किन्तु यह भी करना कठिन है कारण कि एक तो शास्त्र की आज्ञा न मानना और दूसरा काम को रोकना दोनों को मनुष्य कर नहीं सकता है । एक पुत्र हो तो वह पिता पुत्रवान् नहीं अतः जब दो पुत्र हो जावें तब

---

१. जो मौजूद है । २. जो मौजूद नहीं ३. अपजस, निन्दा

पिता पुत्रवान् माना जाता है उसके पश्चात् यदि स्त्री के पास न जावे तो दोष नहीं है। इस प्रकार लौकिक युक्ति कही, अब अलौकिक युक्ति देते हैं—

भगवान् की इच्छा से और आकाशवाणी की प्रमाणिकता से, जो मेरे यहां बहुत सुत होंगे तो भी उसमें विशेष समय लगेगा। इतने समय में यदि भगवान् की इच्छा होगी तो मृत्युरूप कंस ही मर जावे। श्रुति[1] में कहा है कि प्राणिमात्र को नित्य मृत्यु लेने आती है उसको टालना प्राणी मात्र का कर्त्तव्य है। जहां १ से भी मृत्यु आवे वहाँ २ से उसको रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रकृति का नियम है कि जो उत्पन्न होता है वह नाश भी होता है। प्रकृति के इस नियमानुसार उत्पन्न होने वाली मृत्यु भी उपाय करने से नाश होती है। अब आई हुई मृत्यु का प्रतीकार[2] से नाश किया जाय। फिर दूसरी बार आयगी तो दूसरा उपाय किया जायगा। एक पक्ष है कि मृत्यु एक है वह मृत्यु एक बार आती है और नियत समय पर आती है कारण कि वह अपने आने के काल के सिवाय दूसरे काल में नहीं आती है, अतः फिर काल के अभाव में नहीं आवेगी। तात्पर्य यह है कि जिस काल में मृत्यु होने वाली हो उस समय में वह न मरे, मृत्यु से छूट जाय तो समझना चाहिये कि उसके लिये मृत्यु की मृत्यु हो गई अर्थात् मृत्यु टल गई। इस कारण से जैसे शब्द नित्य है तो भी वह अभिव्यक्ति[3] करने वाले वायु के समय निकल जाने से सुनाई नहीं देता है वैसे ही देवकी की मृत्यु भी समय निकल जाने पर अपना कार्य नहीं कर सकेगी अर्थात् देवकी को नहीं मार सकेगी।

(मृत्यु एक है) उसकी मृत्यु होती है ऐसा कहीं भी सुनने में नहीं आया है। श्रुति कहती है कि, मनुष्य जहां से भी मृत्यु[4] आती है वहां से वह उसको हटा देता है, अतः मृत्यु मनुष्य के पास सब स्थानों में पहुँच नहीं सकती है। इस श्लोक में कहा है कि (मृत्युर्वान म्रियेत चेत्) जो मृत्यु न मरे तो, अर्थात् देवकी की मृत्यु न टल सके तो पुत्र देने ही योग्य है क्योंकि मृत्यु तो निश्चित ही है। (कंस) मृत्यु है वह मर जाय, ऐसा अर्थ करना (अत्रात्र वै मृत्युर्जायत[5]) इस श्रुति के विरुद्ध है। आचार्य श्री कहते हैं कि कंस तो मृत्यु का अधिकरण[6] यदि लक्षणा से कंस की मृत्यु माना जाय तो भी मृत्यु मरती नहीं है इसलिये वैसा अनुवाद करना व्यर्थ है। वैसा अनुवाद कंस मृत्यु है वह मरजाय मान भी लिया जाय तो भी आकाशवाणी के वचन प्रमाण होने से कंस मरेगा नहीं क्योंकि उसको देवकी का आठवां गर्भ मारेगा। अतः मृत्यु का अर्थ (कंस) करना सर्व प्रकार विरुद्ध है। जब यो है तो मैं (पुत्र) दूंगा ॥ ४९ ॥

ननु कथमेवमयुक्तं कर्तुं शक्यते तत्राह विपर्ययो वा किं न स्यादिति।

पुत्रदान, पुत्र को मारने के लिये कंस को देने जैसा अयोग्य कार्य वसुदेवजी कैसे करते हैं ? इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं–कि

१. अत्रात्र वै मृत्यु जायत इति श्रुतेः। २. उपाय ३. प्रकट

४. लोकाल्लोका देव मृत्यु भव यजते नैनं लोके लोके मृत्युर्विन्दतीति श्रुतिः

५ देवकी के वध से विपरीत कंस की मृत्यु क्यों न हो। ६. रहने का स्थान।

श्लोक—विपर्ययो वा किं न स्याद्गतिर्धातुर्दुरत्यया ।
उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत् ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ—अथवा जिस प्रकार हम सोच रहे हैं उससे विपरीत[1] क्यों न हो जावे ? कारण कि भगवान् की गति को कोई नहीं जान सकता है । उपस्थित[2] मोत टल जाती है । टली हुई फिर आजाती है ॥ ५० ॥

सुबोधिनी—वाणीप्रामाण्याच्चेत्तस्यामरणं तदा तत एव विपर्यय एव किं न भवेत् मत्पुत्रादेवास्य मरणमिति ? नन्वेतद्युक्तिबाधितं बालस्तव पुत्र इति चेत्तत्राह गतिर्धातुर्दुरत्यया । धातुर्भगवतो गतिरुत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपा दुरत्यया दुःखेनाप्यतिक्रमितुं ज्ञातुमशक्यत्वात् । न हि लौकिकयुक्त्या भगवतो वध्यघातकभावो निर्णेतुं शक्यः । "अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजये" दितिवाक्यात् । तस्मात् पुत्रदानकथनेन साम्प्रतमियं रक्ष्या पश्चादेतत्पुत्रैरयञ्च वध्यस्तस्मादेतत्कर्तुमुचितम् । तदाहोपस्थितोस्या मृत्युरेवं कृते निवर्ततेति । एतन्मारणेन निवृत्तोप्याकाशवाण्योक्तो मृत्युरेतत्संरक्षायां पुनरापतेत् । तस्मात् कंस वधार्थमेवैवम्मन्त्रणेन संरक्ष्येत्यर्थः । धातुर्गतिरेव विवृतेति केचित् । एतस्याप्यनङ्गीकारे क्षणविलम्बेनेदानीं निवृत्तः पश्चादापतेच्चेत् तदा 'नापराधोस्ति देहिन' इतिपूर्वेणैव सम्बध्यत इति वा ॥ ५० ॥

अनुवाद—आकाशवाणी के कहने के अनुसार कंस का तो जब तक इसका मारने वाला आठवां गर्भ उत्पन्न न हो तब तक मरण होगा नहीं अतः इससे विपरोत कार्य ही क्यों न हो जाय ? अर्थात् मेरे पुत्र से कंस का वध क्यों न हो जाय । यह वसुदेवजी का कहना युक्ति विरुद्ध है कारण कि कंस जैसे शूर को उनका पुत्र बालक होने से कैसे मार सकेगा ? इस पर कहते हैं भगवान् की गति को कोई नहीं जान सकता है । किस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय करता है उसका ज्ञान किसी को नहीं है, कितने भी प्रयत्न करने पर उसका पता लगाना कठिन है । किसी भी लौकिक युक्ति से यह नहीं जाना जा सकता है कि भगवान् किसको मरवाना चाहता है और किसको उसका मारने वाला बनाना चाहता है । अतः शास्त्रों में कहा है कि (अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्) अलौकिक भावों को तर्कों की सहायता से समझने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये । क्योंकि वे तर्क से नहीं समझे जा सकते हैं । इस कारण से (पुत्र) दूंगा यों कह कर अब इस देवकी की रक्षा की जाय । पीछे इसके पुत्रों द्वारा यह मारा जायगा । इसलिये यों करना योग्य है । इससे आई हुई इसको मृत्यु टल जायगी । इसके मारने से छूटी हुई मृत्यु फिर इसकी रक्षा करने वाली हो जाय और कंस की घातक बन जाय । इस विचार से भी यह देवकी रक्षा के योग्य है ।

श्रीधर स्वामी का कहना है कि श्लोक के पूर्वार्द्ध में (गतिर्धातुर्दुरत्यया) जो कहा है उस वाक्य का विवरण उत्तरार्ध में किया गया है । आचार्य श्री इस विचार से सम्मत नहीं है ।

---

१. उल्टा, विरुद्ध । २. आयी हुई ।

आचार्य श्री इस उत्तरार्द्ध का सम्बन्ध (नापराधोऽस्ति देहिनः) इस ४८ वें श्लोक से बताते हुए कहते हैं कि—जो पुत्र देने का विचार छोड़ा जाय तो जो देवकी की मृत्यु थोड़े समय के लिये भी टाली जाती है वह नहीं टलेगी अतः पुत्र देने का कहकर इसकी मृत्यु अब टालो जाय यदि पुनः आजायगी तो—४८ वें श्लोक में कहे हुए के अनुसार देही का कोई अपराध नहीं है अर्थात् फिर मैं अपराधी नहीं बनूंगा ॥ ५० ॥

ननु यद्यपि परमार्थोयं तथापि लोकविरुद्धं न कर्तव्यं पुत्रदानमनुचितमिति चेत्तत्राहाग्नेरिति ।

जोकि यह विचार (पुत्र देने का कह कर देवकी को बचा लेना) उत्तम है, तो भी लोक के विरुद्ध है और पुत्र देना भो उचित नहीं हैं अतः यह नहीं करना चाहिये। इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं कि—

श्लोक—अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरदृष्टतोन्यन्न निमित्तमस्ति ।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥ ५१ ॥

श्लोकार्थ—वन के अग्नि दावाग्नि से जैसे समीप वाले वृक्ष नहीं जलते हैं दूरवाले जल जाते हैं इसमें अदृष्ट[1] के सिवाय कोई अन्य कारण नहीं है, वैसे ही मनुष्य[2] के शरीर का जन्म तथा मरण कब होगा, किससे होगा और कैसे होगा यह भो समझमें नहीं आता है क्योंकि जिसका जैसा भाग्य होगा वैसा ही होगा ॥ ५१ ॥

सुबोधिनी—न हि मया समर्पित इत्येव म्रियते किन्तु यदि तथादृष्टं भविष्यति तदैव मरणम् । तत्रोपपत्तिररण्ये दावानलेन दह्यमाने निकटस्थितः कश्चिन्न दह्यते दूरस्थितश्च दह्यते । तस्मादत्र निमित्तमदृष्टमिति । पुत्रादीनां देहवियोगयोगयोरप्यदृष्टमेव निमित्तम् । हि युक्तश्चायमर्थो भरतादिषु दृष्टः । स हि हरिक्षेत्रे हरिणदर्शने मृतः कालञ्जरे हरिणो जात इति । किमत्र हरिणशरीरग्रहणे तत्रापि कालञ्जरे निमित्तं दृष्टं सम्भवति ? जन्तुश्च जीवः सर्वत्र जायमानस्तत्र दृष्टस्य बाधितत्वाच्छरीरसंयोगवियोगहेतुर्दुविभाव्यः । तस्माददृष्टवशात् पश्चात् किमप्यस्तु । इयं तु साम्प्रतं मोचनीयेति ॥ ५१ ॥

अनुवाद—मैं कंस को पुत्र दूंगा इससे ही वह मरेगा, यों नहीं है क्योंकि यदि पुत्र के भाग्य में कंस के हाथ से मरना लिखा होगा तो मरेगा नहीं लिखा होगा तो वह इसको मार नहीं सकेगा। इस कथन का दृष्टान्त देकर समर्थन करते हैं कि, जैसे दावाग्नि (जंगल में स्वतः लगी हुई अग्नि) पास के पेड़ों को तो नहीं जलाती है किन्तु दूर खड़े हुए वृक्षों को भस्म कर देती है, कारण कि जिनके भाग्य में जलना

लिखा था वे जल गये जिनके भाग्य में जलना नहीं लिखा था वे बचगये। यह सब अदृष्ट[1] का खेल है जिसका जैसा अदृष्ट हो उसको वैसा ही फल मिलता है। इसी प्रकार पुत्र आदि के जन्म तथा मरण में अदृष्ट[1] ही कारण है। श्लोक में (हि) शब्द से बताया है कि (अदृष्ट ही कारण है) ऐसा कहना योग्य हो है। अदृष्ट[1] ही कारण है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव भरतादिकों के चरित्र से किया हुआ है जैसा कि भरत ने हरिक्षेत्र में मरण समय में पाले हुए हरिण को देख (उसका ही ध्यान रहने से) शरीर त्यागा था जिससे वह कालिञ्जर में हरिण हुआ। कालिञ्जर में जन्म और हरिण देह प्राप्ति ये दोनों क्या दृष्ट कारण से प्राप्त हुए ? नहीं इन दोनों का कारण पूर्व जन्म में किया हुआ कर्म, जिसको भाग्य, अदृष्ट वा प्रारब्ध कहते हैं, वह है। जीवका जन्म सर्वत्र होता है। वहाँ जन्म क्यों हुआ ? इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दिखने में नहीं आता है। अतः उसके जन्म तथा मरण का क्या कारण है उसका पता लगाना कठिन है। इसलिये प्रारब्ध के वश पीछे, जो होने वाला होगा, वह भले हो, अब तो इसको छुड़ाना ही योग्य है ॥ ५१ ॥

निर्धारितमित्याहैवँ विमृश्येति ।

वसुदेवजी ने यह विचार कर जो कुछ करने का निर्णय किया उसको श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक में कहते हैं—कि

श्लोक—एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम् ।
पूजयामास वै शौरिर्बहुमानपुरस्सरम् ॥ ५२ ॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी ने कहा कि वसुदेवजी इस प्रकार विचार कर उस प्रसिद्ध तथा पापी कंस की बहुत आदर से जितनी बुद्धि थी उतनी बुद्धि के अनुसार पूजा करने लगे ॥ ५२ ॥

सुबोधिनी— स्वकर्तव्येयं विमर्शः। कंसश्चेत्तदङ्गीकुर्यात्तदा सिध्येत्। तस्य सिद्धिर्दुर्घटा तस्य दूषणानि वदन् प्रयत्नाधिक्यं कृतवानित्याह। तं प्रसिद्धं दिग्विजयिनं पापमेतादृशकर्मकर्तारं पूजयामास। पूजायां हि स्वस्मिन् स्थितो भावादिः पूज्ये समारोप्यते। ततः कार्यं सेत्स्यतीति। अयमलौकिक उपायः। ननु किमर्थमेतावत् कृतवानित्याह यावदात्मनिदर्शनमिति। आत्मनो निदर्शनं ज्ञानं यावद्भवति दृष्टादृष्टभेदेन तावदुपायकरणं युक्तमिति। प्रथममदृष्टोपायं कृतवानित्याह पूजयामासेति। वै निश्चयेनेति। पूजने कार्यसिद्धिं निश्चितां मत्वा। तत्र स्वदेवता समारोपितेति बहुमानपुरस्सरं पूजा। इयं पूजा स्तोत्रनमस्कारप्रह्वीभावात्मिका। एवङ्करणे ज्ञानप्राप्तिहेतुमाह शौरिरिति। शूरो वसुदेवस्य पिता ॥ ५२ ॥

अनुवाद—वसुदेवजी ने यही विचार स्थिर किया कि इसको (देवकी को) बचाना मेरा कर्त्तव्य है। किन्तु यह तब सफल होगा जब कंस मेरी प्रार्थना स्वीकार करे। इसकी सफलता होनी तो कठिन दिखने

१. प्रारब्ध, भाग्य।

में आती है। क्योंकि एक तो यह प्रसिद्ध दिग्विजयी है जिससे इसमें अहङ्कार भी है और दूसरा पापी भी है जो बहिन को मारने से नहीं डरता है। अतः इसको शान्त कर अपनी प्रार्थना स्वीकार कराने के लिये वसुदेवजी विशेष प्रयत्न करने लगे। वह प्रयत्न कहते हैं कि,–उसकी पूजा करने लगे। पूजा करना यह अलौकिक उपाय है कारण कि पूजा में अपने हृदय में स्थित भावको जिसका पूजन किया जाता है उसमें स्थापित करना पड़ता है तब उस पूजा से कार्य सफल होता है। इतना बड़ा प्रयत्न क्यों किया ? इस पर कहते हैं कि कार्य की सिद्धि कराने के लिये, मनुष्य को चाहिये कि जहाँ तक अपनी बुद्धि से उपाय हो सके वहाँ तक उपाय करते रहना चाहिये। वह उपाय दृष्ट तथा अदृष्ट कारण को जानने में समर्थ हो तब तक करना ही चाहिये। प्रथम अदृष्ट का अलौकिक उपाय पूजन किया। पूजन से कार्य सिद्धि अवश्य होगी ऐसा समझ कर पूजन किया इसलिये श्लोक में "वै" शब्द दिया है जिसका अर्थ है 'निश्चय से'। वह पूजा भी साधारण रीति से नहीं की थी किन्तु अत्यन्त मान के साथ पूजन किया जैसे कि अपने देवता को कंस में स्थापित करने के पश्चात् देववत् उसका पूजन किया। यह पूजा स्तोत्र तथा नमस्कार एवं नम्रता[1] से भाव[2] पूर्वक की गई थी। इसी प्रकार की पूजा का ज्ञान वसुदेवजी ने कहाँ से प्राप्त किया था ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'शौरि' वसुदेवजो शूरसेन के पुत्र हैं अतः यह ज्ञान उनको पिता से प्राप्त हुआ था ॥५२॥

पूजयित्वा विज्ञापनां कृतवानित्याह प्रसार्येति ।

पूजा करने के अनन्तर प्रार्थना करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—प्रसार्य वदनाम्भोजं नृशंसं निरपत्रपम् ।
मनसा दूयमानेन प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥५३॥

श्लोकार्थ— वसुदेवजी अपने मुख रूप कमल को विकसित कर, मन में अप्रसन्न थे तो भी हँसते हँसते, निर्लज्ज तथा निर्दयी कंस को यों कहने लगे ॥५३॥

सुबोधिनी— स्वस्य वदनाम्भोजं प्रसार्य विकसितं कृत्वात्मानमप्रतारकं हितं च ज्ञापयित्वाधिष्ठानस्य दुष्टत्वादारोपिता देवता तत्र स्थास्यति न वेतिसन्देहाद् दूयमानेन मनसा दुःखाविष्टेनान्तःकरणेनोपलक्षितोपि तदाकारमङ्गोपनार्थं प्रहसन्नेतावत्यर्थे किमेतावत् क्रियत इति वदन्नेवेदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्। अधिष्ठाने दूषणद्वयं येन देवता न सन्निहिता भवति। क्रौर्यंलज्जाभावौ क्रोधकामनिदानभूतौ। तावाह नृशंसं निरपत्रपमिति। कामसेवका एव निरपत्रपा भवन्ति। 'पृष्ठस्वीकृतह्रीभया' इतिवाक्यात्। नृशंसः क्रूरात्मा तामसक्रोधयुक्तः ॥ ५३ ॥

अनुवाद— वसुदेवजी ने अपने मुख कमल को इसलिये प्रफुल्लित किया कि जिससे कंस समझजावे कि वसुदेवजी मुझे धोखा नहीं देते हैं और मेरा हित ही करते हैं। वसुदेवजी ने अपने इष्ट देवता को कंस में स्थापित तो कर दिया परन्तु मन में सन्देह रह गया था कि इस दुष्ट में मेरे देवता विराजेंगे वा निकल

1. दीनता 2. स्नेह

आवेंगे। इस कारण से वे वसुदेवजी दुःखित मन वाले थे, तो भी उस दुःख को छिपाने के लिये अच्छे प्रकार से हँसते हुवे यह वक्ष्यमाण[1] वचन कहने लगे। वसुदेवजी ने अपने देवता को जिस अधिष्ठान (कंस) में स्थापित किया था। उसमें मुख्य दो दोष थे जिससे उसमें देवता का विराजना जचता नहीं। वे दो दोष क्रोध तथा काम के कारण रूप 'निर्दयता' और 'निर्लज्जता' हैं। जो काम के सेवक अर्थात् कामी होते हैं वे निर्लज्ज होते हैं और निर्भय भी होते हैं। तथा जो निर्दयी होते हैं वे क्रूर एवं तामस (क्रोध वाले) भी होते हैं॥ ५३॥

आत्मीयतया तं गृहीत्वा हितमिवाह न चास्यास्त इति।

कंस को अपना पन दिखाते हुए मानो उसका हित की बात कह रहे हों, इस प्रकार वसुदेवजी निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—न चास्यास्ते भयं सौम्य यद्वि त्वाहाशरीरवाक्।
पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम्॥ ५४॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी कहने लगे कि है सौम्य ? जो कुछ आकाशवाणी ने कहा है तदनुसार देवकी से तो आपको भय है ही नहीं।

तो इसको क्यों मारते हो ? यदि कहो कि इसके पुत्र होंगे वे मुझे मारेंगे इसलिये इसको मारता हूँ तो जिनसे आपको भय है वे पुत्र आपको ला दूंगा। अतः इसको छोड़ दो।

सुबोधिनी—अस्याः सकाशात् ते भयं न चास्ति चकारान्मत्तो भविष्यति वा। वाणीप्रामाण्यादेव। अतो निरपराधवधो न कर्तव्यः। सौम्येतिसम्बोधनं सौम्यो भव विज्ञापितं कुर्वितिबोधनार्थम्। अत्रार्थे प्रमाणमाह यद्वि त्वाहेति। एतदुभयत्रापि प्रमाणम्। अतोऽस्याः पुत्रान् तुभ्यं समर्पयिष्ये। यतः पुत्राद्वाक्यतस्ते भयं सम्यगुत्थितम्। निवेदिते त्वदीयस्त्वां न मारयिष्यति। कापट्यशङ्काभावाय बहुवचनम्॥ ५४॥

अनुवाद—इससे अथवा मुझसे भी आपको भय नहीं है। क्योंकि आकाशवाणी ने स्पष्ट कहा है कि इसका आठवां गर्भ तुझे मारेगा। जब वाणी ने यों कहा है तब इस बिना अपराध वाली का वध क्यों करते हो, ऐसा नहीं करना चाहिये। आप सौम्य बनो और मेरी प्रार्थना स्वीकार करो। जिनसे आप को भय है, मैं वे पुत्र आपको समर्पण करूंगा। वे आपके पुत्र हो जायेंगे आपके होने पर आपको नहीं मारेंगे। मैं कपट से नहीं कहता हूँ किन्तु आपके हित के लिये कह रहा हूँ और वाणी ने तो आपकी मृत्यु केवल आठवें गर्भ से कही है मैं तो इतना निष्कपट होकर आपका भला चाहता हूँ जो भी पुत्र होंगे वे आपको दूंगा। क्योंकि आप मेरे सम्बन्धी हो, सम्बधी का हित करना सम्बन्धी का कर्त्तव्य है॥ ५४॥

---

१. जो पीछे कहते हैं

एवं दृष्टादृष्टोपायस्य कृतत्वादङ्गीकृतवानित्याह सुहृद्वधादिति ।

इस प्रकार दृष्ट एवं अदृष्ट उपाय करने से कंस ने वसुदेवजी का कहना स्वीकार किया, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं—

श्लोक—सुहृद्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित् ।
वसुदेवोपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद्गृहम् ।। ५५ ।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि;—वसुदेवजी के वचनों के सार को समझ कंस बहन के वध से निवृत्त हुआ । वसुदेवजी भी प्रसन्न हुए, कंस की प्रशंसा कर घर को गये ।। ५५ ।।

सुबोधिनी— विवेक उत्पन्ने विचारप्रवणं चित्तं जातमतः सुहृदियं भगिनी किमिति हन्तव्येति सुहृद्वधान्निववृते । वसुदेवः प्रतारयतीति तु शङ्का नास्ति यतस्तद्वाक्यस्य सारं सत्यमयं जानाति वसुदेवो न कदाचिदप्यनृतवादीति । अत एव भगवदवतारः ।निवृत्तः । रथं प्रेरयित्वा गृहे नीतावित्यध्यवसीयते । अत एव वसुदेवोपि तन्मनोगतकालुष्यस्य गतत्वात् प्रीतः सन् प्रशस्य पुनः स्तुत्वा मार्गस्यातीतत्वाद् गृहं प्राविशत् । एवमनर्थसमाधानं कथञ्चित् कृतम् ।। ५५ ।।

अनुवाद—वसुदेवजी के उपदेशों को सुनकर कंस के मन में विवेक (विचार शक्ति जिससे क्या करना और क्या नहीं करना इसके तत्त्व को जान लेना) उत्पन्न हुआ जिससे उस कंस को यह ज्ञान हुआ कि यह बहिन है इसका वध कैसे किया जाय । यों समझकर बहिन के वध से हटगया ।

कंस के मन में इस प्रकार की शङ्का ही उत्पन्न न हुई कि वसुदेवजी मुझे धोखा देते हैं, क्योंकि उसने वसुदेवजी के वचनों का सार समझलिया जिससे उसने जाना कि यह जो कहते हैं वह सत्य है और उसको यह भी पता था कि वसुदेवजी सत्यवक्ता है । सत्यवक्ता होने के कारण ही वसुदेवजी के यहां भगवान् प्रकट हुए । तदनन्तर कंस ने दोनों बहिन तथा बहिनोई को घर पहुँचाने के लिये रथ को चलाया । रथ को चलाते देखकर वसुदेवजी ने भी समझलिया कि कंस के मन से अब वह कालास[1] निकल गया है जिससे प्रसन्न होकर मार्ग में तब तक कंस की प्रशंसा करने लगे जब तक घर में प्रवेश किया । इस प्रकार वसुदेवजी ने अनर्थ को कैसे भी शान्त करा दिया ।। ५५ ।।

एतद्भगवतैव कृतमिति वक्तुमग्रिमं कार्यं समीचीनमेव जातमित्याह षड्भिरथेति ।

यह कार्य वसुदेवजी के कहने से कंस का देवकी के वध से हट जाना भगवान् ने ही किया । यों कहने के लिये कहते हैं कि आगे का कार्य बिना विघ्न के श्रेष्ठ प्रकार से होगा । इसका वर्णन छः श्लोको से करते हैं ।

श्लोक—अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता।
पुत्रान् प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम् ॥ ५६ ॥

श्लोकार्थ—अनन्तर गर्भधारण के योग्य काल के आने पर सर्व देवरूप देवकी ने प्रतिवर्ष में एक एक बालक को निर्विघ्न प्रकट किया इस प्रकार आठ वर्षों में आठ पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई। ॥ ५६ ॥

सुबोधिनी—अथ तदनन्तरमेव शीघ्रमेव। काल ऋतुसमये। उपावृत्ते जातेऽष्टवर्षमध्ये सर्वानेव पुत्रान् सुषुवे। कन्यायामासक्तिर्जातेति कन्याञ्च। अनुवत्सरमिति। प्रतिवत्सरमेकैकः पुत्रो जातः। पूर्णगर्भाश्च ते। एवं निरुपद्रवतया प्रसवे हेतुः सर्वदेवतेति। सर्वा देवता रक्षणार्थं यत्र। कन्या नवमी। चकारस्तज्ज्ञापकः। प्रसवे न कोपि संवत्सरो व्यवहित इत्युपसर्गः ॥ ५६ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर शीघ्र ही ऋतुकाल आया जिससे देवकीजी गर्भ को धारण करने के योग्य हो गई। ऐसे समय होने पर उनने आठ ही वर्षों में आठ पुत्र उत्पन्न किये तथा उनको कन्या होने की आसक्ति (पूर्ण चाह) थी। अतः एक कन्या को भी जन्म दिया। प्रति वर्ष एक-एक पुत्र हुए। वे सब पूर्ण गर्भ थे अर्थात् पूरे दिन होने पर जन्मे थे। किसी बालक के उत्पन्न होने में किसी प्रकार का विघ्न नहीं हुआ। कारण कि देवकीजी में सर्व देवता विराजमान थे। वे जहां रक्षक होवें वहाँ विघ्न कैसे आवेंगे। आठ पुत्र हो गये अनन्तर आसक्ति के कारण नवमी कन्या भी हुई। श्लोक में आये हुए 'च'[1] शब्द का यह आशय है और प्रसव में (बालक के उत्पन्न होने में) कोई वर्ष खाली नहीं रहा। यह 'अनु' उपसर्ग से जाना जाता है।

यथैतया पुत्राः प्रसूतास्तथा वसुदेवोपि स्वोक्तं कृतवानित्याह कीर्तिमन्तमिति।

ज्यों-ज्यों देवकीजी ने पुत्र उत्पन्न किये, त्यों त्यों वसुदेवजी भी अपनी प्रतिज्ञानुसार कंस को पुत्र अर्पण करने का कार्य करने लगे। उसका निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः।
अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः ॥ ५७ ॥

श्लोकार्थ—असत्य के भय से अत्यन्त व्याकुल वसुदेवजी ने, प्रथम ही उत्पन्न हुआ कीर्तिमान पुत्र कष्ट से कंस को समर्पित किया ॥ ५७ ॥

---

१. गो० पु० प्रकाश में कहते हैं कि श्लोक में आये हुए पहले 'च' का आशय है देवकी को कन्या उत्पन्न हो, ऐसी चाह हुई। दूसरे 'च' का आशय है नवमी कन्या हुई और 'तज्ज्ञापकत्व' का आशय है कि वह कन्या सुभद्रा थी।

सुबोधिनी— ज्येष्ठो हि पुत्रः सर्वेषामदेयस्तत्रापि महान् । तादृशमपि दत्तवानिति स्वस्य धर्मनिष्ठतां ज्ञापयितुं कीर्तिमन्तं प्रथमजमित्युक्तम् । कंस इतिनाम्ना क्रौर्यंज्ञापितम् । आनकदुन्दुभिरिति सत्यवाक्यत्वे हेतुः । स्वयं गृहीत्वार्पयामास । कृच्छ्रेण कष्टेन शोकं संस्तभ्य । नन्वनृतकथनमप्यधर्मः पुत्रसमर्पणमपि तत्र प्राणसङ्कटेनृतं न जुगुप्सितमिति पुत्रमेव कथं न स्थापितवानित्याशंक्याह सोनृतादतिविह्वलः । यतोयमानकदुन्दुभिः । अस्य पुत्रापेक्षयापि सत्यमेव संरक्ष्यं भगवत्प्रापकम् । पुत्रास्तु देहसम्बन्धिनः । सत्यं तु भगवत्सम्बन्धि । तथा सत्यनृते कृते न भगवत्सान्निध्यं भविष्यतीत्यतिविह्वलः ॥ ५७ ॥

अनुवाद—वसुदेवजी ने अपने धर्म में श्रद्धा तथा स्थिरता बताते हुए पहला उत्पन्न हुआ कीर्तिमान पुत्र, जो ज्येष्ठ और महान् होने के कारण, कोई भी नहीं दे सकता है उसको भी दे दिया। श्लोक में कंस नाम देने का आशय यह है कि वह क्रूर स्वभाव वाला है और आनक दुन्दुभि नाम देकर यह बताया गया है कि यह नाम प्रतिज्ञापालन रूप सत्यधर्म का कारण है। पुत्र को दूसरे के द्वारा कंस के पास न भेजकर स्वयं वसुदेवजी ने लेजाकर अर्पण किया। उस समय वसुदेवजी के मन में स्वाभाविक कष्ट तो हुआ किन्तु कष्ट से उस शोक को मन में ही दबा दिया। यह श्लोक में आये हुए 'कृच्छ्रेण' पद का भाव है।

जैसे असत्य बोलना अधर्म है। अतः वैसे ही मृत्यु के लिए पुत्र का देना भी अधर्म है। ऐसी अवस्था में प्राणों पर जब सङ्कट आता हो तो झूठ बोल देना निन्दित नहीं है, इस विचार से पुत्र को न देना ही ठीक था। इसके उत्तर में कहा गया है कि 'अनृतात् अतिविह्वलः' मैं असत्यवादी न बन जाऊँ, इस भय से वसुदेवजी बहुत व्याकुल थे। कारण कि उन वसुदेवजी के जन्म के समय देवों ने इसलिए बड़े नगारे और नौबत बजाई थी कि वे सत्यवादी हैं। अतः इनके यहाँ भगवान् प्रकट होंगे। वसुदेवजी को तो पुत्र से भी सत्य की ही रक्षा विशेष अच्छी लगी क्योंकि वह सत्य भगवत् प्राकट्य कराने वाला है। पुत्रों का तो केवल देह से सम्बन्ध[1] है और सत्य का भगवान् से सम्बन्ध है। जब वैसा है तो सत्य की ही रक्षा करनी योग्य है। यदि अनृत[2] करूँगा तो भगवान् का प्राकट्य हमारे यहाँ नहीं होगा। इससे विह्वल[3] थे॥ ५७ ॥

ननु पुत्रसमर्पणं दृष्टं सत्यमदृष्टं कथं दृष्टादृष्टयोर्बाध्यबाधकभाव इति चेत्तत्राह किं दुस्सहमिति ।

पुत्र का समर्पण[4] दृष्ट है अर्थात् इस समर्पण से जो फल (पुत्र की मृत्यु) होने वाला है वह तो प्रत्यक्ष देखने में आता है और सत्य अदृष्ट है अर्थात् सत्य की रक्षा के लिए पुत्र दे देने से जो उस सत्य का फल होगा वह अदृष्ट अर्थात् देखने में नहीं आता है कि क्या होगा? इस शङ्का निवारण के लिए निम्न श्लोक कहते हैं:—

---

१. देह सम्बन्ध अनित्य है और भगवत्संबन्ध नित्य है। अतः वसुदेवजी ने नित्य भगवत्सम्बन्ध को मुख्य मानकर सत्य की ही रक्षा की है। —अनुवादक

२. असत्य, झूठ ३. घबराये हुए ४. देना

श्लोक—किं दुस्सहं तु साधूनां ? विदुषां किमपेक्षितम् ? ।
किमकार्यं कदर्याणां ? दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् ? ॥५८॥

श्लोकार्थ—साधु पुरुष, सबको सहन कर सकते हैं, ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिस को वे सहन न कर सके। जो ज्ञानी है उनको किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती है। जो कदर्य है[1] वह किसी भी कुकृत्य करने से नहीं हिचकता है। जिनने अपने मन को वश कर लिया है और भगवान् को हृदय में धारण कर लिया है, वे सब कुछ त्याग कर सकते हैं ॥ ५८ ॥

सुबोधिनी—पुत्रस्यादाने किं मोहो हेतुर्लौकिकः शास्त्रं वा ? आद्यं दूषयति साधूनां शत्रुमित्रोदासीनेषु तुल्यस्वभावानां किं दुस्सहम् ? मोहवशादेव पुत्रादिवियोगो दुस्सहस्तदभावे यथा पुत्रस्तथा कंसः। ततश्च कंसघातकः पुत्रो न रक्ष्य इति युक्तं दानम्। अथ 'पुत्रेण जयते लोकान् पुत्रेण वसुतामेति पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत' इति 'त्वं यज्ञ' इत्यादिवाक्यैः पुत्रकृतोपकारोपेक्षित इति चेत्तत्राह विदुषां ज्ञानयुक्तानां किं बहिःस्थितमपेक्षितमिति ? न साधनं नापि फलम्। ननु तथापि वधार्थं स्वतो बालकमज्ञं समर्पयतीत्ययुक्तमिति चेत्तत्राह किमकार्यं कदर्याणामिति। असमर्पिते वसुदेवमनृतवादिनं ज्ञात्वा कृतसमयबन्धस्य निवृत्तत्वात् सर्वानेव पुत्रान् सर्वा भार्या मां च मारयेदत'स्त्यजेदेकं कुलस्यार्थं' इतिन्यायेनार्पणमेवोचितम्। न चैतन्न करिष्यतीत्याशङ्कनीयम्। यतः कदर्याणां कंसादीनां किमकार्यम् ? सर्वोल्लङ्घनेन लुब्धाः कदर्याः। कुत्सितायां दर्यां हृदयरूपायां सम्भवो येषां स्थितिर्वा। ननु तथापि पलायनमेवोचितं न तु निरपराधबालकस्याज्ञस्य मारणमिति। चेत्तत्राह दुस्त्यजं किं धृतात्मनामिति। धृत आत्मा वासुदेवो यैः सर्वं गच्छतु हरिस्तिष्ठत्विति येषां बुद्धिस्तेषामन्यत्सर्वं त्यक्तव्यं भगवद्बाधकम्। असमर्पणं च सर्वनाशकत्वाद्भगवद्बाधकमिति भगवदीयानां त्याज्यवस्तुषु कोपि गुणदोषविचारो नास्तीति पूर्वं प्रतिज्ञातस्य समर्पणं युक्तमेव ॥ ५८ ॥

अनुवाद—पुत्र कंस को न दिया जाय। इस विचार के करने में लौकिक मोह कारण है अथवा शास्त्र कारण है। पहला कारण जो मोह है उसमें जो दूषण आते हैं उनका वर्णन करते हैं। साधु पुरुषों के लिए शत्रु, मित्र तथा उदासीन सब समान हैं। अतः उनको सब कुछ सहन करने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है। वे जैसे लौकिक मनुष्य शत्रु का त्याग कर सकते हैं, उसके लिये उनको कोई कष्ट नहीं होता है। वैसे ही सत्पुरुषों को पुत्र आदि के त्याग में भी कोई कष्ट नहीं होता है। कारण कि वे समदृष्टि वाले होते हैं, उनमें मोह का अभाव हो जाता है। इसलिए सत्पुरुष होने के कारण वसुदेवजी ने पुत्र का त्याग कर दिया। वसुदेवजी के लिए जैसा पुत्र है वैसा ही कंस है। अतः कंस का घात करने वाला पुत्र नहीं बचाना चाहिए। इसलिए पुत्र दे देना योग्य है।

---

१. सबको सब प्रकार की पीड़ा देने वाला।

यदि पुत्र दोगे तो जो शास्त्रानुसार पिता को पुत्र की अपेक्षा होती है वह रह जायगी। जैसा कि कहा है "पिता पुत्र के द्वारा लोगों को जीतता है, पुत्र से धन की प्राप्ति की जाती है, पुत्र पुंनाम नरक से बचाता है और पुत्र यज्ञ है"। पुत्र के अभाव में उस अपेक्षा की पूर्ति न होगी अपेक्षा रह जायगी। इसका उत्तर देते हैं कि ज्ञानी पुरुषों को वैसे बाह्य पदार्थों की अपेक्षा[1] नहीं रहती है। वे न तो साधन की तथा न ही फल की अपेक्षा वाले होते हैं। यदि अपेक्षा नहीं भी हो तो भी मरवाने के लिए अपने आप अज्ञ[2] बालक को देना तो योग्य नहीं है। इस तर्क के उपस्थित करने पर उत्तर देते हैं कि मैं यदि बालक[3] को न देकर मिथ्यावादी भी बन जाऊँ, तो भी यह निश्चय नहीं है कि बालक आदि को वह नहीं मारेगा, क्योंकि वह मुझे मिथ्यावादी समझ न केवल बालकों को किन्तु स्त्री देवकी को तथा मुझे भी मार डालेगा। कारण कि कंस कदर्य है। कदर्य का स्वभाव ही है सबको सर्व प्रकार से पीड़ा देना और लोभ के कारण वे लोग सर्व प्रकार की धार्मिक तथा नैतिक मर्यादा का उल्लङ्घन कर सकते हैं। क्योंकि उनकी (कदर्यो की) हृदय रूप गुफा में ऐसे ही विचार भरे रहते हैं तथा कंस की उत्पत्ति ही वैसे दुष्ट हृदय से हुई है। अतः 'त्यजेत् एकं कुलस्यार्थे' कुल का नाश होने वाला हो तो उसकी रक्षा के लिए यदि एक की बलि देनी पड़े तो दे देनी चाहिए। इस शास्त्राज्ञा के अनुसार पुत्र का दे देना ही योग्य है। यदि आप कंस को ऐसा समझते हो तो आपको (वसुदेवजी को) भाग जाना ही उचित है। न कि निरपराध अज्ञ बालक को मरवाना योग्य है। इसका उत्तर देते हैं कि जिन्होंने हृदय में भगवान् को पधरा रखा है, उनको भगवान् के सिवाय सब कुछ त्याग देना सरल है। कारण कि दूसरे पदार्थ पुत्र आदि उनके लिए बाधक हैं। पुत्र न देना, यह सर्व का नाश करने वाला होने से भगवद् बाधक (भगवान के प्राकट्य में रुकावट करने वाला) है। अतः जो भगवदीय (भगवान् के भक्त) हैं। उनको किसी भी वस्तु के त्याग करने में गुण अथवा दोष के विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इससे प्रथम की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार प्रतिज्ञात पुत्र को देना ही उचित है।। ॥ ५८ ॥

भगवत्कृतत्वान्नानिष्टं जातमित्याह दृष्ट्वेति।

वसुदेवजी ने यह सर्व कार्य भगवदिच्छा से ही किया। अतः आगे होने वाले कार्य में कोई विघ्न न आया। यह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम्।
कंसस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! कंस वसुदेवजी की समता तथा सत्य पर स्थिति देखकर प्रसन्न हुआ, अतः हँसते हुए यों नीचे के श्लोक में कहने लगा ॥ ५९ ॥

---

१ थोड़ी भी इच्छा २ बेसमझ ३ देने के लिए जिनकी प्रतिज्ञा की है वैसे पुत्र

सुबोधिनी—शौरेर्वसुदेवस्य पुत्रे स्वस्मिंश्च तुल्यतां दृष्ट्वान्योन्यघातकत्वमुभयोर्ज्ञात्वा स्वस्यौदासीन्येन स्थितिरेव समता सत्ये वाक्ये चैव व्यवस्थितिमचाञ्चल्यमेवमुभयेनापि सन्तुष्टः । राजन्निति सम्बोधनं राजधर्मस्तथैवेति-ज्ञापनार्थम् । प्रकर्षेण हास्यं मुग्धोयमितिज्ञापनार्थम् । इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ।। ५९ ।।

अनुवाद— कंस ने विचार पूर्वक देखा कि वसुदेव की दृष्टि समान है जैसा पुत्र को वैसा ही मुझे समझता है, वसुदेव यह भी जानता है कि मैं इसके पुत्र का घातक हूं और इसका पुत्र मेरा घातक होगा ऐसा जानते हुए भी समता तथा सत्य पर इनकी दृढ़ स्थिति है, अर्थात् वसुदेव का मन डिगा नहीं जिससे मेरे पास पुत्र को ले आया है। इनको देख कर प्रसन्न हुआ उपरोक्त श्लोक में परीक्षित को 'राजन्' सम्बोधन कर के यह बताया कि राजा का धर्म ऐसा ही है। कंस अपना भोलापन दिखाने के लिये जोर से अच्छे प्रकार से हँसने लगा और निम्न वाक्य कहे ।।५९।।

श्लोक—प्रतियातु कुमारोयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम् ।
अष्टमाद्युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे विहितः किल ।। ६० ।।

श्लोकार्थ—यह कुमार घर लौट जावे, कारण कि इससे मुझे कोई भय नहीं है। आप दोनों के आठवें गर्भ से निश्चय मेरी मृत्यु विहित[1] है ।। ६० ।।

सुबोधिनी—अनेन पञ्चवार्षिको नीत इति ज्ञायते । षष्ठश्चोदरस्थः । प्रतियात्वितिवाक्यादन्यथा 'नये'त्येव वदेत् । पुत्रानितिबहुवचनानुरोधेन तावत्कालं स्थापनम् । प्रतियातु व्याघुट्य गृहे यातु । अयं ते कुमारो न तु मन्मारकः । अमारणे हेतुर्न ह्यस्मादस्ति मे भयमिति । तर्हि समयबन्धो गत इति नाशङ्कनीयं यस्माद्युवयोरष्टमगर्भान्मे मृत्युर्विहित इति । स समानीय देय इत्यभिप्रायः । अत एव नारदादीनामेतदसम्मतम् । न हि भगवद्भक्तानामन्यनिष्ठाप्युचिता । अतोन्यथाकरणमप्युचितम् । किलेत्याकाशवाणीप्रतिसन्धानम् ।। ६० ।।

अनुवाद— श्लोक के 'प्रतियातु'[2] शब्द का आशय स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि यह कीतिमान् पुत्र जब वसुदेवजी ले आये थे तब पांच वर्ष का था, पांच पुत्र हो चुके थे छठा गर्भ में था, यदि वसुदेवजी छोटा ही बालक ले आते तो कंस कहता 'नय' इसको लेजा किन्तु छोटा न होने से कंस ने 'प्रतियातु' लौट जावे कहा। वसुदेवजी ने (५८वें श्लोक में) कहा था कि 'पुत्रान् समर्पयिष्ये' यहां इस बहुवचन के कारण जब पांच पुत्र हुए तब ले आये, तब तक नहीं लाये थे अपने पास ही रखे। इस प्रथम बार एक ही पुत्र इस लिये लाये कि कंस क्या करता है? पश्चात् दूसरे लाऊँगा। इसके लाने पर कंस प्रसन्न होकर कहने लगा कि यह बालक लौट कर घर चला जावे यह तेरा कुमार मेरा घातक नहीं है। इसको नहीं मारा उसका कारण बताया कि इससे मुझे भय नहीं है। यों कहने से यह भी शङ्का नहीं करनी कि आपने जो प्रतिज्ञा की है उसके बन्धन से आप छूट गये हैं। नहीं, वह तो ज्यों की त्यों ही है कारण कि आप दोनों

---

१ जताई गई, बताई गई २ लौट जावे

का आठवां बालक मेरा घातक कहा गया है उससे मुझे भय है, अतः कंस का इस प्रकार कहने का अभिप्राय है कि उसको लाकर देना। कंस ने जो इस प्रकार कहा वह नारदजी आदि को सम्मत नहीं था अर्थात् अच्छा नहीं लगा। कारण कि भगवान् के भक्तों को भगवान् के सिवाय दूसरे में (सत्य में) निष्ठा (विश्वास) करना योग्य नहीं है। अतः नारदजी ने कंस के विचार को बदलने के लिये जो कुछ किया वह योग्य ही था। श्लोक में आया हुआ 'किल' शब्द आकाशवाणी के अभिप्राय को सोचना चाहिये यह जताता है ॥६०॥

तत्प्रियार्थमेव नयनमिति प्रकारान्तरेणापि तस्मिन् प्रीते पुत्रत्यागो न युक्त इति तद्वाक्यमङ्गीकृत्य पुनरानीतवानित्याह तथेति।

यदि कंस किसी अन्य प्रकार से (पुत्र देने के सिवाय) प्रसन्न हो सकता तो पुत्र देना उचित नहीं था किन्तु ऐसा होना असम्भव समझ कर ही वसुदेवजी कंस को प्रसन्न करने के लिये पुत्र को कंस के पास ले गये। पुनः कंस का वाक्य मान कर घर ले आये। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तथेति सुतमादाय ययावानकदुन्दुभिः।
नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोविजितात्मनः ॥ ६१ ॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी, जो आपकी आज्ञा, यों कहकर पुत्र को लेकर घर आये, किन्तु झूठे और अनिश्चित विचार वाले कंस के इन वचनों को बखाना नहीं अर्थात् विश्वास नहीं किया ॥ ६१ ॥

सुबोधिनी—स्वयमेव गृहीत्वा ययौ। अविश्वासे हेतुरानकदुन्दुभिरिति। अतिक्लेश एव भगवदागमनं न स्वास्थ्ये। आनके दुन्दुभयश्च नेदुर्भगवदागमनार्थम्। तदुभयं विरुध्यते। अतो देवकृतस्य सत्यत्वात् कंसकृतमेवासत्यमिति मत्वा नाभ्यनन्दत तस्य कंसस्य वाक्यमेनं न मारयिष्यामीत्यभिप्रायपूर्वकम्। तत्र हेतुद्वयमाहासतोविजितात्मन इति। असन् सर्वदा नैकविधः। अस्थिरवाक्च घातकश्च स्वतोयुक्तिदार्ढ्यरहितश्च। अतः केनचित् प्रथम एवाष्टम इति ज्ञापिते मारयिष्यत्येव। तस्मादसतो न विश्वासः कर्तव्यः। किञ्च नान्यवाक्यमपि तस्यापेक्ष्यते। यदैव राक्षसैर्भक्ष्यार्थे पुरुषाः प्रार्थयिष्यन्ते तदैवैतान् घातयिष्यति। क्रोधोद्गमहेतूनां बहूनां सम्भवादजितान्तःकरणत्वादुत्पन्ने क्रोधे न विलम्बः ॥६१॥

अनुवाद— वसुदेवजी आप ही पुत्र को अपने साथ घर ले गये। कंस के वचनों पर विश्वास क्यों नहीं आया ? इसके समाधान के लिये वसुदेवजी को यहां आनक दुन्दुभि कहा है। जिससे वह जान गये कि भगवान् का प्राकट्य तो तब होता है जब बहुत क्लेश (दुःख) प्राप्त होता है, सुख की अवस्था में भगवान् का प्रादुर्भाव नहीं होता है, मेरे जन्म के समय बड़े नगारे इसीलिये बजे थे कि मेरे यहां भगवान् प्रकटेंगे। देवताओं और कंस दोनों का कहना परस्पर विरुद्ध है। देवताओं के वचन सत्य हैं। कंस ने जो अब कहा है वह असत्य है। यों समझकर कंस के वाक्यों का अभिनन्दन नहीं किया। कारण कि कंस असत्यवादी है

तथा स्थिर बुद्धि वाला नहीं है इसलिये जो कहा कि इसको मैं नहीं मारूंगा इस पर मुझे विश्वास नहीं है। झूठा मनुष्य सदा एक जैसा नहीं होता है और जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है वह घातक एवं अपनी युक्ति अथवा कहने पर पक्का नहीं रहता है। अतः किसी ने कह दिया कि यह पहला ही आठवां है तो इसको मार देगा। इसी कारण से झूठे पर विश्वास नहीं करना चाहिये। जिस समय इससे राक्षस खाने के लिये पुरुष मागेंगे, उस वक्त किसी दूसरे के वचन की अपेक्षा न कर इनका घात करेंगे। ऐसे लोगों में क्रोध की उत्पत्ति अनेक प्रकार से हो सकती है क्योंकि उन्होंने अन्तःकरण को अपने वश में नहीं किया है अतः क्रोध आते ही मारने में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करेगा ॥६१॥

'महतामन्तःकरणमेव प्रमाण'मिति तथैव जातमित्याह नन्दाद्या इत्यष्टभिः ।

महान पुरुषों का अन्तःकरण ही प्रमाण है। जैसे वसुदेवजी ने समझा वैसा ही हुआ, उसका वर्णन निम्न आठ श्लोकों से करते हैं।

उन आठों में से प्रथम के तीन श्लोक में नारदजी ने आकर कंस को समझाया है कि तूं ने बालक को छोड़कर भूल की है, व्रज में सर्वत्र देव, दैत्य वधार्थ उत्पन्न हुवे हैं। वसुदेवादि सब देव हैं इत्यादि।

श्लोक—नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः ।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः ॥ ६२ ॥
,, सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत ।
ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ॥ ६३ ॥
,, एतत् कंसाय भगवान् शशंसाभ्येत्य नारदः ।
भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम् ॥ ६४ ॥

श्लोकार्थ—व्रज में नन्दादिक जो ग्वाल और उनकी स्त्रियां, तथा यदुकुल में वसुदेवजी आदि यादव और उनकी देवकी आदि स्त्रियां एवं इन दोनों के ज्ञाति, बान्धव तथा स्नेही जोकि तेरा अनुसरण करते रहते हैं, वे सब ही प्रायः देवता-रूप हैं। इन देवों ने पृथ्वी के भार रूप दैत्यों के नाश का उद्यम प्रारम्भ किया है ॥६२, ६३, ६४ ॥

सुबोधिनी—वसुदेवे कंसकृतं देवानां हितकारि न भवतीति देवगुह्यकर्ता नारदः पर्यवसानानिष्टकर्तारं वसुदेवं पीडयितुं दैत्यरूपं कंसं चोद्वेजयितुं शीघ्रं भगवदागमनार्थं साधारणान् पीडयितुं वाक्यत्रययमुक्तवांस्तदाह । ये यमुनापारे व्रजे गोपा नन्दादयोमीषां च स्त्रियः यशोदाप्रभृतयश्चकारादन्या अपि कुमारिका अस्मिन्नपि कुले वृष्णिवंशोद्भवा वसुदेवादयो देवक्याद्याश्च यदुवंशोद्भवानां स्त्रियः ॥ ६२ ॥

सुबोधिनी—स्त्रियः पुरुषाः सर्व एव देवताप्राया ईषदसमाप्तदेवाः । मानुषभावस्यापि विद्यमानत्वात् । अतो देवेषु यत् कर्तव्यं तदेतेष्वेव कर्तव्यमिति ज्ञापितम् । उभयोरिति । रोधसोर्ये केचित् तिष्ठन्ति पश्वादयोपि तेपि देवांशाः । भारतेतिसम्बोधनमेतदाहेत्यनेन सम्बध्यते । नारदस्य तथाकथनममन्वानस्य विश्वासजनकं देवगुह्यमेतादृशमेवेति । किञ्च न केवलमुदासीना एव देवाः किन्तु कंसनिकटवर्तिनोप्यक्रूरादयो ये ज्ञातयो गोत्रिणः कंसस्य ये बन्धवः सम्बन्धिनो ये वा सुहृदो मित्राणि ये च कंसस्य सेवकाश्चकारात् पित्रादयोपि ॥ ६३ ॥

सुबोधिनी—नारदस्य दुष्टत्वं व्यावर्तयति भगवानिति । शंसनमेकान्ते कथनं युक्तिपूर्वकमुपाख्यानपूर्वकम् । तत्रैवोपाख्याने फलितानि वाक्यान्यत्रोपनिबध्यन्ते । अत आनुपूर्व्यभावो न दोषाय । एतावतैव कार्यसिद्धेः । ननु देवानामागमने किं स्यादित्याशङ्क्याह भूमेरिति । नाकपृष्ठे देवानां मन्त्रणं जातं भूमेर्भारायमाणाः कंसादयो दैत्या जातास्ते हन्तव्या इति । तद्धननार्थमेव देवागमनं वधोद्यमरूप जातम् । वधोद्यमं यथा भवति तथैते देवताप्राया इतिवाक्यम् ॥६४॥

अनुवाद—कंस ने वसुदेव से जो शिष्टाचार किया अर्थात् उसको कहा कि, इस तेरे पुत्र से मुझे भय नहीं है यह घर जावे । उसके कंस के कहने पर वसुदेवजी पुत्र को मन में अप्रसन्न होते हुए ले गये । किन्तु नारदजी को यह कंस का कृत्य अच्छा न लगा । कारण कि नारदजी ने जाना कि यह कार्य देवताओं के लिये हितकर नहीं हुवा क्योंकि देवता चाहते हैं कि भगवान् शीघ्र प्रकट होवे । भगवान् शीघ्र तब प्रकट होंगे जब वसुदेव देवकी आदि भक्तों पर विशेष संकट होगा । अतः देवताओं के गुह्य[1] मनोरथ की पूर्ति के लिये नारदजी कंस के पास आये । वसुदेवजी का प्रसन्न रहना अनिष्ट कारक (भगवान् के प्राकट्य में विलम्ब करने वाला) है, अतः मैं ऐसी युक्ति करूँ जिससे वसुदेवादि सर्व साधारण भी पीड़ित होंवे जिससे भगवान् शीघ्र प्रकट हों यह विचार कर नारदजी ने कंस को बहकाने के लिये तीन वाक्य कहे ।

यमुनाजी के परले पार जो व्रज में नंदादि गोप हैं, और उनकी यशोदा प्रभृति स्त्रियां है, तथा और भी कुमारिकाएं हैं, तथा इस किनारे पर यादव वंश में उत्पन्न वसुदेवादि तथा यदुवश में जन्मी हुई देवकी आदि स्त्रियां हैं । यों प्रथम श्लोक में सब की पहचान कराके अब दूसरे श्लोक में उनका देव पना बताते हैं । ये सब स्त्रियां तथा पुरुष आदि सर्व बहुत करके सब देवता तुल्य अर्थात् देव जैसे हैं । देखने में मनुष्य हैं किन्तु इनमें देवपना छिपा हुवा है, अतः जो बर्ताव आप देवताओं से करते हो वैसा ही इनसे भी करो । अर्थात् आप देवताओं को सदैव पीड़ा देते हो वैसा हो व्यवहार इनसे करो । आप असावधान मत रहो न केवल मनुष्य देवांश है किन्तु दोनों तीरों पर रहने वाले पशु आदि भी देवांश हैं । यह आशय श्लोक में आये हुए (च) से निकलता है । इस श्लोक में जो परीक्षित को भारत । यह सम्बोधन दिया है उसका सम्बन्ध (६४) श्लोक के (एतत् .... शशंस) से है । नारदजी ने विचारा कि मेरा यह कहना, कंस न माने तो उसका विश्वास कराने के लिये देवों की गुह्य बात एकान्त में ही युक्ति पूर्वक कही जाती है, इसलिये एकान्त में कंस को समझाया गया है । नारदजी ने कंस को कहा कि आप यों भी मत समझो कि जो मुझ से उदासीन[2] हैं वे केवल देव है । नहीं, आपके निकट रहने वाले अक्रूर आदि, जो ज्ञातिवाले

---

१ गुप्त २. दूर रहने वाले

तथा गोत्रवाले हैं, एवं जो आपके बान्धव सम्बन्धी तथा मित्र हैं और सेवक हैं विशेष क्या कहें (च) से यह भी बताया है कि आपके पितादि भी देवांश हैं। इस तीसरे श्लोक में नारदजी ने कंस को आदर पूर्वक उपाख्यान के समान सब बात समझादी है।

कंस को मन में यह शङ्का हो कि नारदजी दुष्ट हैं इसलिये मुझे बहकाकर दुष्कर्म कराते हैं तो इस शङ्का को दूर करने के लिये श्लोक में नारदजी को (भगवान्) विशेषण दिया है जिसका भाव यह है कि नारदजी दुष्ट तो नहीं है किन्तु ऐश्वर्य आदि छ गुणो वाले हैं अतः वह जो कुछ कहते हैं वह हितकर ही है। अतः कंस ने जो कुछ एकान्त में नारदजी से सुना उसका सार यह हुआ कि कंस को मालूम होगया कि स्वर्ग में देवों ने मन्त्रणा कर हम दैत्यो को नाश करने के लिये पृथ्वी पर जन्म लिया है और हमारे वध के लिये उद्यम कर रहे हैं। और निश्चय ये मनुष्य रूप में देवांश ही हैं॥ ६२, ६३, ६४॥

एवं श्लोकत्रयमुक्त्वर्षौ गते कंसो यत् कृतवांस्तदाह पञ्चभिरृषेर्विनिर्गम इति।

इस प्रकार तीन श्लोक कहकर नारदजी पधार गये अनन्तर जो कुछ कंस ने मन्त्रणा कर कार्य प्रारम्भ किया उसका वर्णन पाँच श्लोकों से करते हैं—

श्लोक—ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून् मत्वा सुरानिति।
देवक्या गर्भसम्भूतिं विष्णुं च स्ववधं प्रति॥ ६५॥
" देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे।
जातञ्जातमहन् पुत्रं तयोरजनशङ्कया॥ ६६॥

श्लोकार्थ—नारदजी के चले जाने के अनन्तर, कंस ने यादवों को देवना समझा और अपने वध के लिये देवकी के गर्भ से विष्णु के प्राकट्य का निश्चय कर लिया, अतः वसुदेव तथा देवकी के पैरों में बेड़ी डाल घर में ही बंद कर दिया। और ज्यों ज्यों बालक उत्पन्न हुवे उनको विष्णु समझ कर मार डाला॥ ६५, ६६॥

सुबोधिनी—अनुवादेपि येर्थास्ते पूर्वं नारदेनोक्ता इति ज्ञातव्यम्। ऋषिणैव निवारितमिति नर्षेरग्रे किञ्चित् कृतवान्। द्वयं ज्ञातवान्। चतुष्टयं कृतवान्। ज्ञातं द्वयमाह यदून् सुरान् देवान् मत्वा देवक्या गर्भेष्टमे सम्भूतिर्यस्य तादृशं च विष्णुं स्वस्य कंसस्य वधं प्रत्येव देवकीगर्भसम्भूतिं विदित्वा॥ ६५॥

सुबोधिनी— प्रथमतो देवकीं वसुदेवं चकारादन्यांश्च तदन्तर्गतान् स्वगृह एव निगडैर्निगृह्य जातञ्जातमानुपूर्व्येण जातमष्टमसङ्ख्याया अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वाद्गणनायामनियमसम्भवादजनशङ्कया विष्णुसन्देहात् षट् पुत्रानहन्। जातञ्जातमिति न कालभेदज्ञापकं किन्तु मारणे देवक्यां जननमेव निमित्तमितिज्ञापयितुमन्यथा क्षत्रियाणां त्रयोदश एवाह्नि नामकरणसम्भवादुत्पन्नमात्राणामेव मारणे 'कीर्तिमन्तं सुषेणञ्चे'त्यादिनामोक्तिराद्य—स्कन्धेनुपपन्ना स्यात्॥ ६६॥

अनुवाद—अनुवाद[1] में भी जो अर्थ कहे गये हैं वे प्रथम नारदजी के कहे हुए हैं यों समझना चाहिये। ऋषि की उपस्थिति में कंस ने कुछ नहीं किया उनके जाने के अनन्तर किया, उसका कारण आचार्य श्री कहते हैं कि नारदजी ने कंस को अपने सामने कुछ भी करने का निषेध कर दिया था। अतः उस समय कुछ न कर ऋषि के जाने के अनन्तर कार्य करना प्रारम्भ किया। ऋषि के समझाने से कंस ने जो सार निकाला, उससे दो बात जानने की थी और चार करने की थी।

२— जानी वे ये हैं। १- यादवादि सर्व देव हैं। २—देवकी के आठवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी। शेष चार जो करनी हैं वे ६६ श्लोक में कही है।—

१— प्रथम तो देवकीजी और वसुदेवजी को तथा उनके सम्बन्धी यादवों को अपने घर में ही बेड़ी डाल कर कैद में रक्खा। जिस क्रम से उनके बालक जन्मे थे उस क्रम से उन ६ को इसीलिए मारडाला कि इनमें कौन विष्णु है इसका निश्चय नहीं है कारण कि गणना का कोई नियम नहीं है। 'जातं' 'जातं' कहने का भाव मारने के काल का ज्ञान कराना नहीं था किन्तु देवकी से उत्पन्न होना ही मारने का कारण था यह बताना था अतः जन्म होते ही नहीं मारे गये थे किन्तु पीछे कुछ बड़े हो जाने पर ५ वर्ष के बाद में वे मारे गये थे जन्मते ही न मारे गये उसका प्रमाण यह है कि क्षत्रियों का नामकरण संस्कार १३ वें दिन होता है। अतः जन्मे हुवे बालकों के 'कीर्तिमान्' और सुषेण आदि जो प्रथम स्कन्ध में लिखे कहे) गये हैं वे युक्ति युक्त न होते ॥ ६६ ॥

नन्वेवं कथमतिदुष्कृतं कृतवानित्याशङ्क्याह मातरमिति।

कंस ने वैसा दुष्कर्म कैसे किया ? इस शङ्का निवृत्ति के लिये (मातरं) यह श्लोक कहते हैं।—

श्लोक—मातरं पितरं भ्रातॄन् सर्वांश्च सुहृदः सखीन्।
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि ॥ ६७ ॥

श्लोकार्थ— पृथ्वी पर अपने प्राणों का ही पोषण करने वाले लोभी भूपति माता, पिता, भ्राता सर्व प्रकार के मित्र तथा स्नेहीओं को भी मार डालते हैं ॥ ६७ ॥

सुबोधिनी—अयं तु दैत्य एव। येप्यन्ये राजानस्तेप्यसुतृपः केवलं प्राणपोषकास्तत्रापि लुब्धाः। लोभः सर्वगुणनाशकोतस्तेषां गुणा न सन्तीतिज्ञापनार्थमुक्तम्। प्रायश इतिलुब्धा इति च पदद्वयेन केचन धर्मात्मानो व्यावर्तिता अम्बरीषादयः। भुव्येषैव व्यवस्था। अतो युधिष्ठिरादयोपि पितामहादीन् मारितवन्तः। स्वस्य यत्रैव मरणसन्देहस्तानतिमान्यानपि मात्रादीन् पञ्चविधान् घ्नन्त्येव ॥ ६७ ॥

---

१ (नदाद्या ये) श्लोकों में जो विषय शुकदेवजी ने कहा है वे नारदजी के कहे हुए शब्दों का अनुवाद (फिर कथन) है। अनुवादक

अनुवाद—यह कंस तो दैत्य ही है, किन्तु जो भूपति दैत्य नहीं है वे भी लोभ से अपने प्राणों के पोषण कर्त्ता होते हैं, लोभ सर्व प्रकार के गुणों को नाश करने वाला है। अतः प्राण पोषक लोभी राजा ही जब, माता पिता, भ्राता, सर्व प्रकार के बान्धव तथा मित्रों का घात करते हैं तो कंस तो दैत्य और प्राण पोषक लोभी होकर बहिन के पुत्रों का वध करे तो उसमें क्या आश्चर्य है? श्लोक में प्रायशः पद देने का आशय यह है कि कोई २ अम्बरीष आदि धर्मात्मा राजा लोग वैसे नहीं होते हैं। किञ्च पृथ्वी पर यह ही व्यवस्था देखने में आती है अतः युधिष्ठिर आदि ने भी पितामह आदि को मारडाला। राजाओं की जहां कहीं भी किसी से मारे जाने की शङ्का होती है तो चाहे वे माता और भ्राता आदि ही क्यों न हो उन सब को मारने में नहीं हिचकते हैं ॥ ६७ ॥

नन्वस्य स्वस्यापि देवत्वसम्भावनया तद्धिताचरणमेव कथं न जातमित्याशङ्क्याहा-त्मानमिति।

इस कंस को अपने देवत्व होने की सम्भावना थी तो क्यों नहीं अच्छे कर्म किये? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते है कि—

श्लोक—आत्मानमिह सञ्जातं जानन् प्राग् विष्णुना हतम्।
महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत ॥ ६८ ॥

श्लोकार्थ—कंस को यह ज्ञान था कि जिस महान् असुर कालनेमी को विष्णु ने आगे मारा था, वह कालनेमी मैं हूँ, यों जानकर भी कंस ने यादवों से विरोध किया ॥६८॥

सुबोधिनी—पूर्वममृतमथने भगवता महासुरः कालनेमिर्हतो देवपार्ष्णिग्राहेण स एवायं कंस इत्यात्मानं जानन् पुनर्देवप्रेरणयैव मारणार्थमायातीति यदूनां देवत्वात् तैः सर्वैरेव सह विरोधं कृतवान् ॥ ६८ ॥

अनुवाद—पूर्वकाल में अमृत मन्थन के समय, देवताओं की सेना के पृष्ठ भाग के रक्षक भगवान् ने महान् असुर कालनेमि को मारा था, वह ही यह कंस है, यों अपने को कंस जानता हुआ भी तथा भगवान् देवताओं की प्रेरणा से ही दैत्यों के वध के लिये आते हैं और ये सब यादव देव हैं इसलिये इन सर्व यादवो से वैर करने लगा ॥ ६८ ॥

अन्यदप्यत्यन्तायुक्तं कृतवानित्याहोग्रसेनमिति।

इसके सिवाय दूसरा कार्य जो किया वह भी अत्यन्त अयोग्य है— यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम्।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः ॥ ६९ ॥

श्लोकार्थ—यदु, भोज और अन्धक के अधिपति पिता उग्रसेन को, महाबली कंस ने बान्धकर घर में बन्द कर दिया और शूरसेन देश का राज्य स्वयं भोगने लगा ॥ ६९ ॥

सुबोधिनी—नाम्नैव महत्त्वं निरूपितम् । स्वस्य पितरं सर्वसहाययुक्तम् । यदुभोजान्धकाधिपं यदवो भोजा अन्धकाश्च । उपलक्षणमेतत् षड्विधानामपि यादवानाम् । तदाज्ञया ते सर्वे विपरीतं करिष्यन्तीति विशेषतस्तस्य बन्धनम् । बन्धकः स्वयमेव जात इत्याह स्वयं निगृह्येति । शूरसेनदेशस्तस्य भोगार्थं स्थितः । अतस्तस्य पुनर्वचनं शूरसेनान् बुभुज इति । एतत्सर्वकरणे सामर्थ्यं महाबल इति । एवं सर्वेषां देवांशानां भक्तानां महानुपद्रवो निरूपितो भगवदवताहेतुभूतः ॥६९॥ ॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे प्रथमोध्यायः ॥

अनुवाद—(उग्रसेन) नाम ही से महत्त्व प्रकट हो रहा है विशेष महत्व उसके विशेषण (यदुभोजान्धकाधिपम्) कहने से जाना गया है। विशेषण में यदु भोज और अन्धक ये तीन नाम उपलक्षण रूप में दिये गये हैं वास्तव में वह छ प्रकार के यादवों का अधिपति है। इसकी आज्ञा से ये सब मेरे विपरीत कार्य करेंगे अतः वैसा होने से पहले ही इसको बन्धन में डालना चाहिये, यह विचार कर स्वयं कंस ने अपने हाथ से पिता को बन्धन में डाल दिया। अनन्तर शूरसेन देश का राज्य करने लगा और सर्व प्रकार से राज्य के सुख भोगने लगा। इतना बड़ा भारी साहस का कार्य अकेले ने कैसे किया ? वैसी शङ्का नहीं करनी चाहिये ? क्योंकि वह कंस 'महाबल' महान् बलवान् है प्रत्येक बड़ा कार्य अपनी शक्ति से कर सकता है।

इस प्रकार सब उत्पन्न देवांश भक्तों का महान् उपद्रव का निरूपण (वर्णन) हुआ, जो उपद्रव भगवान् के प्राकट्य का हेतुभूत है ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कन्ध, (पूर्वार्द्ध) प्रथम अध्याय की श्रीमद्वल्लाचार्यचरणविरचित्त सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

दशम स्कन्ध

श्री सुबोधिनी का सरल–सुबोध–हिन्दी अनुवाद

द्वितीय अध्याय

कारिका–एवं हेतुं निरूप्याथ कृष्णोद्यम उदीर्यते ।
महत्त्वज्ञापनार्थाय द्वितीये सविशेषणः ॥ १ ॥

,, दुःखं हेतुरिहागन्तुमितिबोधाय तत्कथा ।
पुनर्निरूप्यते स्पष्टा शीघ्रागमनहेतुका ॥ २ ॥

,, सर्वेषां ज्ञापनार्थाय कंसवाक्यं तथा स्तुतिः ।
अन्यथा भगवानेव प्रादुर्भूतः कथं भवेत् ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—श्रीमदाचार्यचरण इन कारिकाओं में द्वितीयाध्याय का अर्थ, उद्यम बताते हैं । प्रथमाध्याय में यह सूचित किया है कि पृथ्वी पर भगवान् के प्राकट्य का कारण भक्तों का दुःख है अर्थात् पृथ्वी पर भगवान् तब प्रकट होते हैं, जब देखते हैं कि मेरे भक्त दुःखी हैं । इस प्रकार प्रथमाध्याय में प्राकट्य हेतु "भक्त का दुःख" है । यह निरूपण कर अब द्वितीय अध्याय में प्रभु के महत्त्व प्रकट करने के लिए भगवान् का असाधारण[1] धर्म रूप उद्यम कहते हैं ॥ १ ॥

भगवान् के प्रकट होने का कारण भक्त का दुःख ही है इसको स्पष्ट समझाने के लिए वह कथा जो भगवान् को शीघ्र प्रकट करने का हेतु है । उसका प्रलम्ब चाणूर आदि (३½) श्लोकों में वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

इस अध्याय में कंस के वाक्य और ब्रह्माजी की स्तुति भी है । जिससे ही सबको यह ज्ञान हुआ कि भगवान् प्रकट हुए हैं, यदि ये दोनों (कंस के वाक्य और ब्रह्माकृत स्तुति) नहीं होती तो भगवान् के प्राकट्य का ज्ञान कैसे होता ? अर्थात् नहीं होता ॥ ३ ॥

व्याख्या—श्री गुसाईंजी प्रभुचरण कारिकाओं के आशय को प्रकट करते हुए आज्ञा करते हैं कि भगवान् भक्तों के दुःख निवृत्ति में इतना भी विलम्ब, जो सप्तम बालक के पूरे समय में प्राकट्य होने से

---

१. जिस धर्म को दूसरा धर्म हटा न सके उसको असाधारण धर्म कहते हैं ।

होने वाला था सहन नहीं कर सके। अतः अपने शीघ्र प्रकट होने के लिए माया को देवकीजो के उदर से सप्तम गर्भ को लेजाकर रोहिणीजी में स्थापन करने की आज्ञा दी। माया को इस प्रकार की आज्ञा किसी अवतार में नहीं हुई है। जो माया ब्रह्मादिकों को भी मोह में डाल सकती है। उस माया को कोई दूसरा आज्ञा नहीं दे सकता है तथा वह माया अन्य के आधीन भी नहीं हो सकती है। वैसी माया को आज्ञा देकर भगवान् ने अपना अन्य अवतारों से एक महत्त्व बताया है। भगवान् ने अपना दूसरा महत्व वसुदेवजी के मन द्वारा देवकी के हृदय में विराजमान होकर बताया है, जैसे कि मामा कंस देवकी के प्रफुल्लित मुखारविन्द को देखकर जान गया कि इसके भीतर मेरे प्राणों को हरने वाला हरि आगया है। इतना जानकर भो अपने आसुर भाव को त्याग, देवकी को मारा नहीं। तीसरा महत्व ब्रह्मादि स्तुति से अपना पुरुषोत्तमत्व प्रकट जताया है। इस प्रकार प्रभुचरण श्री गुसाईंजी ने तीन प्रकार से प्रभु के प्राकट्य का महत्व बताया है।

पूर्वं सामान्यतो विरोधमुक्त्वा शीघ्रं भगवदागमनार्थं लोके कंसकृतमत्युपद्रवमाह सार्धैस्त्रिभिः प्रलम्बेति।

प्रथम अध्याय में यादवों के साथ सामान्य विरोध कहा है; तदनन्तर भगवान् के शीघ्र प्राकट्य के लिए कंस ने लोक में जो अत्यन्त उपद्रव किये वे साढे तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोक—प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः।
मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः॥ १॥
,, अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः।
यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः॥ २॥

श्लोकार्थ—बहुत भोजन करने वाले, प्रलम्बासुर, बकासुर, चाणूरमल्ल और तृणावर्त दैत्य मुष्टिक मल्ल, अरिष्टासुर, द्विविद वानर, पूतना, केशीदैत्य, धेनुकासुर और अन्य भी बाणासुर तथा नरकासुर प्रभृति दैत्य रूप राजाओं की सहायता से बलवान कंस यादवों का नाश करने लगा। इस कंस को जरासन्ध का बड़ा आश्रय था।॥ १-२॥

सुबोधिनी—प्रलम्बो दैत्यो दैत्यरूपेणैव वर्तते। बको दैत्यः पक्षिरूपेण। चाणूरो दैत्यो मनुष्यरूपेण। तृणावर्तो राक्षसो वात्यारूपेण। एत एव महाशना बहुभक्षकाः। अनेन 'यदूनां कदनं चक्रे' इत्यत्र यादवा भक्षिता इत्यपि ज्ञापितम्। महाशनोथ इति केचित्। तत्र नामसु योगिकप्रवेशश्चिन्त्यः। मुष्टिकश्चाणूरवत्। यथा प्रलम्बो बलभद्रेण हतः प्रथमनिर्दिष्टस्तथा मुष्टिकोपि। अरिष्टो वृषरूपो बकवत्। द्विविदो वानरः। पूतना राक्षसी। केश्यश्वात्मकः। धेनुको गर्दभात्मकः॥ १॥

अन्ये चैवंविधा: शतश: सन्त्यसुरा भूत्वा ये भूपाला: । बाणो बलिसुत: नरको भौम: । आदिशब्देन जरासन्धादय: । गुप्तान् यदून् प्रलम्बादयो बाधन्ते । प्रकटान् बाणादय: । एवमेतैर्यदूनां कदनमन्यायनाशं चक्रे । एतेषामाज्ञाकारित्वे हेतुर्बलीति । मागधो जरासन्ध: श्वशुर: सहायभूत: । तेनापि दिग्विजये पराजितेन सुते दत्ते । एतेषामन्यतरेणाप्याज्ञोल्लङ्घने कृते जरासन्ध: साधयतीत्याश्रय: ।। २ ।।

अनुवाद—प्रलम्ब आदि दैत्यों के रूप का वर्णन करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि प्रलम्ब-दैत्यरूप में, बक पक्षिरूप में, चाणूर मनुष्यरूप में, तृणावर्त-वायुरूप में था। ये बहुभोजी थे इसलिये श्लोक में इनको 'महाशन' कहा है। बहुभक्षी होने से इन्होने बहुत यादवों का भक्षण किया था। कितनेक टीकाकार 'महाशन' का अर्थ 'अघासुर' करते हैं। नामों का यौगिक अर्थ करना विचारणीय है। मुष्टिक दैत्य चाणूर के समान था। जैसे प्रथम बताये हुए प्रलम्ब को बलराम जी ने मारा वैसे ही मुष्टिक को भी बलरामजी ने ही मारा है। अरिष्ट वृषरूप था, बक पक्षीरूप था। द्विविद नामक दैत्य वानररूप था। पूतना राक्षसी थी। केशी दैत्य का रूप घोड़े का सा था। धेनुक का रूप गर्दभ का था। और दूसरे भी इसी प्रकार के सैकड़ों असुर थे जो राजाओं के रूप में भी थे। जैसे कि बलि का पुत्र बाणासुर था और भौमासुर था जिसको नरकासुर भी कहते हैं। श्लोक में दिये हुए आदि शब्द से जरासन्ध इत्यादि असुर भूप भी समझ लेने चाहिये। जो यादव गुप्त होकर रहते थे उनको प्रलम्ब आदि असुर तथा जो यादव प्रकट रहते थे उनको बाणासुरादि राजा दुःख देते थे। इसी प्रकार कंस इन राक्षसों द्वारा यादवों का अन्याय से नाश कराता था। ये राक्षस, राजा थे तो भी कंस की आज्ञा को इसलिए मानते थे कि कंस बलवान् था और उसका श्वशुर जरासन्ध भी उसकी सहायता करने वाला था। जरासन्ध ने अपनी दो कन्याएँ कंस को तब दी थी जब दिग्विजय में कंस से पराजित[1] हुआ था। इन असुर राजाओं में से कोई भी यदि कंस की आज्ञा का उल्लङ्घन करता था तो जरासन्ध उस समय कंस की सहायता करता था जिससे वे राजादि दब जाते थे। इस प्रकार कंस को जरासन्ध का आश्रय तथा सहायता थी ।। १-२ ।।

पीडितानां कृत्यमाह ते पीडिता इति ।

इस प्रकार जो यादव दुःखी हुए उन्होंने क्या किया ? उसका वर्णन निम्न १½ श्लोक में करते हैं कि—

श्लोक—ते पीडितानिविविशुः कुरुपाञ्चालकैकयान् ।
शाल्वान् विदर्भान् निषधान् विदेहान् कोशलानपि ।। ३ ।।
एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते ।। ३।। ।।

श्लोकार्थ—कंस से पीडित वे यादव कुरू पांचाल, केकय शाल्व, विदर्भ, निषध,

१—हार गया था

विदेह, काशी और कोशल देशों में चले गये और कितने हो कंस के आज्ञाकारी होकर उसकी सेवा करने लगे ॥ ३½ ॥

सुबोधिनी—पूर्वोक्तै: पीडिता: कुरुदेशान् हस्तिनापुरदेशान् विविशु: । तथान्ये पाञ्चालदेशान् कम्पिलादिदेशान् कैकयान् चित्रकूटादिदेशान् शाल्वान् पश्चिमदेशान् निषधानुत्तरदेशान् विदर्भान् दक्षिणदेशान् विदेहांस्तैर्भुक्तदेशान् कोशलानयोध्यादेशान् नितरां विविशुर्गुप्ततया स्थिता: । एते धर्मात्मानो राजान: । अत: स्वदेशं परित्यज्य सकुटुम्बास्तत्रैव स्थिता इत्यर्थ: ॥ ३ ॥

ये पुनर्निर्गन्तुं न शक्तास्ते कंससेवका एव भूत्वा स्थिता इत्याह एक इति । एकेक्रूरादयस्तमनुरुन्धानास्तं संवेष्ट्य तत्सेवकत्वेन स्थिता ज्ञातयो गोत्रिण: परित उपासते । एवं सर्वेषां महद्दु:खमुद्यमार्थं हेतुत्वेन निरूपितम् ॥ ३½ ॥

अनुवाद—कंस के अनुचरों से पीड़ित हुए यादवों ने जो किया उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि ये राजा धर्मात्मा थे अत: स्वदेश छोड़कर सकुटुम्ब पृथक् पृथक् प्रदेशों में चले गये । जैसे कि कितने ही कुरु देश में अन्य पाञ्चाल, कैकय, शाल्व, कोशल आदि देशों में जाकर अत्यन्त गुप्त रीति से वहां पर हो रहने लगे । जो राजा मथुरा से निकल न सके, वे कंस के अनुयायी होकर वहां ही रहने लगे, तथा कितने ही अक्रूरादि एवं ज्ञातिवाले और सगोत्री भी उसके चारों तरफ सेवक के समान रहते हुए उसकी आज्ञा का पालन करते थे । इस प्रकार प्रभु के प्राकटच के लिये सबों को उद्यम करना पड़ा । इन्होंने दु:ख सहन रूप उद्यम किया ॥ ३½ ॥

भगवत उद्यमं वक्तुं देवक्या बन्धनावधि चरित्रमाह हतेष्वितिसार्धेन ।

भगवान् के उद्यम का वर्णन करनेके लिये देवकी के बन्धन तक, जो चरित्र हुवे उनका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ॥ ४ ॥
„ सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते ।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धन: ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ—कंस ने देवकी के छ पुत्र मारडाले, तब विष्णु के धामरूप, कि जिनको अनन्त कहते हैं, वे देवकी के हर्ष और शोक को बढ़ाने वाले होकर उसके गर्भ में पधारे ॥ ४-५ ॥

सुबोधिनी—देवक्या: षट्सु बालेष्वौग्रसेनिना हतेषु सत्सु । भागिनेयान् हन्तीति पितृनाम्ना निर्देश: । अन्येषां हननमर्थसिद्धमेव । लोके हि भागिनेयोतिमान्य: ॥ ४ ॥

षड् गुणास्तेन बुद्धया हता इति धर्मस्थानभूतोक्षरात्मा समागतस्तस्यापि मारणमाशङ्क्य परिहरति वैष्णवमिति । विष्णोर्व्यापिकस्य सर्वरक्षकस्य स्वरक्षायां सन्देहो नास्तीति ज्ञापितम् । सप्तम एव परमावधि: । षड् गुणा: । सप्तमो धर्मी च तदाधारभूत: । पुरुषोत्तमस्तु ततो महान् । अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं धामेति । यतो लोका यमनन्तं कालात्मकमाचक्षते सोनन्त: सप्तमे पर्याये गर्भ: प्रकटो बभूव । स चार्धप्रकटितानन्द इति देवक्या हर्षशोकविवर्धनो जात: । महानिति हर्ष: । तादृशोपि मारणीय इति शोक: । प्रभावस्यादर्शनात् ॥ ५ ॥

अनुवाद—श्लोक में कंस का नाम न देकर, उग्रसेन के पुत्र ने देवकी के छ[१] पुत्रों को मारा। यों कहने का भावार्थ यह है कि देवकी, कंस की भगिनी है, तो भी उसने उसके पुत्रों को मार डाला। लोक में भगिनी पुत्र भानजे अतीव मान देने योग्य होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कंस दुष्ट है, जो बहिन के पुत्रों को भी मार डालता है, तो उसको दूसरों को मारने में तो कुछ भी संकोच नहीं होता होगा। वह अर्थ सिद्ध ही है ॥ ४ ॥

कंस ने देवकी के जो छ पुत्र मारे थे, वे भगवान् के एश्वर्य, वीर्यादि छ गुण रूप थे। किन्तु कंस ने उनको भगवद्रूप समझकर मारे थे। देवकी के गर्भ में सातवें बालक धर्मी, अर्थात् गुणों के स्थानभूत आश्रय अक्षर स्वरूप पधारे थे। उनको भी कंस मारेगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए श्लोक में कहा है कि 'वैष्णव' यह सातवां गर्भ व्यापक विष्णु का स्वरूप है। वह सबकी रक्षा करता है, जो सबकी रक्षा कर सकता है वह अपनी रक्षा करे इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं है। यह सप्तम गर्भ अक्षरात्मा होने से यहाँ तक ही आनन्द की गणना की सीमा हुई है। तैतिरीय उपनिषद् में आनन्द की गणना की गई है, वहाँ मनुष्य के आनन्द से लेकर गन्धर्वादि देवों तक का आनन्द बताते हुए अन्त में कहा है कि प्रजापति के शत आनन्द के समान अक्षर ब्रह्म का आनन्द है। यहाँ तक ही आनन्द की गणना हो सकी हैं। छ बालक गुण रूप धर्म हैं। उन छ धर्मों का आश्रय स्थान सातवां बालक अक्षर स्वरूप होने से धर्मी हैं। पुरुषोत्तम स्वरूप तो उससे महान् है। अत: यह सातवां गर्भ पुरुषोत्तम स्वरूप नहीं है। इसका ज्ञान कराने के लिए श्लोक में सातवें गर्भ के लिए 'धाम' शब्द दिया है। जिसका अर्थ है पुरुषोत्तम का 'निवास स्थान' वा 'चरण रूप' है। जिसको लोक अनन्त, कालात्मा भी कहते हैं। वह अनन्त सातवें गर्भ में प्रकट हुआ। उस अनन्त स्वरूप में आनन्द को पूर्ण रूप से प्रकट न करके उसमें आधा ही आनन्द प्रकट किया है। अत: देवकी को हर्ष भी हुआ और शोक भी हुआ। हर्ष इसलिए हुआ कि वह धर्मी स्वरूप अनन्त महान् है और शोक इसलिए हुआ कि छ बालकों के मरने से यह मन में भ्रम हुआ

१—प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि—देवकी को सप्तम गर्भ हुआ तब नारद जी ने कंस को कहा कि व्रज में नन्दादि और उनकी स्त्रियां, तथा वसुदेवादि यादव, स्त्री समेत सब देवता हैं। इस प्रकार नारदजी के कहने के अनन्तर कंस ने देवकी के छ पुत्र मारे और वसुदेव और देवकी को बन्धन में डाला यह गर्भ देवकी को हर्ष और शोक देने वाले हुए। इस आधे श्लोक में यह हेतु इसलिये बताया हे कि भगवान् प्रकट होने का शीघ्र उद्यम करें। षट् बाल, असुर वध और गर्भ विषयक दु:ख भगवान का चरित्र ही है।

कि कदाचित् कंस दुष्ट है इसको भी न मार डाले। यह भ्रम इसलिए हुआ कि देवकी ने इस स्वरूप का प्रभाव अब तक देखा नहीं था ॥ ५ ॥

卐

४-५ श्लोकों के साहित्य का सारांश

(१) देवकी को शोक होने के साथ आनन्दवृद्धि कहना उपयुक्त[1] नहीं। इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहा है कि सातवें गर्भ में पूर्ण आनन्द का प्राकट्य न होने से शोक हुआ, किन्तु सातवां गर्भ गणित आनन्दमय है, इसलिए आनन्द भी हुआ।

(२) देवकी के छ पुत्र कौन थे ? जिनको कस ने मारा। देवकी के छः पुत्र भगवान् के एश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य थे। क्योंकि कृष्णोपनिषद् में कहा है कि जब श्रीकृष्ण का भूतल पर प्राकट्य हुआ, तब श्रीकृष्ण का सर्व परिकर भी प्रकट हुआ है। अतः प्रथम श्रीकृष्ण के छः गुण देवकी के यहाँ पुत्र रूप से प्रकट हुए। अनन्तर श्रीकृष्ण का धाम-अक्षर, बलराम के स्वरूप से देवकी के सप्तम गर्भ में आया। अन्त में श्रीकृष्ण स्वयं प्रकट हुए।

अब शङ्का होती है कि कंस ने भगवान् के ऐश्वर्यादि छः गुणों को नाश किया ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि नहीं। कारण कि भगवान् के छ गुण भी भगवद्रूप हैं। अतः उनको कंस मारता तो क्या, स्पर्श भी नहीं कर सकता है। यदि यों है तो कंस ने किनको मारा ? इसका समाधान यह है कि देवकी के गर्भ में साधारण जीवों का प्रवेश नहीं हो सकता है, कारण कि देवकी सर्व देवता रूप है। अतः देवकी के गर्भ में गुणों के साथ मरीचि ऋषि के पुत्र जो वैकुण्ठस्थ दैवी जीव थे उनका प्राकट्य हुआ था। किन्तु इन मरीचि ऋषि के पुत्रों को पूर्व जन्म में ब्रह्माजी ने शाप दिया था कि तुम असुर होवोगे, क्योंकि जब ब्रह्माजी अपनी पुत्री के पीछे कामातुर होकर दौड़े थे उस समय यह क्रिया देखकर ये मरीचि के पुत्र हँसे थे। उस शाप से इनका जन्म, हिरण्यकशिप, के यहाँ हुआ था। अनन्तर वे अब गुणों के साथ देवकीजी के यहाँ प्रकट हुए।

कंस ने, उन मरीचि ऋषि के पुत्रों में, जो शाप से आसुर भाव उत्पन्न हुआ था, उस आसुर भाव को नाश किया। वे देव रूप दैवी जीव तो भगवत्प्रसादी, दुग्धपान करने से मुक्त हुए और गुण तो धर्म रूप होने से अपने धर्मी रूप सप्तम गर्भ अक्षर में स्थित रहे।

एवं सति भक्तेषुदया स्थापितेति दयापरीतो भगवान् शीघ्रमुपायं कृतवानित्याह भगवानिति।

इस प्रकार देवकीजी को हर्ष तथा शोक एवं यादवों को दुःख का होना देखकर, भगवान् को भक्तों पर दया उत्पन्न हुई, अतः दया से पूर्ण भगवान् ने अपने शीघ्र प्राकट्य होने के लिये उपाय किया उसका वर्णन करते हैं।

---

१. योग्य

श्लोक—भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम् ।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—विश्वात्मा भगवान्, जिन यादवों के आप नाथ हैं उन का कंस जन्य भय देख कर, योगमाया को आज्ञा देने लगे ॥ ६ ॥

सुबोधिनी—षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः पूर्वापराधे प्रतीकारं कर्तुं सप्तमे स्पृष्टे तेनैव हननसम्भवात् प्रतीकारो न भविष्यतीति शीघ्रं च स्वयमागन्तुं तं गर्भमन्यत्र नेतुं योगमायां समादिशत् । या जगत्कारणभूता भगवच्छक्तिः सा योगमाया । लोकानां दुःखपरिज्ञानार्थं विश्वात्मेति । यदूनां कंसजं भयं विदित्वा । सर्वस्यैव स्वरूपं जानाति किं पुनर्यादवानाम् ? तेषामेव दुःखे सति प्रतीकारे हेतुर्निजनाथानामिति । निजः स्वयमेव नाथो येषाम् । केवलमिच्छयैव सर्वं न भवतीति दृष्टकारणार्थं योगमायादेशः ॥ ६ ॥

अनुवाद—षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न भगवान् की यह इच्छा थी कि कंस ने जो पहले अपराध किये हैं, उनका प्रतिकार[1] कंस से मैं स्वयं लूँ, इसलिए अपने शीघ्र प्राकट्यार्थ, उस सप्तम गर्भ को अन्यत्र स्थापनार्थ ले जाने के लिए योग माया को आज्ञा दी। यदि भगवान् योगमाया को वैसी आज्ञा नहीं देते तो 'सप्तम गर्भ का प्राकट्य कारागृह[2] में देवकी के यहाँ ही होता और कंस अवश्य उनको भी अन्य पुत्रवत् मारने के लिए हाथ से स्पर्श करता, तो स्पर्शमात्र से ही कंस का नाश हो जाता। वैसा होगा तो मैं प्रतिकार ले न सकूँगा और शीघ्र प्रकट भी नहीं हो सकूँगा। अतः योगमाया को आपने आज्ञा दो। जो कि भगवान् की शक्ति जगत् के उत्पन्न करने में कारण है और उस शक्ति का ही नाम 'योगमाया' है। आप भगवान् 'विश्वात्मा' समग्र विश्व की आत्मा है। अतः सकल लोकों के दुःखों को जानते हैं। जब सर्व के दुःखों को तथा स्वरूपों को जानते हैं तो कंस से प्राप्त यादवों के दु खों को जाने, इसमें कोई संशय नहीं है। उनके दुःखों का प्रतीकार आप करने लगे। उसका कारण यह है कि आप यादवों के नाथ हैं। यद्यपि भगवान् सर्व समर्थ होने से केवल इच्छा से भी सभी कार्य कर सकते हैं। सप्तम गर्भ को भी इच्छा मात्र से अन्यत्र पहुँचा सकते हैं, किन्तु कार्य करने में प्रत्यक्ष कारण, अन्य होना चाहिए, अतः 'योगमाया' को आज्ञा देकर प्रत्यक्ष कारण दिखाया ॥ ६ ॥

श्लोक ६ पर प्रकाश तथा लेख का सारांश

प्रभु शरणागत भक्तों पर ही विशेष दया करते हैं, यह तृतीय स्कन्ध के २१वें अध्याय के ३८वें श्लोक से सिद्ध है। यादव शरणागत अनन्य हैं, आप ही उनके नाथ हैं। अतः आप उन पर दया करके उनके दुःखों को दूर करें। इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है। दुःखों की पूर्ण निवृत्ति परमानन्द

१. बदला २. जेलखाने

स्वरूप पुरुषोत्तम के प्राकट्य के सिवाय नहीं हो सकती है। इसलिए भगवान् दया वश होकर अपने शीघ्र प्राकट्य के लिए उद्यम करने लगे। भगवान् को जब रमण की इच्छा हुई, तब भी सृष्टि को आपने इच्छा मात्र से स्वयं प्रकट नहीं किया। उसके लिए प्रत्यक्ष में अन्य कारण अर्थात् तपस्या को दिखाया। ब्रह्मा रूप से तपस्या कर सृष्टि उत्पन्न की। वैसे ही यहाँ पर सप्तम गर्भ को अन्यत्र स्थापन करने के लिए जगत् की कारणभूत योगमाया को आज्ञा दी।

कंस ने देवकी के छः पुत्रों को मारा और यादवों को दुःख दिया, उसका प्रतीकार[1] यही है कि कंस का तथा उसको इस कार्य में सहायता करने वाले असुर राजाओं का वध करना। दुःखों का मूल कारण कंस था। अतः भगवान् ने प्रथम कंस का वध किया।

भगवान् की दस प्रकार की शक्तियाँ हैं, उनमें से एक का नाम 'माया' है। वह माया तीन प्रकार की हैं—(१) जगत् की कारण रूपा-जिसको योगमाया कहते हैं, (२) व्यामोहिका-वह चित्रूपा है। (३) क्रिया रूपा-वह सत् रूपा है। अभी यहाँ पर योगमाया का प्राकट्य हुआ है। जिसको आज्ञा हुई है। अन्य दोनों शक्तियों से दूसरे समय में कार्य लिया है।

श्लोक—गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलंकृतम् ॥ ६१/२ ॥

श्लोकार्थ—हे कल्याणी देवी ! गोप (गोपी) और गौओं से अलंकृत व्रज में जा ॥ ६½ ॥

सुबोधिनी—आज्ञामेवाह गच्छ देवीति नवभिः। प्रथमतो व्रजं गच्छ। तत्र गता स्वास्थ्यं प्राप्स्यतीति। मथुरायां दैत्यावेशात्। तेषां च भगवान् मायारूप इतीयमपि तत्र प्रविष्टा तेषामेव कार्यं साधयेत्। अतः केवलं देवाश्रितं गोकुलमेव गच्छेत्याज्ञा। यतस्त्वं देवतारूपा न दैत्यहितकारिणी। अतस्तथा सम्बोधयति। व्रजपदेन जङ्गमत्वमुक्तम्। अतः स्थावरान्नगरादुत्कर्षः। ननु तत्र स्थितानां देवानां मायागमने व्यामोहसम्भवाद् वैपरीत्यं स्यादितिशङ्कां वारयति। भद्र इति। त्वं कल्याणरूपा। देवानां या देवता कल्याणरूपा। ऐहिकसुखदा। सा मुग्धैरत्यन्त सम्मान्यत इति तदर्थमाह गोपगोभिरलंकृतमिति। गोपाश्च गोप्यश्च गोपाः। गोपाश्च गावश्च। ते उभये तस्य स्थानस्यालङ्करणभूतास्तैरेव तत्रत्या शोभा। योन्यस्तिष्ठति स तु तदनुगुण एवेति तेषामप्रतिबन्धो निरूपितः। अतो दर्शनादेव तत्र सुखं निरूपितम्॥

अनुवाद—भगवान् ने योगमाया को आज्ञा दी कि मथुरा में दैत्य का आवेश है। इसलिए प्रथम तू व्रज में जा। वहाँ तू सुख प्राप्त करेगी। दैत्यों का भगवान् माया रूप है। जो माया वहाँ (मथुरा में) रहेगी तो दैत्यों का कार्य सिद्ध कर दे। इसलिए माया को कहा कि तू देवाश्रित गोकुल में जा। कारण कि तू देवता रूप होने से दैत्यों की हितकारिणी नहीं है। इसलिए श्लोक में योगमाया को हे देवि ! कहा है। 'गोकुल' को व्रज कहकर यह बताया है कि गोकुल जड़ नहीं है किन्तु चेतन रूप है। इसलिए

---

१. बदला

स्थावर नगर[1] से इसकी उत्तमता दिखलाई है। यदि 'माया' व्रज में आयगी तो वहां के रहने वाले देवों को मोहित करेगी इस शङ्का की निवृत्ति के लिये श्लोक में 'माया' को 'भद्रे' विशेषण दिया हें। जिसका भाव है कि वह माया देवों की भी देवता होने से कल्याण रूपा है। इस लोक के सुखों को देने वाली है। इस माया का सीधे सादे जीव बहुत सन्मान करते हैं। व्रज में गोप, गोपी और गौ रहते हैं वे सीधे सादे हैं इसलिये माया का वहां सन्मान विशेष होगा। अतः भगवान् ने माया को व्रज में जाने की आज्ञा दी। ये गोपादि व्रज के अलङ्कार हैं इन्हीं से व्रज सुशोभित[2] हो रहा है। इनके सिवाय जो अन्य रहते हैं उन पर भी इनका प्रभाव पड़ता है जिससे उन अन्यों से शोभा में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है अतः व्रज के दर्शन मात्र से ही वहां सुख प्राप्ति होती है यह निरूपण किया है॥ ६½॥

श्लोक–रोहिणी वसुदेवस्य भार्यास्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि॥ ७॥

श्लोकार्थ–वसुदेवजी की स्त्री रोहिणी नन्दजी के गोकुल में है और कंस के उद्वेग[3] से पीड़ित दूसरी वसुदेवजी की स्त्रियां तथा अन्य स्त्रियाँ भी गुप्त स्थानों में रहती हैं॥७॥

सुबोधिनी—तत्र गतायाः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह रोहिणीति। वसुदेवस्य भार्या रोहिणी तत्रास्ते। स्थितौ कः सम्बन्ध इत्यत आह नन्दगोकुल इति। नन्दसम्बन्धिगोकुले। अनेन नन्दवसुदेवयोर्भ्रातृत्वं द्योतितम्। अत्र पादद्वयमधिकं किमिति तिष्ठतीत्याकाङ्क्षायां निरूपितम्। अन्याश्च स्त्रियो वसुदेवस्यान्येषां वा। याः कंससंविग्नाः सत्यो विवरेषु गुप्तस्थानेषु वसन्ति। भयदशायां तथैव स्थितिर्युक्तेति हिशब्दार्थः॥ ७॥

अनुवाद—माया का व्रज में जाने का क्या प्रयोजन था? उसका कारण इस श्लोक में बताते हैं। वसुदेवजी की स्त्री रोहिणी व्रज में (गोकुल में) रहती है कारण कि वह (गोकुल)

---

१. टिप्पणी में प्रभु चरण आज्ञा करते हैं कि 'नगर' अभिमानी होने से 'स्तब्ध' होते हैं अतः वे 'स्थावर' (जड़) हैं।

२. योजनाकार लालू भट्ट जी कहते हैं कि भगवान् ने माया को व्रज में जाने की आज्ञा की जिसका गूढाशय यह है कि जैसे गोप और गौ तो व्रज को प्रकट रूप से सुशोभित कर रहे हैं किन्तु गोपियां जो साक्षात् श्रुतिरूपा हैं वे प्रभु से रासोत्सव में सङ्गम कर रस प्राप्ति की आशा से व्रज में स्थिति करती हैं और परस्पर प्रभु का गुण गान, करती हुई व्रज की शोभा बढाती हैं अतः वे ही मुख्यतः व्रज की शोभा रूप है। प्रभु अपने लिये उनको प्रकट कर आप आविर्भूत हुवे हैं। गोपी व्रज की गुप्त रूप से भूषण हैं,कारण कि,शृङ्गार रस की पद्धति के अनुसार उनके साथ गुप्त रीति, से ही रमण प्रभु को इष्ट है। अतः श्री शुकदेवजी ने श्लोक में 'गोप गोभिः अलङ्कृतम्' कहा है इसमें गोपी शब्द व्याकरण के नियमानुसार गुप्त रखा है। अतः जिस प्रकार गोपियें गुप्त प्रकार से शृङ्गारादि कर तथा गुण गान कर व्रज की शोभा बढाती है वैसे तू भी वैसी ही होकर व्रज की शोभा की वृद्धि में सहयोग दे। मुग्ध गोपाल तुम्हारा सन्मान भी करेंगे॥ ६½॥

---

३. दुःख

नन्द का है इससे यह बताया कि वसुदेव और नन्द का परस्पर भ्रातृत्व सम्बन्ध है इस सम्बन्ध से ही रोहिणी वहां रहती[1] है। अन्य स्त्रियां वसुदेव की तथा अन्य यादवों की जो कंस से पीड़ित हुई थी वे भी गुप्त स्थानों में रहती हैं। भय की दशा में गुप्त स्थानों में रहना ही योग्य है यह भाव 'हि' शब्द सूचित करता है ॥ ७ ॥

श्लोक–देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम् ।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—देवकी के जठर में मेरे 'शेष' संज्ञा (नाम) वाले धाम आये हैं उनको वहां से खींच के रोहिणी के उदर में स्थापित कर ॥ ८ ॥

सुबोधिनी—ततः किमत आह देवक्या इति। जठर इति। इतरगर्भवैलक्षण्यार्थम्। तदिति प्रसिद्धम्। ततः सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सम्यङ् निवेशय। किं तद्गर्भरक्षायामित्याकाङ्क्षायामाह शेषाख्यमिति। शेष इत्याख्या यस्य। तस्मिन् नष्टे भूमिरेव निमग्ना भविष्यतीति। ननु तस्याकर्षणे नाशशङ्का स्यादित्यत आह मामकं धामेति। भगवत्तेजोरूपं भगवतोपि स्थानभूतं वा न नश्यतीति ॥ ८ ॥

अनुवाद—तदनन्तर क्या हुआ उसका वर्णन करते हैं। सब गर्भ माता के गर्भाशय में स्थिति करते हैं किन्तु यह सातवां गर्भ माता के अन्दर रहे हुए आकाश में अर्थात् जठर में स्थित हुआ है कारण कि अन्य गर्भ (बालकों) से यह विलक्षण (विशेष लक्षण वाला अद्भुत, भगवान् का (धाम स्वरूप) गर्भ है। श्लोक में 'तत्' शब्द से यह सूचित किया है कि यह गर्भ मेरा धाम होने से प्रसिद्ध ही है। देवकी के जठर से इनको खींच कर रोहिणी के उदर में स्थापित कर। यहां से रोहिणी के उदर में स्थापन करने का कारण कंस से इनकी रक्षा करना है। यदि कंस इनको नाश[2] करदे तो भूमि किसके आधार पर ठहरेगी ? इसी लिये यों करना आवश्यक है। यह मेरा तेज स्वरूप तथा धाम रूप है अतः खींचने से इसका नाश न होगा। इसलिये नाश की शङ्का करना व्यर्थ है ॥ ८ ॥

श्लोक–अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे ।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ—हे शुभ स्वरूपे ! अनन्तर मैं अंशो के भाग से (परिपूर्ण रूप से) देवकी के पुत्रत्व को प्राप्त करूंगा। और तू नन्द की स्त्री यशोदा में उत्पन्न होगी ॥ ९ ॥

---

१. नव श्लोकों में दो पाद अधिक इसी दिखाने के लिये दिये है कि रोहिणी यहां रहती है। सु०

२. यह कहना केवल लौकिक दृष्टि से है, वास्तव में तो इसके स्पर्श मात्र से कंस स्वयं नष्ट हो सकता है।

अनुवादक

सुबोधिनी—तर्हि स्थितावेव कंसभयाभावात् को दोष इति चेत्तत्राहाथाहमिति। अयं पुरुषोत्तमो योगमाया-माज्ञापयति। भक्तिमार्गे तस्यैव सेव्यत्वात्। आरम्भे 'यदूनां निजनाथाना' मितिवचनात्। स चतुर्धात्र समायास्यति। तदर्थमाहाथ शीघ्रं तदनन्तरमेव। अहं पुरुषोत्तमः। अंशानां वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां भागेन विभागेन चतुर्धा कार्यकरणाद् देवक्याः पुत्रतां प्राप्स्यामि। भागेनेत्येकवचनं प्रद्युम्नांशेनैव पुत्रत्वमितिज्ञापनार्थम्। अथाहमितिसन्दर्भेण यथा त्वं गमिष्यस्यन्यत्रोत्पन्नान्यत्र तथाहमपीति ज्ञापितम्। पुत्रतामिति लोकप्रतीत्या तद्धर्मवत्त्वं ज्ञापितं नत्वहं पुत्रो भविष्यामि। शुभ इतिसम्बोधनेन त्वद्गमनेन मद्रमणस्थानं शोभायुक्तं भविष्यतीत्यग्रिमाज्ञापने हेतुकथनार्थं तस्या भगवदेकशरणाया वैकुण्ठे केवलं स्थातुमयुक्तमिति। तामपि जननार्थमाज्ञापयति त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसीति स्तन्योत्पादनार्थं मोहजननार्थं मारणार्थं च ॥ ९ ॥

अनुवाद—यदि यह (सातवां गर्भ) आपका तेज रूप है इनको वास्तव में कंस नाश नहीं कर सकता है, यहां ही स्थित हो तो क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि इस श्लोक में जो माया को आज्ञा देते हैं वे ये पुरुषोत्तम हैं, कारण की भक्ति मार्ग में वे ही सेव्य हैं। आरम्भ से भी कहा है कि 'यदूनां निजनाथानाम्। वे पुरुषोत्तम यहां चार प्रकार से (चार व्यूहात्मक स्वरूपों सहित) पधारेंगे। इसलिये कहते हैं कि 'अथ' शीघ्र वा आप इस सप्तम गर्भ को लेजाओगी इसके अनन्तर ही, मैं पुरुषोत्तम, चार प्रकार के कार्यों को पूर्ण करने के लिये, अंशों (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न अनिरुद्ध) के विभाग से, देवकीजी के पुत्रत्व को प्राप्त करूंगा अर्थात् पुत्र रूप से प्रकट होऊंगा। यहां श्लोक में 'अंश भागेन' एक वचन का आशय यह है कि भगवान् ने देवकीजी के यहां 'प्रद्युम्न' व्यूह रूप से पुत्रत्व अङ्गीकार किया है। श्लोक में 'अथ अहम्' कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् माया को कहते हैं कि जैसे तू एक स्थान पर, यशोदा के यहां प्रकट होकर अन्य स्थान पर देवकी के यहां जायगी। उसी प्रकार मैं भी एक स्थान पर देवकीजी के यहां प्रद्युम्नांश से प्रकट होकर अन्य स्थान पर यशोदाजी के पास जाऊंगा। श्लोक में 'पुत्रतां' पद कहने का तात्पर्य यह है कि मैं लोकदृष्टि से अपने में पुत्र पने को दिखाता हूँ वास्तव में तो मैं किसी का पुत्र नहीं हूँ और नहीं होऊंगा। माया का विशेषण 'शुभे' शब्द श्लोक में दिया है उसका आशय यह है कि तेरे गोकुल में जाने से मेरा रमण स्थान गोकुल शोभा युक्त होगा। पहले जाने का यही हेतु है कि गोकुल को शोभा युक्त करना और यह माया वह है जिसका केवल भगवान् ही एक शरण है वैसी माया को वैकुण्ठ में अकेली छोड़ना भी अयोग्य है। इसलिये माया को कहा तू नन्दपत्नी यशोदा में उत्पन्न होगी। यशोदा के वहां क्यों उत्पन्न होगी, उसका कारण बताते हैं कि माया को वहां (१) स्तन्य उत्पन्न करना है, (२) मोह को प्रकट करना है मोहित करना है और मारने का कार्य करना है ॥ ९ ॥❀

❀ इस ९ वें श्लोक पर प्रकाशकार गो० पुरुषोत्तमजी के प्रकाश का सारांश।

माया का प्राकट्य केवल कंस के भय निवारण के लिये नहीं है किन्तु भगवान् की सेवा के लिये भी है। माया, अनेक प्रकार की एवं अंश सम्बन्धिनी है अतः सर्व फल दात्री नहीं है। इसलिये स्वयं भगवान् का प्राकट्य आवश्यक है। भगवान्चतुर्विध कार्य करने के लिए चतुर्व्यूह स्वरूप सहित प्रकटे हैं।

श्लोक—अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम् ।
धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम् ॥ १० ॥

श्लोकार्थ-तूं सकाम पुरुषों को वर देने में समर्थ है और सर्व प्रकार के कामनाओं की पूर्ति का वर देने वाली है, अतः मनुष्य धूप, उपहार और बलि से तेरी पूजा करेंगे ।

सुबोधिनी—स्तन्योत्पादनार्थं मोहजननार्थं मारणार्थं च यद्यप्युत्पाद्यते तथापि तस्यास्तदनिष्टमिति तदनुक्त्वा फलान्तरमाहार्चिष्यन्तीति । मनुष्या इति । देवांशा दैत्यांशाश्च निवारिताः । देवांशास्तु भगवत्सेवका एव । दैत्यांशास्तु न भजन्त एव । अर्चनायां फलं हेतुः । सर्वासां कामनानां वराणामीश्वरीमिति । काम्याः सोपाया विषयाः । वरा अनुपायाः । स्त्रियाः साक्षात्सेवा तस्या अपि बाधिकेति तन्निवृत्त्यर्थं धूपोपहारबलिनेति । पूजायां साधनत्रयं निर्दिष्टम् । धूपो-दूरादेव सम्भवति । उपहारश्च । दीपस्तु स्वतः-प्रकाशमानाया उपयोगी न भवतीति नोक्तः । बलिः पशूनां दानम् । पूर्वं काम्यादीनां प्रभुत्व उक्तेऽप्यदातृत्वेभजनीया स्यादिति तद्दातृत्वमपि तस्यां भगवान् स्थापयति सर्वकामवरान् प्रकर्षेण ददातीति सर्वकामवरप्रदा ॥ १० ॥

अनुवाद—स्तन्योत्पादन, मोह उत्पन्न करना और मारना ये कार्य माया को करने हैं किन्तु ये कार्य माया को इष्ट[1] न होवे और इससे वह उत्पन्न होना नहीं भी चाहे तो इसलिये भगवान् माया को कहते हैं कि तूं जाकर ये कार्य करेगी तो सर्व मनुष्य तेरी पूजा करेंगे । जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं, जगत् में जो देवांश है वे तो भगवान् के सेवक हैं और जो दैत्यांश हैं वे तो भजन करते ही नहीं हैं, शेष जो मनुष्य हैं वे तेरी पूजा करेंगे कारण कि तूं सब कामनाओं की तथा वरों की ईश्वरी है । कामनाओं की पूर्ति, उपाय करने से होती है और वरदान बिना उपाय के होते हैं । माया की पूजा का

प्रत्येक व्यूह का कार्य भिन्न है और प्रकट होने का कारण भी भिन्न है । जैसे कि 'प्रद्युम्न' पुत्र रूप से प्रकट हुए और उसका कारण पृश्नि और सुतपा को दिया हुआ वरदान था । 'सङ्कर्षण' धर्म रक्षण कार्य के लिये प्रकटे और उसका कारण भूमि और देवताओं की प्रार्थना है, 'अनिरुद्ध' सर्व प्रकार के भक्तों के मोक्ष-दान रूप कार्य के लिये प्रकटे जिसका कारण भक्तों को मुक्ति देने की भगवान् की इच्छा है । 'वासुदेव' ज्ञानोपदेश कार्य तथा देवकी की रक्षा के लिते प्रकटे, यहां भगवदिच्छा ही कारण है । भगवान् और चार व्यूह स्वरूपों के एक ही स्वरूप में दर्शन होने से लोक भगवान् को ही पुत्र समझते हैं किन्तु भगवान् किसी के पुत्र नहीं हैं । 'पुत्रत्व' तो प्रद्युम्न व्यूह में है अतः प्रद्युम्न व्यूह ही पुत्र रूप से देवकी के यहां प्रकटे हैं । जैसे परशुराम में ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व दोनों धर्म थे किन्तु ब्राह्मणत्व के कारण ही भार्गवत्व और पुत्रत्व है । न कि क्षत्रियत्व में पुत्रत्व वा भार्गवत्व है क्षत्रियत्व तो युद्ध में प्रकट होता है क्योंकि वह युद्ध के लिये है ॥ ९ ॥

---

१. पसन्द न आवे ।

प्रकार धूप, उपहार और बलि[1] देना ये तीनों, कार्य दूर से ही किये जाते हैं इसीलिये बताया है (माया) स्त्री है उसकी भगवान् के समान साक्षात् श्री अङ्ग की सेवा नहीं हो सकती है। करने वाले को तथा स्वयं माया को भी बाधक है। पूजा में (दीप)[2] नहीं कहा इसका कारण यह है कि योगमाया स्वयं प्रकाश रूप है। ऊपर कहा कि सर्व कामनाओं तथा वरों की तू ईश्वरी है। किन्तु ईश्वरी होते हुए भी यदि फलदातृत्व न हो तो वह पूजनीया नहीं हो सकती है अतः भगवान् ने उसमें फलदातृत्व भी स्थापन किया है जिसमें कहा है कि (सर्व काम वर प्रदाम्) सर्व प्रकार के कामनाओं तथा वरों को देने वाली है ॥ १० ॥

श्लोक—नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च ॥ ११ ॥

श्लोक—कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च।
माया नारयणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी पर मनुष्य आपके मन्दिर बनावेंगे और दुर्गा, भद्रकाली, विजया वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका ऐसे नाम धरेंगे ॥ ११-१२ ॥

सुबोधिनी—तस्याः सान्निध्यार्थं मन्त्ररूपाणि नामानिस्थानान्याह नामधेयानीति। कुर्वन्तीति वर्तमानसामीप्ये। नामस्वेव स्थानान्यपि प्रसिद्धानि भवन्ति। चकारादधिष्ठानानि। नरा इति पूर्ववत्। भुवीति स्थापनार्थम्। नामान्याह दुर्गेति। सर्वत्रेतिशब्दो मन्त्रदेशभेदेन प्रसिद्धिप्रतिपादनार्थः। दुर्गा काश्यां प्रसिद्धा। भद्रकाल्यवन्त्याम्। विजयोत्कले। वैष्णवी महालक्ष्मीः कुल्हापुरे। चण्डिका कामरूपदेशे। मायाशारदे उत्तरदेशे। अम्बिकाम्बिकावने। कन्यका कन्याकुमारी। अन्यान्यपि प्रसिद्धानि स्थानानि तथैव मन्त्रा ज्ञेयाः ॥ ११-१२ ॥

अनुवाद—योगमाया के सान्निध्य[3] बनाने के लिये उसके मन्त्र, रूपनाम तथा स्थान का वर्णन दो श्लोकों में करते हैं। श्लोक में (कुर्वन्ति) यह क्रिया वर्तमान काल की है किन्तु संस्कृत के व्याकरण के अनुसार यह क्रिया, जो कार्य जल्दी होने वाला हो उसके लिये भी दी जाती है अतः यहां इस क्रिया का अर्थ किया जायगा (करेंगे) आपके नामों के साथ स्थान (मन्दिर) भी प्रसिद्ध होंगे। श्लोक में दिये हुए (च)

---

१ पशुदान।

२ लेख सारांश—

यदि स्वरूप सेवा कहते तो वाम मार्गवत् विकार उत्पन्न होता अतः वह न कहकर दूर से ही धूपादि से अर्चनादि कहा। दीप की अपेक्षा प्रतिमा में होती है यह तो स्वयं प्रकाश स्वरूप है अतः दीप की आवश्यकता नहीं है।

३. समीपता।

शब्द से (अधिष्ठान) (प्रतिमा) का भी निर्देश किया है। इसके साथ (भुवि) (पृथ्वी पर) शब्द देने का भाव यह है कि मनुष्य[1] आपकी प्रतिमाओं को पृथ्वी पर स्थापन करेंगे। नाम मन्त्र का वर्णन करते हैं– दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका। नामों के साथ श्लोक में (इति) शब्द दिया है जिसका तात्पर्य है कि वे, सर्वत्र मन्त्र तथा देश भेद से प्रसिद्ध है। जैसे कि (दुर्गा) काशी में, भद्रकाली अवन्ती (उज्जैन) में, विजया उत्कल (उड़ीसा) में, वैष्णवी (महालक्ष्मी) कोल्हापुर में, चण्डिका कामरूप (आसाम) में, माया और शारदा उत्तर प्रदेश में, अम्बिका आम्बिका वन में, तथा कन्यका कन्या कुमारी में प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार जैसे अन्य स्थान प्रसिद्ध हैं वैसे ही अन्य नाम मन्त्र भी प्रसिद्ध समझने चाहिये ॥ ११-१२ ॥

श्लोक—गर्भसङ्कर्षणात् तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि ।
रामेति लोकरमणाद् बलभद्रं बलोच्छ्रयात् ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—गर्भ के खींचने से उनको पृथ्वी पर सङ्कर्षण कहेंगे। जगत् को रमण कराते आनन्द देते हैं इसलिये उनको राम कहेंगे हैं। विशेष बलवान् होने से बलभद्र कहेंगे।

सुबोधिनी—एवं तस्या नामान्युक्त्वा शेषस्यापि नामान्याह गर्भसङ्कर्षणादिति। गर्भरूपस्य तस्य सङ्कर्षणात् सङ्कर्षणः सम्यक् कर्षणं यस्येति। प्राहुरितिप्रमाणम्। भुवीत्यवतारदशायामेव। वस्तुतस्तु सङ्कर्षणश्चतुर्मूर्तेर्भगवतो द्वितीयः। सोप्यत्राविष्टस्तथापि लोका गर्भसङ्कर्षणादेव सङ्कर्षणं वदन्ति। नामान्तरमाह रामेति। लोकस्य रमणं यस्मात्। रमयतीति रामः। राम इति वक्तव्येविभक्तिकनिर्देशोसम्मत्यर्थः। सम्बुद्धिरूपो वा व्यवहारार्थः। बलभद्रमपि प्राहुर्बलेन भद्र इति। बलोच्छ्रयात्। न तु बलकार्यात् ॥ १३ ॥

अनुवाद—योग माया के नाम कहकर इस श्लोक में शेष के नाम भी कहते हैं। शेषजी को अवतार दशा में पृथ्वी पर सङ्कर्षण कहेंगे, कारण कि इनके (गर्भ) काल में योगमाया ने इनको खींचकर रोहिणी के उदर में स्थापित किया था। वास्तव में तो भगवान् के चतुर्व्यूह रूप चार स्वरूपों में से द्वितीय व्यूह स्वरूप सङ्कर्षण भी इनमें प्रविष्ट हैं अतः यह शेषजी सङ्कर्षण हैं किन्तु लोक में गर्भ खींचने से इनको सङ्कर्षण कहेंगे। लोक जिनसे आनन्द पाते हैं और जो लोग को रमण कराते हैं अतः उनका दूसरा नाम राम है। श्लोक में (राम) शब्द विभक्ति के बिना दिया गया है इसका तात्पर्य यह है कि यह नाम भगवान् को रुचिकर नहीं है अथवा (राम) शब्द संबोधन रूप होने से यह नाम व्यवहारिक है। शेषजी ने

---

१. इस श्लोक में दिये हुए नर (मनुष्य) शब्द का भाव भी वही समझना जो १० श्लोक में दिया है। अर्थात् आपके मन्त्र रूप नाम तथा जिनमें आपकी प्रतिमा स्थापन होंगी उन मन्दिरों की सेवा केवल मनुष्य करेंगे, देव एव असुर नहीं करेंगे।

गो० वल्लभलालजी लेख में कहते हैं कि सुबोधिनी में (अपि) (भी) शब्द देने का भाव है कि शेष में सङ्कर्षण व्यूह के साथ वासुदेव व्यूह भी है। किन्तु वह गर्भ के स्थिति के समय में नहीं है व्यवहार के समय में है।

बल के कार्य किये इसलिये इनका नाम बलभद्र नहीं है किन्तु विशेष बलवान् होने से बलभद्र कहे जाते हैं ।। १३ ।।

श्लोक—सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः ।
प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथाकरोत् ।। १४ ।।

श्लोकार्थ—इसी प्रकार भगवान् ने योगमाया को आज्ञा दी, आज्ञा के वचनों को सादर स्वीकार कर, प्रभु की प्रदक्षिणा करके वह पृथ्वी पर गई और वहाँ जाकर उसने आज्ञानुसार कार्य किया ।। १४ ।।

सुबोधिनी—ईश्वरवाक्यादादेशानन्तरमेव तथा कृतवतीत्याह सन्दिष्टैवमिति । भगवतेत्यनुल्लङ्घनार्थम् । तथेति करणार्थं जननार्थं च । ओमिति पूजार्थम् । तस्य भगवतो वचः परिगृह्य परिक्रमणं कृत्वा गां भूमिं गता सती तथाकरोत् ।। १४ ।।

अनुवाद—भगवान् की आज्ञा के अनन्तर माया आज्ञा अनुसार कार्य करने लगी जिसका वर्णन करते हैं। मूल श्लोक में माया को आज्ञा देने वाले के लिये 'भगवान्' शब्द दिया है वह इसीलिये है कि उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता है। और 'तथा' शब्द जैसी भगवान् की आज्ञा गर्भ सङ्कर्षण तथा अपने (माया के) जन्म लेने के लिये हुई वैसा ही करने के वास्ते दिया है एवं 'ओम्' शब्द पूजा के लिये दिया है। इसी से आज्ञा स्वीकार कर भगवान् की प्रदक्षिणा कर, योगमाया पृथ्वी पर गई और आज्ञा को पालने लगी ।। १४ ।।

श्लोक-गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया ।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः ।। १५ ।।

श्लोकार्थ—योगमाया ने देवकीजी का गर्भ रोहिणीजी में स्थापित किया तब लोक चिल्लाने लगे कि अहो देवकीजी का गर्भ विस्रंसित[1] हो गया ।। १५ ।।

सुबोधिनी—तत् सर्वं भगवन्निर्दिष्टं तत्कार्यं लोके प्रसिद्धं जातमित्याह गर्भे प्रणीत इति । गर्भे प्रकर्षेण नीते रोहिण्युदरं प्रापिते । योगनिद्रयेति कर्षणप्रापणयोः सर्वाज्ञानं निरूपितम् । अहो इत्याश्चर्ये । विस्रंसित इति 'स्रंसु ध्वंस्वधःपतने' । तेन पञ्चमो मासः षष्ठो वेति ज्ञापितम् । पौराः पुरवासिनः । अनेन सर्वप्रतीतिर्जातेत्युक्तम् । राक्षसैः कंसप्रेरितैः विस्रंसित इति विचुक्रुशुरत्याक्रोशं कृतवन्तः ।। १५ ।।

अनुवाद—भगवान् ने योगमाया को जिस कार्य करने की आज्ञा दी थी वह सब कार्य लोक में

---

१. गिर गया

प्रसिद्ध हुवा, जिसका वर्णन करते हैं। योगनिद्रा ने सुष्ठु प्रकार से गर्भ को लेजाकर रोहिणीजी के उदर में स्थापित किया। यह कार्य योगनिद्रा ने किया अतः सबको ऐसी निद्रा आगई जो किसी को भी इस कार्य को (यहां से ले जाने और वहाँ पहुँचने की) सुधि न रही जिससे सबको आश्चर्य हुआ। मूल में 'अहो' शब्द आश्चर्य प्रकट करने के लिये दिया है। श्लोक में विस्रंसित' पद संस्कृत के 'स्रंसु' धातु से बना है जिसका अर्थ 'गिरना' होता है। इस शबद को देने का भाव यह है कि जिस समय योगमाया गर्भ को लेगई उस समय, 'गर्भ' पांचवे या छट्टे मास का था। "पौराः" शब्द से पुरवासी चिल्लाने लगे यों कहने से यह बताया कि सबको यह खबर पड़ गई कि कंस के भेजे हुए राक्षसों ने देवकी जी का गर्भ गिरादिया है ॥ १५ ॥

श्लोक—भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः ।
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—भक्तों को निर्भय बनाने वाले विश्वात्मा, भगवान् भी वसुदेवजी के मन में अंशों के भाग से प्रविष्ट हुए ॥ १६ ॥

सुबोधिनी—अथाक्रोशानन्तरं विस्रंसनज्ञानानन्तरमेव भगवान् वसुदेवद्वारा देवक्यामागत इत्याहाविवेशेति सार्धाभ्याम्। निषेकाभावेपि पूर्वं वसुदेवे ततस्तद्द्वारा देवक्यामागमनस्यायं भावः। अत्र हि नृसिंहहंसादिवन् न प्राकट्यं किन्तु यदुवंशसम्बन्धित्वेन शूरपौत्रत्वेन वसुदेवपुत्रत्वेन। जीवे शरीरस्यैव वंश सम्बन्धित्वेन तस्य च निषेकजन्यत्वेन तथोत्पत्तिरुच्यते। ईश्वरे प्राकट्यस्यैवोत्पत्तिपदार्थत्वाद् वक्ष्यमाणप्रकारेण वसुदेवद्वारा देवक्यामाविर्भाव उच्यते। अन्यथा देवक्यामेव तथोच्येतेत्यानकदुन्दुभेर्मनो भगवानाविवेशायोगोलके वह्निरिव। अन्यथानकदुन्दुभित्वं व्यर्थं स्यात्। अंशानां भागेन विभागेन। केचितु-अंशेन नारायणरूपेण भागेन केशरूपेण सह स्वयं प्रद्युम्न आविवेशेत्याहुः। पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जातः। अन्यथा 'देवकीजठरभू'-रितिवत् 'तव सुत' इति कथं वदेयुः ? 'तन्मातरौ' वितिशुकवाक्यं च विरुध्येत। मायैव रूपान्तरमिति मायानिरूपणेनैव चतुर्थाध्याये तस्योत्पत्तिर्निरूपिता। उत्पत्तेरनन्तरमेव नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न' इतिसम्भ्रमः। एवं सति सर्वेषां चरित्राणामभिनिवेशो भवति। जननं मनस इति मन उक्तम् ॥१६॥

अनुवाद—लोगों के कोलाहल तथा गर्भ गिरने का ज्ञान सबको हुआ तदनन्तर भगवान् वसुदेव जी के द्वारा देवकीजी में पधारे, जिसका वर्णन २॥ श्लोकों मैं करते हैं। लौकिक प्रकार से, गर्भ धारण की क्रिया न होते हुए भी, भगवान् प्रथम वसुदेव जी के मन में प्रविष्ट हुए अनन्तर वहाँ से देवकीजी में आये। जब लोकिकवत् गर्भ धारण न हुआ तो वसुदेवजी के मन से देवकीजी के जठर में आने की क्या आवश्यकता थी ? इस शङ्का को मिटाने के लिये आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यहाँ भगवान् को नृसिंह तथा हंस के समान केवल अवतारत्व प्रकट नहीं करना था किन्तु अपना यदुवंस से सम्बन्ध, शूरसेनजी

---

१. निद्रा भी माया का रूप है, यहां सबको नींद लानी थी इसलिये 'योगनिद्रा' कहा। अनुवादक

का पौत्र पना तथा वसुदेवजी का पुत्रत्व भी प्रकट करना था अतः इस प्रकार देवकीजी के जठर में प्रविष्ट होना आवश्यक था। जीव का तो वंशादि सम्बन्ध देह से ही होता है अतः वहां स्त्री पुरुष संयोग से वीर्य द्वारा जो प्रवेश होता है उसको उत्पत्ति कहते हैं। ईश्वर के प्राकट्य को हो उत्पत्ति कहते हैं। इसलिये ऊपर कहे हुए प्रकार से ही वसुदेवजी द्वारा देवकीजी में भगवान् का आविर्भाव कहा गया है। यदि यह प्राकट्य भगवान् का न होता तो वसुदेवजी के मन में भगवान् का प्रवेश न होकर लौकिकवत् सीधा देवकी जी में होता वसुदेवजी के मन में भगवान् का प्रवेश है जैसे लोहे के गोले में अग्नि प्रवेश करती है वैसे हुआ है। जब वसुदेवजी का जन्म हुआ था तब देवों ने हर्ष में दुंदुभी बजाई थी कारण कि उनको मालूम था कि इनके यहां भगवान् प्रकट होंगे, तब हमारे संकट नाश होंगे अतः वसुदेवजी का नाम 'आनक दुंदुभी' पड़ा है। उस नाम को सार्थक करने के लिये भी भगवान् प्रथम वसुदेवजी के मन में पधारे। अंशों (व्यूहों) के विभाग से भगवान् ने प्रवेश किया। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि चतुर्व्यूह रूप भगवान् ने इस समय एक ही प्रद्युम्न व्यूहरूप से वंश सम्बन्ध कार्य सिद्ध करने के लिये प्रवेश किया है। किसी किसी का मत है कि 'अंशेन-भागेन' यों पदच्छेद करके उनका अर्थ 'अंशेन नारायण रूप और 'भागेन' केश रूप के साथ स्वयं प्रद्युम्न ने प्रवेश किया यों करना चाहिये।

पुरुषोत्तम तो नन्दगृह में माया के साथ ही प्रकट हुए हैं। यदि वहां प्रकट न हुवे होते तो, जैसे भगवान् के लिये 'देवकी जठर भूः' देवकी के जठर से प्रकट हुए हैं ऐसा श्रुतियों ने कहा है वैसे ही यशोदाजी को 'तव सुतः' तेरा पुत्र है इस प्रकार प्रमाण मूर्धन्य श्रुति रूप गोपिकाएँ कदापि नहीं कहती। जो भगवान् का प्राकट्य यशोदा के घर में न हुवा होता तो शुकदेवजी का 'तन्मातरौ' (उनकी दो माताएँ) यह कहना विरुद्ध हो जाता। चतुर्थाध्याय में माया के जन्म निरूपण से ही नन्दालय में 'भगवान्' की उत्पत्ति कही गई है। माया के कारण ही भगवान् की 'मनुष्य' रूप से प्रतीति हो रही है। उत्पत्ति[1] होने के अनन्तर ही पंचमाध्याय मे 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने' श्लोक से भगवान् के प्राकट्य का महान् उत्सव मनाया गया है। इस प्रकार अर्थ करने से ही सर्व चरित्रों का समन्वय हो सकेगा। जनन[2] मन से हुवा है इसलिये मूल में 'मन' शब्द दिया है ॥ १६ ॥❀

श्री प्रभुचरण टिप्पणीजी में आज्ञा करते हैं कि—आचार्य श्री ने १६ वें श्लोक के आभास में जो (अथा क्रोशानन्तरं) कहा है वह उपयुक्त ही है कारण कि प्रभु के हृदय में जो यह विचार था कि माया सप्तम गर्भ को लेजायगी, तदनन्तर शीघ्र ही मैं वसुदेवजी के मन द्वारा देवकी में प्रविष्ट होऊँगा उसकी श्री शुकदेवजी ने (गर्भेप्रणीते[3]) इस श्लोक से स्पष्टता करदी है इसी श्लोक में चिल्लाने का भी वर्णन किया हुवा है।

❀इस श्लोक पर जो टिप्पणी, प्रकाश, लेख और योजनाकार ने श्री सुबोधिनीजी की पक्तियों का आशय विशद् किया है उसका सारांश यहां दिया जाता है।

१. गर्भ को ले जाने के बाद तथा लोगों के कोलाहल (चिल्लाने) के अनन्तर।　　　२. प्राकट्य।

३. गर्भे प्रणीते—१५वां श्लोक में माया गर्भ को ले गई और लोग चिल्लाने लगे इस श्लोक को श्री शुकदेवजी ने इसीलिये कहा है कि इसके अनन्तर भगवान् पधारेंगे। इस आशय से आचार्य श्री ने आभास में 'अथा क्रोशान्तर' युक्त ही कहा है।—अनुवादक

(टि०) आचार्य श्री ने सुबोधिनीजी में पुरुषोत्तम तो नन्दगृह में माया के साथ ही प्रकट हुए हैं, यह फक्किका[1] कही है। इससे पुरुषोत्तम का प्राकट्य नन्दगृह में अवश्य मानना चाहिये। किन्तु वैसा मानने से उलझन यह आती है कि भगवान् वसुदेवजी के यहां भी प्रकटे हैं जब वसुदेवजी भगवान् को नन्दजी के यहाँ ले गये होंगे तब वहां दो स्वरूपों के दर्शन हुवे होगे ? यदि पधराये हुए स्वरूप का नन्दजी के यहां प्रकट हुए स्वरूप में लीन होना माना जाय तो ले जाना ही व्यर्थ हो जाता। प्रभुचरण इस प्रकार की शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि जिस समय देवकी ने प्रभु को उस चतुर्भुज स्वरूप को छिपा लेने की प्रार्थना की थी उस समय नन्दगृह में प्रकट हुए स्वरूप ने बाल स्वरूप (प्राकृतवत् द्विभुज स्वरूप) से देवकी को दर्शन देते हुए उस अपने चतुर्भुज स्वरूप को अपने बाल स्वरूप में अन्तर्हित कर दिया। जिससे नन्दगृह में पधारने पर दो स्वरूपों के दर्शन की शङ्का व उलझन नहीं रही। उस चतुर्भुज स्वरूप को अपने में अन्तर्हित इस लिये किया कि वहाँ व्रज में भी इस स्वरूप द्वारा अनेक कार्य पूतना वध आदि करने थे।

पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि—'अंशभागेन' इस तृतीया विभक्ति के, करण कारक होने से किनको यह शङ्का होती है, कि भूमि पर भगवान्, केवल चतुर्व्यूह स्वरूप से ही प्रकट हुए हैं। मूल पुरुषोत्तम स्वरूप से नहीं हुए हैं। इस शङ्का को आचार्य श्री सुबोधिनीजी में (पुरुषोत्तमस्तु नन्द गृह एव मायया सह जात:') पुरुषोत्तम तो नन्दजी के घर में माया के साथ ही प्रकटे हैं, इस फक्किका द्वारा मिटाते हैं। इसके लिये प्रमाण भी दिये हैं कि यदि पुरुषोत्तम नन्दगृह में प्रकट न हुवे होते तो जैसे गोपीजनों ने 'देवकी जठर भू:' कह कर भगवान् को देवकी का पुत्र माना है वैसे ही 'तव सुत:' कह कर यशोदाजी का पुत्र भी होना स्वीकार नहीं करती, किन्तु स्वीकार करने से सिद्ध है कि यशोदाजी के यहाँ प्रकट होने से ही उनको यशोदाजी का पुत्र कहा है। इसके सिवाय यदि भगवान् केवल देवकीजी के पुत्र होते तो श्री शुकदेवजी 'तन्मातरौ[2]' कहने की भूल कैसे करते ? अत: श्री शुकदेवजी ने 'तन्मातरौ' कह कर सिद्ध किया है कि उनका देवकी तथा यशोदा दोनों के यहाँ प्राकट्य हुवा है अत: उनकी दो माताएं हैं। इस प्रकार आचार्य श्री ने पृथ्वी पर मूल स्वरूप का प्राकटय दोनों स्थानों पर होना सिद्ध कर के इस शङ्का को मिटाया है कि मूल रूप से पुरुषोत्तम प्रकट नहीं हुए हैं। श्री सुबोधिनीजी में आचार्य श्री ने 'माययैव रूपान्तरं' कहा है, जिसका आशय प्रकट करते हुए प्रकाशकार कहते हैं कि माया से कोई भगवान् का स्वरूप मायिक (झूठा-कल्पित) नहीं बन गया है किन्तु मूल में जो 'प्राकृत: शिशु:' कहा है उसका भाव आचार्य श्री ने इस पंक्ति से बताया है कि भगवान् जो आनन्द स्वरूप हैं उनको माया ने मनुष्यों की दृष्टि में प्राकृत जैसा दिखला दिया जैसे सीप में चांदी की भ्रान्ति रूपान्तर है। वैसे ही रस रूप परमात्मा में प्राकृतत्व की भ्रान्ति ही रूपान्तर है।

---

१ किसी विषय को साबित करने के लिये जो उक्ति कही जाय उसको 'फक्किका' कहते हैं।

२. उनकी दो माताएँ है।

गो० वल्लभलालजी लेख में कहते हैं कि—श्री सुबोधिनीजी में 'जननं मनस इति मन उक्तम्' इस पंक्ति का अर्थ यह है कि 'उत्पन्न' करना मन का धर्म है इसलिये मूल श्लोक में 'मन' शब्द दिया है। जिसका आशय स्पष्ट करते हुए लेखकार कहते हैं कि भगवान् वसुदेवजी के मन द्वारा ही देवकीजी में प्रकटे हैं अन्यत्र जीव के जन्म-प्राकट्य में वैसा नहीं होता है वहां तो मन में प्रथम काम उत्पन्न होता है जिससे स्त्री पुरुष से संसर्ग होकर वीर्य द्वारा जरायु में गर्भ स्थिति हो, देहादि बनते हैं तद्नन्तर जीव उस देह में प्रवेश करता है इत्यादि, यहाँ इस प्रकार से न होकर भगवान् सीधे मन द्वारा देवकीजी के जठर में प्रविष्ट हो गये, इतना भेद है। और भगवान् आत्मभूत होने से स्वयं मन द्वारा पधारे हैं स्वयं देवकीजी ने भगवान् को धारण नहीं किया है। मूल में देवकीजी ने धारण किया है यह जो लिखा है वह केवल अल्पज्ञ लोगों की प्रतीति के लिये कहा है।

लालूभट्टजी योजना में कहते हैं कि— जिस प्रकार वसुदेव के यहाँ भगवान् के प्राकट्य का वर्णन 'आविवेशांशभागेन' 'ततो जगन्मङ्गलमच्युतांश' 'अथ सर्व गुणोपेत' 'आविरासीत् यथा प्राच्यां' भागवत के इन उपरोक्त श्लोकों में किया हुआ है इस प्रकार मूल में नन्दरायजी के यहाँ प्राकट्य का वर्णन कहीं भी नहीं किया गया है, तो फिर, वैष्णव, नन्दरायजी के यहाँ पुरुषोत्तम का प्राकटय क्यों वा कैसे कहते हैं ! इस प्रकार पूर्व पक्ष (शङ्का) कर अनन्तर उसका उत्तर पक्ष कहते हैं। भागवत में इस प्रकार वसुदेवजी के यहाँ प्राकट्य का वर्णन इसीलिये किया हुआ है कि वहां वंश सम्बन्धी लीला करने के लिये प्रद्युम्न रूप से वसुदेवजी के मन द्वारा देवकीजी में प्रविष्ट हुए है, तदनन्तर व्यूह विशिष्ट पुरुषोत्तम अकस्मात् स्वयं वसुदेव देवकी के आगे प्रादुर्भूत हुए है। नन्दजी के यहाँ वंश सम्बन्धी लीला न करने के कारण वहां व्यूह रूप से प्रवेश को आवश्यकता नहीं थी। अतः वहाँ केवल रसात्मा पुरुषोत्तम माया के साथ अपने अधिष्ठान वासुदेव व्यूह में स्थित हो रस स्वरूप होने से गुप्त रूप से प्रकटे हैं। (जिसको आचार्य श्री सुबोधिनीजी में 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे एव मायया सह जातः[1]' फक्किका से प्रकट करते हैं उसकी सिद्धि में वहां सुबोधिनीजी में) प्रमाण भी दिये हैं तथा माया ने कंस के हाथ से अपने को छुडा के आकाश में जाते हुए कहा है कि 'जातः[2] खलु तवान्तकृत् यत्र क्वचित् पूर्व शत्रुः', यदि गोकुल में जन्म न हुवा होता और केवल मथुरा में ही हुआ होता तो माया 'जातः' शब्द न कह कर 'गतः' शब्द कहती। क्योंकि 'जातः' का अर्थ है 'जन्मा, प्रकट हुआ' और गतः का अर्थ है 'गया'। मथुरा में केवल जन्म होने से माया कहती कि यहां से अन्यत्र कहीं गया है। ऐसा न कह कर उसने कहा कि कहीं प्रकट हुवा है इससे सिद्ध होता है कि भगवान् गोकुल में भी जन्मे हैं अतः माया ने यों कहा है।

---

१. पुरुषोत्तम तो नन्दगृह में माया के साथ ही जन्मे हैं।

२. हे कंस ! तेरे पुर्व शत्रु जो तेरा अन्त करेंगे वे कहीं प्रकट हो गये हैं।

इस प्रकार योजनाकार ने अन्य प्रमाण भी देकर 'पुरुषोत्तम प्राकट्य' मथुरा तथा गोकुल दोनों स्थानों पर सिद्ध किया है। माया के साथ प्राकट्य के कारण यशोदा माता को भी उस समय ज्ञान न हुवा। भगवान् के प्राकट्य का ज्ञान दो प्रकार से कहा गया है, एक अलौकिक रूप से अवतार, जो नन्दगृह में निशीथ[1] में हुआ, दूसरा व्यवहार विषयक प्राकट्य का ज्ञान नवमी को हुवा जिससे नन्दमहोत्सव नवमी में हुवा है।

श्लोक—स बिभ्रत् पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः।
दुरासदोतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह॥ १७॥

श्लोकार्थ—भगवान् के तेज स्वरूप को धारण करने से वसुदेवजी सूर्य के समान देदीप्यमान हो गये, जिससे उनके पास कोई भी न आ सकता था अतः वह दुर्धर्ष[2] हो गये।

सुबोधिनी—आविष्टे भगवति यादृशो जातस्तं वर्णयति स बिभ्रदिति। पुरुषस्य भगवतो धाम तेज आत्मनि बिभ्रदिति स्वतोपि स्वकान्तिसामर्थ्यादधिकानुभावो निरूपितस्तदा राजमानो जातः। यथा रविरिति सर्वेषां प्रतीत्यर्थमेवोक्तम्। अथवा द्वादशबिम्बान्येव तिष्ठन्ति येषु पुनर्यदा प्रविशति तदा स प्रकाशते तद्वत्। तदा तस्य कंसादीनां भयं निवृत्तमितिज्ञापयितुमाह दुरासद इति। कोपि निकटे गन्तुं न शक्नोति न वाधिक्षेपं कर्तुम्। अतः क्लेशो दूरे ज्ञापितः। भूतानां सर्वेषामेव। दुष्टानां वा राक्षसादीनाम्। सम्यग् बभूवेति न कोपि परीक्षार्थमपि बलादप्यागन्तुं शक्त इत्युक्तम्। हेत्याश्चर्ये। सर्वेषु भगवान् यद्यपि वर्तते तथापि नैवं तेजोन्यत्रेति॥ १७॥

अनुवाद—जैसा देखने में आया वैसा वर्णन इस श्लोक में करते हैं। वसुदेवजी स्वतः स्वयं अपनी क्रान्ति से तेजवान थे पुनः भगवान् के तेज के प्रवेश से उनमें तेज का विशेष प्रभाव देखने में आया जैसे सूर्य के द्वादश (१२) बिम्ब हैं उन्हों में जब भगवान् आधिदैविक रवि प्रवेश करते हैं तब वह १२ बिम्ब प्रकाशित होते हैं, वैसे ही वसुदेवजी भी भगवान् के प्रवेश से विशेष प्रकाशित होने लगे किन्तु प्रियव्रत राजा के समान तेज नहीं हुवा जो रात्रि को दिन कर दे। इसलिये ही आचार्य श्री ने 'प्रतीत्यर्थ' एव कहा जिसका आशय है कि यह सूर्य का दृष्टान्त प्रतीति के लिये ही दिया गया है। जिससे वे वसुदेवजी दुरासद हो गये। इससे कंसादि का भय भी निवृत्त हो गया। कोई भी उनके पास आने की हिम्मत नहीं करता था अतः सब भूतों की तरफ से वा राक्षसों से जो क्लेश होने थे वे सब दूर चले गये। कोई परीक्षा के लिये बल से भी आ नहीं सकता था। जैसा तेज उस समय वसुदेवजी में था वैसा किसी में भी नहीं था, यों तो भगवान् का तेज सर्वत्र है क्योंकि भगवान्

---

१. आधीरात. २. अजेय।

सर्व व्यापक है किन्तु वसुदेवजी जैसा तेज अन्यत्र नहीं हैं वैसा दिखाने के लिये मूल में 'ह' शब्द देकर आश्चर्य प्रकट किया है ।। १७ ।।

षट्पुत्रवधात् पूर्वमेव सङ्कर्षणगर्भस्ततः प्रभृति निगडगृहीत एव । अतः प्रकारान्तरेण स्वस्मिन् विद्यमानं भगवन्तं देवक्यामानीतवानित्याह तत इति ।

छः पुत्रों के वध से पूर्व ही सङ्कर्षण गर्भ की स्थिति हुई थी। उस समय से वसुदेवजी व देवकीजी कारागृह में ही थे। अतः वसुदेवजी ने अपने में विद्यमान (१७वें श्लोक में कहे हुए) भगवान् को अन्य प्रकार से देवकीजी में स्थापित[1] किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशंसमाहितं शूरसुतेन देवी ।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः ।। १८ ।।

श्लोकार्थ—अनन्तर, जगत् के मङ्गलकारी, सबके आत्मरूप जिसको शूरसेन के पुत्र वसुदेवजी ने श्रेष्ठ प्रकार से स्थापित किया है उस अच्युतांश को देवतारूप देवकीजी ने जिस प्रकार पूर्व दिशा चन्द्रमाजी को धारण करती है उसी प्रकार मन से धारण किया ।। १८ ।।

सुबोधिनी—यद्यपि स्वस्मिन्नेव स्थापनमुचितं तथापि सर्वलोकरक्षार्थं देवक्यां स्थापितवानिति ज्ञापयितुमाह जगन्मङ्गलमिति । जगतामेव कल्याणभूतम् । नन्वेवमागमनावेशप्रवेशनिर्गमनेष्वन्यथाभावो न्यूनाधिक्यं वा भविष्यतीत्याशङ्क्याहाच्युतांशमिति । अच्युतश्चासावंशश्च । षष्ठ्यर्थेऽपि तदर्थमेव विशेषणम् । सम्यगाहितमिति । वैधदीक्षाप्रकारेण । वस्तुतस्तु समाधौ देवकीं भावयित्वा मनसैव तत्र साक्षात् तेजः स्थापितवान् । शूरसुतेनेति । विवेकार्थं पितृनाम्ना निर्देशः । देवीति । तस्या अन्तःप्रवेशेन समाधावपि तत्तेजोग्रहणसामर्थ्यं द्योतितम् । इयं हि देवतारूपा । देवतायाश्च तथासामर्थ्यं सिद्धमेव । अत एव दधार । नन्वेवं परधृतत्वे ब्रह्मत्वं भज्येतेत्याशङ्क्याह सर्वात्मकमिति । स हि सर्वेषामात्मभूतः । सर्वैरेव ध्रियत इति धारणं न दोषाय । तथापि प्रकृते चैतन्यं बीजं वा मानसं प्राप्य तिष्ठतीति दूषणमेवेति चेत् तत्राहात्मभूतमिति । देवक्यामात्मरूपेणैव प्रविष्टो न तु बीजे चैतन्ये वा प्रविश्य तत्र प्रविष्टः । यथा ज्ञानेन स्वात्मानं बिभर्त्ययमहमात्माधार इति तथैव भगवन्तमात्मभूतं धृतवतीत्यर्थः । अनेन शुद्धमेव स्वरूपं वसुदेवाद् देवक्यामागतमित्युक्तम् । चैतन्यबीजमन्त्रपक्षा अल्पज्ञानां प्रतीत्यर्थमुक्ताः । वृद्धिराकाशस्येव । क्रमेण मायोद्घाटनात् । तदा मायाया भगवतश्चोभयोरविकृता बुद्धिरुत्पन्ना भवति । तदपि न स्वप्रयत्नाद् धारणलक्षणाद् भगवन्तमानीय धृतवती किन्तु यथा स्वत एवागतमुद्यन्तमानन्दकरं चन्द्रं काष्ठा पूर्वा दिग् बिभर्ति । धारणं च मनस्त एव । अविकृतमनसेति ज्ञापयितुं तसिल्प्रत्ययः । समाधाने धारणे च मन एव हेतुः ।। १८ ।।

---

1. विराजमान ।

अनुवाद—यद्यपि आविष्ट हुआ भगवत्तेज वसुदेवजी को अपने में ही स्थापित करना चाहिये था, तो भी वसुदेवजी ने सर्वलोक की रक्षा के लिये देवकीजी में स्थापित किया। कारण कि वह भगवत्तेज लोगों का कल्याणकारी रूप है। वह तेज पहले वसुदेवजी में प्रविष्ट हुआ अनन्तर देवकीजी में आकर स्थापित हुआ। इस प्रकार वैकुण्ठ से यहाँ आने तथा वसुदेवजी के मन से देवकीजी में जाने आदि से उसमें अन्यथा भाव न्यूनता वा वृद्धि आदि विकार हुवे होंगे ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये मूल में उसका 'अच्युतांश' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि आने जाने आदि करने से उसके किसी भी अंश में च्युति नहीं होती है। अर्थात् उसमें कुछ भी करने से विकृति नहीं होती है, वह सदैव अच्युत च्युति[1] रहित है।

वैध दीक्षा के प्रकार से देवकीजी ने सम्यक् प्रकार से उस तेज को धारण किया। वास्तविक तो वसुदेवजी ने समाधि में देवकीजी की भावना कर मन से ही उन देवकीजी में साक्षात् तेज स्थापित किया। यहाँ मूल में वसुदेव नाम न देकर शूरसेन पुत्र कह कर विवेक दिखाया है। देवकीजी को भी 'देवी' इसलिये कहा है कि वह देवता रूप होने से अन्तः प्रवेश कर, समाधि में भी उस तेज को ग्रहण करने के लिये सामर्थ्य वाली है। देवता में इस प्रकार का सामर्थ्य स्वतः सिद्ध ही है। अतः समाधि के समय में तेज को धारण कर लिया।

इस प्रकार दूसरों के धारण करने से ब्रह्मपने में कमी हुई होगी ? इस शङ्का के मिटाने के लिये श्लोक में 'सर्वात्मक' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि वह तेज सबों की आत्मा है अतः सब उसको धारण करते हैं इसलिये धारण करने में कोई दोष नहीं, इससे ब्रह्मत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं होती है। वैसा होने पर भी प्रकृत विषय में चैतन्य, बीज वा मन में प्राप्त होकर रहना दूषण ही है, यदि इस प्रकार का दूषण कोई देवे तो उसको मिटाने के लिये दूसरा विशेषण 'आत्मभूतं' श्लोक में दिया है। जिसका भाव है कि वह तेज देवकीजी में आत्मरूप से ही सीधा प्रविष्ट हुआ है न कि बीज व चैतन्य में प्रविष्ट होकर पीछे देवकीजी में उसने प्रवेश किया है। जैसे ज्ञानी ज्ञान से अपनी आत्मा को अपने में धारण करता है वैसे ही देवकीजी ने भी आत्म-रूप भगवान् को धारण किया है। इससे शुद्ध स्वरूप हो वसुदेवजी से देवकीजी में पधारे हैं। चैतन्य, बीज वा मन्त्र द्वारा पधारना अल्पज्ञों को समझाने के लिये कहा गया है। उसकी वृद्धि आकाश की भांति हुई है जैसे घटाकाश, घट टूटने से मठाकाश हो जाता है, मठ टूटने से महाकाश हो जाता है वैसे ही जैसे गुरु प्रथम मन्त्र देवता को स्थापन कर, अनन्तर 'मन्त्रोपदेश' समय में उस देवता को शिष्य में स्थापित करते हैं। ज्यों-ज्यों माया का अपसरण[2] होता है वैसे ही तेज भी स्वयं बढ़ता हुआ दिखता है। वैसा ज्ञान होने से भगवान् और उसकी माया दोनों को अविकृत समझा जाता है।

---

१. कमी।

२. हटना या दूर जाना।

इतना होने पर भी देवकीजी ने अपने प्रयत्न से भगवान् को धारण नहीं किया है किन्तु जैसे पूर्व दिशा में चन्द्रमा स्वतः आकर प्रकट होता है उसको वह दिशा धारण कर लेती है वैसे ही देवकीजी ने पधारे हुए अपनी आत्मारूप भगवान् को धारण किया है। वह धारण अविकारी मन से किया है इसलिये श्लोक में 'मनसः' पञ्चमी* विभक्ति न देकर उसके बदले में 'मनस्तः' प्रत्ययान्त अव्यय पद देकर मन का अविकारीपन बताया है। लाने और धारण करने में मन ही हेतु है ॥ १८ ॥

श्लोक—सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न रेजे।
भोजेन्द्रगेहेग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञानखले यथा सती ॥१९॥

श्लोकार्थ—वह देवकी, सर्वजगत् के निवासरूप भगवान् का निवास रूप हुई, तो भी, कंस के घर में रुकने से अर्थात् बन्धन में पड़ने से वैसी पूर्णतया आनन्द देने वाली प्रसन्न मन वाली नहीं हुई, जैसे घड़े में बन्द दीपक की लौ और अपनी विद्या न बताने वाले खल पुरुष का ज्ञान किसी को प्रकाशित नहीं करते हैं ॥ १९ ॥

सुबोधिनी—यथा वसुदेवो भगवदावेशे स्फुरद्रूपो जातो न तथा देवकी जातेत्याह सा देवकीति। पुरुषस्य हि तेजः स्वतन्त्रमिति विवेकादिसहभावाच्चिन्तया नाभिभूयते स्त्रियास्तु परतन्त्र विवेकादिरहितमिति चिन्ताभिभवान् न शोभते। यद्यपि सा देवकी देवतारूपा सर्वजगतां निवासभूतस्य भगवतो निवासभूताधिकरणभूता। न हि स्वस्मिन् विद्यमानेभ्यो लोमभ्यः स्वस्य भयं भवति। तथा भगवति सर्वमस्तीति न सर्वस्माद् भगवतो भयम्। स्वस्य तु सुतरामेव जगतो भगवतश्च भगवन्निमित्तं च न भयम्। एतादृश्यपि सती नितरां न रेजे। भगवच्चिन्तया स्वस्य सर्वेषां च शोकहेतुर्जातेति। बहिरन्तः करणेपि चिन्तादिना मालिन्यात्। हेत्वन्तरमप्याह भोजेन्द्रगेहे कंसगृहे रुद्धा निगडैर्गृहीता। बहिरागत्य सर्वसुखदायिनी न जाता। यथा कुण्डे ज्वलन्नप्यग्निर्भस्मना रुद्धोन्तर्ज्वाल एव भवत्येवमियमपि चिन्तादिना व्यापृता सम्यङ् न प्रकाशयुक्ता जाता। स्वधर्मैरेवास्फुरणे दृष्टान्तः। अन्यनिरोधेनास्फुरणे दृष्टान्तान्तरमाह सरस्वती ज्ञानखले यथा सतीति। सती सन्मार्गप्रवर्तिनी सरस्वती भागवतादिरूपा ज्ञानखले ज्ञानवञ्चकेन्तः स्वस्यैव तोषं जनयति न बहिःप्रकाशेन सर्वेषां तथा कंसेन रुद्धा गृह एव प्रकाशमाना जाता न बहिः। असती तु स्वतोपि न प्रकाशते। यस्तु स्वयं जानाति सद्विद्यां परोपकारजननीमधिकारिणेपि परस्मै न प्रयच्छति स ज्ञानखलः। तेन स्वान्तरङ्गेष्वपि स्वस्मिन् भगवदाविर्भावस्य सङ्गोपनं सूच्यते ॥ १९ ॥

---

*शब्द, जब, विभक्तियों में दिया जाता है तब उसके रूप बदलते रहते हैं, अतः विभक्ति में शब्द विकारी कहा जाता है किन्तु जब शब्द प्रत्ययान्त होने से 'अव्यय' होता है, तब वह अविकारी हो जाता है कारण कि वह बदलता नहीं है। अतः यहाँ 'मनसः' पञ्चमी विभक्ति न देकर 'मनस्तः' अव्यय दिया है। अनुवादक।

अनुवाद—भगवान् के प्रवेश से जिस प्रकार वसुदेवजी प्रफुल्लित प्रसन्न रूप वाले देखने में आये वैसी देवकीजी नहीं हुई। इसका वर्णन करते हैं, पुरुष का तेज स्वतन्त्र है कारण कि पुरुष में विवेक[1] आदि होने से चिन्ता कम होती है जिससे उसके तेज को स्वल्प चिन्ता दबा नहीं सकती है, किन्तु स्त्री का तेज परतन्त्र है क्योंकि स्त्रियों में विवेकादि अपूर्ण हैं जिससे उनमें चिन्ताएँ विशेष होती हैं जिनसे उनका तेज दब जाने से परतन्त्र है अतः देवकीजी वसुदेवजी के समान प्रफुल्लित प्रसन्न चित्त वाली न हुई। यद्यपि वह देवकी देवता रूप है और सकल जगत् के निवासभूत भगवान् का अधिष्ठान[2] हुई है। अपने शरीर में उत्पन्न हुई रोमावली से अपने को भय नहीं होता है वैसे ही यह सर्व भगवान् में है अतः भगवान् को भी किसी से भय नहीं है।

अपने को तो भगवन्निमित्त जगत् से अथवा भगवान् से निपट भय नहीं है। वैसी देवकी होकर भी पूर्णतया शोभायमान न हुई। भगवान् की चिन्ता से अपने लिये और सबों के लिये चिन्ता का कारण बनी। देवकी में बाहिर और भीतर की दोनों चिन्ताओं से मालिन्य रहा। सुशोभित अथवा अप्रसन्न होने का दूसरा कारण बताते हैं कि, देवकीजी कंस के गृह में बन्धन में होने से बाहिर आकर सबको आनन्द नहीं दे सकती थी। जिस प्रकार कुण्ड के भीतर अग्नि जलती भी रहती है तो भी ऊपर राख आ जाने से प्रकाश नहीं दे सकती है। वैसे ही यह भीतर प्रकाशवती होते हुए भी चिन्ता से व्यग्र[3] होने से सम्यक् प्रकार से बाहिर प्रकाशयुक्त नहीं हुई। यह दृष्टान्त अपने धर्मों से ही प्रकाशमान न होने में दिया हुआ है। अब अन्य धर्मों के कारण अप्रकाश होने में दूसरा दृष्टान्त देते हैं। जिस प्रकार सन्मार्ग का प्रकाश करने वाली भागवतादि शास्त्र रूप सरस्वती ज्ञानखल*, पुरुष के अन्तःकरण को ही आनन्द देती है बाहिर प्रकाश कर दूसरों को आनन्द नहीं देती है वैसे ही देवकीजी भी कंस के गृह में बन्धन में होने से घर के भीतर ही प्रकाश करने लगी, बाहिर नहीं। इससे अपने में प्रकट हुए भगवान् के आविर्भाव को अपने अन्तरङ्गों से भी छिपाने की सूचना प्राप्त होती है ॥ १६ ॥

श्लोक—तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम् ॥
प्राहैषमे प्राणहरो हरिर्गुहां ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् के अन्दर विराजमान होने के कारण उत्पन्न हुए प्रभा (प्रकाश) से भवन को प्रकाशित करती हुई और पवित्र स्मित वाली देवकी को देखकर

१. भले बुरे का ज्ञान।
२. रहने का स्थान।
३. घबराई हुई।

*ज्ञानखल, उसे कहते हैं जो, परोपकार करने वाली सत् विद्या आप जानता है किन्तु दूसरे अधिकारी को भी नहीं देता है। सुबोधिनी—१०२-१६।

कंस कहने लगा कि निश्चय से मेरे प्राणों को हरण करने वाले हरि ने इसकी गुहा में आश्रय किया है कारण कि यह (देवकी) पहले ऐसी शोभायमान नहीं थी ॥ २० ॥

सुबोधिनी—येन सर्वेषां सुखदा न जाता सा तस्यापि न सुखदा जातेत्याह तां वीक्ष्येति । प्रभयोपलक्षितां तां वीक्ष्य कंसः प्राह । प्रभयैव ज्ञापिकयाजितोन्तरा यस्याः । भगवानस्या मध्ये वर्तत इति दृष्ट्वा प्रभयैव भवनं विरोचयन्तीम् । अजितत्वमपि दर्शने ज्ञातम् । अधृष्यत्वावगमात् । परमानन्दे हृदि प्रविष्टे प्राणी सर्वदुःखनिवृत्तो भवतीतिनिश्चयात् । अस्याः प्रसन्नवदनत्वमपि दृष्ट्वा भगवानस्तीति निश्चितवानित्याह शुचिस्मितामिति । शुचि विशुद्धं बाह्यविकाराजनकमन्तरानन्दोद्भूतं स्मितं यस्याः भगवत्कान्तिर्बहिर्निःसृता तामन्तर्बहिर्गृहं च प्रकाशितवतीत्यतो भगवानस्तीति निश्चित्य तस्य प्रयोजनान्तराभावं प्रकरणेन ज्ञात्वा वदति मे प्राणहरो हरिरेष एवास्या उदरे प्रकाशते । ध्रुवं निश्चितम् । यत इयं पुरैवं न रूपेण सन्तोषादिना च । नन्वत्र भगवांश्चेत् सर्वैः कथं न दृश्यते तत्राह गुहां श्रित इति । उदरे विद्यमानत्वं तस्य न घटते । तस्याजीवत्वात् । तस्मादिदमुदरं गुहैव । 'गुहां प्रविष्टावात्माना' वितिन्यायात् । अतो हरिरेव । हरित्वादेव मे प्राणहरः ॥ २० ॥

अनुवाद—देवकीजी जिस प्रकार दूसरों को सुख देने वाली नहीं है वेसे ही कंस को भी सुखदा न हुई । इसका वर्णन करते हैं । प्रभा से युक्त देवकीजी को देखकर कंस कहने लगा कि इसकी प्रभा से ज्ञान होता है कि इसके अन्दर अजित[1] भगवान् विराजमान है अतः कान्ति से घर को प्रकाशमान कर रही है तथा वह अजित होने से अधृष्य भी (उसका पराभव कोई नहीं कर सकता है) है अतः निश्चिन्त है । ऐसे परमानन्द प्रभु के हृदय में प्रविष्ट हो जाने से प्राणी के सर्व दुःख निवृत्त हो जाते हैं, यह निश्चय ही है । इसका (देवकीजी का) प्रसन्न मुख देखकर भी कंस ने यह निश्चय किया कि इसमें भगवान् हैं । मुख के दो विशेषण (शुचि) और (स्मित) दिये हुवे हैं इनका आशय यह है कि (शुचि) विशेषण से बताया है कि देवकी के भीतर आनन्द उत्पन्न हुवा है । भगवान् की कान्ति (प्रकाश) जो बाहिर निकली उसने बाहिर भीतर घर को प्रकाशित कर दिया है अतः भगवान् है ऐसा निश्चय कर भगवान् के आने का अन्य कोई कारण नहीं है ऐसा प्रकरण से समझकर कंस कहने लगा कि निश्चय से मेरे प्राणों को हरण करने वाले हरि इस देवकी के उदर में प्रकाशते हैं । कारण कि यह (देवकी) आगे, इस प्रकार रूप से अथवा सन्तोषादि से प्रकाशित नहीं थी । यदि यहां भगवान् है तो सब को उनके दर्शन क्यों नहीं होते हैं—इस शङ्का को मिटाने के लिये कहा है कि (गुहां श्रितः) गुफा में विराजमान है । उनका उदर में होना नहीं बन सकता है कारण कि वह जीव नहीं है इस कारण से यह उदर गुहा ही है । उदर को गुहा कहना इसलिये संगत है कि शास्त्र में (गुहां प्रविष्टावात्मानौ) कहा है अतः मेरे प्राणों के हरण करने वाले होने से यह हरि ही है ॥ २० ॥

---

१. जिसको कोई न जीत सके ।

**श्लोक—किमद्य तस्मिन् करणीयमाशु मे यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम्।
स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोयं यशःश्रियं हन्त्यनुकालमायुः ॥२१॥**

श्लोकार्थ—कंस ने विचार किया कि अब मैं शीघ्र इसके लिये क्या उपाय करूँ, यद्यपि मैं सब कुछ करने में स्वतन्त्र हूँ तो भी मेरे जैसा पुरुष ऐसा कार्य तो नहीं करे जिससे पराक्रम का नाश हो जाय। यदि इसको (देवकी को) अब मारडालूँ तो, स्त्री-जाति, बहिन और गर्भवती का यह वध, यश, श्री और आयु को नाश करेगा ॥ २१ ॥

सुबोधिनी—ततः किमत आह किमद्येति। तस्मिन्निति। तस्मिन् भगवति प्राणहरणकार्ये वोपस्थिते पूर्वप्रतीकाराणां वैयर्थ्यादद्य किं कर्तव्यमितिविचारः। तूष्णीं स्थितौ प्राणान् हरिष्यत्येवात आशु मे किं कर्तव्यम्। इयं मारणीयेति चेत् तत्राह यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रममिति। यद् यद्यपि मल्लक्षणो जनोर्थतन्त्रः स्वकार्यतन्त्रः कार्यवशस्तथा-विक्रमं न विहन्ति। स्त्रीवधे स्वस्य पराक्रमस्य हानिरेव। अथवायमुदरस्थो भगवान् यद् यस्मादर्थतन्त्रः कार्यार्थमेव समागतोतः स्वस्व विक्रमं न हन्ति न नाशयति। तूष्णीं न स्थास्यतीत्यर्थः। ननु तव जीवनादृष्टे विद्यमानेयं न मारयिष्यतीति तदभावे त्वन्यतोपि त्वया मर्तव्यमित्येतद्द्रोहोनुचितो यद्यपि तथापि जीवनहेतौ सत्येवागन्तुकेन नाशहेतुना तत्सम्भवात् तत्प्रतीकारे प्रदीपस्येव जीवनसम्भवादस्या मारणमुचितमिति चेत् तत्राह स्त्रिया इति। विद्यमानेप्यदृष्टेत्युत्कटदुःकर्मकरणादायुः क्षीयेतैव। अतो विद्यमानेप्यायुषि मरणसम्भवात् नैतादृशं कर्म कर्तव्यम्। स्त्रिया वधो यशो हन्ति। स्त्रीरक्षार्थं शूराणां स्वप्राणपरित्यागो यशोहेतुः स्वसुर्वधः श्रियं हन्ति। सर्वो हि पुरुषः सोमात्मकः। लक्ष्मीश्च भगिनी। अतो भगिनीवधो धनादिसर्वसम्पत्तिनाशकः। गुरुमती गुर्विणी। सा हि प्राणिनामायुःपोषिका। तस्या वध आयुर्नश्यति। अतः क्रमेण तस्याँ वधे स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या यशः श्रियमनुकालं तत्क्षणमेवायुश्च हन्ति ॥२१॥

अनुवाद—उस भगवान् के पधारने पर तथा अब मेरे प्राणों के जाने का समय आने पर और आगे के उपाय बेकार होने पर मैं क्या करूं इस प्रकार कंस विचार करने लगा। शान्त होकर बैठ जाऊँगा तो यह मेरे प्राणों को हर ही लेगा, इसलिये मैं शीघ्र क्या उपाय करूँ। यदि देवकी को मारना चाहिये यह निश्चय कर इसको मारूँ तो इस कार्य करने में भी मैं स्वतन्त्र हूँ किन्तु स्वतन्त्र होकर भी मेरे जैसा पुरुष ऐसा कार्य तो न करे जिससे सामर्थ्य नष्ट हो जावे वा पराक्रम को कलङ्क लगे। स्त्री के मारने में अपने पराक्रम की हानि ही होती है। अथवा यह देवकीजी के गुहा रूप उदर में स्थित भगवान् स्वतन्त्र हैं व मेरे नाश के लिये आये हैं। अतः अपने पराक्रम को नाश नहीं होने देंगे अर्थात् चुपचाप नहीं बैठेंगे अवश्य मेरे प्राण ले लेंगे। फिर शङ्का रूप में विचार करता है कि यदि मेरे अदृष्ट[1] में मेरी अभी आयु होगी तो यह नहीं मार सकेंगे अन्यथा दूसरा भी मार डालेगा इसलिये यद्यपि देवकी का वधरूप द्रोह करना उचित नहीं है तो भी इसका मारना यदि जीवन का हेतु हो तो, इसको मार डालना

१. प्रारब्ध।

उचित है। और यदि दूसरा कोई आगामी नाश का हेतु होगा, तो उसका भी प्रतीकार[1] करने से, वायु से बचा कर दीपक के समान, जीवन की रक्षा संभव होने से, भी इस देवकी का वध करना उचित है यदि कोई ऐसा कहे तो उसको उत्तर कंस स्वयं देता है कि प्रारब्धानुसार आयु हो तो भी अति दुष्कर्म करने से आयु नाश हो जाती है अतः आयु होने पर भी मरण की संभावना से वैसा दुष्कर्म नहीं करना चाहिये। स्त्री जाति का वध यश का नाश करता है। स्त्री जाति की रक्षा करने से शूरवीरों का अपने प्राणों का त्याग यश का हेतु होता है। बहिन का वध, श्री लक्ष्मी का नाशक है। सर्वपुरुष सोमात्मक होने से श्री लक्ष्मी उनकी बहिन है। श्रीरूप बहिन का वध करने से धनादि सर्व प्रकार की सम्पत्ति का नाश होता है। फिर यह बहिन तो गर्भवती है। गर्भवती स्त्री प्राणिओं के प्राणों की रक्षा कर रही है, उसका वध, तो वध करने वाले की आयु को नष्ट करने वाला है अतः देवकी के स्त्री, बहिन और गर्भवती होने से मारने से यश, श्री और आयु का क्रम से नाश होता है।

आभास— अस्तु वा प्रबलजीवनादृष्टं तथापि न हन्तव्येत्याह स एष इति।

अनुवाद— भले प्रारब्ध की प्रबलता से आयु हो वा न हो तो भी इसका वध करना चाहिये ऐसा कोई कहे तो इसका उत्तर कंस इस श्लोक में देता है।

श्लोक—स एष जीवन् खलु सम्परेतो वर्तेत योत्यन्तनृशंसितेन।
देहेमृते तं मनुजाः शपन्ति गन्ता तमोन्धं तनुमानिनो ध्रुवम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—जो पुरुष अत्यन्त क्रूर कर्म करता है वह जीने पर भी मृतक है। वह जीवित है तो भी मनुष्य उसको धिक्कारते रहते हैं। यह देहाभिमानी मरने के अनन्तर अवश्य अन्धतम नरक में जाता है॥ २२ ॥

सुबोधिनी—स प्रसिद्धोपि एष मल्लक्षणोपि जनः शौर्येण राज्यलक्ष्म्या च युक्तोपि जीवन्नेव सम्परेतोमृतः। यशःश्रीगमने केवलं जीवनं मरणतुल्यमेवेति जीवन्नेव सम्परेतः। खल्विति निश्चये। योत्यन्तनृशंसितेन क्रूरकर्मणा वर्तेत जीवेत् स जीवच्छव इति सत्यम्। यतोमृत एव देहे तं मनुजाः शपन्ति 'म्रियतामयं दुरात्मे'ति। मृते वा 'सम्यगयं दुरात्मा मृत इति' । एवमयं लोकधिक्कारसन्दग्धः। परलोके चान्धन्तमो गन्ता। तनुमानिनः सम्बन्धिदेहाभिमानिनो ये नरका अन्धन्तमोन्तास्तानवश्यं गच्छतीत्यर्थः। भगवत्सान्निध्याद् भगवदिच्छया तस्य तथाज्ञानमुत्पन्नम्। अतो भगवदिच्छया सर्वेषां ज्ञानप्रकार विशेषश्च ज्ञाने भासते देवक्याः पुत्रा मारणीया इति प्रथममुपदेशेन ज्ञानोदयः। वसुदेवस्यापि तथाबुद्धिः। अतः सर्वस्यापि सर्वज्ञानजनको भग- वानेवेति कृष्णो भगवानेवैवंवाक्यैर्निश्चितः। तदर्थमेवैतानि वाक्यानि ॥ २२ ॥

अनुवाद—कंस मन में विचार करता है कि वह भी प्रसिद्ध हो, मेरे जैसे लक्षणों वाला मनुष्य, राज्य की लक्ष्मी से युक्त होते हुवे भी यदि जीता है, तो भी मरे हुवे के समान है। कारण कि यश और

---

१. उपाय।

श्री के चले जाने पर निश्चय से वह जीवन, मरण के समान ही है। यह कहना निपट सत्य है कि, जो अत्यन्त दयाहीन, दुष्कर्म करते हुए, जीवन धारण कर रहा है वह जीता शव है। उस जीते शव (मुर्दे) को भी मनुष्य अपशब्द[1] कहते हैं, कि यह दुष्ट मर जावे तो अच्छा हो इत्यादि। जब वह मर जाता है तब कहते हैं कि अच्छा हुवा जो वह मर गया। इस प्रकार लोगों की इस धिक्कार से वह जीते रहने पर भी जलता रहता है और मरने के अनन्तर परलोक में अन्धतम नरक में जायेगा। देहाभिमानियों को जो निकृष्ट[2] अन्धंतम नरक प्राप्त होता है उसको भी निश्चय से वही मिलता है। कंस को इस प्रकार का ज्ञान भगवान् के सान्निध्य[3] होने से तथा उनकी इच्छा से प्राप्त हुआ है। अतः भगवदिच्छा से सबों को समय पर विशेष प्रकार का ज्ञान बुद्धि में आता है। जैसे देवकी के पुत्रों को मारना ही चाहिये वैसा ज्ञान कंस को प्रथम आया और वसुदेवजी की भी बुद्धि वैसी ही हो गई। अतः सब के, सर्व प्रकार के ज्ञान का जनक[4] भगवान् ही है इससे 'कृष्ण' भगवान् ही हैं, इस प्रकार के वाक्यों से ऐसा निश्चय हो जाता है। इसलिये कंस के मुख से अब इस प्रकार के वाक्य निकले हैं ॥ २२ ॥

श्लोक—इति घोरतमाद् भावात् सन्निवृत्तः स्वयम्प्रभुः ।
आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत् ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् के साथ वैर करने वाला कंस यद्यपि देवकी को वध करने में समर्थ था, तो भी, यह वध कर्म अत्यन्त घोर है ऐसा समझ कर इस कर्म से निवृत्त हुआ। और भगवान् के जन्म की प्रतीक्षा करने लगा अर्थात् बाट देखने लगा ॥ २३ ॥

सुबोधिनी—एवं विमर्शे यज् जातं तदाह इति घोरतमाद् भावादिति। अयुक्तवध एव घोरः। तत्रापि भगिन्या घोरतरः। गुरुमत्या घोरतम इति सम्यङ् निवृत्तः नन्वन्यप्रेरणया कथं न मारितवानित्याशङ्क्याह स्वयम्प्रभुरिति। स्वयमेव प्रभुर्नान्योस्य प्रवर्तक इत्यर्थः। जननान्तरं युद्धं कर्तव्यमिति तज्जन्म प्रतीक्षन्नास्ते। तर्हि भक्तो भविष्यतीत्याशङ्क्याह हरेर्वैरानुबन्धकृदिति। हरेः सर्वदुःखहर्तुरपि पूर्वजन्ममारणलक्षणवैरस्यानुबन्धं निमित्तं तत्सम्बन्धिनां वधादिरूपं करोतीति तथा ॥ २३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार कंस के विचार करने के अनन्तर जो कुछ हुआ उसका इस श्लोक में वर्णन करते हैं—देवकी का वध करना अयोग्य है क्योंकि यह घोर कर्म है, उसमें भी बहिन का वध, विशेष घोर कर्म है पुनः गर्भवती का वध तो अत्यन्तमेव घोर कर्म है। इस प्रकार के विचार विमर्श[5] से कंस ने यह कर्म करना त्याग दिया। अपने विचार करने से तो छोड़ दिया किन्तु अन्य दुर्मन्त्री आदि की प्रेरणा से क्यों न मारा? इसके उत्तर में, श्लोक के अन्दर कंस को 'प्रभु' अर्थात् सब करने में स्वतन्त्र कहा है

१. गाली देते हैं। २. सबसे नीचा। ३. बहुत पास। ४. पैदा करने वाला।
५. सोच विचार से।

जिससे कंस ने किसी की भी प्रेरणा को नहीं माना। खुद स्वामी है इसका कोई दूसरा प्रवर्तक आज्ञा देकर काम कराने वाला नहीं है। वध से निवृत्त होकर भगवान् के जन्म होने की प्रतीक्षा करने लगा। क्या कंस भगवान् की भक्ति करेगा ? जो भगवान् के जन्म की प्रतीक्षा करता था ? इस पर कहते हैं कि भक्त तो उसको नहीं बनना था किन्तु कंस को हरि सर्व दुःखहर्ता से पूर्व जन्म के अपने वध का बदला लेना था इसीलिये प्रतीक्षा कर रहा था कि भगवान् पैदा होवे तो मैं उनका वध करूँ, तब तक उनके सम्बन्धियों का वध अपने नौकर, असुरों द्वारा कराने लगा ।। २३ ।।

आभास— एवं वैरानुबन्धनेनापि भगवच्चिन्तने प्रमाण बलाभावेपि प्रमेयबलेनैव तस्य ज्ञानं जातमित्याहासीन इति।

अनुवाद— इस प्रकार कंस ने अपने असुरों द्वारा भगवान् के सम्बन्धियों का वध कराना प्रारम्भ किया, जिससे वैर दृढ़ होने लगा। वैर दृढ़ होने से अहर्निश कंस को सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन होने लगा और भगवान् का ही स्मरण होने लगा। इस प्रकार का ज्ञान जो ज्ञानियों को प्रमाण बल से साधन द्वारा होता है वह इसको प्रमेय बल भगवान् की इच्छा से हो गया। उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् पिबन्।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत् ।। २४ ।।

श्लोकार्थ—बैठते, सोते, उठते, भोजन करते और पृथ्वी पर फिरते, जल पीते भगवान् का ही चिन्तन करता था जिससे कंस सर्व जगत् को ब्रह्मरूप देखने लगा ।। २४ ।।

सुबोधिनी—आसीन उपविष्टः संविशन् शयनं कुर्वंस्तिष्ठन्नुत्थित इत्यवस्था उक्ताः। क्रिया आह भुञ्जानः पर्यटन् पिबन्निति। एवं सर्वावस्थासु सर्वक्रियासु हृषीकेशं चिन्तयानः। स्वदर्शनार्थमेव सर्वेन्द्रियस्वामी तथा प्रेरितवान्। अतः कृष्णमयमेव जगदपश्यत् ।।२४।।

अनुवाद—बैठते,सोते,उठते आदि अवस्थाओं में कंस को भगवान् का दर्शन और स्मरण होता था। भोजन, घूमने और पानी पीने आदि क्रियाओं में भी इसी प्रकार हरि का दर्शन एवं स्मरण होता था। जिससे सर्व अवस्थाओं तथा सर्व क्रियाओं में भगवच्चिन्तन ही करता था। वैसा क्यों हुआ इस पर कहते हैं कि सर्व इन्द्रियों के स्वामी भगवान् ने अपने दर्शनार्थ इस प्रकार की अन्तःकरण में प्रेरणा की है। अतः यह जगत् कृष्णमय (कृष्ण रूप) देखने लगा ।। २४ ।।

श्लोक—ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः।
देवैः सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमीडतुः ।। २५ ।।

श्लोकार्थ—ब्रह्मा, महादेव, नारदादि मुनिगण तथा अनुचरों सहित देवता लोग वहाँ आकर, सुन्दर वाणियों से भगवान् की स्तुति करने लगे।

सुबोधिनी—एवं पूर्वाध्याये महद्दुःखेन भगवच्चिन्तक्तम् । कंसादीनामत्र । ब्रह्मादीनां वक्तुं स्तुतिलक्षण-माख्यानमाह ब्रह्मेति । अनेन सामान्यतः सर्वेषां निरोधोप्युक्तः । भगवदागमनं सर्वेषामेव ज्ञातमभूदिति वक्तुं कंसादि-गणनाभावाय च देवकीगृहे समागमनमुच्यते । ब्रह्मा । भवो महादेवः । चकारादन्येपि गुणाभिमानिनो देवाः । अव-ताराश्च वामनादय इत्येके । मुनयः सनकादयः । नारदादयो भक्ताः । देवा इन्द्रादयः । अनुचरा गन्धर्वादयः । सर्वैः सह । गीर्भिः स्वानुकूलवाणीभिः । वृषणं कामवर्षिणं वृषं धर्मं वा नयतीति । ईडतुर्ब्रह्मभवयोरेव मुख्यत्वात् । ऐडयन्निति पाठे सहोक्तानामपि कर्तृत्वेन ग्रहणम् ॥ २५ ॥

अनुवाद—पूर्वाध्याय में महत् दुःख के मिष से भगवान् के चिन्तन का वर्णन किया है। इस अध्याय में कंसादिक के भगवच्चिन्तन का वर्णन, तथा ब्रह्मादिकों ने भगवान को स्तुति द्वारा जो भगवान् का चिन्तन किया उसका भी वर्णन इसी अध्याय में हुआ है। इस प्रकार सब ने जो भगवच्चिन्तन किया जिससे यह दिखाया कि भगवान् ने सब का सामान्य निरोध किया है। ब्रह्मा आदि देवगण देवकी के गृह में इसीलिये पधारे कि सब को यह ज्ञान हो जावे कि देवकी के गर्भ में भगवान् पधारे हैं अतः ब्रह्मादि देवों ने कंसादिक की कोई परवाह नहीं की है। भगवान् गर्भ में पधारे तब जो देवगण स्तुति करने पधारे हैं उनके मुख्य नाम कहते हैं। १. ब्रह्मा, २. महादेव और दूसरे भी गुणाभिमानी देव, सनकादिक मुनि, नारदादिक भक्त, इन्द्रादिक देवगण उनके अनुचर गन्धर्वादि देव ये सब मिल कर आये थे।

(कोई कहते हैं कि वामन आदि अवतार भी आये थे) आकर अपनी-अपनी अनुकूल वाणियों से भगवान की स्तुति करने लगे। यहाँ मूल श्लोक में 'ईडतुः' द्विवचन क्रिया दी गई है उसका आशय यह है कि स्तुति करने वालों में मुख्य ब्रह्मा और महादेव दो हैं। अतः द्विवचन दिया है। किन्तु किसी पुस्तक में 'ऐडयन्' बहुवचनान्त क्रिया भी है जहाँ बहुवचन हों वहाँ समझना चाहिये कि सबों को स्तुति-कर्ता मान कर बहुवचन दिया है। भगवान् के लिये यहाँ श्लोक में 'वृषण' शब्द दिया है इसका अर्थ आचार्य श्री ने दो प्रकार से किया है। एक अर्थ कामनाओं की पूर्ति करने वाले भगवान् हैं और दूसरा अर्थ, धर्म को नियम से चलाने वाले भगवान् हैं।

श्लोक—सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥२६॥

श्लोकार्थ—देवता कहने लगे कि आप सत्यव्रत[1], सत्यपर[2], त्रिसत्य[3], सत्य के[4] कारण, सत्य में[5] निहित, सत्य के[6] भी सत्य, ऋत[7] और सत्यरूप नेत्र वाले और सत्य[8]-स्वरूप हो वैसे आपके हम शरण आये हैं ॥ २६ ॥

१. आपका सङ्कल्प सत्य है। २. आपका द्वादश (१२) प्रकार का सत्य उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) है। ३. आपके तीन लोक और काया भी सत्य है। ४. आप ही सत्य के कारण (उत्पन्न कर्त्ता) हो। ५. आपकी सत्य में स्थिति है। ६. आप सत्य के आधिदैविक स्वरूप हो। ७. ऋत और सत्य नेत्रों से आप दृश्य होते हो। ८. आपका स्वरूप भी सत्य है।

कारिका—कालात्मा भगवाञ्जात इति ज्ञापयितुं तथा ।
कलाभिः पञ्चदशभिः स्वपक्षख्यापकैः स्तुतिः ॥ १ ॥
पक्षपातस्तुतिर्ह्येषा देवानां हितकारिणी ।
ध्रुवा तु षोडशी प्रोक्ता वृद्धौ वा तादृशो भवेत् ॥ २ ॥

कारिकार्थ—कालात्मा भगवान् प्रकट हुवे हैं, इसका ज्ञान कराने के लिये और अपने शुक्ल १५ दिन के पक्ष को प्रसिद्धि के लिये १५ श्लोकों से देवों ने स्तुति की है। यह देवताओं की करी हुई पक्षपात वाली स्तुति देवताओं का हित करने वाली है। १५ श्लोक में भगवान् की स्तुति की गई है और १६वें श्लोक में देवकीजी को सान्त्वना दी है अतः १६वीं कला ध्रुव है अथवा तिथि वृद्धि से १६ दिन भी होते हैं ॥ २५ ॥

कारिका व्याख्या—प्रश्नोपनिषद् में भगवान् को १६ कला वाला कहा है अतः यहाँ भी वही भगवान् १६ कला वाले पधारे हैं यह बताने के लिये उनकी १६ श्लोकों से स्तुति की गई है। जिसमें १५ श्लोकों से देवताओं ने पक्षपात से अपने हित करने वाली स्तुति की है और १६ वें श्लोक में जो स्तुति की है वह भक्तों के हित करने वाली होने से ध्रुवा (स्थिर) है। इस अध्याय में भगवान् अपने कालरूप सङ्कर्षण को लेकर देवकीजी में पधारे हैं उसका वर्णन है। कारण कि भगवान् को इस अवतार में पृथ्वी पर जो दैत्य नृपतिओं का भार बढगया था वह उतारना था इसलिये कालरूप सङ्कर्षण स्वरूप को अपने साथ लाना आवश्यक था। स्वयं भगवान् ने गीता में (कालोऽस्मि लोक क्षयकृत्) श्लोक से बताया है कि मैं कालरूप (सङ्कर्षण स्वरूप) से भी प्रकट हुवा हूँ कारण कि स्वयं भगवान् तो सबकी आत्मा है अतः वे सर्व के हितकारी हैं उस स्वरूप से दैत्यों का भी नाश नहीं करते हैं। इस तत्त्व को देवताओं ने समझा था अतः यह गूढोक्ति कही कि हमारे हित के लिये पधारे हैं। काल दो प्रकार का है एक शुक्ल पक्ष एक कृष्णपक्ष। शुक्ल पक्ष देवताओं का हितकारी है और कृष्णपक्ष दैत्यों का हितकारी है। प्रत्येक पक्ष में १५ दिन होते हैं अतः देवों ने १५ श्लोकों से स्तुति कर यह बताया है कि भगवान् हमारे हित के लिये पधारे हैं अब हमारे शत्रुओं का नाश अवश्य होगा इसलिये भगवान् काल स्वरूप सङ्कर्षण को लेकर आप स्वयं भी पधारे हैं अतः भक्तों का भी हित होगा ॥ १-२ ॥

सुबोधिनी—अत्र पञ्चदशभिर्भगवत्स्तोत्रमेकेन देवक्याः सान्त्वनम्। कालः पञ्चदशात्मा भवति। स एवावतीर्ण इति तैर्ज्ञातः। स द्विविधो भवति। दैत्यानां हितकार्यपि पञ्चदशः। देवानामपि। साधारणस्तु त्रिंशदात्मको भवतीति स्वपक्षपात्येव भगवानर्धेन निरूप्यते। स च पक्षपातः कालकृतश्चतुर्धा भवति। लोककृतः स्मृतिकृतः। स्मृतिर्हि लोकवेदात्मिका भवति। वेदकृतस्तृतीयः। भगवन्मार्गकृतश्चतुर्थः। चतुर्विधोपि प्रमाणप्रमेयसाधनफलैश्चतुर्धा। दैत्यकृतात् तस्य विशेषं वक्तुं तथोच्यते।

तत्र प्रथमं चतुर्भिः श्लोकैः प्रमाणप्रमेयसाधनफलान्युच्यन्ते । तत्र लोकसिद्धानि देवपक्षपातरूपाणि निरूप्यन्ते । लोके सत्यमेव प्रमाणम् । परिदृश्यमानं जगदेव प्रमेयम् । गुणाभिमानिनो देवा एव साधनानि । क्षेम एव फलम् । तत्रापि दैत्यपक्षव्यतिरेकश्च साधनीयः ।

तत्र प्रथमं देवानां सत्यं दैत्यानामनृतं प्रमाणम् । अतः सत्यरूपो भगवानवतीर्ण इति निरूप्यते । सत्यमपि देवानां हितकार्यंष्टविधं भवति । अंशतः षोडशविधम् । वेदे सत्यं पञ्चविधं निरूपितं 'सत्यं पर' मित्यत्र 'प्राजापत्यो हारुणि' रित्यत्रापि । यत् सत्यं तत् परं सर्वेभ्य उत्कृष्टम् । यद्वा सर्वोत्कृष्टं तत् सत्यम् । एवं सत्यत्वसर्वोत्कृष्टत्वयोरैक्यं प्रतिपादनीयम् ।

अतएव सत्येन स्वर्गलोकाच् च्युतिः कदापि न भवतीत्यामुष्मिकफलोत्कर्ष उक्तः । ऐहिकेपि सतां सत्यमेव मूलं फलम् । अतः सत्यं प्रमाणप्रमेयसाधनफलरूपमिति ये देवपक्षपातिनस्ते सत्य एव रमन्ते । तथा च श्रुतिः 'सत्यं परं पर॑ सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच् च्यवन्ते कदाचन सता॑ हि सत्यं तस्मात् सत्ये रमन्त' इति । तदत्रापि निरूप्यते ।

लोके हि व्रतमुत्कृष्टम् । यस्तु यत् किञ्चन व्रतमातिष्ठति स पर इत्युच्यते । सत्यमपि । भगवतस्तूभयं सत्यम् । सत्यमेव व्रतं यस्य । तादृशं त्वां शरणं प्रपन्ना इतिसम्बन्धः । एवं व्रतसत्ययोरैक्यमुक्तम् । उभयोः परत्वात् ।

अतः परं यत् परं लोके वेदे च द्वादशविधं निरूपितं 'सत्यं तपो दमः शमो दानं धर्मः प्रजननमग्नयोग्निहोत्रं यज्ञो मौनं संन्यास' श्चेति तत् सर्वं भगवतः सत्यमेव । यथार्थमेव । न तु दैत्यानामिव तद् द्वादशविधमयथार्थम् । अत्र श्रुतिरनु-सन्धेया पूर्वनिर्दिष्टा भगवतो व्रतानि 'कौन्तेय प्रतिजानीहि' 'द्विःशरं नाभिसन्धत्ते' 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' 'साधवो हृदयं मह्य' मित्यादिवाक्यैः प्रतिपादितानि । लोकानुसारेण देवहितकारिणो नियामकं सत्यमेव । अन्यथा ईश्वरः केन नियमितः स्यात् ? यथा प्रकृते स्वसत्यवाक्यादेव समागतः ।

लोके हि त्रयो लोकास्त्रय आत्मानो भूरादयः कायादयश्च । त उभयेपि त्रिशब्देनोच्यन्ते त्रयोपि सत्या यस्य । अनेन साधनफले एकीकृत्य निरूपिते । एवं चतुर्धाष्टविधो निरूपित उपपत्तिरूपः ।

उत्पत्तिरूपमष्टविधं निरूपयति सत्यस्य योनिमित्यादि । यत् पूर्वमष्टविधं सत्यमुक्तं तस्य सर्वस्यापि योनिः कारणं भगवानेव कालात्मा । 'श्वो दास्यामी' त्युक्ते यदि श्वो न भवेद् वागसत्यैव स्यात् । एवं सर्वत्र ।

न केवलं सत्यस्योत्पादकं किन्तु सत्यस्य रक्षकमपि । तदाह निहितं च सत्य इति । सत्ये नितरां हितः रक्षकः । स्वयं तत्र स्थित एव रक्षां करोतीति निहितपदसमुदायार्थोपि । एवं सत्ये स्थित्वा सत्यं पालयतीत्यर्थः अनेन सत्यस्योत्प-त्तिविचारे प्रमेमं साधनं चोक्तम् । इतरावाद्यन्तयोः । चकार इममेवार्थमाह ।

सत्यस्य प्रलयोप्यत्रैवेत्याह सत्यस्य सत्यमिति यथा 'पूर्णस्य पूर्णमादाये'ति । सत्यं सत्य एव स्वाधिदैविके लीयते । सत्य एव प्रतिष्ठितम् सत्यं फलम् । तच्चाधिदैविकं सत्यं भगवानेव । अनेन यो भगवति प्रतिष्ठितः स सत्यः । यः सत्ये स सत्यद्वारा भगवति प्रतिष्ठितो भविष्यतीत्युक्तम् । एवमुत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रसङ्गे पञ्चविधं सत्यमुक्तम् । एतावता त्रयोदशधा क्रियाशक्तिः सत्यत्वेन निरूपिता ।

ज्ञानशक्तिं सत्यत्वेन निरूपयति ऋतसत्ये नेत्रे यस्येति । ज्ञानशक्तिर्द्विविधा प्रमाणबलेन प्रमेयबलेन च ।

प्रमाणं वेदः। प्रमेयं भगवद्धर्माः। ऋतं सूनृता वाणी। वेदः सत्यप्रतिपादकः। अतः सत्यनिरूपणप्रस्तावेप्यृतनिरूपणम्। ऋतसत्ये नेत्रे प्रापके यस्येति भगवत्प्राप्तिर्द्विधा भवतीत्युक्तम्।

एवं शक्तिद्वयं सत्यत्वेन निरूप्य धर्मिणं सत्यत्वेन निरूपयन्ति सत्यात्मकमिति। सत्यमेवात्मा स्वरूपं यस्य। यः सर्वानेव धर्मान् व्याप्य तिष्ठति स आत्मा। स सत्यमबाधितं भगवतः सद्रूपम्। स्वार्थे कः।कंफलं वा। सत्यमात्मा कं सुखं च यस्य। सच्चिदानन्दरूपो भगवान्। चिदानन्दयोरपि सत्यरूपतेति तथोक्तम्। तादृशे च जीवैः कर्तव्यं शरणगमनमेव। प्रपन्ना इतिबहुवचनं सर्वेषामेव देवानां सत्यतया संरक्षार्थम् ॥ २६ ॥

अनुवाद—यद्यपि १६ वें श्लोक में भी (परः पुमान्) कहने से भगवान् की स्तुति है किन्तु मुख्य रूप से देवकीजी को सान्त्वना ही दीगई है और (परः पुमान्) भी देवकीजी को पूर्ण विश्वास हो इसलिये दिया है अतः आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यहाँ देवों ने १५ श्लोकों से भगवान् की स्तुति की है और एक श्लोक से देवकी को सान्त्वना[1] दी है। काल पञ्चदशात्मा है, वे काल ही अवतीर्ण हुए हैं यों देवों ने जाना है। वह दो प्रकार का है; दैत्यों का हितकारी भी पञ्चदशात्मा (१५-दिनका) है और देवताओं का हितकरने वाला भी पञ्चदशात्मा (१५-दिन का) है। साधारण रीति से तो काल त्रिशंदात्मक (३० दिन का) है। अतः देवों ने अपने पक्षपाती ही प्रकटे हैं यों समझ भगवान् की अर्धकाल रूप (१५ दिन रूप) श्लोकों से स्तुति की है।

वह काल कृत पक्षपात चार प्रकार का है।

१–लोककृत २–स्मृतिकृत*, ३–वेदकृत और ४–भगवन्मार्ग (भक्ति मार्ग) कृत है। इस प्रकार के होते हुए भी पुनः प्रत्येक प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल से चार प्रकार का है। जिससे काल षोडशात्मा+ हो गया, दैत्यों का काल केवल पञ्चदशात्मक (कृष्ण पक्ष) है। उसने (दैत्यों के काल से) देवताओं के काल की विशेषता षोडशात्मकता बताई।

उसमें से (षोडश प्रकार में से) प्रथम चार श्लोकों से प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल वर्णन करते हैं। उसमें लोक सिद्ध, जो देवों के पक्षपात वाले हैं उनका निरूपण करते हैं।

---

१. आश्वासन।

* स्मृतिकृत भी जो प्रकार का है, १–लौकिक और २–वैदिक। कारण कि स्मृति लोक और वेदात्मक होने से दो प्रकार की है।

१. लोककृत। ४. प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल।

२. स्मृतिकृत। ४. प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल।

३. वेदकृत। ४. प्रमाण, प्रमेय साधन और फल।

४. भगवन्मार्गकृत। ४ प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल।

+ देवताओं का काल इस प्रकार षोडशात्मा है।

लोक में (सत्य ही) प्रमाण है। परिदृश्यमान (जो जगत् देखने में आ रहा है वह ही प्रमेय है। गुणों के अभिमानी देव ही साधन है। क्षेम ही फल है। इसमें और दैत्य पक्ष में भेद समझना चाहिये।

अब बताते हैं कि देवता सत्य को प्रमाण मानते हैं और दैत्य झूठ को प्रमाण मानते हैं। अतः देवता यह निरूपण करते हैं कि सत्यरूप भगवान् प्रकट हुए हैं। देवताओं का सत्य भी आठ प्रकार का है। वह सत्य पुनः अंशतः १६ प्रकार का है।

वेद में 'सत्य' पांच प्रकार का कहा है। 'सत्यं परं' इस श्रुति में और 'प्राजापत्यो हारुणिः' इस श्रुति में भी सत्य पांच प्रकार का कहा है। जो सत्य है वह पर है, सबसे श्रेष्ठ है अथवा जो सबसे श्रेष्ठ है वह सत्य है। इस प्रकार सत्यत्व और सर्वोत्कृष्टत्व का ऐक्य प्रतिपादन करना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार सत्य का स्वरूप समझकर उस पर चलता है वह स्वर्ग[1] लोक को प्राप्त कर वहाँ से पुनः कदापि नहीं लौटता है। सत्य पर चलने वाले को यह आमुष्मिक उत्कृष्ट फल मिलता है। इस आमुष्मिक फल की उत्कृष्टता[2] यह है कि जो वहाँ जाता है वह लौटकर नहीं आता है। इस लोक में भी सत्पुरुष सत्य को ही उत्तम फल समझते हैं। अतः सत्य ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल है। यों समझकर देव पक्षपाती अर्थात् जो दैवी जीव हैं वे सत्य में ही रमण करते हैं सत्य पर चलने को ही आनन्द समझते हैं और उससे ही प्रसन्न होते हैं। भगवती श्रुति भी यों कहती है जैसे कि– 'सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सत्तां, हि सत्यं तस्मात् सत्ये रमन्ते' यह सत्य यहाँ निरूपण किया जाता है।

लोक में व्रत (दृढ संकल्प) को उत्कृष्ट कहते हैं जो कोई जो कुछ व्रत करता है वह पर (श्रेष्ठ) कहा जाता है। सत्य को भी पर (श्रेष्ठ) कहते हैं। भगवान् के तो दोनों (व्रत तथा सत्य) सत्य हैं जिनका सत्य ही व्रत है वैसे आपके हम शरण आये हैं। इस प्रकार दोनों पर (सबसे श्रेष्ठ) होने से सत्य और व्रत की एकता कही गई है।

अब जो 'पर' है वह लोक तथा वेद में १२ प्रकार का कहा है। जैसे सत्य तप, दम शम, दान, धर्म, उत्पन्न करना, अग्नि अग्निहोत्र, यज्ञ, मौन और सन्यास। ये सब १२ ही भगवान् के सत्य हैं। न कि दैत्यों के समान असत्य है। इसकी सत्यता प्रथम कही हुई 'सत्यं परं' श्रुति को विचार में लाना। भगवान् के व्रत (दृढ सकल्प ये हैं। जैसे भगवान् आज्ञा करते हैं कि कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' हे कौन्तेय ! मेरी तरफ से तू जाके प्रतिज्ञा कर, कि मेरे[3] भक्त का नाश नहीं होता है। इसी प्रकार 'द्विशरं नाभिसन्धते' श्री रामावतार ने भी प्रतिज्ञा की है कि किसी भी लक्ष्य वेध करने के लिए एक ही दफा शर चढाऊँगा। तथा 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' भगवान् कर्म फल को नहीं भोगते हैं एवम् सत्य से

१, यहाँ स्वर्ग लोक का अर्थ 'मुक्ति' समझना चाहिए। —अनुवादक
२. विशेषता, उत्तमता। ३. भगवान् के।

प्रकाशते हैं। 'साधवो हृदयं मह्यं' साधुजन मेरे हृदय हैं। इत्यादि वचनों से भगवान् के व्रत और सत्य उत्कृष्ट (सर्वोत्तम) कहे हुए हैं। लोक के अनुसार भी देवों के हितकारी भगवान् का नियामक सत्य ही है। यदि सत्य नियामक न होवे तो ईश्वर का नियामक कौन होगा ? जैसे कि इस सत्य के नियामकत्व के कारण ही भगवान् ने जो आने का सङ्कल्प किया था उसको पूर्ण करने के लिए आप पधारे हैं।

भगवान् के तीन लोक (भूः, भुवः और स्वर्लोक) तथा तीन आत्मा (शरीर,जीव और परमात्मा भी सत्य है। जिससे साधन और फल की एकता करके निरूपण किया। जिसमें यह उत्पत्ति रूप प्रभु) प्रमाण रूप एवं युक्तियुक्त (उपपत्ति) रूप से रूप सिद्ध कर दिखाये हैं।

अष्ट प्रकार की उत्पत्ति का निरूपण 'सत्यस्य योनिं' शब्द (विशेषण) से करते हैं। जो प्रथम अष्टविध (आठ प्रकार के) सत्य कहे हैं। उन सब आठों प्रकारों के सत्य का कारण भी कालात्मा भगवान् ही है। 'श्वोदास्यामि' कल दूँगा-ऐसा कहा जाता है। यदि कल ही न हो तो वाणी असत्य हो जावे। किन्तु कल होता है जिससे वाणी सत्य हो जाती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

भगवान् केवल सत्य के उत्पादक[1] ही नहीं है किन्तु उसके रक्षक भी आप ही हैं। इसीलिए कहा है कि 'निहितं च सत्ये' आप सत्य में स्थिति कर उसकी रक्षा[2] करते हैं। इससे सत्य की उत्पत्ति का विचार करते हुए प्रमेय और साधन दोनों कहे हैं। 'निहितं च सत्ये' इस पंक्ति के मध्य में जो 'च' शब्द दिया है उसका यह तात्पर्य है कि शेष, प्रमाण और फल 'ऋत सत्य नेत्रं' तथा 'सत्यात्मकं त्वां' इन दो विशेषणों से कहा है।

जैसे सत्य की उत्पत्ति और रक्षा का कारण भगवान् है, वैसे ही सत्य के लय का स्थान भी आप ही है। इसको 'सत्यस्य सत्यं' पद विशेषण से कहा है। जिस प्रकार 'पूर्णस्यपूर्णमादाय' श्रुति में सबका लय उसमें होता है वैसे ही सत्य भी आधिदैविक सत्य में लीन होता है। सत्य में ही प्रतिष्ठित है और सत्य ही फल है। यह आधिदैविक सत्य भगवान् ही है। इससे जो भगवान् में प्रतिष्ठित है वह सत्य है। जो सत्य में है वह सत्य द्वारा भगवान् में प्रतिष्ठित होगा। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के प्रसंग में 'पञ्च विध' सत्य कहा गया है। इससे १३ प्रकार की क्रियाशक्ति का सत्यपने से वर्णन किया है।

जो भगवान् की शक्ति, ज्ञान उत्पन्न करती है, वह भी सत्य है। इसका निरूपण करते हैं। जिस परमात्मा के ऋत और सत्य रूप नेत्र ही उसकी प्राप्ति कराने वाले या दिखाने वाले हैं अतः भगवान् को 'ऋत सत्य नेत्र' कहा गया है जिससे भगवत्प्राप्ति दो प्रकार से होती है। ज्ञान उत्पन्न कराने वाली शक्ति, प्रमाण तथा प्रमेय बल के कारण दो प्रकार की है। प्रमाण बल वेद है, जैसे कि जगत् में कोई

---

१. पैदा करने वाले।

२. पालन।

भी कार्य किया जावे वह कार्य युक्त[1] है वा नहीं ? ऐसी शङ्का होने पर उसको सत्य सिद्ध करने के लिए वेद को ही प्रमाण में लाया जाता है। तथा प्रमेय बल भगवद्धर्म है, जैसे कि जहां प्रमाण बल की गति[2] नहीं है अर्थात् जो कार्य प्रमाण बल से नहीं हो सकता है वह कार्य भगवद्धर्म से होता है। अतः इस भगवद्धर्म को प्रमेय बल कहते हैं।

सूनृता, सत्य को प्रतिपादन करने वाली वाणी को 'ऋत' कहते हैं। वेद सत्य को प्रतिपादन करने वाला है। अतः सत्य के निरूपण करने के समय ऋत का भी निरूपण किया गया है।

इस प्रकार क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति दोनों सत्य रूप हैं। इनका निरूपण कर अब धर्मी–स्वरूप भी सत्य रूप ही है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'सत्यात्मकं' आप भगवान् को आत्मा स्वरूप सत्य ही है। जो सब धर्मों (पदार्थ मात्र) में व्याप्त होकर[3] रहती है उसको आत्मा कहते हैं। वह (आत्मा) अबाधित[4] सत्य है और वह भगवान् का सत्रूप है। 'सत्यात्मकं' पद में जो अन्तिम अक्षर 'क' है वह प्रत्यय है। 'क' प्रत्यय स्वार्थ में आता है अथवा 'क' अक्षर का आशय 'फल' भी है। यहाँ 'क' फल बताने वाला है। सत्यात्मा का फल सुख आनन्द है अर्थात् जिसकी आत्मा सुखरूप है वह भगवान् सच्चिदानन्द रूप है। भगवान् का जैसे 'सद्रूप' सत्य है वैसे चिद् और आनन्दरूप भी सत्य है। जीवों को वैसे सत्यात्मक सच्चिदानन्द रूप भगवान् के ही शरण जाना चाहिये।

देवों ने श्लोक में 'प्रपन्ना' बहुवचन कह कर यह बताया है कि हम सब आपके शरण इसलिये आये हैं कि आप सत्यव्रत सत्यरूप हो अतः सत्यता से ही हमारी रक्षा करोगे ॥२६॥

व्याख्याओं का सार - पुरुषोत्तम भगवान् पूर्ण रूप से प्रकट हुए हैं। प्रश्नोपनिषद् में 'षोडशकलः' पद से १६ कलाओं से पूर्ण स्वरूप को परब्रह्म कहा है।

ब्रह्मादि देव भी कृष्ण को १६ कलाओं से पूर्ण स्वरूप समझ कर ही स्तुति करने के लिये पधारे हैं। 'सत्यव्रतं' इस प्रथम श्लोक में ही परमात्मा का षोडशविध प्रतिपादन किया गया है।

भगवान् के षोडशविध स्वरूप, इस प्रकार हैं। भगवान् में मुख्य दो शक्तियाँ हैं। एक का नाम क्रिया शक्ति है, दूसरी का नाम ज्ञानशक्ति है। क्रियाशक्ति १३ प्रकार की है और ज्ञानशक्ति दो प्रकार की है तथा एक स्वयं आप धर्मी स्वरूप है। इन सबको मिला कर भगवान् को 'षोडशविध' १६ प्रकार का कहा है।

क्रिया जनक और क्रियात्मक जो भगवान् को सामर्थ्य है उसको भगवान् की क्रियाशक्ति कहते हैं। वह २६ वें श्लोक 'सत्यव्रतं' श्लोक में इस प्रकार त्रयोदश विध कही गई है। 'सत्यव्रतं' पद से (१-सत्य और २–व्रत) दो भेद हैं— २

१. योग्य, ठीक २. पहुँच ३. फैल कर ४ जिसको कोई भी बाध न कर सके।

आभास—एवं प्रमाणरूपतामुक्त्वा प्रमेयरूपतामाह एकायन इति ।

उपरोक्त श्लोक में सत्यात्मक परमात्मा प्रमाण रूप है यह वर्णन कर अब इस 'एकायनोऽसौ' श्लोक में उसकी 'प्रमेय' रूपता का वर्णन करते हैं ।

'सत्यपरं'[1] पद से नीचे टिप्पणी में दिये हुए चार भेद हैं— ४

त्रिसत्यम्—भूः, भुवः स्वः तीन लोक, काया, जीव और परमात्मा तीन रूप से दो भेद— २

सत्यस्ययोनिम्—सत्य को उत्पन्न करने वाली (सत्य का कारण) एक भेद— १

निहितं च सत्ये—सत्य में स्थित हो सत्य का रक्षक होने से प्रमेय तथा साधन भेद से दो प्रकार की— २

सत्यस्य सत्यम्—प्रभु सत्य का भो सत्य होने से 'लय' भी उस सत्य स्वरूप में क्रियाशक्ति कराती है उसके भी प्रमाण और फल से दो भेद है— २

१३

इस श्लोक में 'सत्यस्य सत्यम्' पद तक के पदों द्वारा क्रियाशक्ति के १३ भेद बताये हैं अब शेष 'ऋत सत्यनेत्रं' और 'सत्यात्मकं' दो पदों से ज्ञानशक्ति के ३ भेद बताते हैं ।

ऋतसत्यनेत्रं—ऋत और सत्य नेत्र वाले प्रभु हैं अतः उस प्रभु की जो शक्ति ज्ञान उत्पन्न करती है उसको ज्ञान शक्ति कहते हैं। वह शक्ति दो प्रकार की है 'प्रमाण[2] तथा प्रमेय[3]' जिनसे ज्ञान को प्रकट करती है इसलिये यह दो प्रकार की है। २

सत्यात्मकं—आप सत्यस्वरूप 'धर्मी' एक हैं । १

३

उपरोक्त प्रकार से भगवान् की दोनों शक्तियों के भेद मिलाने से १६ होते हैं अतः परमात्मा जो प्रकट हुवे हैं वे वैदिक रीति से तथा भागवतानुसार षोडश कलायुक्त होने से पूर्ण है उस पूर्ण स्वरूप के पधारने पर ब्रह्मादि देवों ने १६ श्लोकों से स्तुति की है। और अन्त में कहा है कि हे प्रभु ! वैसे हम आपकी शरण में आये हैं ।

---

१. सत्य सबसे 'पर' उत्तम है । कारण कि सर्व कार्य सत्य के बल से होते हैं, जैसे कि (१) सत्य से वायु चलती है, (२) सत्य से सूर्य प्रकाश करता है, (३) वाणी सत्य में रहती है (४) सर्व सत्य में रहते हैं । इस प्रकार ये चार भेद हैं ।

२. प्रमाण 'वेद' हैं प्रमेय 'भगवद्धर्म है ।

३. यह विषय जटिल है । अतः जहाँ तक बन सका है वहाँ तक सुबोध करने के लिए साहित्य का आवश्यक सार देकर समझाया है । विशेष जिज्ञासु टिप्पणी प्रकाश, लेख और योजना स्वयं पढ़कर आनन्द रस पान करें ।

—अनुवादक

श्लोक—एकायनोसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा ।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ—यह ब्रह्माण्ड वृक्षरूप है जिसका आश्रय एक भगवान् ही है । उसके सुख और दुःख दो फल हैं, तीन गुण जड़ें हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये रस हैं, पांच कर्म ही प्रकार हैं, छ इन्द्रियाँ ही आत्माएँ हैं, सात प्रकार के वल्कल हैं, आठ प्रकार की प्रकृतियाँ शाखाएँ हैं, देह के नव छिद्र नेत्र हैं, दश प्राणच्छद हैं, वैसा यह ब्रह्माण्ड वृक्ष है ॥ २७ ॥

सुबोधिनी—इदं जगद् ब्रह्माण्डात्मकं वृक्षत्वेन निरूप्यते । "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं" मितिश्रुतेर्भगवान् वृक्षरूपः । तस्माज् जायमानं जगदपि वृक्षात्मकमेव भवति । अनेन भगवतो महत्त्वं निरूपितम् । यथाश्वत्थादिवृक्ष एकस्मिन् कोटिशः फलानि भवन्ति । सोपि तादृश एव । एवमनादिनिधनो वृक्षो भगवान् । अत एव क्वचिद् ब्रह्माण्डनिर्माणं भगवत एव भवति । क्वचित् तत्त्वद्वारा । अक्षरमत्र फलम् । तस्य तत्त्वान्यंशाः । बीजं ब्रह्माण्डमिति । शकुनिभक्षितमेव ततो निर्गतं फलतीति तत्त्वानां चेतनरूपता निरूपिता । तत्र दैत्यादिकल्पे बहुबीज-युक्तादपि फलादेको वृक्ष उत्पद्यते । अत एव बाह्यादिशास्त्रेषु परमाणुभ्यो बहुभ्य एककार्योत्पत्तिर्निरूपिता । पिप्पला-दयोपि काकविष्टातो जाता बहुभ्य एकं भवतीत्यध्यवसीयते तद्व्यावृत्त्यर्थमाहैकमेवायनं यस्येति । अण्डं प्रकृतिरक्षरं वा । काल इत्यन्ये । अनेनायमादिरूपः सद्वृक्ष उक्तः । अतोसाविति । परिदृश्यमानः प्रपञ्चः । द्विफलः । द्वे फले यस्य । सुखदुःखेस्य फले । दैत्यानां तु दुःखमेव फलम् । ते फले नरकस्वर्गवाच्ये । नराणां कं सुखं विषयात्मकम् । स्वस्वरूपं गच्छतीति स्वर्गः । सृष्ट्यन्तरे सर्वे विषयिण इत्यत्र तु द्विविधा अपि । त्रयो गुणाः सत्त्वादयो मूलान्यधःप्ररोहा यस्य । अत्र त्रिविधान्यपि कर्माणि भवन्ति । अन्यत्र तामसान्येव । क्वचिद् वा राजसानि । सात्त्विकानि तु न भवन्त्येव । चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षा रसा यस्य । अन्यत्रार्थकामावेव । पञ्च कर्माणि विधाः प्रकारा यस्य । तानि पञ्चेन्द्रियज-न्यान्यप्युत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनगमनात्मकानि भवन्ति । अन्यत्रोत्क्षेपणाभावः । अथवान्नमयादयः पञ्च । "स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मे" तिश्रुतेः । ब्रह्माण्डविग्रहोपि तथा । अन्यत्र नानन्दः । षडात्मानो यस्य । षडिन्द्रियाण्यात्मत्वेन निरूपितानि । "अयमात्मा विज्ञानमयः" । ज्ञानं च षड्विधमुत्पत्त्या भिन्नम् । सप्त त्वगादयस्त्वचो वल्कलादीनि यस्य । अष्ट प्रकृतयो विटपाः शाखा यस्य । "भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधे"ति । नव देहच्छिद्राणि नवाक्षा यस्य । दश प्राणाश्छदानि यत्र । द्वौ जीवान्तर्यामिणौ खगौ यत्र । एतस्माद् वैलक्षण्यमन्यत्र ज्ञातव्यम् । हीति सर्वत्र युक्तयः सन्तीति ज्ञापितम् । आदिवृक्ष इति समष्टिरूपः । एवं प्रमेयं निरूपितं भगवदात्मकम् ॥ २७ ॥

अनुवाद—इस श्लोक में यह ब्रह्माण्डात्मक जगत् बृक्षरूप से वर्णन किया जाता है । जगत् की

वृक्षरूपता सिद्ध करने के लिये आचार्य श्री कहते हैं कि यह जगत् आदि वृक्ष रूप भगवान् से उत्पन्न हुआ है, वृक्ष से उत्पन्न हुआ पदार्थ वृक्ष ही होता है। भगवान् वृक्षरूप है इसलिये श्रुति प्रमाण रूप में देते हैं कि 'वृक्ष इवस्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' अर्थ—जो एक आकाश में वृक्षवत् स्थित है उस पुरुष से वह सर्व (जगत्) पूर्ण है, जगत् को वृक्षरूप कहने से भगवान् का महत्त्व निरूपण किया है। जैसे एक ही अश्वत्थ (पीपल) आदि वृक्षों में से करोड़ों फल उत्पन्न होते हैं। वैसे ही भगवद्रूप वृक्ष से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं अथवा प्रपंच रूप भी वैसा है जिससे अनेक उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भगवद्रूप वृक्ष का न आदि है और न अन्त है। वह सर्वदा ही है। अतएव इस कथन से ही इस ब्रह्माण्ड का निर्माण कभी भगवान् से होता है, और कभी भगवान्, तत्वों द्वारा ब्रह्माण्ड का निर्माण करते है, इसमें 'अक्षर' फल है, उस (फल) के अंश तत्त्व हैं, बीज ब्रह्माण्ड हैं। उस वृक्ष से उत्पन्न फल जब शकुनी[1] खाता हैं तब वह फल फलता हैं इससे यह बताया कि ये तत्त्व चेतन हैं। दैथ्यों के आदि कल्प में बहुत बीज वाले फल से भी एक वृक्ष उत्पन्न होता है इस कारण से ही वेद से बाह्यशास्त्रों में बहुत परमाणुओं के संयोग से एक कार्य की उत्पत्ति कही है। पीपल आदि भी काकों[2] के विष्ठा से उत्पन्न हुवे थे। बहुतों से एक होता है यों समझा जाता है। इस प्रकार के सिद्धान्त के निवारण के लिये मूल श्लोक में कहते हैं कि 'एकायनोऽसौ' इस प्रपञ्च का एक अयन[3] है। 'ब्रह्माण्ड' पद में दो शब्द हैं, एक ब्रह्म और दूसरा अण्ड, अण्ड कहते हैं प्रकृति वा अक्षर को जिसका तात्पर्य है कि ब्रह्म के साथ जब अक्षर वा प्रकृति+ सम्मिलित होती है तब उसको ब्रह्माण्ड कहते हैं। कितनेक 'अण्ड' का अर्थ 'काल' भी करते है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह परिदृश्यमान जगत् एकायन (एक ही ब्रह्मरूप बीज वाला) होने से आदि रूप सत्वृक्ष है। जिसके सुख और दुःख दो फल हैं। वे, दो फल, 'नरक और स्वर्ग' कहे जाते हैं। दैत्यों को तो दुःख-रूप फल ही प्राप्त होता है। 'नरक' का अर्थ यहाँ है 'विषयात्मक' सुख क्योंकि मनुष्य विषयों को ही सुख समझते हैं किन्तु वह सुख परिणाम में विषोपम होने से दुःख है अतः वह 'नरक' कहा जाता है। 'स्वर्ग' का अर्थ है अपने स्वरूप (आत्मरूप) की तरफ जाना अत: जो अपने को अपनी आत्मा में ले जाते हैं वे सुख भोगते हैं वह स्वर्ग है। यहाँ तो ये दो प्रकार भी है, अन्य सृष्टि में सर्व विषयी होते हैं, अर्थात् सर्व आसुरी होते होंगे। इस सृष्टि में तो दो प्रकार के दैवी और आसुरी हैं अत: सर्व विषयी नहीं होते हैं 'आसुरी' विषयी और दैवी निर्विषयी होते हैं। सत्वादि तीन गुण इस जगत की जड़े हैं। अतः यहाँ तीन प्रकार के कर्म भी होते हैं। दूसरी सृष्टि में कहीं तामस कर्म और कहीं राजस कर्म होते हैं सात्विक कर्म तो वहाँ निपट नहीं होते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार प्रकार के रस भी इस सृष्टि-वृक्ष में है, अन्यत्र अर्थ और काम दो रस हैं। पञ्च इन्द्रियों से जो पाँच कर्म, (१) उत्क्षेपण[4], (२) अपेक्षण[5], (३) प्रसारण[6], (४) आकुञ्चन[7], और (५) गमन। ये पाँच कर्म के प्रकार भी यहाँ इस

---

१. पक्षी   २. कौओं   ३. बीज   ४. ऊपर फेंकना   ५. नीचे फेंकना   ६ खोलना   ७. लपेटना

+ प्रकृति से भगवान् की गीता में कही हुई अष्टविधा प्रकृति समझनी चाहिए न कि 'माया' जो अन्यथा प्रतीति कराती है।   —अनुवादक

सृष्टि में है। अन्यत्र 'उत्क्षेपण' कर्म नहीं होता है अथवा 'अन्नमयादि पांच कोशों को कर्म के पांच प्रकार समझने जैसा कि भगवती श्रुति कहती है कि 'स वा एषः पुरुषः पञ्चधा पंचात्मा, वह यह पुरुष निश्चय पांच प्रकार के हैं और पंचात्मा है। ब्रह्माण्ड विग्रह भी उसी प्रकार का है। अन्य सृष्टिओं में आनन्दमय आत्मा नहीं है। जिस दृश्य जगत् रूप वृक्ष की षड् इन्द्रियाँ आत्मरूप हैं। यह आत्मा 'विज्ञानमय' है। 'ज्ञान' छ प्रकार का है वह उत्पत्ति[1] से भिन्न २ है। इस जगत् वृक्ष के सात प्रकार के वल्कल (त्वक्, मांस, रुधिर, मेद, अस्थि,मज्जा और वीर्य) हैं। आठ प्रकृति (भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार शाखाएँ हैं। देह के नवछिद्र अक्ष (कोटर) हैं। दश प्राण—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय ये दश प्राण हैं, ये पत्र हैं। जीव और अन्तर्यामी ये दो पक्षी हैं। अन्य सृष्टियों में इस सृष्टि से विलक्षणता समझनी। श्लोक में जो 'हि' शब्द है उसका आशय यह है कि सर्वत्र युक्तियाँ हैं। 'आदि वृक्ष, शब्द समष्टि रूप से दिया है। इस प्रकार इस प्रमेय स्वरूप का निरूपण किया गया है ॥ २७ ॥

इस श्लोक पर गो० पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि ब्रह्मादि देवों ने स्तुति करते हुए प्रथम श्लोक में भगवान् की प्रमाणरूपता बताई है और तृतीय श्लोक में त्वमेक' में साधन रूप भी भगवान् को बताया है। अतः इस मध्य के द्वितीय श्लोक में प्रमेयता बताना आवश्यक होने से भगवान् की प्रमेयरूपता बताई गई है।

यहाँ भगवान् ब्रह्माण्डात्मक वृक्षरूप हैं। उनको प्रमेयरूप कैसे कहा ? इस शङ्का के निवारण के लिए ही आचार्य श्री ने सुबोधिनीजी में 'वृक्ष इवस्तब्ध' श्रुति से भगवान् को 'आदि वृक्ष' सिद्ध किया है वह आदि वृक्ष भगवान् इस दृश्यमान जगत् का कारण रूप है। यह जगत् रूप वृक्ष उससे उत्पन्न होने से कार्य रूप है। कारण कार्य एक होने से ब्रह्माण्डात्मक वृक्ष भगवद्रूप है। अतः उसको प्रमेय कहने में किसी प्रकार की हानि नहीं है। तथा श्री पुरुषोत्तमजी ने दूसरी श्रुति 'उर्ध्वमूल ·····मृत्युर्माारयात्' देकर वृक्ष को भगवान् का रूप सिद्ध किया है।

अन्य शङ्का—सद्रूप भगवान् तो 'प्रमेय' रूप हो सकते हैं किन्तु कालात्मक भगवान् प्रमेयरूप कैसे होंगे ? इस शङ्का का निवारण तृतीय स्कन्ध के 'गुणव्यतिकराकारो' श्लोक की सुबोधिनीजो में किया है। आचार्य श्री ने समझाया है कि गुणों के परस्पर संश्लेषण[2] से काल प्रकट होता है। काल का भी उपादान प्रभु हैं अतः उपादेय उपादानात्मक है। अतः काल भी जगत् का उपादान होने से प्रमेयरूप हो सकता है विशेष विषय इस सम्बन्ध में संस्कृत में देखिये यहाँ सार मात्र दिया गया है ॥ २७ ॥

---

१ श्रोत, चक्षु, वाक्, जिव्हा, प्राण और मन इन छ इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति पृथक २ प्रकार की होती है। अतः ज्ञान छ प्रकार का है।

२. मिलाप।

अत्रोपपत्ति वदन् साधनरूपमाह त्वमेक एवास्येति ।

इस श्लोक में उपपत्ति[1] पूर्वक साधनरूप भी यह है इसका वर्णन त्वमेक एवास्य श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च ।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—इस सद्रूप जगत् के उत्पत्ति स्थान आप एकही हो, लयस्थान भी आप हो और इसकी स्थिति भी आप में हीं है । आपकी माया से जिनका ज्ञान आच्छादित[2] होगया है वे आपसे भिन्न, जगत् को नाना रूप में देखते हैं जिनकी बुद्धि माया से आच्छादित नहीं हुई है वे विपश्चित[3] नाना रूप में पृथक् न देखकर सब में एक आपको ही देखते हैं ॥ २८ ॥

सुबोधिनी—अस्य जगतः सतः सद्रूपस्य । अनेन मायावादादिपक्षा निराकृताः । ते हि वैनाशिकाः 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वर' मितिवाक्यात् तेषामेव मतेस्य जगतोसत्यत्वम् । अन्यथासतोज्ञानकार्यस्य कर्ता भगवान् को वा स्यात् ? तस्य सर्वस्यापि सद्रूपस्य त्वमेव प्रसूतिरुत्पत्तिस्थानम् । प्रकर्षेण सूतिर्यस्मादिति । प्रसूतिपदेन पितराविवोत्पादकत्वं सूचितम् । त्वमेव सम्यग् निधीयतेस्मिन्निति सन्निधानं लयस्थानम् । त्वमेवानुगृह्यतेनेनेति पालकः । अत उत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्ता त्वमेव । अन्यथाक्रमेणैवं सूचयति भगवद्रक्षितो न नश्यतीति । नन्वेते गुणाभिमानिन एव ब्रह्मादय उत्पत्त्यादावधिकारिणो नाहमित्याशङ्क्याहुस्त्वन्माययेति । ये त्वन्मायया संवृतं सङ्कुचितं चेतो मतिर्येषां ते,त्वां नाना पश्यन्ति न तु विपश्चितः । त एव भगवन्तं परिच्छिन्नं जानन्ति ये तस्यैव मायासङ्कुचिता भवन्ति । अल्पेन हि ग्राहकेणाल्पमेव गृह्यते।सर्ववस्तुग्रहणार्थं चित्तं पुष्कलमेव भगवत्सृष्टम् । मायया सङ्कोचाभावे कथं परिच्छिन्नं गृह्णीयात् ? अत एव त्वां नाना पश्यन्ति । परिच्छिन्नया दृष्ट्या गृहीतो देशो भिन्नतया स्वीक्रियत इति मायामोहः । अत एव ये विपश्चितस्ते ब्रह्मादीन् परस्परविलक्षणान् पश्यन्तोपि तत्तत्कार्यानुरोधेन तथाविधं त्वामेव मन्यन्ते न तु भिन्नं पश्यन्ति । य इत्यन्ते तेषां माहात्म्यनिरूपणार्थं निर्देशः । अनेन सृष्टिस्थानां गुणैर्भिन्नानां स्वकार्यसिद्ध्यर्थमेत एव यथारुचि भगवद्रूपाः सेव्या इतिसाधनमुक्तम् ॥ २८ ॥

अनुवाद—इस सद्रूप जगत् का उत्पत्ति स्थान, माता पिता के समान आप एक ही हो इसलिये मूल श्लोक में (प्रसूति) पद दिया है जिसका अर्थ है भली भांति जिससे उत्पत्ति हुई है । जगत् को सत्यरूप और भगवान् से उत्पन्न हुआ है यह कहकर सिद्ध किया गया है कि मायावाद आदि मत वाले जो जगत् को विनाशशाली मानते हैं वे (असत्यं अप्रतिष्ठं ते जगत् आहुः अनीश्वरं) इस गीताजी के वचनानुसार असुर

१. हेतु देकर विषय को सिद्ध करना, उपपत्ति है । २. ढकी हुई । ३. समझदार, बुद्धिमान ।

हैं। उन असुरों के मत में ही जगत् असत्य कहा जाता है। यदि यह सिद्धान्त असुरों का न हो, शास्त्रीय हो तो उस असत् और अज्ञान रूप कार्य (जगत्) का भगवान् (ब्रह्म) कर्त्ता कैसे हो ? अर्थात् असत् तथा अज्ञान रूप कार्य का कर्त्ता भगवान् नहीं होता है यह जगत् सद्रूप है। अतः भगवान् इसका कारण (उत्पत्तिस्थान) कहा गया है। न केवल उत्पत्ति स्थान आप (ब्रह्म) हैं किन्तु अन्त में इस जगत् का लय स्थान भी आप (ब्रह्म) है एवं मध्य में उसका पालक स्थिति कर्ता भी आप ही हो। जिसका उत्पत्ति लय और पालक भी आप हो इस कहने का आशय यह है कि भगवान् जिसका रक्षक है वह कदापि नाश नहीं होता है।

इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश गुणामिनी देव हैं, मैं तो नहीं हूँ यदि भगवान् यों कहदें तो इसके उत्तर में ब्रह्मादि देव कहते हैं कि आपको माया से जिनका चित्त सङ्कुचित (सिकुडा हुआ, छोटा अल्प तथा अनुदार एवं ज्ञान रहित) होगया है वे आपको पृथक् पृथक् (नाना) देखते हैं जो विपश्चित (जिनका चित्त माया से सङ्कुचित नहीं हुवा है) है वे नाना न देखकर सब को आपका ही रूप समझते हैं। छोटे चित्त वाले वस्तु भी छोटी (अल्प) ग्रहण करते हैं। उदार हृदय वाले पुष्कल वस्तु ग्रहण करते हैं। माया से जिनका चित्त अल्प न हुवा है वे कैसे भगवान् को परिच्छिन्न समझेंगे ? वे विपश्चित तो ब्रह्मादि देवों को परस्पर विलक्षण देखते हुए भी उस उस कार्य के अनुरोध से वैसे बने हुए आपको हीं देखते हैं अर्थात् वे भी आप ही हो नहीं कि वे दूसरे हैं, आप उनसे पृथक् अन्य न हो। अतः गुणों करके भिन्न सृष्टि के मनुष्यों को अपने अपने कार्य की सिद्धि के लिये ये[1] ही भगवद्रूप देव यथारुचि (जिसका प्रेम जिसमें हो) सेव्य है। इस प्रकार इस श्लोक में (साधन) कहे हैं ॥ २८ ॥

फलमाह बिभर्षीति।

प्रमाण, प्रमेय और साधन कहकर अब इस श्लोक में फल का वर्णन करते हैं।

श्लोक—बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मन् क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे ज्ञान स्वरूप आत्मन् ! आप ही स्थावर तथा जंगम लोगों के कल्याणार्थ, सत्वगुणवाले स्वरूपों को वार वार धारण करते हो। जो स्वरूप सत्पुरुषों को सुखदायी और खलों को दुःखदायी है ॥ २९ ॥

---

१. गोस्वामी वल्लभलालजी आज्ञा करते हैं कि आचार्य श्री ने सुबोधिनीजी में (एतेएव) येही भगवद्रूप मनुष्यों को सेव्य है। इस पद में (एव) (ही) कहकर दुर्गा, भैरव आदि देवों का भजन दैवी जीवों को नहीं करना चाहिये इस आशय को व्यक्त (प्रकट) किया है।

सुबोधिनी—त्वमवबोध आत्मनि रूपाणि बिभर्षि । ये त्वां सेवन्ते पूर्वोक्तप्रकारेण तेषां रूपाणि ज्ञानरूप आत्मनि बिभर्षि । सायुज्यं तेभ्यः प्रयच्छसि । अथ वावबोध आत्मनि शुद्धात्मसिद्धयर्थं रूपाण्यवतार रूपाणि बिभर्षि येषु भक्ताश्चिद्रूपमात्मानं लभन्ते । रूपाणां ग्रहणस्यान्यदपि निमित्तमित्याह क्षेमाय लोकस्य चराचरस्येति । चराचरशब्देन ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चेति न्यायविदः । चराः प्राणिनः । अचरा भूरादयः । उभयेषामपि क्षेमाय । अनेनैहिकफलदानार्थमपि भगवदवतार इति । गुणैर्ब्रह्मादीनामपि भगवत्त्वाद् रजसा तमसाप्यवतारः सम्भवतीति तद्वयावृत्त्यर्थमाह सत्त्वोपपन्नानीति । लोकानुसारीणि मत्स्यादीनि । ब्रह्ममहादेवयोरप्याधिदैविकयोरप्यवताराः सत्त्वरूपा एव । तत्र निदर्शनं सुखावहानीति । ये सर्वप्राणिषु सुखमावहन्ति । पक्षपातस्तोत्रत्वाद् दैत्यानामपि सुखदानि भविष्यन्तीत्याशङ्कयाह सतामेव सुखदानि । खलानां त्वभद्राणि । लक्षणपूर्वकं दैत्यानां निर्देशः खलानामिति । सर्वदोषनिधानं खला ये परेभ्यो दुःखदातारः । मुहुरिति । सर्वेषां खलानां वारंवारम् ।। २६ ।।

अनुवाद—हे प्रभु ! आप अपनी ज्ञान स्वरूप आत्मा में रूपों को धारण करते हो । पूर्व में कहे हुए प्रकार से जो आपकी सेवा करते हैं, उन्हों के रूपों को अपनी ज्ञान रूप आत्मा में धारण करते हो । अर्थात् उनको सायुज्य मुक्ति देते हो । अथवा, ज्ञानरूप आत्मा में शुद्ध आत्मा की सिद्धि के लिये अवतारों को लेते हो । जिससे, उन अवतार स्वरूपों में अपनी चिद्रूप आत्मा को प्राप्त करते हैं । इसके सिवाय आपके अवतारों को धारन करने का दूसरा भी कारण है । वह कारण बताते हैं । चर और अचर प्राणियों के कल्याण के लिये भी आप अवतार लेते हो । चर शब्द से ब्राह्मण और अचर शब्द से क्षत्रिय, यह अर्थ न्यावेत्ता* करते हैं । चर[1] अचर[2] समझने चाहिये । इससे समझा जाता है कि भगवान् ऐहिकफल[3] देने के लिये भी अवतार लेते हैं ।

ब्रह्मादि देवता भी ईश्वर कोटि में गिने जाते हैं अतः उनका भी रजोगुण वा तमोगुण से अवतार धारण करना सम्भव है । इसलिए उनके अवतारों की व्यावृत्ति[4] के लिये देव कहते हैं कि आपके अवतार सत्वोपन्न[5] अवतार होते हैं । जैसे लोकानुसारी मत्स्य आदि आपके अवतार भी सत्वोपपन्न हैं आधिदैविक ब्रह्मा तथा महादेव के अवतार भी सत्वोपपन्न[5] होते हैं कारण कि ब्रह्मा और महादेव के आधिदैविक रूप आप ही हो अतः सत्वोपपन्न[5] जो भी अवतार हैं वे आपके ही हैं । क्योंकि सत्व अवतार ही सुख दायी होते हैं । मूलश्लोक में 'सतां' पद देने का आशय यह है कि भगवान् के अवतार सत्पुरुषों को सुख देने के लिये हैं । कारण कि दैत्य खल है इसलिये उनके लिये तो आपके सब अवतार दुःखदायी हैं यह जताने के लिए मूल में 'मुहुः' शब्द दिया है । अतः यह शङ्का नहीं करनी कि भगवान् अवतार लेकर दैत्यो का भी कल्याण तो नहीं करेंगे ।

---

*अत्ता चराचर गृहणात्) व्यास सूत्र में इस प्रकार का अर्थ किया गया है ।

१. चलने वाले प्राणी मात्र । २. एक स्थान पर स्थित पृथ्वी आदि पदार्थ । ३. इस लोक के सुख रूप फल ४ निवारण । ५. सत्वगुण से युक्त ।

एवं लौकिकप्रकारेण चतुर्णां निरूपणमुक्त्वा स्मृतिप्रकारेण पुनश्चतुर्णां निरूपणमाह त्वयीति चतुर्भि:

लौकिक प्रकार से प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल चारों का वर्णन कर अब स्मृति प्रकार से उन चारों का चार श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोक—त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि समाधिनावेशितचेतसैके ।।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ।।३०।।

श्लोकार्थ—हे कमल नयन ! सर्व जीवों के निवास आप ही हो अतः आप में समाधि द्वारा अपने चित्त को स्थिर कर, महान् पुरुषों की सिद्ध की हुई, आपके चरणारविन्द रूप नौका के आश्रय से वे, संसार रूप समुद्र को, गौ के बछड़े के खुर के समान जल के गड्ढे जैसा बना देते हैं ।। ३० ।।

सुबोधिनी—स्मृतिषु योगो धर्मः । स च योगो बहुविध इति यो देवहितो धर्मरूपस्तं निरूपयति । हे अम्बुजाक्ष ! अखिल सत्त्वधाम्नि त्वयि समाधिनावेशितचेतसा करणेन त्वत्पादपोतेन भवाब्धि गोवत्सपदं कुर्वन्ति । योगे प्रत्यक्षो भगवान् संसारात् तारयतीति सिद्धम् । अम्बुजाक्षेति । दर्शनेनैव पापनाशकत्वमुक्तम् । यो योगस्तृतीयस्कन्धे निरूपितः स सर्वात्मको भगवद्विषयकः । तदाहाखिलसत्त्वधाम्नीति । अखिलानां सत्त्वानां प्राणिनां धाम स्थानम् । सर्वसत्त्वगुणनिधाने वा तादृशे भगवति । आसमन्ताद् वेशितं चित्तं यस्मिंस्त दृशेन समाधिना करणेन कृत्वा त्वत्पादः पोतो भवति । समुद्रतरणसाधनं पोतः । चरणस्य पृथ्वीरूपस्याकाशरूपस्य वाक्षररूपस्य वा पोतत्वम् । भूमिश्चेत् सर्वजनीना । आकाशं च । भगवद्भावकसमाधौ भगवति विद्यमाने पादस्य पोतत्वाभावात् समाधिकल्पितस्यैव च संसारमध्यपातात् कथं पोतत्वमित्याशङ्क्याह महत्कृतेनेति । महद्भिः कृतेन । महान्तो हि सर्वस्यापि पदार्थस्य साध्यसाधनतामवगच्छन्ति । अतः समाधावेव भगवत्स्फूर्तौ स पादः संसारतारको भवतीत्यलौकिकसामर्थ्येन न युक्तिविरोधः शङ्कनीयः । "अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शन" मितिस्मृतेः । यथा यागादि स्वर्गसाधनं तथेदमप्यदृष्टद्वारा भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थमपि महत्कृतेनेत्युक्तम् । पादपोतो महान् कृतः । हृदयं संसारपारं चाभिव्याप्य यथा तिष्ठति तावान् कृत इत्यर्थः । करणं समाधिरेव । गोवत्सपदमिति । तीर्णसंसारस्यास्थापितत्वाद् वत्सपदकरणम् । अनेन संसारे स्थिता एव संसारं तुच्छं मन्यन्ते । अनतिगम्भीरत्वाय वत्सपदम् । समाधौ स्थितः समाधिनिर्वाहकं संसारमतितुच्छत्वेन मन्यते । सिद्धोयोगः स्वयमेव सर्वमेव संसारं शोषयित्वा स्वनिर्वाहकमेव स्थापितवान् । न च ते महापुरुषा अन्येषामुद्धारमकृत्वा वत्सपदत्वमात्रे जातेपि स्वयमेव तरन्ति । अतो वत्सपदमेव कृत्वा यावदन्येषामुद्धारो भवति तावत् तूष्णीं तिष्ठन्ति । अत उक्तं वत्सपदं कुर्वन्तीति प्रमाणसमाप्तिः ।। ३० ।।

अनुवाद— स्मृतिओं में जो योग कहा है वह अनेक प्रकार का है उनमें से जो योग देवों का हितकारी धर्मरूप है उसका निरूपण करते हैं। हे कमल नयन ! भगवान् के इस नाम से यह बताया है कि

आपके दर्शन से ही पाप नष्ट हो जाते हैं। समग्र जीवों के धाम[1] रूप आप में मनुष्य समाधि द्वारा चित्त स्थिर कर, आपके चरण रूप नौका को साधन बना के, संसार रूप सागर को गौ के बछड़े के खुर के समान जल के गड्ढे जैसा बना देते हैं जिससे यह सिद्ध हुआ कि योग द्वारा प्रत्यक्ष भगवान् संसार से तारते हैं। जिस योग का तृतीय स्कन्ध में वर्णन किया गया है, वह सर्वात्मक तथा भगवत्संबन्धी है : उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आप समग्र जीवों के धाम हो और समस्त सत्वगुणों के आश्रय हो वैसे आप में, जिन्होंने समाधि द्वारा पूर्ण रीति से अपना चित्त लगा दिया है एवं आपके चरण रूप नौका को साधन बनाया है उन्होंने संसार रूप सागर को गौ के बछड़े के खुर के समान जल के गड्ढे जैसा कर दिया है। जिससे यह सिद्ध हुआ कि योग द्वारा प्रत्यक्ष भगवान् संसार सागर से तारते[2] हैं। समुद्र से पार जाने का साधन नौका[3] है। भगवान् के पृथ्वी, आकाश और अक्षर रूप चरण भी संसार सागर से पार जाने के लिये पोत[3] है। सब जानते हैं कि यह भूमि सबों के लिये नाव रूप है कारण कि नाव उसको कहते हैं जो अपने ऊपर बिठाकर जल में डूबने न दे और आप जल के ऊपर तेरती रहे इस प्रकार भूमि जल के ऊपर स्वयं स्थिर हो। जनता को जल में डूबने नहीं देती है अतः जनता के लिये वह पृथ्वी भगवान् का चरण रूप पोत[4] मानी जाती है। इसी प्रकार आकाश भी भगवान् का चरण रूप पोत[4] है जो वह तारों को जल में डूबने से बचाकर तारता है। अक्षर भी तब चरण रूप होता है जब भगवान् पुरुष रूप से प्रकट होते हैं। समाधि में भगवान् पुरुष रूप से प्रकट होकर प्रत्यक्ष होते हैं अतः उस समय भी अक्षर रूप चरण पोत[1] होता है। इस प्रकार पृथ्वी, आकाश और अक्षर ये तीनों ही भगवच्चरण संसार से तारने वाले होने से 'पोत[4]' हैं।

समाधि में कल्पित पुरुष संसार के मध्यपाती होने से उसके चरण कैसे 'पोत[4]' तारक बनेंगे ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'महत्कृतेन' भगवान् के चरण को महत्पुरुषों ने बनाया है। महान् पुरुष प्रत्येक पदार्थ के साध्य[5] साधक[6] भाव को जानते हैं। समाधि में भगवत्स्फूर्ति होने से वह चरण उस समय भी तारते हैं यह अलौकिक सामर्थ्य है, जिसके आगे युक्ति का विरोध टिक नहीं सकता है। जैसे कि स्मृति में कहा है कि "अयंतु परमोधर्मो यत् योगेन आत्मदर्शनम्' योगद्वारा आत्मा का दर्शन ही परम धर्म है। जिस प्रकार यज्ञादि[7] अदृष्ट द्वारा स्वर्ग के साधन है वैसे यह भी होगा ? इस शङ्का का निवारण 'महत्कृतम्' पद से किया है जिसका आशय यह है कि भगवान् का चरण अदृष्ट बनाकर फल नहीं देता है किन्तु सीधा स्वयं पार उतारता है यह महान् पुरुषों ने सिद्ध कर बताया है कि यह पाद पोत[1] महान् है अतः यह हृदय तथा संसार में व्याप्त[8] है। समाधि असाधारण साधन है। समाधि में पाद पोत[1] का आश्रय कर संसार सागर को गोवत्स पद जैसा बना देते हैं। इसका आशय यह है कि जिन्होंने भगवच्चरण का आश्रय लिया है उनके लिये यह संसार तुच्छ है वे संसार में रहते हुवे भी संसार से लिप्त नहीं होते हैं क्यों

---

१. निवास स्थान　२. पार कर देते हैं　३. जहाज

४. नाव　५. जिसको सिद्ध करना हो　६. सिद्ध करने वाला　७. यज्ञादि　८. फैला हुआ है।

कि उनकी दृष्टि में संसार बछड़े के खुर के समान जल का छोटा गढ्ढा है। योग सिद्ध हो जाने से उनका संसार तो स्वयं शुष्क[1] हो गया है। किन्तु योग आदि के निर्वाह के लिये नाम मात्र संसार को रक्खा है वे महापुरुष हैं अतः संसार को गोवत्स पद कर केवल आप ही संसार से पार होकर नहीं जाते हैं किन्तु अन्यों के उद्धार के लिये आप तूष्णी होकर बैटते हैं इसलिये ही कहा है कि उन महापुरुषों ने संसार को 'गोवत्सपद' बना दिया है। इस श्लोक से प्रमाण का वर्णन किया ।। ३० ।।

तादृशेन प्रमाणेन यत् सिध्यति तत् प्रमेयमाह स्वयं समुत्तीर्येति ।

उपरोक्त श्लोक में वर्णित प्रमाण से जिस प्रमेय की सिद्धि होती है उस प्रमेय का वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ।।३१।।

श्लोकार्थ—हे स्वयं प्रकाश स्वरूप ! सफल सौहृद वाले महापुरुष, अत्यन्त दुस्तर तथा भयानक भवसागर को स्वयं भली भांति तैर कर, आपकी चरण रूपी नौका को यहाँ ही छोड़ गये हैं। आप सत्पुरुषों पर अनुग्रह करने वाले हो अतः आप कृपा दृष्टि से उनको तारो ।। ३१ ।।

सुबोधनी:—तीर्णस्यास्थापनेनैव वत्सपदकरणात् सम्पूर्णानुवादे सुदुस्तरं भवार्णवं भीममित्युक्तम् । मोक्षप्रतिपादकत्वात् सर्वशास्त्राणां मोक्षः सम्प्रदायश्च प्रमेयं भवति । स्वयं समुत्तीर्य भवत्पदाम्भोरुहनावमत्रैव निधाय ते याताः । सम्यगुत्तरणं दुर्घटत्वे सति वक्तव्यमिति दुर्घटत्वमाह । समुद्रो हि दुस्तरः स्वतः । तत्रापि नक्रादिभिः कृत्वा सुदुस्तरः । व्यसनमृत्युजरादिभिरलौकिककरणसामर्थ्यघातकः । स्वतोपि भीमो भयानकः । द्युमन्निति सम्बोधनं चरणस्त्रिविधदोषनिवारणसमर्थ इति ज्ञापयति । यथा सूर्योन्धकारं सर्वजगत्पूर्णं जाड्यं भयं च स्वत एव निवारयति तथा त्वच्चरणप्रसादात् तेपि संसारमुत्तीर्णा । तर्हि कथमन्येषामुद्धारः ? का वान्येषामुद्धारे तेषामपेक्षा ? तत्परिहारार्थमाहादभ्रसौहृदा इति । अदभ्रमच्छिद्रं सफलं सौहृदं येषामिति । अनेन पूर्वमेव कृतं सोहृदं सार्थकमेवेति तेषामवश्यमुपायकरणम् । तमुपायमाह भवत्पदाम्भोरुहनावमिति । तेषूत्तीर्णेषु तदनुसरणेनैव भूयान् संसारो गत इति पोतरूपोपि पादः सुखदः सर्वप्रदर्शकः । तत्कृपयानति-गम्भीरोम्भोरुहनौकारूपो जातः समुद्रश्च नदीरूपो जातस्तदाह भवत्पदाम्भोरुहनावमित्यत्रैव निधाय याताः । ननु ते महता प्रयासेन भगवन्तमाराध्य वशीकृत्य चरणमारुह्य सर्वं चरणे निवेश्य यातास्तदुपदेशिनस्तु न तद्विधा इति कथं तरणं भविष्यतीत्याशङ्कयाह सदनुग्रहो भवानिति । सत्स्वनुग्रहो यस्य । भवानिति । अस्मिन्नर्थे सम्मतिरुक्ता ।।३१।।

---

१. सूख गया है।

अनुवाद—जो चरणों का आश्रय कर संसार से पार हो गये हैं उनको तीर्ण कहा गया है। वे तो संसार सागर को वत्स पद कर स्वयं पार हो गये, जिससे पार हुए उस पाद रूप नौका को यहाँ धर गये हैं। अन्यथा इस संसार सागर का रूप तो सुदुस्तर[1] है किन्तु पुनः उसमें रहे हुए व्यसन, मृत्यु, जरा आदि अलौकिक साधन के सामर्थ्य के घातक होने से महा कठिन तथा भीम[2] है जैसे समुद्र यों ही पार करना कठिन है किन्तु मगरमच्छ आदि से महा कठिन तथा भयानक है। सर्व सच्छास्त्र मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं अतः मोक्ष (फलरूप होने से) प्रमेय है और भगवान् का चरण रूप भक्ति मार्ग सम्प्रदाय,-मोक्ष (भगवत्प्राप्ति) का साधन होने से प्रमेय है। भगवान् को 'द्युमन्' संबोधन दिया है जिसका भावार्थ है कि जैसे सूर्य स्वतः अन्धकार पूर्ण जगत् के अन्धेरे और भय को मिटाता है वैसे आप प्रकाश रूप हैं, अतः आपके चरण तीनों प्रकार के दोषों को निवारण करने में समर्थ हैं जिससे आपके आश्रित भी आपके चरणों के प्रसाद से संसार को पार कर गये हैं। जब वे पार हो गये तो अब अन्यों का उद्धार कैसे होगा वा कौन करेगा ? जो स्वयं पार पहुँच गये उनको दूसरों के उद्धार की क्या चिन्ता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे दूसरों के पार उतरने का भी विचार करते हैं कारण कि उनका हृदय सुन्दर है और वे हृदय से सब से सौहार्द करते हैं अतः उनका सौहार्द सफल इसीलिये हुआ है जब वे दूसरों के लिये भगवच्चरण रूप पोत, भक्तिमार्ग सम्प्रदाय की स्थापना कर गये हैं, जिससे सबों के लिये, यह दुस्तर संसार, सागर गोवत्स पद जैसा स्वल्प जल का गड्ढा बन गया है।

वे स्वयं इस भक्ति मार्ग सम्प्रदाय द्वारा पार जा कर सिखा गये हैं कि आप भी इसका अनुसरण करोगे अर्थात् भगवान् के चरण, भक्ति सम्प्रदाय को नाव बनाओगे तो सहज और सरल रीति से पार हो जाओगे। इसलिये श्लोक में भगवान् के चरण को अम्भोरुह[3] कहा है। कमल कोमल ताप निवारक होता है वैसे ही चरण रूप भक्ति-सम्प्रदाय भी है। वे तो इस प्रकार का भक्ति मार्ग स्थापना कर गये, किन्तु अब उस भक्ति मार्ग का उपदेश करने वाले तो वैसे नहीं हैं तो कैसे आजकल के जीव उस भक्ति मार्ग से पार पहुँचेंगे। इसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि 'सदनुग्रहो भवान्' हे प्रभु ! आप सत्पुरुषों, जिन्होंने भक्तिमार्ग स्थापन किया है, उन पर सदैव अनुग्रह करते हो अर्थात् उनकी कानि से जो भक्तिमार्गानुयायी होंगे उनको अपनी कृपा बल से अवश्य तारोगे ॥ ३१ ॥

सुबोधिनीः—साधनं महतामुपदेशप्रकारः। स च अर्थादुक्त इति साधननिरूपणे तदतिरिक्तसाधनान्येव निराकरोति येन्येरविन्दाक्षेति।

इस 'येन्येरविन्दाक्ष' श्लोक में महान् पुरुषों ने जिस प्रकार उपदेश किया है वह प्रकार ही साधन है। उसका वर्णन करते हुए इससे भिन्न प्रकार के साधनों का निराकरण करते हैं।

---

१. जिसको पार करना यों ही कठिन है। २. भयानक।

३. कमल

श्लोक—येन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।।३२।।

श्लोकार्थ—हे कमलनेत्र ! जो दूसरे लोग, अपने को ब्रह्म समझ आपकी भक्ति करने से विमुख होते हैं जिससे उनकी बुद्धि भ्रष्ट (मलीन) हो जाती है वे बहुत कष्ट पूर्वक सत्कर्मों के करने से उत्तम स्थान को प्राप्त हुवे हैं तो भी आपके चरणाश्रय रूप भक्ति का अनादर करने से उस स्थान से भी नीचे गिरते हैं ।। ३२ ।।

सुबोधिनी—अन्ये निरीश्वरसाङ्ख्यानुवर्तिनः । ते हि पूर्वज्ञानानुसारेण भगवन्तमुपासते । एवं बहुजन्मभिः प्रवृद्धं ज्ञानं विकर्मसहितं भगवदंशमात्मत्वेन स्फुरितं त्याजयित्वा निरीश्वरसाङ्ख्यं मायावादं वावलम्बन्ते । ते चेत् पूर्ववदपि तिष्ठेयुस्तथा सति कृतार्था भवेयुः । तथाबुद्धिर्विकर्मफला । ते च पूर्वज्ञानेन देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यासरहिता जाताः । महता कष्टेन सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्वसुखवैमुख्येन तपसा श्रद्धया ब्रह्मात्मभावनां प्राप्तवन्तः । तदेव तेषां परं पदम् । य इति प्रसिद्धाः । अन्ये भगवद्रहिता भगवद्विचारेण यान् भगवानन्यान् मन्यते नत्वात्मीयान् । अरविन्दाक्ष । कमलनयनेतिसम्बोधनेनासुरपक्षपातात् तेष्वदर्शनं सूचितम् । न हि रात्रौ कमले विकासोस्ति येन रात्रिस्थैरामोदोनुभूयेत । अतस्तेन्य एव । पूर्ववासनयात्मानं विमुक्तमेव मन्यन्त इति विमुक्तमानिनो न तु विमुक्ताः । ज्ञानं शास्त्रोत्थं विषयत्वेनात्मानं गृह्णाति । अतस्तस्मान्न फलम् । विषयान्तरवत् तस्याप्यभिमानजनकत्वात् । अत एव त्वयि पूर्वस्थितो भावः साधनत्वेन परिग्रहादस्तोस्तं गतो यो भावस्तस्माद्धेतोर्न विशुद्धा बुद्धिर्येषाम् । अन्यथाहङ्कारादिसर्वदोषसम्बन्धे स्वान्तःकरणे दुष्टे जाते महान्तस्ते कथं न जानीयुर्वयं दुष्टा इति । तदा तं मार्गं परित्यज्य यत्नमपि कुर्युः । अतोविशुद्धबुद्धय एव जाताः । परमशुद्धया च स्वदोषाः स्फुरन्ति । ज्ञानस्य पूर्वविस्थैषा यन्न स्वदोषस्फुरणम् । अतः कृच्छ्रेणापि परं पदं ब्रह्मभावमारुह्यानादृतयुष्मदङ्घ्रयः पतन्त्येव । जीवस्य प्रकृतेरपि परस्य प्राप्तावुच्चगतौ निरालम्बने मार्गे भगवच्चरणातिरिक्तमवलम्बनं न सम्भवति । यतो वियद् विष्णुपदमेव । भगवच्चरणावलम्बनेनैव पुरुषस्योर्ध्वगमनं शृङ्खलद्वीपे श्रीपादारोहणे शृङ्खलापरित्यागवत् अस्य चरणस्य ग्रहणादिक्लेशपरित्यागाभावायाहानादृतेति । आदरणमात्रेणापि न पतन्ति । आदर एव वा चरणस्थितौ हेतुः ।।३२।।

अनुवाद—जो अन्य पुरुष निरीश्वर सांख्य तथा मायावाद के अनुयायी होते हुए भी भगवान् की उपासना करते हैं उसका कारण यह है कि उन्होंने पूर्व जन्म में जो ज्ञान प्राप्त किया था उस ज्ञान के फल स्वरूप अब भी उनमें सद्बुद्धि रही है । किन्तु वह ज्ञान विकर्म[1] सहित था, अतः उस ज्ञान द्वारा उनको जीव, आत्मस्वरूप से जो स्फुरित होने लगा था, उस ज्ञान को वे निरीश्वर साङ्ख्य और मायावाद के संसर्ग से छोड़ देते हैं । यदि वे पूर्व की भाँति, जीव का आत्मस्वरूप से अनुसन्धान करते रहते तो भी कृतार्थ हो जाते । किन्तु इस प्रकार न रहना विकर्मों का फल है अर्थात् जो विकर्म किये है उनसे इनकी

१. शास्त्रों में जिन कर्मों के करने का निषेध है । अनुवादक

बुद्धि मलीन हो गई है इससे उस ज्ञान को छोड़ दिया है। श्लोक में कहे हुए 'कृच्छ्रेण परं पदं' का आशय स्पष्ट करते हैं कि, पूर्व ज्ञान से उनके चार अध्यास (प्राण, देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण को ही अपना रूप समझना) नाश हो गये और महान् कष्ट से इकट्ठे किये हुए धन का दान कर, सर्व बान्धवों को छोड़ के, सर्व सांसारिक सुखों से मुँह मोड़ कर, तपस्या तथा श्रद्धा से ब्रह्मात्मभावना को प्राप्त हुवे, यही उनका परम पद था। अन्ये और 'अरविन्दाक्ष' दो पदों का आशय प्रकट करते हुए आचार्य श्री, आज्ञा करते हैं, कि दूसरे वे हैं जो कभी भी भगवत्सम्बन्धी विचार मात्र नहीं करते हैं ऐसे मनुष्यों को भगवान् अपना न समझ कर पराया समझते हैं। और आप कमल नयन हैं अतः जो अन्य हैं, वे असुरों के पक्ष-पाती हैं, इसलिये उनको दर्शन नहीं देते हैं। दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे कमल रात्रि को विकसित नहीं होता है, यदि रात्रि को विकसित हो, तो रात्रिस्थ भी कमल की गन्ध का अनुभव करेंगे किन्तु वे आमोद ग्रहण करने के योग्य नहीं है, अतः रात्रि को कमल विकसित नहीं होता है। इसी प्रकार जो असुर वा असुर पक्षपाती हैं वे दर्शन के योग्य नहीं है।

वे अन्य, पूर्व वासना के कारण अपने को विमुक्त मानते हैं किन्तु वास्तविक विमुक्त नहीं है। केवल शास्त्र से उत्पन्न ज्ञान से अपने को आत्मरूप मानते हैं इस प्रकार मानने से कोई लाभ (फल) नहीं है। अन्य विषयों के समान इस प्रकार से अपने को विमुक्त आत्मा मान लेने से अभिमान ही उत्पन्न होता है। अतएव, इस प्रकार अभिमान हो जाने से आप में जो पहले भाव (प्रेम) था जो साधन रूप से किया जाता था वह भी अस्त होकर बुद्धि मलीन हो जाती है। यदि बुद्धि मलीन न होवे तो अहङ्कारादि दोषों से अपना अन्तःकरण दूषित हो गया है इसको वे विद्वान् होते हुए भी क्यों न समझ जावे कि हम कुमार्ग पर जा रहे है। उस कुमार्ग को छोड़ कर सुमार्ग पर आने का प्रयत्न भी करें किन्तु वैसा नहीं करते है इससे निश्चय से जाना जाता है कि उनकी बुद्धि मलीन हो गई है। जब बुद्धि शुद्ध होती है तब अपने दोष स्फुरित होते है। ज्ञान की पूर्वावस्था तब समझनी चाहिये जब अपने दोष स्फुरायमान होने लगे। अतः परिश्रम से भी ब्रह्मभाव तक पहुँच कर आपके चरणारविन्द का अनादर करने से उस पद से अवश्य गिरते है। जीव अथवा प्रकृति को उच्च गति, पर की प्राप्ति, के लिये बिना आश्रय वाले मार्ग में भी भगवान् के चरणों के आश्रय के सिवाय अन्य कोई आश्रय नहीं है। कारण कि वियत् (आकाश—जहाँ कोई आश्रय नहीं है) वहां भी आश्रय विष्णु पद है। भगवान् के चरणारविन्द के आश्रय से ही जीव का ऊर्ध्वगमन होता है।

शृङ्खल द्वीप में जो श्रीपाद पर आरोहण करता है वह शृङ्खला का आश्रय लेता है यदि उसको छोड़कर अपने बल से चढता है तो उसका अधः पतन होता है। इसी प्रकार यहां भगवान् के चरणों का आश्रय आवश्यक है। विशेष न कर सके, तो केवल चरणों में आदर रखे तो भी उसका पात नहीं होता है। चरण में, जीव का विश्वास तथा प्रेम आदर से ही होता है अतः चरण में स्थिति का कारण आदर ही है ॥३२॥

सुबोधिनी—नन्वेवं सति भक्तिमार्गानुसारेणापि भगवद्भजने विकर्मादिना कालान्तरे पुनर्बुद्धिनाशप्रसङ्गः। साधनत्वेनैव भक्तिमार्गस्यापि स्वीकारात्। अतस्तुल्यत्वात् किं मार्गान्तरदूषणेनेत्याशङ्क्य स्मार्तस्यापि भगवन्मार्गस्य फलमाह तथेति।

अनुवाद—भक्ति मार्ग भी साधन है, अतः उसमें भी विकर्म करने से जब कालान्तर में बुद्धि का नाश हो सकता है तब अन्य मार्गों को दूषित करने से क्या? इस शङ्का के निवारणार्थ स्मार्त भगवन्मार्ग में स्थित मनुष्यों को जो फल मिलता है उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक-तथा न ते माधव तावकाःक्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः॥
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे माधव! जो लोग आप ही में स्नेह वाले होने से आपके हो गये हैं वे उनकी भांति जो अपने आपको ब्रह्म मान कर समझते हैं कि हम मुक्त हैं. मार्ग से कभी भ्रष्ट नहीं होते हैं किन्तु आपसे रक्षित होने से निर्भय होकर बड़े बड़े अनेक विघ्नों के शिर पर पैर धरके फिरते रहते हैं ॥३३॥

हे माधव ते पूर्वं तद्वत् प्रवृत्ता अपि तावकाः सन्तः क्वचिदप्यारोहणावस्थायां भ्रश्यन्त्यपि न। पादोप्यधः प्रमादादपि न पतति। आरुह्यमाणमार्गात्स्वमार्गादपि न पतन्ति। मार्गस्यैव तथात्वात्। यथा वस्तुरक्षकाणां मध्ये सुगन्धरक्षकः सौरभ्यं प्राप्नोत्येव। लशुनादिरक्षकस्तद्विपरीतम् यद्यपि स्वतन्त्रतया भगवान्न सेवितस्तथापि भगवानिति तस्य पातो न भवत्येव। माधवेतिसम्बोधनं रात्रावपि विलासेन तत्रत्यानां दर्शनार्थम्। तेन विकर्मतुल्यत्वेपि सेवापरत्वाद् भगवद्दर्शनं नान्येषामिति निरूपितमत एव तावकाः। अभ्रंशे हेतुस्त्वयि बद्धसौहृदा इति। सौहृदं स्नेहो रज्जुस्थानीयः। स स्वात्मानं जीवं भगवच्चरणे बध्नाति। अतो युक्त एव तेषामभ्रंशः। नन्वन्ये कालादयः कथं तान्न भ्रंशयन्ति भक्तिं वा न नाशयन्तीत्याशङ्क्याह त्वयाभिगुप्ता विचरन्तीति। त्वयाभितो बाह्याभ्यन्तरसर्वभावेन रक्ष्यमाणाः। बुद्ध्यादीनामपि नाशासम्भवादन्यप्रवेशासम्भवाच्च न भ्रश्यन्तीति युक्तम्। अत एव विचरन्ति। सर्वत्र विशेषेणानिन्दया सर्वेषु लोकेषु भ्रमन्ति। कालादिभयरहिता निर्भयाः। यदन्येषां त्यागस्थानं भयस्थानं वा तदेव तेषां परिभ्रमणस्थानमित्याह विनायकानीकपमूर्धस्विति। विनायका विघ्नकर्तारः। विशब्देन विघ्ना उच्यन्ते। तेषां नायका जनका एव भवन्ति। तेषामनीकं सेना। एकस्मिन् विघ्नार्थे प्रवृत्ते तदशक्तौ तत्सहायार्थं बहवः समायान्ति। ते सर्वे स्वतन्त्रा नियामकाभावात् कार्यं न करिष्यन्तीत्याशङ्क्य तद्रक्षका अपि समायान्ति तेनीकपाः। तेपि बहवो भ्रंशयितुं समागताः भगवदीयसुदर्शनादिभयादस्पृश्यैव निकटे तिष्ठन्ति। यथा प्रह्लादे। तेष्वेवारोहणार्थं भगवद्भक्ताः पादं प्रयच्छन्ति। तेषामध पातनसामर्थ्याभावात् प्रतिष्ठाहेतव एव भवन्ति। यथा जडभरते मारणार्थमुद्यताः प्रतिष्ठाहेतव एव जाताः। तेषां मूर्धानः सर्वसामर्थ्यस्थानानि परमकाष्ठापन्नानि। एवं तेषां विचरणे हेतुः प्रभो इति। एतत्सामर्थ्यं त्वदीयमेव। अतस्ते समर्था अपि न द्विषन्ति। अतो भक्तिमार्गान्मार्गान्तरं साधनतः फलतश्च न समीचीनमित्युक्तम्॥ ३३॥

अनुवाद—हे माधव ! वे आपके भक्त जिन्होंने पूर्वकाल में ज्ञानियों की भांति अनेक सत्कर्म आदि किये हैं, जिनसे आपने उनको अपने बना लिये हैं अतः वे भक्त आरोहण अवस्था (ऊपर चढ़ने की साधनावस्था) में भी गिरते नहीं है। प्रमाद होने पर भी एक पांव भी नीचे नहीं गिरते हैं अपने ही मार्ग पर स्थिर रहते हैं कारण कि यह भक्ति मार्ग ही ऐसी विशेषता वाला है। जो मनुष्य जैसी वस्तु अपने पास रखता है उसको वैसा ही लाभ होता है जैसे अत्तर फुलेल बेचने वाले को अनायास सुगन्धि मिल ही जाती है। तथा जो लहसुन बेचने वाला है उसको निरुपाय दुर्गन्धि लेनी ही पड़ती है। उससे वह अपने को बचा नहीं सकता है। यद्यपि जिसको आपने अपना लिया है उसने स्वतन्त्र आपकी सेवा नहीं की है तो भी उसका पात नहीं होता है कारण कि उसको अपनाने वाला ऐश्वर्यादि षड्गुणयुक्त आप भगवान् हैं। श्लोक में भगवान् का माधव नाम देने का भाव बताते हैं कि भगवान् रात्रि में उन तत्रत्य भक्तों को विलासपूर्वक दर्शन देते हैं। इससे यह दिखाया कि दोनों विकर्म की तुल्यता होने पर भी इन भक्तों को भगद्दर्शन होता है अन्यों को नहीं. कारण कि वे भगवान् की सेवा करने वाले सेवक होने से भगवान् के हैं। वे भ्रष्ट नहीं होते हैं जिसका कारण यह है कि आप भगवान् में उनका सौहार्द[1] है। स्नेह रज्जू के समान होता है। जैसे रज्जू दूसरे को बान्धते हुए आप भी बद्ध हो जाती है वैसे ही स्नेह भी जीव को तथा अपने को भगवान् के चरणों में बद्ध कर देता है। अतः उन स्नेही सेवकों का न गिरना, योग्य ही है। शङ्का करते हैं कि कालादिक उनको भ्रष्ट क्यों नहीं करते अथवा उनकी भक्ति को क्यों नहीं नाश कर देते हैं ? इस शङ्का निवारण के लिये कहते हैं कि उनकी रक्षा आप कर रहे हैं अतः वे निर्भय फिरते हैं। साधारण प्रकार से उनकी रक्षा नहीं करते हैं किन्तु पूर्ण रीति से करते हैं जिससे बाहिर भीतर सर्वत्र रक्षा होने से उनकी बुद्धि का नाश नहीं होता है और न उनमें कोई दोष भीतर जा सकता है जिससे वे भ्रष्ट हो सकें। अतः कालादिकों का भय न होने से तथा कहीं भी निन्दा न होने से वे सर्वत्र निर्भय फिरते रहते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु आपसे रक्षित होने के कारण, जहाँ दूसरों को विघ्नों के कारण भय होता है और दूसरे विघ्नों के भय से, जिस स्थान को छोड़ देना चाहते हैं वहाँ ये उन विघ्न करने वाली सेनापतियों के शिर पर पैर धर कर निर्भय होकर घूमते हैं क्योंकि विघ्नकर्ताओं की सारी सेना विघ्न करने के लिये आकर भी कुछ कर नहीं सकती है। कारण कि आपके सुदर्शनचक्र आदि के भय से उनका स्पर्श तक न कर के दूर ही खड़ी रहती है। प्रल्हाद के चरित्र से इसका प्रमाण मिलता है। भगवद्भक्त ऊपर चढ़ने के लिये विघ्नों के शिर को सीढ़ी बनाते हैं। वे विघ्नकर्ता तो इन भक्तों को नीचे गिरा नहीं सकते हैं अतः ये विघ्नकर्ता, भक्तों की प्रतिष्ठा के लिये कारण बन जाते हैं। जैसे जड़ भरत को मारने लगे किन्तु उनको मार न सके जिससे जड़ भरत की प्रतिष्ठा हो बढ़ी।

विघ्नकर्ताओं के मस्तक परम काष्ठापन्न[2] तथा सर्व सामर्थ्य वाले होने से वे आपके बल पर ही सबके पास जा सकते हैं किन्तु समर्थ होते हुए भी भक्तों से द्वेष नहीं करते हैं क्योंकि वहाँ उनका सामर्थ्य

---

१. स्नेह।

२. ऊँचवी पदवी पर पहुँचे हुवे।

स्तब्ध हो जाता है, इससे सिद्ध होता है कि भक्ति मार्ग के साधन और फल से कोई भी अन्य मार्ग उत्तम नहीं है ॥ ३३ ॥

सुबोधिनी—एवं स्मृतिमार्गेण भगवत्पक्षपात मुक्त्वा वैदिक मार्गेण पूर्ववदाह सत्वमित्यादि चतुर्भिः।

उपरोक्त श्लोकों में स्मृति मार्ग से भगवत्पक्षपात कह कर अब वैदिक मार्ग से भगवत्पक्षपात का ४ श्लोकों में प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल के भेद से वर्णन करते हैं।

श्लोक—सत्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः।
वेदक्रियायोगतपः समाधिभिस्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥३४॥

श्लोकार्थ—आप, जगत के पालन समय में जीवों को शुभ कर्मों का फलरूप उपहार[२] देने के लिये सत्वगुणमय शरीर धारण करते हो जिससे मनुष्य वेद में कही हुई क्रिया, योग, तप और समाधि से आपकी सेवा कर सकते हैं ॥ ३४ ॥

सुबोधनीः—वेदो हि द्विविधः प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गप्रतिपादकः। तादृशोपि पुनः प्रत्येकं द्वेधा भिन्नैरधिकारिभिर्द्विविधः। तत्र प्रवृत्तावर्थावबोधोध्ययनमनुष्ठानं चेति ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य चाधिकारेण सिद्धम्। तप आत्मनि च स्थितिरुत्तमाश्रमस्थयोर्निवृत्तौ क्रमेणैव सिद्धम्। एतद् वेदानुसारेणाश्रमचतुष्टये धर्मानुष्ठानं दैत्यांशानामपि तुल्यमिति भगवान् सत्त्वमूर्तिः स्वसत्त्वं प्रकटीकृत्य सात्त्विकानेव तत्तद्धर्मेषु प्रेरयति विपरीतांश्च निवर्तयति। अन्यथाश्रमस्थेष्वेव केचिदध्ययनादिकं यथाशास्त्रार्थं कुर्वन्ति केचिन्नेतिव्यवस्था न स्यात्। वैदिकाश्च सर्वे धर्माः परिपाल्यमाना एव जगति प्रवर्तन्ते। अतः स्थितौ स्थित्यर्थं यदा भवान् विशुद्धं सत्त्वं सत्त्वगुणं श्रयते तदैव तेन सत्त्वगुणेन लोके प्रसृतेन व्याप्ता आश्रमस्थाः क्रमेण वेदाध्ययनं क्रियायोगः कर्मानुष्ठानं तपो वनवासादिः समाधिरात्मस्थितिश्चेतिचतुर्विधान् धर्मान् सम्यगनुतिष्ठन्ति। ततोपि तेन धर्मेण शुद्धान्तःकरणास्तवार्हणं समीहन्ते। शुद्धैरेव हि भगवत्सेवा कर्तुं शक्यत इति। ननु वेदनैव कार्यसिद्धौ किं सत्त्वगुणेनेत्याशङ्क्याह शरीरिणामित्यादि। यदि फलदाता कोपि न स्यात् प्रथमप्रवृत्तं विसंवादिनं दृष्ट्वा कोपि न प्रवर्तेत। नन्वदृष्टादिद्वारा भूतसंस्कारद्वारा वा कार्यसिद्धौ किं सत्त्वमूर्त्येत्याशङ्क्याह शरीरिणामिति। ते हि शरीराभिमानिनो विद्यमानशरीराश्च। यदि प्रथमं शरीरभिन्नतयात्मानं जानीयुस्तदा कर्तृसमानाधिकरणमदृष्टमुत्पद्येतैव। देहान्तरे वा फले प्राप्ये भूतसंस्कारो भवेत्। उभयोश्चाभावात् फलदाता भगवानेवापेक्ष्यते। तदाह श्रेय उपायनम्। उप समीप आनीय समर्पणम्। यस्माद् वपुरिति। दैवगत्या फलसिद्धिज्ञानाभावाय। अस्तु वा फलसिद्धिः। तस्य धर्मस्य भगवद्भजने करणत्वं सहायत्वं वा चेन्न स्यात् तदा क्षयिष्ण्वेव फलमिति पूर्वदोषानिवृत्तिः। अतो वै- दिके मार्गे सर्वधर्मप्रवर्तको भगवानिति देवानां पक्षपोषकः। जन इत्येकवचनं जात्यभिप्रायं दुर्लभत्वज्ञापनाय ॥ ३४ ॥

अनुवाद—प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग के प्रतिपादन के कारण वेद दो प्रकार का कहा जाता है। पुनः प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के दो-दो भेद हैं। जिनके अधिकारी भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः वे,

२. भेंट, पारितोषिक।

दो भी पुनः दो-दो प्रकार के हो जाते हैं। उनमें से प्रथम प्रवृत्ति मार्ग के धर्म ब्रह्मचारी तथा गृहस्थी के अधिकारानुसार अर्थविबोध[१], अध्ययन[२] और अनुष्ठान[३] सिद्ध है। द्वितीय, निवृत्ति मार्ग के धर्म, वानप्रस्थी तथा सन्यासी के अधिकारानुसार तपस्या और आत्मा का अनुसन्धान निवृत्ति के समय क्रम से करने के लिये कहे गये हैं।

इस प्रकार चारों आश्रमों के मनुष्यों के लिये वेदानुसार इन धर्मो का आचरण करने के लिये कहा है अतः जिनमें दैत्यांश है वे भी इन धर्मों को करने लगेंगे। इसलिए सत्वमूर्ति भगवान् अपना सत्व प्रकट कर सात्विक (दैवी) जीवों को ही उन धर्मों के करने के लिए प्रेरणा करते हैं तथा अन्यों (आसुरी दैत्यांश वालों) को वहाँ से हटा देते हैं। जो इस प्रकार भगवान् की प्रेरणा नहीं होवे तो आश्रम स्थितों में भी, कोई शास्त्रार्थानुसार वेदाध्ययन करते हैं तथा कोई नहीं करते हैं, इस भांति की व्यवस्था नहीं होती। वैदिक धर्मों का प्रचार उनके पालन करने से ही जगत् में होता है। अतः जगत् की स्थिति समय में जगत् की स्थिति के लिए जब आप विशेषेण शुद्ध सत्व रूप धारण करते हो तब लोक में फैले हुए आश्रम धर्म क्रम पूर्वक वेदाध्ययन, क्रिया योग कर्मानुष्ठान, तपस्या, वनवास और समाधि (आत्मा में स्थिति) इन चार प्रकार के धर्मों का जीव सम्यक्[४] प्रकार से सेवन करते हैं। अनन्तर इन धर्मों के पालन से शुद्ध अन्तःकरण होने पर आपकी सेवा कर सकते हैं। शुद्ध जीव ही भगवत्सेवा करने के योग्य हैं।

वेद से ही जब कार्य की सिद्धि हो सकती है तब सत्वगुण की क्या आवश्यकता है? इस शङ्का के निराकरण के लिये श्लोक में 'जीवा' न कहकर शरीरिणः कहा है जिसका आशय यह है कि जीव जब तक 'शरीराभिमानी' है तब तक वेदाज्ञा का पालन नहीं कर सकता है क्योंकि अभिमान रजो एवं तमो गुण से होता है जिससे बुद्धि भी अन्यथा होती है। अतः उन शरीराभिमानी जीवों के रजो तथा तमो गुण को दबाकर उनमें सत्वगुण का आविर्भाव भगवान् आप अवतार द्वारा नहीं करते हो, तब तक आश्रम धर्मों का पालन नहीं हो सकता है, जिससे जगत् की स्थिति भी, डावाँडोल हो जाती है, इसलिए वेदों के विद्यमान होते हुए भी, सत्वगुण की आवश्यकता है। अथवा यदि कोई वेद से अतिरिक्त[५] चेतन फलदाता न होवे, तो प्रथम प्रवृत विसंवादी[६] को देख कर, प्रायः जनता वैदिक कर्मों में प्रवृत नहीं होगी। अतः वेद से कार्य की सिद्धि नहीं होने से, श्रेय करने वाले सत्वगुणावतार को वैदिक पदार्थ तथा क्रिया के ज्ञान उत्पन्न करने के लिये आवश्यकता है।

वेद से सिद्धि न हो तो भी अदृष्ट द्वारा वा भूत संस्कार द्वारा कार्य की सिद्धि हो जायगी तदपि सत्वमूर्ति की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की शङ्का को इस भांति मिटाते हैं कि अदृष्ट और भूत संस्कार तब बनते हैं जब जीव को देह से भिन्न समझा जाय वे तो शरीर को ही अपना रूप समझते हैं इसलिये उनका प्रारब्ध नहीं बनता है और प्रारब्ध के न होने से भूत संस्कार भी नहीं बनते हैं दोनों के

१. अर्थ का ज्ञान　　२. वेदादि शास्त्रों का पढ़ना　　३. वेद में कहे हुए धर्मों का पालन
४. भली, ठीक　　५. पृथक या भिन्न　　६. अवैदिक

अभाव में फलदाता भगवान् की अपेक्षा रहती ही है। भगवान् ही फलदाता है इसको सिद्ध करने के लिये श्लोक में 'श्रेयः उपायनं और वपुः' शब्द दिये हैं। जिनका भावार्थ है कि भगवान् स्वयं सत्वमूर्तिधारण कर कल्याणकारी उपहार आकर भेंट करते हैं। दैवगति[1] से फल की सिद्धि नहीं होती है किन्तु भगवान् ने कृपा कर प्रकट हो के यह सत्वबुद्धि उपहार में दी है।

दुर्जन-संतोष[2] से मानी जाय कि, दैवगति से फल की सिद्धि हो भी जाय तो भी वह सिद्धि भगवद्भजन में साधनभूत सहायक न हुई तो उस सिद्धि का फल नाशवान होगा और पूर्व दोषों की निवृत्ति भी नहीं होगी। अतः वैदिक मार्ग में सर्वधर्म प्रवर्त्तक भगवान् ही है। इससे देवों के पक्ष का पोषक है। श्लोक में 'जन' शब्द एक वचन जाति के अभिप्राय से दिया गया है और वह दुर्लभत्व बताने के लिये है ॥ ३४ ॥

ननु ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्यापि श्रेयोदानार्थमात्मविवेकस्याजातत्वात् सत्त्वाश्रयणं भवतु नाम ज्ञानस्य तु सिद्धफलदातृत्वादसिद्धफलेपि साक्षादेव फलजननसम्भवात् तज्ज्ञाने तत्साधने तपसि वा भगवतः सत्त्ववपुर्नापेक्ष्यत इत्याशंक्याह सत्त्वं न चेदिति।

जिन ब्रह्मचारियों और गृहस्थियों को आत्मविवेक (आत्मा के स्वरूप का ज्ञान) नहीं है उन्होंको श्रेयदानार्थ (सत्व प्रकट कर आत्म स्वरूप का ज्ञान देने के लिये अथवा मोक्ष देने के लिये) सत्वगुण रूप अवतार लेने की चाहे आवश्यकता हो किन्तु ज्ञान तो सिद्ध फल का दाता है, यदि फल की सिद्धि न भी हुई हो तो भी ज्ञान साक्षात् फल जनक होने से उस ज्ञान के वा उसके साधन अथवा तपस्या के लिए भगवान् के सत्वशरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई इस प्रकार पूर्व पक्ष शङ्का करे तो उसके उत्तर में यह श्लोक कहते हैं।

श्लोक—सत्वं न चेद् धातरिदं निजं भवेद् विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ॥
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे धातः यदि आप सत्वगुणमय वपु को धारण नहीं करो तो अज्ञान को नाश करने वाले विज्ञान की भी स्थिति न हो। गुणों के प्रकाश से ही हम आपका अनुमान कर सकते हैं कि जिसका और जिससे गुणों का प्रकाश होता है ॥३५॥

सुबोधिनीः—इदं शुद्धसत्त्वं सर्वरक्षकं सर्वकर्मफलदातृ चेन्न भवेद् विज्ञानमपि न भवेत्।" सत्त्वात् सञ्जायते

---

१. प्रारब्धादि

२ दुर्जन अर्थात् आग्रही को प्रसन्न करने के लिये उसकी बात थोड़े समय के लिये मान लेने को 'दुर्जन संतोष' कहते हैं।

ज्ञान" मिति सत्त्वाभावे ज्ञानं न स्यात् । न च शास्त्रसिद्धेन सत्त्वगुणेन ज्ञानमुपस्थापयितुं शक्यते । परकीयत्वात् । यस्मिन् क्षणे शास्त्रानुसन्धानं तदर्थानुष्ठानं वा तदैव तत्सत्त्वमाविर्भवति । तद्धर्मत्वात् । इदं तु निजम् । न च तैरपि स्वमूलकारणभूतं सत्त्वगुणमुत्पादयितुं शक्यते तेषां कर्तृत्वाभावादिति ज्ञापयति हे धातरिति । विज्ञानमनुभवः । स च सत्त्वैकरूपेन्तःकरणे भवति । यथा यथा च विशुध्यते तथा तथाकामहतो भवतीति शुद्धसत्त्वाविर्भाव एव विज्ञानं युक्तं यथोत्पन्ने जगत्यन्ने सत्यां क्षुध्यन्नसम्पादनं सुकरं न तु क्षुदनन्तरं तत्सम्पादनं शक्यम् । अतो भगवता सत्त्व आविर्भाविते तत्कृपया भगवता सह सत्त्वमपि हृदये समागच्छेन्नत्वन्यथा । निषिध्यमानं शास्त्रीयं भविष्यतीत्याशङ्क्य विशिनष्टयज्ञानभिदापमार्जनमिति । अज्ञाननाशकं विज्ञानमात्मानुभवः । भेदनाशकं तु भगवद्विज्ञानम् । उभयोः साक्षात्कारे देहाद्यध्यासनिवृत्तिः शुद्धाद्वैतं च स्फुरति । तच्च ज्ञानं न विषयविषयिभावेन । तादृशस्य पुरुषार्थासाधकत्वं पूर्वमुक्तम् । आविर्भावस्तु भगवतः स्वरूपस्य वा शुद्धसत्त्वव्यतिरेकेण न सम्भवति । यदि ज्ञाने सत्त्वापेक्षा सुतरां तपसि तदपेक्षेति न तत् पृथङ् निरूपितम् । न चेद् भवेदिति । इत्यपदव्यतिरिक्तं सर्वमावर्तते । "अर्थवशात् पदानां व्यवस्था" । 'अज्ञानभिद् विज्ञानं मार्जनमापे'ति न व्याख्यानम् । नन्वस्य सत्त्वस्य स्वतो ज्ञानरूपत्वाभावात् साधन उपयोगः । यद्यन्यथैव भगवदाविर्भावो भवेदात्मनो वा तदा किं सत्त्वेन ? तत्रेन्द्रियाणां प्रकाशो लोकदृष्टः स्वकारणप्रकाशमाक्षिपति । तत्र प्रवर्तकस्य भगवतोभिमानिनो जीवस्य च प्रकाशोवश्यम्भावी । अतस्तदनुसन्धानेनैव तद्व्यवधायकमलनिवृत्तौ तदुभयोः प्रकाशो भविष्यतीति व्यर्थं सत्त्वमिति चेत् तत्राह । गुणप्रकाशैरनुमीयते भवानिति । गुणानामिन्द्रियविषयादीनां प्रकाशैर्ज्ञानैः प्रेरकोभिमानी चानुमीयतेस्तीति । स ह्यनाविर्भूत एव तथा करोति । आविर्भावस्तु केन कर्तव्यो भवेत् ? न च स्वरूपसत्त्वं कार्यकारणं वा प्रकृते प्रयोजकम् । आविर्भावस्तु सत्त्वाधीन इति पूर्वमवोचाम । न च प्रकाशोपि कार्यव्यतिरेकेण न सम्भवति । अन्यथा गुणप्रकाशो न भवेदिति वक्तव्यम् । यस्य सम्बन्धी वा गुणः प्रकाशते येन वा गुणः प्रकाशते । न तु सम्बन्धिनः करणस्य वा प्रकाशमपेक्षते । अतः प्रकाशार्थमवश्यं सत्वगुणोपेक्षितः ।।३५।।

अनुवाद—यदि सर्व रक्षक और सर्व कर्म फल दाता आपका यह शुद्ध स्वरूप न हो तो विज्ञान भी न होवे । कारण कि शास्त्र कहते हैं कि 'सत्वात् संजायते ज्ञानं' सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है यदि सत्वगुण नहीं हो तो ज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं हो । यदि कहो कि शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त कर लेंगे तो वह भी नहीं हो सकता है । कारण कि शास्त्र पढ़ने से वा उनके अर्थ के मनन करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह शास्त्र का धर्म होने से उस वक्त तक ही रहता है क्योंकि वह ज्ञान पराया होने से टिकता नहीं है । यह ज्ञान जो सत्वगुण वपुधारी से दान रूप में प्राप्त होता है वह अपना होने से स्थिर रहता है अतः इस ज्ञान से सिद्धि होती है । शास्त्र, मूलभूत सतोगुण को प्रकट नहीं कर सकते हैं। कारण कि शास्त्र, कर्ता नहीं है इसको सिद्ध करने के लिये भगवान् को 'हे धातः' नाम से संबोधन किया है आप रक्षक हो जिसमे आपका स्थापित किया हुआ सतोगुण सदैव रहकर ज्ञान को प्रकट करता है जिससे क्रमशः विज्ञान[1] भी होता है । 'विज्ञान' सत्वगुणयुक्त अन्तःकरण में होता है । ज्यों-ज्यों ज्ञान द्वारा जीव निष्काम बनता जाता है त्यों-त्यों उसको विज्ञान[1] की प्राप्ति होती है । जैसे जगत् में अन्न उत्पन्न हो गया हो तो क्षुधा

१. अनुभव

होते ही अन्न लाना सरल होता है। न कि भूख लगने के बाद अन्न उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाय। जो यत्न व्यर्थ है। अतः भगवान् द्वारा सत्व का आविर्भाव होने से उनकी कृपा से उनके साथ सत्व भी हृदय में प्रवेश करता है, अन्य प्रकार से सत्व, हृदय में सदैव के लिए नहीं आता है।

यदि इस प्रकार सत्व प्राप्त न हो तो शास्त्र से प्राप्त करेंगे। इस शङ्का को 'अज्ञानभिदाप-मार्जनं' विशेषण देकर निवारण करते हैं। विज्ञान के दो प्रकार हैं—एक प्रकार जो अज्ञान का नाश कर आत्मा का अनुभव कराता है वह आत्म-विज्ञान है। दूसरा प्रकार जो आत्मा[1] और परमात्मा के भेद को मिटाता है उसको भगवद्विज्ञान कहते हैं। जब इस प्रकार जीव और परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब देहादिकों में जो अध्यास[2] है वह नष्ट हो जाता है और सर्वत्र शुद्ध अद्वैत स्फुरित होता है। वह ज्ञान, विषय तथा विषयी भाव से नहीं होता है कारण कि विषय और विषयी भाव द्वैत तक रहता है, अद्वैत में वह भाव नहीं होता है। विषय विषयी भाव पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं करता है यह पूर्व में कह दिया है। भगवान् वा आत्मस्वरूप का आविर्भाव शुद्ध सत्वगुण के सिवाय नहीं होता है। यदि ज्ञान में सत्वगुण की अपेक्षा[3] है तो तपस्या में भी सत्वगुण की अपेक्षा[3] होनी चाहिए। अतः उसका पृथक् निरूपण नहीं किया गया है।

श्लोकों में जो पदों की व्यवस्था अर्थात् अन्वय किया जाता है वह अर्थ के अनुकूल किया जाता है। अतः यहाँ अर्थानुकूल अन्वय इस प्रकार करना चाहिए। अन्यों ने जिस प्रकार अन्वय किया है, वह प्रसंगानुकूल युक्त नहीं है।

श्लोक के प्रथम आधे का अन्वय—

हे धातः इदं निजं सत्वं यदि न भवेत्, अज्ञानभिदापमार्जनं विज्ञानं (अपि) न भवेत्।

अर्थ—हे धातः! यह अपना सत्व न हो तो अज्ञान के भेद को नष्ट करने वाला विज्ञान भी उत्पन्न न होवे। इस प्रकार अन्वय करने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

यह सत्वगुण स्वयं तो ज्ञान रूप नहीं है। अतः इसका उपयोग ज्ञान के साधन के रूप में किया जाता है। तब अन्य प्रकार से ही भगवान् का और आत्मा (जीव) का आविर्भाव हो जाय तो सत्व की क्या आवश्यकता है? इन्द्रियों का प्रकाश लोकदृष्टि से भी देखा जाय तो अपने कारण रूप भगवान् के प्रकाश का ही आक्षेप[4] करता है। वहां ज्ञान मार्ग में प्रवृत्ति कराने वाले भगवान् और भगवत्‌रूप होने का अभिमान करने वाले जीव दोनों का प्रकाश अवश्यम्भावी है। अतः अपने कारणरूप, भगवान् के अनुसन्धान करने से विक्षेप करने वाले मल की निवृत्ति हो जायगी, जिससे आत्मा (जीव) और

---

१. जीव स्वरूप

२. जीव अपने को ब्रह्म का अंशस्वरूप न समझ देह प्राणादि को अपना रूप समझता है।

३. आवश्यकता

४. अनुसरण

परमात्मा दोनों का प्रकाश हो जायगा। अतः सत्व की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि इस प्रकार शङ्का की जाय तो उसका उत्तर देते हैं कि 'गुणप्रकाशैः अनुमीयते भवान्' गुण के प्रकाश से अर्थात् इन्द्रियों के विषय ज्ञान से केवल अनुमान किया जाता है कि आप प्रेरक और जीव गुणाभिमानी हैं। इस अनुमति[1] से उन दोनों की सत्ता का ज्ञान होता है, न कि उनके स्वरूपों का प्रकाश होता है। यदि स्वरूप का प्रकाश हो तो उस समय यह मालूम हो जाय कि यह तो भगवान् है और यह मैं हूँ वह तो होता नहीं है। यह क्यों नहीं होता है वहाँ कहते हैं कि वह (परमात्मा) आविर्भूत न होकर ही कार्य करते हैं। आविर्भाव तो कौन कर सकता है? यदि कहा जाय कि स्वरूप, सत्ता से ही आविर्भाव हो जायगा। इस पर कहते हैं कि प्रकृत में (पूर्व में कहे हुए प्रकार से परोक्ष के अनुभव में) स्वरूप की सत्ता अथवा कार्यकारण प्रयोजक (प्रेरक-काम में लगाने वाले) नहीं है। आविर्भाव तो सत्व गुण के आधीन (आश्रित) है। भगवान् का प्रकाश तो कार्य (गुणों के) प्रकाश के सिवाय भी होता है। यदि इस प्रकार न हो तो यों कहो कि गुणों का प्रकाश भी नहीं होगा। कारण कि जिसके सम्बन्ध वाला गुण, प्रकाश में आता है और जिससे गुण का प्रकाश होता है। इस प्रकार अर्थ करने से सर्व स्पष्ट हो जायगा। यहाँ सम्बन्धी वा करण (साधन) के प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। अतः प्रकाश के लिये सत्वगुण की आवश्यकता है ही। जैसे सूर्य की सत्ता हो तो भी, वह सत्ता वाला सूर्य, वस्तु का प्रकाश नही कर सकता है। इसका प्रत्यक्ष ज्ञान, ग्रहण के समय में होता है, उस समय सूर्य की सत्ता है किन्तु वह, केवल सत्ता वस्तु को दिखा नहीं सकती है, ग्रहण के अभाव में जब प्रकाश युक्त सूर्य होता है तब वह वस्तु को दिखा सकता है। इसी भांति यहां भी प्रकाश विशिष्ट सत्ता से ही कार्य सिद्धि होती है, अतः प्रकाशार्थ भगवद्रूप सत्व गुण की आवश्यकता है क्योंकि उसके बिना उत्तमाश्रमी के हृदय में भी स्वरूप का प्रकाश नहीं होता है। इस प्रकार इस वैदिक मार्ग में, जीवस्वरूप, प्रकाश तथा शुद्धाद्वैत प्रकाश प्रमेय कहा गया है ॥ ३५ ॥

सुबोधिनी—एवं प्रमाणप्रमेये वैदिकप्रकारेण भगवद्रूपेण भगवद्रूपे विचारिते। साधनं विचारयति न नामरूपे इति।

उपरोक्त श्लोक में वैदिक प्रमाण तथा प्रमेय का भगवद्रूप से विचार कर अब इस श्लोक में साधन का विचार करते हैं।

श्लोक—न नामरूपे गुणकर्मजन्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥३६॥

श्लोकार्थ—उन साक्षी स्वरूप आपके मार्ग का केवल अनुमान होता है कारण कि

---

१. अनुमानज्ञान

आपके नाम और रूप, मन तथा वचन के अगोचर है। अतः गुण, कर्म और जन्म से निरूपण नहीं किये जा सकते हैं तो भी क्रिया में आपको प्रतीति उपासकों को होती है ॥ ३६ ॥

सुबोधिनी—वैदिकमार्गानुसारेण साधनं भगवान् सर्वपुरुषार्थेषु। स च गुणातीत एव। वेदे गुणाभावात्। फलदानार्थं परं भगवान् देवपक्षपातार्थं तथा कृतवान्। अतः सगुण साधनमितिपक्षं निराकरोति न नामरूपे इति। ते नामरूपे गुणकर्म जन्मभिर्न निरूपितव्ये। साक्षी भगवान् सर्वकर्मफलदाता कर्माध्यक्षः। स एव साधनम्। गुणैः कृत्वा यानि कर्माणि जन्मानि च तानि तव न सन्त्येव किन्तु क्रियाशक्त्यैव सद्रूपया धर्मरूपेण प्रकटस्य तवाविर्भावः कर्माणि। आनन्दरूपेण प्रकटस्य च जन्मानि। तैरेव च नामरूपे। अन्यथा प्राकृतत्वे सति न कोपि पुरुषार्थः सिध्येत्। भवतु वा भगवतः कल्पान्तरे तथाभूते अपि न तु शास्त्रे साधनत्वेन निरूपितव्ये। तदा तस्य फलदातृत्वं न स्यात्। कर्माध्यक्षत्वाभावात्। किञ्च सगुणं चेत् मनसा वचसा च व्याप्यं भवति। ततो मानसिकं वाचनिकमेव फलं प्रयच्छेद् न त्वात्मरूपं भगवद्रूपं वा। भगवांश्च मनोवचोभ्यामनुमेयमेव तर्क्यमेव वर्त्म यस्य तादृशः। न तु प्रत्यक्षविषयः। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू"रित्यादिश्रुतिवाक्यैः। तर्हि नामरूपाण्येव न सन्तीति चेत् तत्राहुर्देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हीति। हे देव सर्वपूज्य। क्रियायां श्रौत्यां तान्त्रिक्यां च नामरूपे प्रतियन्ति। "विष्णोर्नु कं" "तदस्य प्रियम्" "इदं विष्णुः" 'प्र तद् विष्णुः' षडक्षरादिरामादिमन्त्राश्च। "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्याद् तां मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्य"न्निति श्रुतेर्ध्यानादिविधानाच्च। नामरूपाभावे ध्यानं मन्त्रश्च न भवेताम्। इमामेवोपपत्तिमाह हिशब्दः। अत एव तदन्यथानुपपत्त्या प्रतियन्ति। यतः प्रतियन्त्यतः प्राकृतत्वाभावाद् दिव्यान्येव तान्यानन्दमयानीत्यध्यवसीयन्ते। एवं सर्वाण्येव रूपाणि नामान्यानन्दमयानीति तानि सर्वपुरुषार्थसाधकानि निरूपितानि ॥ ३६ ॥

अनुवाद—वैदिक मार्ग के अनुसार समस्त पुरुषार्थों के लिये भगवान् ही साधन है। वह (साधन रूप भगवान्) गुणातीत है कारण कि वेद में गुणातीत भगवान् का वर्णन है। किन्तु उस निर्गुण भगवान् ने देव पक्षपात के लिये तथा फलदान करने लिये गुणविशिष्ट स्वरूप धारण किया है जिससे वह सगुण भगवान् यहां साधन रूप है इस प्रकार यदि कहा जाय कि सगुण भगवान् साधन रूप है तो उस सिद्धांत (पक्ष) का निराकरण करते हुए कहते हैं कि आपके नाम तथा रूप, गुण, कर्म और जन्म के कारण नहीं बनते हैं। कारण कि आप भगवान् तो साक्षी, सर्व कर्मो के फलदाता तथा कर्माध्यक्ष, हो वह ही साधन रूप हो। गुणों से जो कर्म वा जन्म होते हैं वे आपके नहीं होते हैं किन्तु सद्रूप क्रिया शक्ति द्वारा धर्म रूप से जो आपका प्राकट्य है वे ही नाम हैं तथा आनन्द रूप से जो प्राकट्य है वे ही आप के जन्म हैं। इन्हों से ही आपके नाम तथा जन्म है। यदि वैसे आपके नाम तथा जन्म न होवे तो प्राकृत होने पर कोई भी पुरुषार्थ उन प्राकृत नाम रूपों से सिद्ध न होगा।

इस प्रकार भगवान् के नाम और रूप कल्पान्तर में भले माने जांय, किन्तु शास्त्र में साधन रूप

से, निरूपण नहीं करने चाहिये। जो इसी तरह मान लिया जाय, तो भगवान् में जो फलदातृत्व है वह भी रहेगा नहीं। कारण कि प्राकृत नाम रूप वाले, फलदाता नहीं हो सकते हैं। पुनः जो सगुण माना जाय, तो वह मन एवं वाणी से व्याप्य (मन और वाणी का विषय) होने से, मानसिक और वाचनिक फल ही दे सकेंगे। भगवान् तो मन और वाणी से तथा जिनके मार्ग का केवल अनुमान ही कर सकते हैं वैसे हैं, न कि प्रत्यक्ष विषय है। क्योंकि (यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह) (पराञ्चिखानि व्यतृणोत् स्वयम्भूः) इत्यादि श्रुतियों में कहा है, कि मन सहित इन्द्रियां वहां न पहुँचकर, लौट आती हैं, उस स्वयम्भू को इन्द्रियां प्राप्त नहीं कर सकती हैं। तो उसके नामरूप नहीं है यदि यों कहो तो उसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि (देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि होति) हे देव! यद्यपि आपके नामरूप इन्द्रियों से नहीं जाने जाते हैं तो भी क्रिया से इनकी प्रतीति होती है जिसका प्रमाण भी शास्त्र ही है। जैसे कि कहा है-(विष्णोर्नुकं) विष्णु के वीर्य (पराक्रम) कहते हैं। (तदस्य प्रिय) वह (इसका प्रिय)। (इदं विष्णुविचक्रमे) विष्णु ने यह विश्व तीन पादों में नाप लिया। षड्क्षरादि राम आदि मंत्र तथा जिस देवता के लिये हवि अर्पण करने के लिये ग्रहण की है उसका ध्यान करो। इत्यादि क्रियाएँ तब हो सकती हैं जब आपके नाम और रूप हो यदि नाम व रूप न हो तो ध्यान तथा मंत्र भी न होवे। (हि) शब्द से निश्चय पूर्वक यह उपपत्ति होती है कि, ये आपके नाम और रूप प्राकृत नहीं है किन्तु आनन्दमय (अलौकिक) हैं। अतः वे (आनन्दमय नाम तथा रूप) सर्व पुरुषार्थों के साधक (सिद्ध करने वाले) हैं। ऐसा निरूपण किया गया है ॥ ३६ ॥

तैः फलमाह शृण्वन् गृणन्निति। साङ्गानि कर्माणि वैदिकान्यवश्यं फलदातृणि

उपरोक्त श्लोक में भगवान् के नामो व रूपों के स्वरूप का वर्णन किया है कि वे नाम और रूप नित्य तथा आनन्दमय हैं, अब इस श्लोक में उनके लेने और ध्यान करने से जो फल मिलता है उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु युष्मच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ—आपके मङ्गलरूप नाम और रूपों को स्मरण करते हुए, सुनते हुए, कहते हुए और चिन्तन करते हुए जो पुरुष देवार्चनादि क्रियाओं के करने के समय आपके चरणारविन्द में ही चित्त स्थिर रखते हैं। उनका कभी भी पुनर्जन्म नहीं होता है ॥३७॥

सुबोधिनी—"यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युत" मितिस्मृतेः। सम्पूर्णं चेज्जातं फलं जनयेदेव। तच्च फलम् मोक्ष एवेति स्वर्गपदविचारे निबन्धे निरूपितम्। तदेवात्राप्याह। ते नामानि शृण्वन्। परैरुच्चारितानि रूपाणि च कीर्त्यमानानि ये शृण्वन्ति तदनु गृणन्ति। उभयविधान्यपि श्रोतरि सति।

अन्यदा स्मरन्ति । तदपि स्मरणं ध्यानरूपमिति संस्मरणमुक्तम् । चकारात् स्मारयन्नुपदेशादिदानेन श्रावयन् वादयन्नपि । चिन्तयन् योगाङ्गध्यानत्वेन । तथैव चित्तनिरोधेन नामावृत्तिर्नाम ध्यानम् । अप्रयत्नश्चित्तव्यापारः स्मरणं सप्रयत्नश्चित्तव्यापारश्चिन्तनमितिविशेषः । तदेव रूपपरिकल्पने ध्यानमित्युच्यते । चकाराद् भगवत्सम्बन्धिनामप्यन्येषां श्रवणादिकं फलसाधकमित्युक्तम् । मङ्गलानीति तत्र प्रतिबन्धाभावो निरूपितः । अन्यथा तस्याप्यसिद्धाविच्छायामपि सत्यां कार्यं न स्यात् तदर्थमन्यच्च कर्तव्यमापद्येत । त इति मङ्गलरूपस्य तव । उत्तरत्र वा सम्बन्धः । क्रियासु यज्ञादिषु भगवत्सेवारूपासु वा लौकिकक्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तः स सर्वथा भवाय संसाराय न कल्पते न समर्थो भवति ।

कारिका—स्मरणेन क्रियाः पूर्णाश्चित्तावेशश्च तत्र हि ।
ज्ञानक्रिये यदा विष्णुस्तदा मोक्षो न संशयः ॥ १ ॥

सदोष एव हि संसारे कल्पते । एवं कृते सर्वदोषनिवृत्तौ संसारासामर्थ्यं युक्तमेव ॥ ३७ ॥

अनुवाद—स्मृति शास्त्र इस श्लोक द्वारा कहता है कि 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपो यज्ञ क्रियादिषु' न्यूनं सम्पूर्णतांयातिसद्यो वन्दे तमच्युतम्' वैदिक कर्म जब अङ्गों सहित पूर्ण किये जाते हैं, तब वे फल देते हैं। यदि उनमें कुछ त्रुटि रह जाय तो फल नहीं देते हैं। अतः उस त्रुटि की उसी क्षण में ही पूर्ति करने के लिए स्मृतिकार ने कहा है कि तपस्या, यज्ञादि क्रियाओं में रही हुई त्रुटि की पूर्ति, जिस अच्युत भगवान् की स्मृति[1] से और नाम लेने से हो जाती है। उस अच्युत भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ। इस श्लोक से यह बताया गया है कि किसी भी वैदिक आदि क्रियाओं की त्रुटि की पूर्ति के लिए कर्म करने वाले को कर्म करने के अन्त में भगवत्स्मरण और नाम लेना चाहिए जिससे वह कर्म साङ्गपूर्ण होकर फलदाता हो जाय। वह फल मोक्ष ही है। आचार्य श्री कहते हैं कि हमने निबन्ध में स्वर्गपद का विश्लेषण करते हुए यह समझा दिया है कि 'स्वर्ग' शब्द का भावार्थ सुख अर्थात् मोक्ष है। उसे ही यहाँ भी कहा हैं।

जब दूसरे भक्त भगवान् के नामों का उच्चारण करते हैं तथा उनके गुण व रूपों का कीर्तन करते हैं तो उनको (दोनों प्रकारों को) सुनकर जो आप भी उसी भाँति बोलते हैं और स्मरण करते हैं तो वह स्मरण भी ध्यान रूप से करना चाहिए। इसीलिए श्लोक में 'स्मरण' न कहकर 'संस्मरणं' कहा है। श्लोक में कहे हुए 'च' का आशय है कि केवल स्वयं न लेकर अन्यों को भी स्मरण करावे तथा उपदेशादि दान से अर्थात् उसका भाव बताते हुए दूसरों को सुनावे और हो सके तो उन्होंसे नामध्वनि करावे।

'स्मरण' तथा 'चिन्तन' में क्या भेद है? उसको समझाते हैं कि सांसारिक विषयों से रोके हुए चित्त से नाम का जप[2] करना ध्यान है, जिस ढंग से चित्त को किसी प्रकार का प्रयत्न न करना

---

१. याद २. बार-बार नाम लेते रहना

पढ़े उस प्रकार से अर्थात् बिना प्रयत्न के नाम लेने को 'स्मरण' कहते हैं। प्रयत्न से नाम स्मरण में चित्त लगाने को चिन्तन कहते हैं। उसी चिन्तन के समय में स्मरण करते हुए यदि भगवद्रूप की भी कल्पना की जावे तो वह 'ध्यान' है। श्लोक के दूसरे 'च' का यह आशय है कि यदि भगवान् से सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों का श्रवण किया जाय तो उससे भी फल सिद्धि होती है। यदि फल सिद्धि की इच्छा होते हुए भी फल सिद्धि न हो तो क्या उसके लिए कोई दूसरा उपाय करना चाहिये ? ऐसी शंका ही किसी को मन में नहीं लानी चाहिए क्योंकि भगवान् के नाम, रूप और गुण तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ आपके (भगवान् के) मंगलरूप हैं। अतः उनसे सिद्धि की प्राप्ति में प्रतिबन्ध हो ही नहीं सकता है। क्योंकि आपकी क्रियाएँ (यज्ञादि भगवत्सेवा अथवा लौकिकवत् क्रियाएँ सब) मंगलरूप होने से बिना प्रतिबन्ध के सिद्धि देने वाली है।

जिसका चित्त आपके चरणारविन्द में पूर्ण रीति से प्रवेश कर गया है वह कदापि संसार में नहीं आता है अर्थात् वह भक्त मुक्त हो जाता है। संसार में वह आता है जिसमें दोष रहे हों। उपरोक्त क्रिया करने से सर्व दोष की निवृत्ति हो जाती है, तब अहंताममतात्मक संसार निर्बल होना युक्त है। जिससे निर्दोष को मुक्ति हो जाती है ॥ ३७ ॥

कारिकार्थ—भगवान् के स्मरण से क्रियाओं में पूर्णता आती है और भगवान् में चित्त प्रविष्ट हो जाता है। ज्ञान और क्रिया दोनों जब विष्णु रूप हो जाती है तब मोक्ष होता है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है ॥ १ ॥

व्याख्या—कारिका में केवल स्मरण कहा गया है किन्तु इस स्मरण शब्द से 'श्रवण, स्मरण, चिन्तन और कहना' ये चार ही समझने अर्थात् इन चारों प्रकार से भगवच्चिन्तनादि करने से भक्त के हृदय में क्रिया रूप भगवान् का अविर्भाव होता है। जब क्रियारूप भगवान् का हृदय में अविर्भाव होता है तब उस आविर्भाव से भक्त का चित्त उनके चरणारविन्द में प्रविष्ट होता है जिससे ज्ञान शक्ति रूप भगवान् का भी हृदय में आविर्भाव होता है। इस प्रकार जब साधक की क्रिया तथा ज्ञान शक्ति विष्णु रूप हो जाती है तब मोक्ष होता है। इसमें संशय नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥

एवं वैदिकप्रकारेण चतुष्टयमुक्त्वा स्वसिद्धान्तानुसारेण चतुष्टयमाह दिष्ट्येतिचतुर्भिः।

यों वैदिक प्रकार से चारों (प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल) का निरूपण कर अब अपने (देवताओं के) सिद्धान्तानुसारी (प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल) चारों का चार श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोक—दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो भारोपनीतस्तव जन्मनेशितुः।
दिष्ट्याङ्कितैस्त्वत्पदकैः सुशोभनैर्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे हरे । प्रसन्नता का विषय है कि आपके चरण रूप भूमि का भार, आप (ईश्वर) के जन्म (प्राकट्य) से दूर हुआ । आपके सुन्दर चरणारविन्दों से चिह्नित तथा कृपावाली पृथ्वी और स्वर्गको हम देखेंगे यह भी हर्ष का विषय है ॥ ३८ ॥

सुबोधिनी—भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयम् । भगवत्साक्षात्कार: साक्षात्कृतो वा भगवान् प्रमाणम् । भूमिप्रसङ्गाद् वयं कृतार्था जाता इति वदन्त: सर्वमेव जगद् भगवता कृतार्थमासीदित्याहु: । हरे ते पदो भुव: पादरूपाया भूमेस्ते जन्मना भारोपनीत: । मर्दनक्लेशस्तु परमानन्दप्राकट्येनैव गच्छतीति । भारहानौ जन्मन एव करणत्वं न तु किञ्चित् तत्र कर्तव्यमस्ति । तत्र हेतुरीशितुरिति । ईशप्राकट्यमेव सर्वानर्थनिवर्तकम् । भूमिभारनिराकरणं च तवावश्यकम् । अस्माकं च हितकारि । यतस्तव चरणरूपा भू: । सर्वोपि स्वचरणभारं दूरीकरोति । उपास्ये च दोषाभाव: सर्वेषां हितकारी । एतत्करणं चावश्यकं यतो हरिस्त्वम् । भगवज्जन्मनोलौकिकत्वात् क्लृप्तसाधनाभावात् सर्वात्मकत्वाच्च भगवतोसम्भावितमिति दिष्ट्येत्युक्तम् । केचित् त्विदमुदरे समागमनं भूमेर्भारहरणमेव न तु तव जन्मे' त्याहु: । अतो भूमावानन्द एव केवलं प्रकट इति । अन्यदपि जातमित्याह दिष्ट्याङ्कितैरिति । देवा अपि भुवं न स्पृशन्ति किं पुनर्भगवान् स्प्रक्ष्यति ? अतोसम्भावितमपि यद् भविष्यति तद् दिष्ट्येति । सर्वरूपत्वाद् भगवतो मनुष्यादिरूपेण भुवं स्पृशत्येव किमाश्चर्यमित्याशङ्कयाहाङ्कितैरिति । ध्वजवज्राङ्कुशादिचिह्नैरङ्कितै: । अङ्कितामितिपाठे शङ्कापरिहारार्थम् । सुशोभनै: सर्वलक्षणसम्पन्नै: पादैरङ्कितां चिह्नितां गां द्रक्ष्याम इति महद्भाग्यमस्माकम् । भूमि: पदं गृह्णातीत्यपि भाग्यम् । पदं छायामपि जनयतीत्यपि । पुरुषपदमुद्धृता च भूर्ब्रह्मणो दुहितेति सानुरागाया भगवति दर्शनं दिष्टया । अत्र तामित्यनुक्त्वा गामिति यदुक्तवांस्तेन पदाङ्किता सती सर्वेषां सकलकामदोग्ध्री भविष्यतीति सूच्यते । अपरं च पूर्वमियमेव या गोरूपाश्रुमुखीत्वादियुक्ता दृष्टा सा परमानन्दरूपपदाङ्किता द्रक्ष्यत इत्यपि महद् भाग्यं न इत्यपि गोपदेन ज्ञाप्यते । किञ्च पादैरेवानुकम्पितां त्वया वा द्यां च द्रक्ष्याम: । देवानां सर्वोपकारकरणाददित्या: कुण्डल दानादिना च द्यौरनुकम्पिता । अतोस्माकमेव भाग्यं यदुभयं द्रक्ष्याम: । दर्शनं प्रमाणमाविर्भाव: प्रमेयमिति ॥ ३८ ॥

अनुवाद—भगवत् शास्त्र में भगवान् ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल हैं । भगवान् का साक्षात्कार अथवा साक्षात्कारकृत भगवान् ही प्रमाण है । भूमि के प्रसङ्ग के कारण हम (देवता लोग) कृतार्थ हुवे हैं यों कहते हुए यह सिद्ध करते हैं कि, केवल, हम ही नहीं किन्तु समग्र जगत् भगवान् के प्राकट्य से कृतार्थ हुआ है । हे हरे ! आपकी पाद रूप भूमि का भार आपके प्राकट्य से उतर गया है । पृथ्वी का मर्दन क्लेश[1] तो परमानन्द के प्राकट्य मात्र से दूर हो गया है । पृथ्वी के भार उतरने का साधन आपका जन्म ही है जिसके लिये अन्य प्रयत्न (कर्त्तव्य) करने की आवश्यकता नहीं है । कारण कि जिसका जन्म हुआ है वह सर्वथा समर्थ होने से सर्व अनर्थों को स्वयं निवृत करने वाले हैं । हे हरे ! भूमि के भार का निराकरण करना आपके लिये आवश्यक है । और वह हमारे लिये हितकर है । कारण कि पृथ्वी आपकी चरण रूपा है । प्रत्येक व्यक्ति अपने चरणों का भार दूर करता है । अपने उपास्य में दोष न रहे वह समस्तों के लिये हितकर है । इस प्रकार कर्त्तव्य करना आपके लिये आवश्यक है क्योंकि आप हरि (दुःखों को हरण करने वाले) हो ।

१. कुचले जाने का कष्ट

आपका जन्म (प्राकट्य) अलौकिक है। आपके प्राकट्य के लिये पूर्ण साधनों का भी अभाव है और आप सर्वात्मक हो, यों होते हुए भी जो आप (भूभारहरणार्थ दैत्यों के नाश के लिये) कृपाकर प्रकटे हो, यह हर्ष है। कितनों की राय है कि देवकी के उदर में आना यह पृथ्वी के भार का हरण करना ही है, नहीं कि आपका जन्म है। अतः पृथ्वी पर केवल आनन्द ही प्रकटे हैं। आपके समागमन से और भी जो कुछ हुआ है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि देव भी पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते हैं तो क्या भगवान् उसका स्पर्श करेंगे ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जो न होने वाला है वह भी यदि आपके जन्म से होगा वह भी प्रसन्नता का चिन्ह है।

भगवान् सर्व रूप है अतः मनुष्य रूप से पृथ्वी को स्पर्श करते ही हैं, इसमें क्या आश्चर्य है ? यह शङ्का कर देवता उसके उत्तर में कहते हैं कि सर्व लक्षण (ध्वज, वज्र और अंकुशादि चिन्हों वाले) वाले आपके सुन्दर चरण चिन्हित भूमि का हम दर्शन करेंगे। यह हम लोगों का महत् भाग्य है। पृथ्वी पद को, ग्रहण करती है यह इस भूमिका भी भाग्य है। विशेषता यह है कि चरणों की छाया भी पृथ्वी पर पड़ती है। धरा, भगवान् का पद है, भगवान् ने उसका उद्धार भी किया है तथा वह ब्रह्मा की पुत्री है जिससे उसका भगवान् में प्रेम है, प्रेम के कारण भगवान् ने इस प्रकार दर्शन दिये है। यह भी प्रसन्नता है। श्लोक में व्याकरणानुसार (तां न देकर (गां) शब्द दिया है उसका भाव आचार्य श्री बताते हैं कि भगवान् के पदों से चिन्हित होने से यह भूमि सकल कामनाओं को कामधेनु के समान पूर्ण करने वाली होगी। और पहले यह भूमि ही आंखों से आंसू बहाती हुई, (गौ) रूप धारण करती हुई, हमने देखी थी अब वह ही परमानन्द स्वरूप चरणों से अङ्कित होने के कारण आनन्द में प्रफुल्लित हुई हम देखेंगे, यह भी हमारा महद्‌भाग्य है। (गो) पद देने से ये दो भाव बताये गये हैं। तथा चरणों द्वारा आपसे अनुकम्पित स्वर्ग को भी देखेंगे। देवों के ऊपर सर्व प्रकार के आपने उपकार किये और अदिति के कुण्डल का दान किया उससे स्वर्ग भी अनुगृहीत है। अतः हमारे भाग्य हैं जो इन दोनों को (भूमि तथा स्वर्ग को) इस प्रकार देखेंगे। दर्शन प्रमाण रूप हैं और आविर्भाव प्रमेय रूप है ॥ ३८ ॥

आविर्भावं समर्थयति नतेभवस्येति ।

अब प्रभु के प्राकट्य का समर्थन करते हैं।

श्लोक—नतेभवस्येशभवस्य कारणं विनाविनोदं बत तर्कयामहे ।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभवाश्रयात्मनि।३६।

श्लोकार्थ—हे ईश ! आप, जोकि अजन्मा हो, उनके जन्म लेने का कारण केवल क्रीड़ा विना दूसरा कोई हमारे विचार में नहीं आता है। जन्म रहित, आपके

विषे,[1] जन्म, निरोध तथा स्थिति, अज्ञान के कारण, हम देखते हैं ॥ ३९ ॥

सुबोधिनी—तेभवस्य जन्मरहितस्य भवस्य जन्मनः कारणं विनोदं विना न तर्कयामहे। विनोदो लीला। वेः कालस्य वा नोदः प्रेरणम्। कालो हि स्थिरः सर्वानेव मर्यादया यथासुखं करोति। स जन्मना नोद्यते। अन्यथाक्रियते। विनावि संसारनौकायां वा। अन्यथा संसारनौः पारं न गच्छेत्। अस्मिन्नर्थे नते नम्रे शरणागते पुरुषे भवनिवारकस्य यो भवो जन्म तस्य कारणं विनाविनोदं तर्कयामह इतिसम्बंधो ज्ञेयः यद्वा नतो य इभो गजेन्द्रस्तस्य वममृतं मोक्षो यस्माद् तादृशस्येत्यग्रे पूर्ववत्। तथा च पशुजातीयस्यापि नतिमात्रेण भवनिवारकस्य भवोसम्भावित इति तस्य हेतुं तं तर्कयामह इतिभावः। नौकारहिता वा संसृतिस्तस्यां सत्यां सर्वप्रेरणं तव भवस्य कारणम्। यद्यप्यत्र प्रमाणं नास्ति यथार्थद्रष्टुरा-सस्याभावादद्यापि त्वयाप्यनुक्तत्वादतः स्वयमेव तर्कयामहे। वस्तुतस्तु लीलापि भवति न वेतिसन्देह एव। ननु सर्वस्यापि जीवस्य मदंशस्य यथा भवस्तथा ममापीति कथमभवस्येत्युच्यते? तत्राह भवो निरोध इति। सर्वस्यापि प्राणिन उत्पत्ति-स्थितिप्रलया अविद्यया देहाद्यध्यासेन भवन्ति। स्वतो जीवानां जन्माभावात्। तदपि त्वयि सति भवति। अन्यथा निराधारे जगत्युत्पत्तिर्न स्यात् तत्रापि त्वय्युदासीने नभवति। अनित्ये न भवति। असमवायित्वे न भवति। आधारसमबाययोरवश्यापेक्षणात्। तव चोत्पत्तौ जगतोनादित्वं भज्येत। अलीकत्वं च स्यात्। यथा तव भव आकस्मिक एवमेव जगतोपि भवेत्। अतोभव आश्रयरूपे आत्मरूपे सत्येव जीवानामुत्पत्त्यादिर्भवेत्। एवं भगवतो लीलया प्रादुर्भावः। स्वरूपनिमित्ताज्ञानं वा। अन्यथा सर्वमेव जगन्न स्यादित्यानन्दाविर्भावो भगवान् निरूपितः॥ ३९॥

अनुवाद—जन्म रहित आपके जन्म का कारण विनोद (लीला) के सिवाय, अन्य प्रकार का तर्क हम नहीं कर सकते हैं। अथवा विनोद पद में दो शब्द हैं एक (वि) जिसका अर्थ है काल, दूसरा (नोद) जिसका अर्थ है प्रेरणा करना। काल स्वयं स्थिर है सकलों को ही मर्यादानुसार सुखी करता है उस काल को आप जन्म से प्रेरणा करते हो अर्थात् अन्यथा करते हो। अथवा (विना विनोद) इन दो पदों को मिलाकर उससे (विनावि) और (नोद) इस प्रकार पदच्छेद करते हैं जिसका अर्थ होता है (विनावि) (संसार नौका में) और (नोद) प्रेरणा अर्थात् यदि आप संसार नौका को प्रेरणा नहीं देवें तो संसार रूप नौका कभी भी पार न जासके। यों कहने का आशय यह है कि भाव विकारों से रहित यह संसार ब्रह्मात्मक है। ससार एक प्रकार की नौका है जैसा कि एकादश स्कन्ध के (नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं) श्लोक में मनुष्य देह को नौका कहा गहा है। इसीसे उस नौका को संसार से पार जाने के लिये प्रेरणा की आवश्यकता देखकर आप प्रेरणा देने के लिये ही अपना आविर्भाव करते हो। यदि आप (भगवान्) भक्तों के यहां पति पुत्रादि के आभिमानिक सम्बन्ध रूप से प्रकट न होवे तो संसार नाव पार न पहुँचे। पुनः अन्य प्रकार से अन्वय करते हैं कि (न) और (ते) ये पद जुदे हैं उनको मिलाकर एक पद (नते) सप्तमी विभक्ति कर उसका अर्थ करते हैं (न ते) शरणागत पुरुष पर कृपाकर अजन्मा आप जो प्रकट होते हो वह भी संसार नौका को पार करने की प्ररणा के लिये ही है यों हम तर्क करते हैं। पुनः अन्य प्रकार बताते हैं (न ते भवस्य) इस पद का विच्छेद (न त भ (नत+इभ) और 'वस्य'[2] कर के

१. आपके विषय में अर्थात् आप में

२ 'वस्य' यह 'व' शब्द की षष्ठी विभक्ति का एकवचन है। सारा पद समासान्त है। वह समास इस प्रकार बहुव्रीहि किया गया है 'नतेभवस्य वं यस्मात्' सः नतेभवः तस्य नतेभवस्य। जिसका अर्थ होता है शरणागत गज को (वं) मोक्ष जिससे प्राप्त हुआ उसका जन्म विना विनोद अन्य कोई कारण है, ऐसा तर्क नहीं कर सकते हैं।

अर्थ करते हैं कि (नतेभ) नत का अर्थ शरणागत और इभ का अर्थ गजेन्द्र, अर्थात् जो गजेन्द्र शरण आया है उसको (वि) मोक्ष जिससे प्राप्त हुवा उसका जन्म विनाविनोद के अन्य कुछ नहीं है ऐसा हम तर्क करते हैं। यद्यपि वैसे पशु जाति के केवल शरण आने से संसार निवर्त्तक का (अजन्मा का) जन्म असम्भावित है तो भी इस प्रकार भी आविर्भाव होने का कारण लीला ही है यों हम तर्क करते हैं। यह संसार नौका रहित है उसको पार पहुँचने की प्रेरणा करने के लिये ही आपका प्राकट्य है। यद्यपि हमारे इस कथन की पुष्टि के लिये कोई प्रमाण नहीं है, तथा यथार्थ द्रष्टा आप्त पुरुष भी कोई नहीं है जो इसकी प्रत्यक्ष सबूत दे और न कि आपने भी आज तक इस विषय में कहा है, अतः हम स्वयं वैसा तर्क करते हैं। वस्तुतः यह लीला भी है, या नहीं, इसमें भी सन्देह है, तात्पर्य यह है कि आपके प्राकट्य का कारण आप ही जानते हो अन्य सर्व तर्क ही है।

हे देवो! आप मुझे अभव क्यों कह रहे हो, जैसे मेरे अंश रूप जीव का जन्म होता है वैसे मेरा भी मानलो। देवता कहते हैं कि यदि भगवान् यों कहदे तो उसका उत्तर देते हैं कि प्राणी मात्र की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय देहादिकों के अध्यास[1] के कारण होते हैं। स्वतः तो जीवों का भी जन्म नहीं होता है। वह भी तब होता है जब आप हो। यदि आप नहीं होवो तो निराधार जगत् में उत्पत्ति ही नहीं होवे। यदि आप उदासीन होवो तो भी न होवे। अनित्य में भी उत्पत्ति नहीं होती है। कोई समवायी-कारण[2] न हो तो भी उत्पत्ति नहीं होती है। उत्पत्ति के लिए आधार और समवायी की आवश्यकता रहती है। यदि आपको भी उत्पत्ति मानी जाय तो जगत् का अनादिपन न रहेगा तथा जगत् अलीक[3] हो जायगा।

जैसे आपके जन्म अचानक होते हैं वैसे ही जगत् का भी होगा। अतः आत्मा के आश्रयरूप होने से ही जीवों की उत्पत्ति आदि होते हैं और आपका तो लीला से ही प्राकट्य होता है। भगवान् जीववत्[4] जन्मे हैं। यह कहना भगवान् के स्वरूप का एवम् उनके कारण का अज्ञान ही है। भगवान् का जन्म नहीं है किन्तु आनन्दरूप का प्राकट्य है यह निरूपण किया गया है। भगवान् के जन्म मानने से समस्त जगत् अनादि न रहेगा ॥ ३९ ॥

स एव साधनमित्याह मत्स्याश्वेति।

वही आनन्दरूप भगवान् साधन है। इसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः ॥
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च तथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥४०॥

---

१. और को और समझ लेना अध्यास है अर्थात् देह को जीव समझ लेना अध्यासहै जैसे जीव जब देह को अपना रूप समझ लेता है तब देह के लिए कहता है कि मैं हूँ इसको 'अध्यास' कहते हैं वैसे ही अन्यत्र भी समझ लें।

२. 'समवायीकारण' उसको कहा जाता है जिससे वस्तु बने जैसे कि मिट्टी से घडा बनता है तो मिट्टी घडे का समवायीकारण है वैसे परमात्मा से जगत् बना है तो परमात्मा जगत् का समवायीकरण है।

३. झूठा　　४. जीव की तरह

श्लोकार्थ—हे यदूत्तम ! मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राजा, ब्राह्मण और देवों में अवतार धारण करके आपने दूसरे समय में जैसे हमारी तथा त्रिलोकी की रक्षा की है वैसे अब भी करो और पृथ्वी का भार उतारो। हे ईश ! हम आपको प्रणाम करते हैं ॥ ४० ॥

सुबोधिनी—यथा पूर्वं नवावतारा जाता एवमयमपि दशमः। त्रयो जलजाः। त्रयो वनजाः। त्रयो लोकजाः। मत्स्याश्वकच्छपा नृसिंहवराहहंसा राजन्यविप्रविबुधाश्च तमोरजःसत्त्वसमानाकृतयः। अश्वो हयग्रीवः अश्वोपि जलजो हयग्रीवोपिजलजः। नृसिंहः। काष्ठजत्वाद् वनजः। वराह आरण्यप्रकृतिक इति। अक्षजोपि बहिर्वायुस्थानत्वादारण्यः। राजन्यो रघुनाथः। विप्रः परशुरामः। विबुधो वामनः। तरतमभावात् त्रित्वम्। मत्स्यादश्व उत्तमः। अश्वादपि कूर्मः। वास्तव्यत्वात्। नृसिंहाद् वराहः। भूम्युद्धारकहिरण्याक्षमारकत्वात्। ततोपि ज्ञानप्रदो हंसो महान्। क्षत्रियब्राह्मणदेवेषु तरतमभावः स्पष्टः। एभिर्नवभिर्नवविधा अपि रक्षिताः। इदानीमेकेनैव नवविधा रक्षणीयाः। अयमेव भगवान् तत्तज्जात्यनुकूलाकाररूपेष्ववतारं कृत्वा पाति। अधुना ततोप्यधिकं विज्ञापयन्ति। त्वमेतेषु पूर्वं कृतावतारो नोस्मान् त्रिभुवनं चकाराद् धर्मादिकमपि पासि। तथाधुना हे ईश। सर्वसामर्थ्यरूपेणावतीर्णस्तथा। पूर्वोक्तं त्रयं देवत्रैलोक्यधर्मरक्षा भूमेर्भारनिराकरणं चाधिकम्। अत्रापि लोके व्यवहारो यदूत्तमेति। प्रत्युपकारस्ते वन्दनम्। नमस्कार एव प्रत्युपकार इत्यर्थः।

एतान्येव भगवतो दश रूपाणि सर्वपुरुषार्थसाधकानि। अत्र दृष्टान्तत्वेन मत्स्याद्युक्तेरयं भावः। भूभारभूतासुरराजन्यहननार्थं ह्यवतारः। एवं सति तैः सह युद्धं सम्भाव्यते। तच्च स्नेहातिशयेन भक्तैः सोढुमशक्यम्। अतो "रूपं चेदं पौरुषं जन्म ते मय्यसा" वित्यादिना देवकीवद् ब्रह्मादयो माहात्म्यज्ञानवन्तोपि भक्तत्वेन भूभारहरणे प्रकारविशेषं प्रार्थयन्ति। यावत् स्वस्यैश्वर्याद्यप्राकट्येन निगूढत्वेनान्यतो वा शत्रुहननं भवति तावत् न स्वयं युद्धं कार्यमिति। तत्र प्रलयाब्धौ सत्यव्रतादिभक्ता रक्षणीयाः। एवं सति पुरुषादिरूपेण रक्षणे क्रियमाणे लोकरीत्या मकरादिभयसम्भावनया स्नेहेन भक्तानां क्लेशः स्यादिति तदभावाय येन रूपेण जलसञ्चारः सुखावहस्तद्रूपं जगति हीनजातीयमपि मात्स्यमङ्गीकृत्य रक्षितवांस्तथाधुनोक्तरीत्येति प्रार्थना। अत एव स्वैश्वर्यादिविरुद्धमपि याचकत्वमङ्गीकृत्य भीमेन जरासन्धं मारितवान् न तु स्वयम्। हयग्रीवो ब्रह्मणः सत्रे प्रादुर्भूतः सन्नसुरहननवेदरक्षादिकं कृतवान्। इहापि राजसूये प्रकटो ब्राह्मणसम्माननेन मर्यादां स्थापयित्वा वेदविरुद्धवादिनं चैद्यमनायासेन मारितवान्। कच्छपस्तु "मेनेऽङ्गकण्डूयन" मित्यादिवाक्यैः सुखसाधनत्वेनैव मन्दरं दधार। तद्वदिहापि वीर्यबलाधिक्यजबाहुकण्डूशान्त्यर्थमेव युद्धं कार्यं न तु प्रतिभटोपस्थितिमात्रतः। तदा त्वन्य एव प्रेरणीय इतिप्रार्थना। अत एव यत्र युद्धं कृतं तत्र तथैव कृतमिति ज्ञेयम्। क्रीडार्थं मृगयावत्। अत एव "विक्रीडितं तज्जगदीशयोः पर" मितिवचनम्। यथामृतदानार्थमेव मन्दरधारणं तथेहापि स्वस्वरूपामृतदानार्थमेव गोवर्धनोद्धरणं तेन रक्षां च कृतवान्। नृसिंहस्तु भक्तपितरमपि पूर्वभक्तमपि भक्तरक्षार्थमकस्मात् प्रादुर्भूय मारितवान्। लक्ष्म्यादीनामप्यगम्यो दैत्यत्वेपि भक्तमात्रगम्य इत्यपि ज्ञापितवान्। इहापि पाण्डवरक्षार्थं तत्पितामहादीन् भक्तानप्यासुरावेशिनो मारितवान्। तथैव कंसादीनपि। वनवासे पार्थरक्षार्थमकस्मादाविर्भूय शिष्टशाकान्नं भक्षयित्वा

सर्वं समाहितवान् । वराहस्तु यदुद्धारार्थं प्रवृत्तस्तत्रैतादृक्पक्षपातवान् येन तन्मात्रविशेषगुणग्राहकेन्द्रियस्यैवाधिष्ठाने प्रकटोभवन्न तु नृसिंहादिवत् । इहापि पाण्डवरक्षार्थमागच्छंस्तन्मात्रगुणग्राहिविदुरगेह एव स्थितोभवन्न त्वन्यत्र । तथा व्रजस्थानुद्धर्तुं तन्मात्रसम्बन्धिनि स्थले स्वयमाविर्भूय तथा कृतवान् न त्वन्यत्र स्थितः । एवमेव वैदर्भ्युद्धारं कुर्वन् हिरण्याक्षवन्मध्येमार्गं प्रतिबन्धकर्तारं रुक्मिणमुपेत्यैव स्वकार्यं कृतवान न तु तदैव हतवान् । अग्रे च तथा कृतवान् । हंसस्तु तत्त्वमुपदिश्य ब्रह्मादिविषादहन्ता इहापि वेदमर्यादाविरोधिगुरुवधादेर्विमुखस्य तच्चिन्ताविषादं तत्त्वोपदेशेनहृतवान् । अन्यथा भूभारहरणं न स्यात् । राजन्यस्तु मज्जनसाधनं तारकं कृत्वैकभक्तार्थमनेकान् दत्यानवधीत् । तथेहापि भूनिमित्तमनेके मारणीयाः । एतेनैकस्या भुवो निमित्तमनेकान् कथं वधिष्य इतिशङ्कापास्ता । द्वेषादिभावस्यापि तारकत्वं स्पष्टम् । विप्रस्तु ब्रह्मवृत्तिरपि घोरं क्षात्रमूरीकृत्यासुरराजन्यानवधीत् । इहापि ब्रह्मत्वेन समत्वेपि दैत्यवधः कार्य एव । विबुधस्तु मातृप्रार्थनयाविर्भूय ब्रह्माद्यशक्यं त्रिभुवनहरणं वाङ्मात्रेण कृतवान् । एवमत्र वृकासुरवधे स्पष्टम् । देवकीप्रार्थनयाविर्भूय ब्रह्मादिदुरापं स्वानन्दं यदुभ्यो दत्तवान् राज्यलिप्सुं कंसं मारयित्वोग्रसेनाय राज्यं दत्तवान् न तु स्वयं गृहीतवानिति एवं नमस्कारान्तं भगवान् स्तुतः । कंसादिवधस्त्वप्रयोजकः । तस्मान्न विशेषेण गणितः ॥ ४० ॥

अनुवाद—जैसे प्रथम आपके नव अवतार हुए वैसे ही यह दशवां है । तीन अवतार जल से हुए, तीन वन से हुए और तीन लोक में हुए । मत्स्य, हयग्रोव तथा कच्छप तमोगुण जैसी आकृति वाले हैं, नृसिंह, वराह और हंस राजस गुण समान आकार वाले हैं और रामचन्द्रजी, परशुराम और वामन ये सत्वगुण सहज रूप वाले हैं । मूल में अश्वपद हयग्रीव का वाचक है । अश्व भी जलज (जल से उत्पन्न) और हयग्रीव भी जलज है । नृसिंह स्तम्भ से प्रकट होने के कारण वनज कहे जाते हैं । वराह की आरण्यक (जंगली) प्रकृति है अतः वनज है । हंस बाहिर वायु (आकाश) वाले स्थान में रहने की प्रकृति[1] के कारण वनज है । जो (हंस) प्रकट होकर उपदेश द्वारा अन्यों को वनवासी बनाता है । अतः उसको वनज कहना यह योग्य ही है । रघुनाथजी (क्षत्रिय), परशुराम (विप्र), वामन (देव) इन तीनों का तरतम[2] भाव बताने के लिए पृथक् वर्णन किया है । मत्स्य से अश्व उत्तम है । अश्व से कूर्म उत्तम है । यह उत्तमता कार्य करने से सिद्ध होती है अतः प्रातीति की है अर्थात् अन्य अवतारों में उत्तमता कार्य समय में देखने में आती है । कूर्म की उत्तमता वास्तविकी है कारण कि कूर्म सदैव जल में रहकर पृथ्वी की रक्षा करते हैं । नृसिंह से वराह इसलिए उत्तम है कि नृसिंहजी ने यथास्थित प्रह्लाद की रक्षा की थी किन्तु वराह ने जल में डूबी हुई पृथ्वी का जल से उद्धार किया तथा हिरण्याक्ष को मारा था । वराह से हंस ज्ञानप्रद होने के कारण उत्तम है । क्षत्रिय, ब्राह्मण और देव अवतारों में तरतमग भाव स्पष्ट ही है । इन नवविध अवतारों ने नवविधों की रक्षा की है । इस समय आपको एक ही अवतार से नवविधों की रक्षा करनी है । ये ही भगवान् जिस जाति की रक्षा करनी होती है उस जाति में अवतार

१. आकाश वाले (खुले) स्थान में रहने का कारण यह है कि वहां उड़ने का स्थान मिल सकेगा ।
२. एक से बढ़कर

लेकर उनकी रक्षा करते हैं। अब देवता उससे भी विशेष प्रार्थना करते हैं कि आपने पहले उन्हों में अवतार धारण करके हम लोगों को, तीनों भुवनों को तथा धर्मादिक की भी रक्षा की है। वैसे ही इस समय भी हे ईश ! सर्व प्रकार सामर्थ्य से अवतीर्ण हुए हो। अत: उसी प्रकार देवता, तीन लोक और धर्म की रक्षा करने के साथ विशेष में भूमि का भार भी उतारो। आप ईश होते हुए भी लोक में आपका 'यदूत्तम' नाम से व्यवहार होता है। आपके इन उपकारों का प्रतीकार[1] केवल वन्दन ही हो सकता है।

नव अवतारों के कार्य से अधिक, भूभारहरण कार्य की प्रार्थना की, अवतारों के कार्यों से विशेष अन्य कार्यों की प्रार्थना क्यों नहीं की ? इस शङ्का के उत्तर में आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् के ये मत्स्यादि अवतार ही सर्व कार्य साधक हैं। यहाँ मत्स्यादि अवतारों का वर्णन जो दृष्टान्त रूप से किया है उसका यह भाव है कि पृथ्वी पर जो भार रूप असुर नृपति हुए थे उनके नाश के लिए ही भगवान् अवतार लेते हैं। इसलिए जो अवतार लिये जाते हैं तो उन असुर राजाओं से युद्ध होने की सम्भावना होती है। वह युद्ध भगवान् में अतिशय स्नेह के कारण भक्त लोग नहीं चाहते हैं कारण कि युद्ध में भगवान् को विशेष परिश्रम करना पड़ेगा। वह भक्तों से सहन नहीं किया जा सकता है। 'रूपंचेद पौरुषं जन्मते मय्यसो' इस श्लोक में देवता कहते हैं कि यह आपका पौरुष जन्म हमारे लिये है। अत: देवकीजी के समान भगवान् का माहात्म्य जानते हुए भी भक्त होने के कारण भूभार का हरण युद्ध बिना अन्य प्रकार से करने की प्रार्थना करते हैं।

जब तक आपने अपने ऐश्वर्य आदि को प्रकट नहीं किया है तब तक गुप्त रीति से अन्य द्वारा शत्रुओं का नाश हो सके तब तक युद्ध नहीं करना। प्रलयाब्धि के समय में सत्यव्रत आदि भक्त रक्षणीय है।

यदि आपने पुरुष रूप धारण किया है, अतः आप युद्ध द्वारा रक्षा करना चाहोगे तो युद्ध रूप समुद्र में क्लेशादि रूप मकरों से भय की सम्भावना है जिससे स्नेह के कारण भक्तों को दुःख होगा। वह दुःख भक्तों को नहीं होवे तदर्थ जैसे हीन जाति वाले मत्स्य का रूप धारण कर सुखपूर्वक जल संचार करते हुए रक्षण किया था वैसे अब भी करो यह प्रार्थना है। इसी कारण से अपने ऐश्वर्य के विरुद्ध होते हुए भी भीमसेन ने याचक बनकर जरासन्ध को मारा न कि भीम ने क्षात्र रूप से मारा।

हयग्रीव रूप से ब्रह्मा के सत्र में प्रकट होकर असुर नाश तथा वेद की रक्षा की। यहाँ भी राजसूय यज्ञ के समय प्रकट होकर ब्राह्मणों का सम्मान कर धर्म मर्यादा की स्थापना की। वेद विरुद्ध बोलने वाले शिशुपाल को अनायास[2] मारा। कच्छपावतार में 'मेनेऽङ्गकण्डूयनं' इस वाक्यानुसार खुजली मानकर सुखपूर्वक 'मन्दराचल' को धारण किया। वैसे ही यहाँ भी विशेष वीर्य शक्ति के कारण

---

१. बदला

२. सहज में, बिना परिश्रम

भुजाओं में उत्पन्न हुई खुजली की शान्ति करने के लिए युद्ध करना, न कि सामने आये हुए प्रतिपक्षी योद्धाओं को मारने के लिए। जब ऐसा अवसर हो तो, उनको मारने के लिए दूसरों को प्रेरणा कर दें। यही हमारी प्रार्थना है। अतः जहां २ युद्ध हुवा है वहां २ यों ही किया है, अर्थात् अन्यों (व्यूहों) को प्ररणा की है। जैसे राजा लोग क्रीड़ा के वास्ते शिकार खेलते हैं वैसे ही भगवान् युद्ध करते हैं। इसलिये कहा गया है (विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम्) यह जगत् के दोनों ईशों की क्रीडा है। जिस प्रकार अमृत-दानार्थ कच्छपजी ने मन्दराचल को धारण किया वैसे ही यहां पर अपने स्वरूप अमृतदानार्थ ही गोवर्धन को धारण किया है और उससे व्रज की रक्षा भी की है। नृसिंह अवतार में पूर्व जन्म के भक्त और इस जन्म में भक्त के पिता को भक्त प्रह्लाद की रक्षा के लिये अचानक प्रकट होकर मारा। यह भी जताया कि उस समय दैत्यत्व के तथा क्रूर होने के कारण लक्ष्मी भी आपके पास नहीं जासकती थी तो भी आपके पास भक्त जासकते थे कारण कि भक्तों को आनन्द रूप से ही दर्शन देते थे। यहां भी पाण्डवों की रक्षा के लिये आसुरावेशी उनके पितामहादि को मारा। वैसे ही कंसादिकों को मारा। वनवास में पार्थ रक्षार्थ अचानक आविर्भूत होकर शेष बचे हुए शाकान्न को खाकर सबका समाधान किया। वराहजी नृसिंह के समान प्रकट न होकर जिस (पृथ्वी) के उद्धार के लिये आविर्भूत हुए थे उस पृथ्वी के गुण (गन्ध) को ग्रहण करने वाली नासिका इन्द्रिय को अधिष्ठान बनाकर उससे प्रकट हुए जिससे आपने पृथ्वी से अपना पक्षपात प्रकट दिखा दिया। इस कृष्णावतार में भी पाण्डवों के रक्षणार्थ विदुरजी के घर में बिराजे। अन्यत्र नहीं बिराजे। कारण कि विदुरजी पाण्डवों के गुणों के ग्राहक थे। इसी प्रकार व्रज भक्तों के उद्धारार्थ उनके सम्बन्धवाली (श्री गोकुल) में स्वयं प्रकट होकर उनकी रक्षा की। अन्यत्र स्थिति नहीं की। इसी भांति वैदर्भी का (शिशुपाल से) उद्धार करते हुए, हिरण्याक्ष की तरह मार्ग के मध्य में प्रतिबन्धक रुक्मी को रोक कर ही स्वकार्य सिद्ध किया और उस वक्त उसको मारा नहीं। आगे उसको समय आने पर मारा। जैसे हंस ने तत्त्व ज्ञान का उपदेश देकर ब्रह्मादिकों का विषाद नष्ट किया वैसे ही यहां भी यदि वैदिक मर्यादा के विरुद्ध गुरु वध करना पाप समझ कर स्वधर्म युद्ध से विमुख, अर्जुन की चिन्ता तथा विषाद को मिटाने के लिये गीता द्वारा तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया न होता तो पृथ्वी पर हुआ असुर राजाओं का भार नहीं उतरता।

रामावतार में डूबने के साधन पत्थरों को तारने का साधन बनाकर एक भक्त (विभीषण) के लिये अनेक दैत्यों का नाश किया वैसे ही यहां इस कृष्णावतार में एक पृथ्वी के लिये अनेकों को मारे। एक पृथ्वी के लिये अनेकों को कैसे मारा? इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि असुरावेशी राजाओं में जिनको मारा था उनमें द्वेषादिभाव था। जिससे वे मारे तो नाम मात्र के लिये ही गये थे किन्तु उनका उद्धार होगया। परशुरामावतार ब्राह्मण वृत्ति होते हुए भी उसमें घोर क्षात्र धर्म स्वीकार कर असुर क्षत्रियों का वध किया है। इस अवतार में ब्रह्मत्व समान होते हुए भी दैत्य वध करना ही है। देवावतार (वामनावतार) ने तो माता की प्रार्थना से आविर्भूत होकर जिस त्रैलोक्य को लेने के कार्य को ब्रह्मादिक भी नहीं कर सके, उस कार्य को केवल वाणी से कर दिखाया।

इस प्रकार यहां वृत्रासुर वध में यह स्पष्ट है। देवकी की प्रार्थना से ग्राविर्भूत होकर ब्रह्मादिकों को कठिनाई से मिलने वाला अपना ग्रानन्द यादवों को दान दिया। राज्य के लोभी कंस को मारकर राज्य उग्रसेन को दिया ग्रापने नहीं लिया था। इस प्रकार नमस्कार पर्यन्त भगवान् की स्तुति की गई है। कंसादिवध तो अप्रयोजक है इस कारण से इसकी पृथक् विशेष रूप से गणना नहीं की है ॥ ४० ॥

प्रसङ्गात् तच्चरित्रं फलरूपं निरूपयन् देवकीसान्त्वनमप्याह दिष्ट्याम्बेति ।

प्रसङ्ग से श्रीकृष्ण का चरित्र फलरूप है उसका और देवकी के सान्त्वना का भी वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक–दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतःपरःपुमानंशेन साक्षाद् भगवान् भावाय नः ॥
माभूद् भयं भोजपतेर्मुमूर्षोर्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः ॥ ४१ ॥

हे माता ! ग्रापकी कूख में प्रद्युम्नांश (व्यूहरूप) से पूर्ण पुरुषोत्तम पधार गये हैं, वे साक्षात् भगवान् हैं। वे हमारे कल्याण करने के लिए ग्राये हैं। अब ग्राप मरने वाले कंस से मत डरो। ये ग्रापके पुत्र यादवों की रक्षा करेंगे। अतः बधाई है ॥ ४१ ॥

सुबोधिनी—हे ग्रम्बमातः। सर्वात्मकस्य भगवतो माता मातैव। नृसिंहादिवदकस्मादेवाविर्भावोयुक्तः। यत् ते कुक्षिगत एतद् दिष्ट्या। उक्तमर्थमुपपादयितुमाह परः पुमानिति। पुरुषोत्तम इत्यर्थः। अंशेन तव कुक्ष्येकदेशेन प्रद्युम्नांशेन पुत्रो वा। साक्षाद् भगवानिति ज्ञानक्रियांशव्यावृत्त्यर्थम्। तवोदरे त्वदर्थं नागतः किन्तु भवाय नोस्माकमेवोद्भवाय तव कुक्षिगतः। तर्हि मम का गतिरितिचेत् तत्राह तव भयं मा भून्न भविष्यति। आशंसायां प्रथमार्थे "छन्दसि लुङ्लङ्लिट" इति लडर्थे लुङ्। "माङि लुङि" तिसूत्रादपि तथा। भोजपते. कंसात्। स हि वचनेनैव भीषयति। न तु क्रियां कर्तुं शक्तः। वचनं च तस्योपेक्ष्यम्। यतोयं मुमूर्षुः। मुमूर्षूणां विक्लवा गिरो भवन्ति। ननु वचनमात्रेणैव कथं भयनिवृत्तिस्तत्राह गोप्ता यदूनां भविता तवात्मज इति। तत्र रक्षायां कः सन्देहः ? यदूनां सर्वेषामेव तवात्मजो गोप्ता भविष्यति। अनेन स्वरूपकार्यमानुषङ्गिकं च कार्यमुक्तम् ॥ ४१ ॥

अनुवाद—सबों की ग्रात्मा भगवान् हैं। अतः उनकी माता सबकी माता है। इसलिए देवों ने देवकीजी को कहा है कि हे ग्रम्ब ! हे मातः ! ग्रापके यहाँ नृसिंहादि की भांति अकस्मात् प्राकट्य होना योग्य नहीं होने से ही ग्रापकी कूँख में बिराजे हैं यह बधाई है। उनकी कूँख में बिराजने की योग्यता का समर्थन करते हैं कि वे पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। 'अंशेन' शब्द का भाव है कि कूँख के एक देश से अथवा प्रद्युम्नांश से पुत्र रूप होकर विराजते हैं। 'साक्षात्' भगवान् कहने का ग्राशय यह है कि केवल क्रिया शक्ति से ग्राकर नहीं बिराजे हैं। किन्तु साक्षात् ज्ञान क्रिया विशिष्ट ग्राप पधारे हैं। ग्रापके उदर में कहते हैं कि ग्राप अब किसी प्रकार का डर मत करो। क्योंकि कंस तो केवल वचन से डरा रहा है वह कुछ नहीं कर सकता है। उसके वचनों पर ध्यान नहीं देना चाहिये, कारण कि वह मरने वाला है। जिनकी मृत्यु समीप होती है उनके वचन घबराहट वाले असम्बद्ध होते हैं। यदि देवकीजी कहे कि ग्रापके

कहने से मैं निडर कैसे बनूंगी ? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि हम केवल आपको वचनों से नहीं कहते हैं किन्तु हम देव हैं। इसलिये हम जानते हैं कि यह आपके पुत्र कंस को मारकर यादवों के रक्षक होंगे। अतः आप निर्भय रहो। क्योंकि जब सब यादवों की रक्षा करेंगे तो आपकी रक्षा में कौनसा संशय है ? कोई नहीं हो यह आपके पुत्र की ही स्वल्प[1] यादवों की रक्षा करेंगे यों न समझना किन्तु समस्त यादव मात्र को रक्षा करेंगे। इस प्रकार कहने से स्वरूप कार्य और आनुषंगिक दोनों कार्य कहे ॥ ४१ ॥

उपसंहरतीतीति ।

उपसहार करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदंयथा ।
ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम् ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि देवताओं ने इस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम की स्तुति करी कि, वह स्वरूप था इस भांति है भो और नहीं भी है किन्तु सर्व रूप है। तदनन्तर ब्रह्माजो तथा महादेवजी को आगे कर सब देव स्वर्ग को गये ॥ ४२ ॥

सुबोधिनी—पुरुषमिति । स्वतन्त्रतया सर्वकार्यकर्तृत्वमुक्तम् । यद् रूपं पूर्वं स्तोत्रे यादृशं रूपं निरूपितम् । अनिदं यथैतदुक्तं तथा च न भवति । दैत्यानामपि मुक्तिदानेन हितकर्तृत्वात् । इदमेवं भवदपि तथा न भवति । प्रकारभेदेन सर्वमेव सत्यं सर्वमसत्यमित्यर्थः । ब्रह्मेशानौ कथञ्चिदत्रैव स्थास्यत इति शङ्कया तौ पुरोधायाग्रे कृत्वा देवा दिवं प्रति ययुः । प्रतिदिवमिति । एकविंशतिः स्वर्गाः शतं स्वर्गाश्चेतिमत भेदेन स्वस्व स्वर्गे स स देवो गत इत्यर्थः । ययुरिति । मध्ये दैत्यकृतो विघ्नः कोपि न जात इति "या प्रापणे" इतिधातुना सूचितः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागतसुबोधिन्यां श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीयोध्यायः ॥२॥

अनुवाद—(पुरुष) शब्द से यह बताया है कि परमात्मा सर्व कर्ता है। जिस स्वरूप का वर्णन प्रथम स्तुति में जैसा किया है वैसे (उतने ही) वे हैं यों नहीं है अर्थात् देवताओं के ही पक्षपाती है सो नहीं है। किन्तु दैत्यों के भी हितकारी हैं कारण कि उनको भी मुक्तिदान दिया है। यह इस प्रकार का होता भी है, नहीं भी होता है, तात्पर्य यह है कि प्रकार भेद से प्रभु आप सर्व रूप होने से सत्य भी हैं। और असत्य भी है। देवताओं को यह शङ्का हुई कि हम तो जारहे हैं कदाचित् ब्रह्मा तथा शिवजी यहां ही रुक न जाय, इसलिये इनको आगे करके उनके पीछे सब अपने अपने स्वर्ग में गये। देव अपने अपने स्वर्ग में गये इससे समझा जाता है स्वर्ग एक नहीं है किन्तु बहुत हैं। नृसिंह पुराण में इक्कीस स्वर्ग कहे हैं। अन्य पुराणों में शत स्वर्ग भी कहे हैं। यहां क्रिया पद में (या) धातु देने का आशय यह है कि देवताओं को मार्ग में किसी प्रकार का विघ्न नहीं हुआ सुख पूर्वक पहुँच गये (या) धातु का अर्थ है पहुँचना ॥ ४२ ॥

दशम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य कृत श्री सुबोधिनीजो का सरल भाव बोधक हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।

---

१. थोड़े से

दशम स्कन्ध

प्रथम द्वितीय अध्याय

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
कारिकाएँ			
१	१५	लक्ष्मीएँ	लक्ष्मिएँ
३	२२	प्रककणा	प्रकरणो
३	२३	प्रणाम	प्रमाण
५	२३	उसको पक्ष ह है	उसको उत्तर पक्ष कहते हैं
६	५	नृपपियों	नृपतियों
६	२१	विशुद्धचद्धचर्थं	विशुद्धचर्थं
११	३	नाथ	नाश
११	२७	में	ने
१४	१७	किञ्चतमात्र	किञ्चन्मात्र

प्रथम अध्याय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२२	तैः	तैः सह
२	२६	वस्तु	वसु
३	१७	माद्गमेन	मायोद्गमेन
३	१६	लीसां	लीला
४	१	प्रनोजनं	प्रयोजनं
४	१०	माय	माह
६	१६	विषये	विरक्तो
६	२४	ह्रै	है
६	२७	सुनकर	सुनते ही
१४	२	गोत्स	गोवत्स
२३	२०	भघवान्	भगवान्
३०	२६	प्रश्ननान्तरं कश्चि-च्छ्रोता मध्यम्ध	प्रश्नानन्तरं कश्चि-द्वक्ता, कश्चिच्छ्रोता मध्यस्थः
३१	३	स्तजा	स्तदा
४६	१	व्यवतारे	व्यवतारं
४६	१७	काङ्क्षामाह	काङ्क्षायामाह
५२	२२	षउ	षड्
५२	२३	भवियती	भविष्यती
५४	२१	सुबोधिनी नहीं है	पृष्ठ ५६ पर ५ से ७ पंक्तियें है।
६४	१४	सापत्रपायन्तः	सापत्रपान्यतः
६५	२२	प्रामाप्येन	प्रामाण्येन
७५	२	मन्विच्चन्	मन्विच्छन्
७८	२३	देवकी	देवकी
८३	११	पुनरातेत्	पुनरापतेत्
९३	१४	ज्ञायये	ज्ञायते
१००	६	वताहेतु	वतारहेतु

द्वितीय अध्याय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१७	भूषालै	भूपालै
१५	१०	तथोकरोत्	तथैवाकरोत्
१६	५	शबद	शब्द
१६	२७	यदुवंस	यदुवंश
२३	१८	प्यग्निर्भं	प्यग्निभं
३०	१	भगवच्चिन्तक्तम्	भगवच्चिन्तनमर्था-दुक्तम्
३१	७	करी	कही
३३	२३	भी जो	भी दो
३८	६	है, वैसा है,	जीव और अन्त-र्यामी दो पक्षी है वैसा
३८	२०	क्षेपणाकुञ्च	क्षेपण प्रसारणाकुञ्च
३६	१०	दंध्यो	दैत्यो
४२	८	गुणामिनी	गुणाभिमानी
४३	१६	न्यावेत्ता	न्यायवेत्ता
५०	२७	±भवा	±भवा
५१	२२	वाली	वाले
६५	२	(विं)	(वं)
६५	७	न कि	न ही
६६	२३	"मेनेङ्गी	मेनेङ्ग
७०	८	भावाय	भवाय
७१	६	उपसहरतीतीति	उपसंहरतीति
७१	२८	मद्दल्स	मद्दल्ल

卐

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी

का

हिन्दी अनुवाद

दशम स्कन्ध : जन्म प्रकरण : तृतीय अध्याय

●

"पूज्यपाद श्री १०८ श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज कोटा वालों के कृपा पात्र"

अनुवादक :

"पं० सबल किशोर पाठक चतुर्वेदी व्याकरणाचार्य शुद्धाद्वैत लब्धवर्ण"

●

प्रकाशक :

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल (रजि०)

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग, जोधपुर ।

●

सर्वाधिकार सुरक्षित

॥ हरिः ॥

सूरसागर सारावली

आठे बुद्ध रोहनी आई शंख चक्र बपु धारो।
कुण्डल लसत किरीट महाद्युनि वपु बसुदेव निहारो॥
अस्तुति करी बहुत नाना विध रूप चतुर्भुज देख्यो।
पीतांबर अरु श्याम जलद वपु निरख सुफल दिन लेख्यो॥
तब हरि कह्यो जन्म तुम्हरे गृह तीन बार हम लीन्हों।
प्रश्नीगर्भ देव ब्राह्मरण जो कृष्ण रूप रंग भीन्हों॥
मांगो सकल मनोरथ अपने मन वांछित फल पायौ।
शंख चक्र गदा पद्म चतुर्भुज अजन जन्म लै आयौ॥
यह भव भार उतारन कारन हलधर को संग लायौ।
क्रीड़ा करों लोक पावन कर करौं भक्त मन भायौ॥
प्राकृत रूप धरो हरि छिन में शिशु ह्वै रोवन लागे।
तब वसुदेव देवकी निरखत परम प्रेम रस पागे॥
तब देवकी दीन ह्वै भाष्यो नृप को नाहि पता जै।
अहो वसुदेव जाव लै गोकुल कह्यो हमारो कीजै॥
तब लै हरि पलना पोढाये पीतांबर जु ओढायो।
तब वसुदेव शीस धरि पलना भयो सबन मन भायो॥
गोकुल चले प्रेम आतुर ह्वै खुलगये कपट कपाट।
सोये स्वान पहरुआ सोये सबे मुक्त भई बांट॥
तब वसुदेव लियो कर पलना अपुने शीश चढायो।
रेन अन्धेरी कछु नहि सूझत अटकर अटकर आयो॥
शेष सहस फन ऊपर छाये घन की बूंद बचावें।
आगे सिंह हुकारत आवत निरभै बाट जनावें॥
यमुना अति जलपूर बहत है चरण कमल परसायो।
मारग दीन्हों राम सिन्धु ज्यौं नन्द भवन चलि आयो॥
पहुँचे आय महर मन्दिर में नेक न संका कीनों।
बालक धरि लैके सुरदेवी सुरत गवन की कीनों॥

।। श्री कृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरणेभ्यो नमो नमः परमदयालु श्री मद्विठ्ठलेश्वामि विठ्ठलेशाय नमो नमः

✻ श्री मद्भागवत – महापुराण ✻

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित-सुबोधिनी (संस्कृत) टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

तृतीय अध्याय

कारिका—जननं वर्णनं स्तोत्रे सान्त्वनं गमनं तथा ।
षड्विधो भगवानत्र तृतीये विनिरूप्यते ।। १ ।।
रूपान्तरस्वोकरणमध्यायार्थं इहोदितः ।
प्रतीयमानो भगवानिति षड्विध उच्यते ।। २ ।।

कारिकार्थ—इस तृतीय अध्याय में १. 'जनन' (भगवान् का प्रकट होना), २. 'वर्णन' (प्रकट हुए भगवत्स्वरूप का वर्णन करना), ३. 'स्तोत्र' श्री वसुदेव कृत एवं ४. श्रीदेवकी कृत स्तुति (पृथक् २ स्तुति), ५. 'सान्त्वन' (देवकी वसुदेव के प्रति भगवान् के पूर्व जन्म-वृत्तान्त वर्णनादि धैर्यप्रद वचन) तथा ६. 'गमन' (श्री भगवान् का गोकुल को पधारना) इन षट् (६) भगवच्चरित्रों का निरूपण हुआ है भगवच्चरित्र भगवत्स्वरूपात्मक हैं। इस श्रुति प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार यहाँ पर षट् प्रकार से भगवान् का निरूपण हुआ है। ऐसा कहा गया है। १-ऐश्वर्य, २-वीर्य, ३-यश, ४-श्री, ५-ज्ञान, ६-वैराग्य ये भगवान् के षड् गुण हैं जिनकी सूचना इधर वर्णित हुए चरित्रों की षट् संख्या से हो रही है।। १ ।।

इस अध्याय का मुख्यतया प्रतिपाद्य अर्थ रूपान्तर स्वीकार कहा है। माता पिता के देखते २ भगवान् का प्राकृत[1] शिशु रूप ग्रहण करना ही रूपान्तर का स्वीकार करना है। इस रूपान्तर के स्वीकार करने वाला षड् ऐश्वर्यादि गुणपूर्ण भगवान् ही है जिस रूप में उसकी प्रतीति हो रही है वह रूप देह देही के भेद से रहित है। ऐसी सूचना देने को जननादि षट्चरित्रों से अध्यायार्थ को समन्वित कर उसकी भगवद्रूपता बतलाई गई है।। २।।

टिप्पणी— १. नन्दालय में भगवत्प्राकट्य के समय ही मथुरा में उसी द्विभुज नन्दनन्दन का दर्शन देवकी वसुदेव को हुआ है जिसे प्राकृत शिशु रूप में कहा गया है। इस मर्म को सूचित करने के लिये भी रूपान्तर स्वीकार को ही प्रधानतया अध्यायार्थ माना है।

कारिका—अष्टभिश्च चतुर्भिर्वै दशभिश्चाष्टभिस्तथा ।
चतुर्दशभिरष्टाभिः षडर्थाः क्रमतोत्र हि ॥ ३ ॥

ऐश्वर्यमष्टधा यस्मादर्धमात्रा हरौ परा ।
सार्धाष्टभिरतः प्रोक्तमैश्वर्यं सर्वमङ्गलम् ॥ ४ ॥

अधिकारिणि काले वै अनन्ता भगवद्गुणाः ।
खण्डशस्तेवयवशः सर्वेषां फलबोधकाः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—यहाँ क्रम से ही 'जनन आदि' ६ अर्थों को कहा है । प्रथम आठ श्लोकों से जनन चरित्र कहा है, चार श्लोकों से वर्णन चरित्र कहा है, दश श्लोकों से वसुदेवकृत स्तुति एवम् आठ श्लोकों से देवकीकृत स्तुति कही गई है, चौदह श्लोकों से सान्तवन चरित्र और आठ श्लोकों से गमन चरित्र कहा है ॥ ३ ॥

प्रथम जनन चरित्र में भगवान् के प्रथम गुण अष्टविध ऐश्वर्य की सूचना जिन आठ श्लोकों से की है उनका अन्तिम श्लोक 'सार्ध' है, उसमें आधा श्लोक अधिक है साडे आठ श्लोक हैं जिससे अष्टविध ऐश्वर्य की सूचना के साथ-साथ ही भगवान् की परमतत्वरूपता भी सूचित हो रही है, ओङ्कार की अन्तिम अर्धमात्रा परमतत्व प्रतिपादिका है । तापनीय श्रुति में 'अर्धमात्रात्मकः कृष्णः' यह स्पष्ट उल्लेख है । ''अर्धचक्षुर्थ मात्रेण 'ओं'- इत्येकेनैवा क्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत'', इस प्रश्न श्रुति में भी परम पुरुष के ध्यान में ओँकार की आधी चतुर्थमात्रा को प्रधानता दी है । अतः साडे आठ (८॥) श्लोकों से सूचित होता है कि जो सर्व मङ्गल निधान व अष्ट ऐश्वर्यपूर्ण एवं ओंकार गत अर्धमात्रा प्रतिपाद्य परमतत्व है उसी के जन्म का यहाँ पर वर्णन हो रहा है, तभी तो श्री देवकीजी के गर्भ का बढना आदि सर्व धर्म स्त्री साधारण थे तो भी भगवान् के प्रकट होने का प्रकार 'प्रादुरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव'पुष्कलः लोक विलक्षण था एवम् 'तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणम्' स्वरूप भी लोकोत्तर था ।

भगवान् का प्राकट्य जिस समय में हुआ है वह समय यद्यपि माङ्गलिक कार्यो में प्रशस्त नहीं किन्तु निन्दित ही है उत्तरायण न होकर दक्षिणायन का होना शुक्ल पक्ष न होकर कृष्ण पक्ष का होना दिन न होकर रात्रि का भी निशीथ होना इत्यादि दोषों के होते हुए भी उस समय को सर्वगुणपूर्ण बतलाकर श्री शुकदेवजी ने यह सूचित कर दिया

है कि काल भगवान् का एक अधिकार प्राप्त सेवक है। कार्य सचिव है, उसमें उत्तरायण आदि अनन्त शुभ फल सूचक गुण भगवान् के ही हैं उनकी कृपा से ही उसे प्राप्त हुए हैं ॥५॥

कारिका—मूले समागते कालः स्वकीयान् सकलान् गुणान् ।
हरौ प्रदर्शनार्थाय प्रकटीकृतवान् यथा ॥ ६ ॥
देशोऽपि त्रिविधश्चैव भूतान्यपि तथैव च ।
तत्रत्या ये विदुस्तेऽपि ज्ञापनार्थं गुणान् स्वकान् ॥७॥
प्रकटीकृतवन्तो वै दोषनाशपुरस्सरम् ॥ ७½ ॥

कारिकार्थ—वह उत्तरायणादि काल गुण भी किसी अंश से सब लोगों को प्राप्त होने वाले अपूर्ण फल का बोध मात्र कराते हैं। फल का दान तो भगवान् के ही हाथ है ॥ ५ ॥

परन्तु जब काल के स्वामी मूलतत्व भगवान् स्वयं पधारते हैं तब तो वह काल अपने आराध्य प्रभु की सेवामें अपने समस्त उत्तरायणादि सद्‌गुणों को उनके दृष्टिगोचर कराने के लिए आपकी वस्तु इस प्रकार संभाल कर रखी है इस आशय से प्रकट करता है ॥ ६ ॥+

उच्च देश आकाश, मध्य देश दिशा और अधो देश भूमि ने तथा इन देशों में रहने वाले देव मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर, चारण आदि ने भी एवम् जल, अग्नि, वायु आदि भूतों ने भी अपने २ गुणों को प्रकट किया, इन सबके दोशों का नाश तो पूर्व में ही हो चुका था।

+ गोस्वामी श्री बिट्ठलनाथजी ने 'अधिकं तत्रानु प्रविष्ट न तु तद् हानिः' इस न्याय को उपस्थित कर शंका की है कि भगवान् के प्राकट्य का काल यदि उत्तरायण शुक्ल पक्ष एवम् दिन आदि होता तब तो और भी अच्छा ही था। भगवत्सेवक काल तो उन गुणों को प्रकट करता ही उत्तरायण आदि और अधिक रूप से गुणों की वृद्धि में उपयुक्त हो जाते, कोई हानि तो थी नहीं। उक्त शंका का समाधान करते हुए आप आज्ञा करते हैं कि भगवत्प्राकट्य की देश कालादि सर्व सामग्री आधिदैविक है, आधिभौतिक देश कालादि में भगवत्प्राकट्य सम्भव नहीं। यह लीलाकाल भगवत्स्वरूप है। भगवल्लीला का प्रारम्भ होने वाला है। अतः यह स्वरूपात्मक लीलाकाल प्रकट हुआ है। इसकी सूचना मूल में 'अथ' शब्द से की है कि अब सब ही प्रकार भिन्न है। जिस प्रकार रास लीला की षड् मास की रात्रियों में दिन का प्रवेश नहीं हुआ। यह उन रात्रियों की विलक्षणता थी, आधिदैविकता थी उसी प्रकार इस प्राकट्य काल में भी आधिभौतिक दक्षिणायनादि का प्रवेश नहीं। यह पुष्टिमार्ग की मर्यादा मार्ग से विलक्षणता और बलिष्ठता है। 'सर्वगुणोपेतः' इस विशेषण से इस प्राकट्य काल की ऐश्वर्यादि गुणपूर्ण भगवद्रूपता स्पष्ट होती है।"

श्री सु० आभास—एवं पूर्वाध्याये भगवत उद्यममुक्त्वा सर्वेषां त्रिविधदुःखदूरीकरणाय रूपान्तरस्वीकरण-मुच्यते, अत आदौ रूपं वक्तव्यं, अन्यथा रूपान्तरत्वं न स्यात्, तस्य च प्राकट्ये यद्यधिकारिणां नैमित्तिकगुणप्राकट्यं सर्वं नोच्येत तदा प्राकट्यमपि जननापरपर्यायं स्यात्, न ह्येकस्य जनने सर्वे गुणा प्रकटीभवन्ति महतामन्येषाञ्च, जनकयोर्वा यदि स्तोत्रं नोच्येत तादृशमेव जनितमिति तयोर्बुद्धिः स्यात्, रूपस्य प्रदर्शनमात्रप्रयोजनव्यावृत्यर्थं स्वरूप-कथनमपि वक्तव्यं, अन्यथाश्चर्यमात्रत्वेन निदानाज्ञानात् सन्देह एव तिष्ठेत्, रूपान्तरेण कार्यं न भवतीति गमनमावश्यकं, रूपान्तराभावे सर्वमुक्तिरेव स्यात्, लीलाया रसालता च न स्यात्, अलौकिकं लोकाद् दुर्बलमिति ज्ञापयितुं दृष्टऽप्यलौकिके जनकयोर्भयवर्णनम् ।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पूर्ववर्ती द्वितीयाध्याय में भगवान् के अवतारार्थ उद्यम का वर्णन कर (इस तृतीयाध्याय में भूमि, माता-पिता तथा अन्यान्य भक्त) इन सबके सात्विक, राजस, तामस तीनों प्रकार के दुःख दूर करने के लिए अथवा कंसकृत, कालकृत, अज्ञानकृत इन तीनों प्रकार के दुःख दूर करने के लिए रूपान्तर का स्वीकार कहा जाता है। अतः प्रथम रूप का वर्णन आवश्यक है क्योंकि किसी एक रूप का अन्य रूप में परिवर्तित होना ही तो रूपान्तर है। यदि भगवान् के रूप का वर्णन नहीं किया जावे तो उनके रूपान्तर का स्वीकार करना जो कि अध्यायार्थ है वह सङ्गत न हो सकेगा और यदि भगवत्प्राकट्य में काल आदि अधिकारियों के नैमित्तिक (भगवत्प्राकट्यमूलक) शुभसूचक गुणों के प्रकट होने का सर्वांश में वर्णन न किया जाय तब तो भगवत्प्राकट्य को प्राकट्य+ शब्द से नहीं कहा जा सकेगा। तब तो वह "जनन" शब्द से ही व्यवहृत होगा क्योंकि सर्व गुणों का सर्वांश में प्रादुर्भाव किसी एक के भी जन्म काल में नहीं होता अन्यान्य बड़े २ महानुभाव 'पृथु' महाराज जैसों के भी जन्मकाल में सर्वगुणों का प्राकट्य नहीं हुआ, यदि वसुदेव एवम् देवकीकृत स्तुति का वर्णन न किया जाय तब तो उनके विषय में सर्व साधारण की यही बुद्धि (धारणा) हो सकती है कि इन माता-पिताओं को इतना ही ज्ञान होगा कि हमारे चतुर्भुज पुत्र उत्पन्न हुआ है यह साक्षात् भगवान् है, इस प्रकार का ज्ञान तो उनकी की हुई स्तुति से ही स्पष्ट होता है। उक्त चतुर्भुज रूप केवल माता-पिता के दिखाने को ही प्रकट किया हो, ऐसी बात नहीं है किन्तु पूर्व जन्मों के प्रसङ्गों का स्मरण करा देना आवश्यक है। अतः शुकदेवजी ने 'सान्त्वन' प्रकरण में भगवत्कृत स्वरूप वर्णन का आवश्यक समझकर उल्लेख किया है, यदि ऐसा नहीं किया जाता तो वह अद्भुत स्वरूप दर्शन आश्चर्य ही बना रहता और उसके कारण का ज्ञान न होने से सन्देह ही रह जाता कि यह हमारे पुत्र कैसे हो सकते हैं, रूपान्तर के स्वीकार मात्र से भक्त दुःख निवृत्ति का कार्य बिना गोकुल पधारे नहीं हो पाता, अतः 'गमन' भी अध्याय के अन्तर्गत आवश्यक है।

+ परमतत्व श्रीकृष्ण के ही जन्म में 'प्राकट्य' शब्द उपयुक्त है. उन्हीं के आविर्भाव काल में सर्व तत्वों में आनन्द का आविर्भाव होता है। यही उनकी परमतत्वरूपता का साक्षात् हृदय-स्पर्शी प्रमाण है।

**श्लोक—अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः ॥
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम् ॥ १ ॥**

मूलार्थ— स्तुति कर देवताओं के चले जाने के अनन्तर परम सुन्दर एवं सर्व गुण-सम्पन्न काल प्रकट हुआ जब ही रोहिणी नक्षत्र (आया) एवं उसके सहवर्ती अन्य नक्षत्र ग्रहतारा भी शान्त रूप से शुभ फल की सूचना देने को उपस्थित हुए ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—यदि प्राकृत शिशु रूप ग्रहण न किया जाता तो सर्व साधारण की मुक्ति हो जाने का सम्भव था तथा लीला की वह वात्सल्य माधुर्य आदि रसमयता[1] भी सम्पन्न न हो पाती। श्री वसुदेव एवं देवकी के भयभीत होने का वर्णन उनके ही स्तोत्रों में हुआ है, जबकि अलौकिक स्वरूप का दर्शन हो रहा है,ऐसी दशा में भी भय का होना स्पष्टतया सूचित करता है कि लौकिक की अपेक्षा अलौकिक[2] दुर्बल होता है। भगवान् की महिमा का ज्ञान अलौकिक है। उसके होते हुए भी इस बालक का क्रूर कंस से कोई अनिष्ट न हो जावे, इस प्रकार की स्नेहमय लौकिक बुद्धि का बना रहना स्पष्ट कर देता है कि लोक की प्रबलता है, अलौकिक की नहीं।

श्री सु०—प्रथममष्टैश्वर्ययुक्तमाविर्भावमाह, यदैव ते स्तुत्वा गता अथ तदनन्तरमेव भगवानाविर्भूत इति-सम्बन्धः, तदैव सर्वगुणोपेतः कालो जातः, यावन्तो गुणाः काले स्थापितास्ते सर्वे प्रकटीभूता भगवज्ज्ञापनार्थमित्यर्थः, अत एव परमशोभनो जातः, परमस्यापि भगवतः पूर्णगुणस्य शोभाजनकः, कालावयवरूपाणि यानि नक्षत्राणि तेष्वपि केवलगुणाधारभूता रोहिण्येव, भगवता हि स्वगुणप्राकट्यार्थमेव ब्रह्मोत्पादितः।

अनुवाद—शुक मुनि सर्व प्रथम भगवान् के अष्टैश्वर्य सहित प्रादुर्भाव का वर्णन करते हैं कि जब देवगण स्तुति करके चले गये, उसके अनन्तर ही भगवान् प्रकट हुए, उसी समय काल सर्वगुण सम्पन्न हो गया, जितने गुण काल में स्थापित किये थे वे सब प्रकट हो गये, भगवान् को अपनी सेवावत

टिप्पणी—प्रकाशकार ने "आविरासीत्" इस अष्टम् श्लोक गत क्रिया पद से सुदूर अन्वय को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि अध्याहार की अपेक्षा दूर अन्वय में लाघव है अतः प्रथम श्लोक गत "अथ" का वहीं सम्बन्ध है। लेखकार ने इस पंक्ति को प्रकारान्तर से लगाया है उनका कहना है कि "इति" अर्थात् भगवान् प्रकट हुए हैं, इस कारण से (सम्बन्धः) गुणों का काल से सम्बन्ध हुआ।

१ निज अन्तरङ्ग भक्तों को जिस रस का दान करना है जिस रस की प्राप्ति के बिना उनका ताप क्लेश निवृत्त नहीं हो सकता उस रसदान में रूपान्तर स्वीकार अत्यन्त आवश्यक है तभी तो यह ही मुख्यतया तृतीयाध्यायार्थं माना है।

२ लीला की रसालता में यह भी उपयुक्त है, लोकवत्त लीला कैवल्यभू-व्यास सूत्र भी लीला की-लोक तुल्यता का निर्देश करता है परन्तु आचार्य श्री की यह पंक्ति हम लोगों (वैष्णवों) को सावधान करने के लिये भी है कि अलौकिक भगवद्भाव की रक्षा सावधानता से करते रहें लौकिक महान् प्रबल शत्रु है उससे बचते रहें।

लाने को काल ने गुण प्रकट किये, इसी से काल परम शोभापूर्ण हो गया परम तत्व सर्व गुणपूर्ण भगवान् की भी शोभा का हेतु बन गया। काल के अवयव जो नक्षत्र हैं उनमें भी केवल गुणों का आश्रय 'रोहिणी' नक्षत्र ही है, भगवान् ने अपने गुणों को प्रकट करने के लिए ही ब्रह्मा उत्पन्न किया।

श्री सु०—स तु विकारान् दूरीकृत्य गुणानेव प्रकटयितुं तन्नक्षत्रं गृहीतवान् अत एवाजनस्य जन्मरहितस्य पुत्रोपि जन्मरहित एवेति ज्ञापयितुमजनाज् जन्म यस्य तस्य नक्षत्रमित्युक्तं "ततो वै ते सर्वान् रोहानरोहंस्तद्रोहिण्यै रोहिणीत्व" मितिश्रुतेः, यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं जातं, तदैव सर्वगुणोपेतः कालो जात इतिसम्बन्धः, अनेन नक्षत्रारम्भे जन्मेति सूचितं, तस्य नक्षत्रस्य सर्वेषां सहायवर्तिनामानुगुण्यमाह शान्तर्क्षग्रहतारकमिति, शान्तान्यन्यान्यृक्षाणि ग्रहास्ताराश्च यस्य, अश्विन्यादीनि नक्षत्राणि, आदित्यादयो ग्रहाः, अन्यानि च नक्षत्राणि ताराः, यद्यपि तेषां ज्योतिःशास्त्रे फलं नोक्तं तथाप्यस्तीति शान्तत्वमुक्तं, अनेन स्वाभाविका आनुषङ्गिकाश्च गुणा निर्दोषाः कालगता निरूपिताः ॥ १ ॥

अनुवाद—उस ब्रह्मा ने तो विकारों को दूर कर गुणों को ही प्रकट करने के लिए उस रोहिणी नक्षत्र का ग्रहण किया। (यहाँ दोषाभावपूर्वक सर्व गुणों के प्राकट्य द्वारा जन्म काल की आधिदैविकता का प्रतिपादन करना अभिष्ट है) इसी लिए रोहिणी नक्षत्र को "अजनजन्मा" ब्रह्मा) का नक्षत्र कहा है, जिससे उक्त नक्षत्र के देवता ब्रह्मा की निर्विकारता सिद्ध होती है बात ऐसी है कि भगवान् तो जन्मादि विकारों से रहित होने के कारण 'अजन' कहलाते ही हैं। ब्रह्मा उन्हीं भगवान् का पुत्र है अतः वह भी जन्म रहित ही है। इसी से ब्रह्मा को "अज" शब्द से कहा गया है। अतः अजन्मा भगवान् से जन्म प्राप्त करने के कारण "स्वयंभूः" "अजः" आदि शब्दों से संकेतित हुए ब्रह्मा के नक्षत्र का निर्दोष गुणपूर्ण होना सर्वथा समुचित ही है। श्रुति से 'रोहिणी' शब्द का जो निर्वचन प्राप्त हुआ है वही इस नक्षत्र की महिमा का पर्य्याप्त प्रमाण है भगवती श्रुति कहती है कि "उस[1] नक्षत्र से ही वे लोग सर्व उच्च स्थानों को चढ गये" वे अपने सम्पर्कियों को उच्च स्थाम पर चढा देना रोहिणी का रोहिणी नाम से व्यवहृत होने का कारण है, जब रोहिणी नक्षत्र हुआ तब ही सर्वगुणपूर्ण काल हुआ, इस प्रकार की योजना से सूचित होता है कि भगवान् का जन्म रोहिणी नक्षत्र के प्रारम्भ में ही हुआ। उक्त नक्षत्र के सब ही सहायवर्ती अन्यान्य नक्षत्रादि भी अनुकूल थे। ऐसा सूचित्त करने को 'शान्तर्क्ष' इत्यादि विशेषण का प्रयोग किया है कि इस नक्षत्र के सहचारी अन्य नक्षत्र, ग्रह और तारा भी शान्त थे, अश्विनी आदि नक्षत्र, सूर्य आदि ग्रह एवं उपनक्षत्र तारा सब ही शान्त थे शुभ थे। यद्यपि ज्योतिष शास्त्र में इन का फल नहीं कहा तो भी उनका भी फल होता है। इसी लिए उनकी शान्त अवस्था का निर्देष किया है। इस श्लोक से काल के सब ही स्वाभाविक एवम् सहयोग से प्राप्त होने वाले आनुषङ्गिक गुणों का निरूपण किया है ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ यह श्रुति तैत्तरीय शाखाध्यायियों के ब्राह्मण भाग में रोहिणी की स्तुति रूप से उपलब्ध है, ऐसा योजनाकार लिखते हैं।

श्री सु०—देशस्त्रिविधः, अधः उपरि परितश्चेति, तत्र परितो दिशः उपरि द्यौरधो भूमिः, त्रयाणां दोषाभावपूर्वकं गुणा उच्यन्ते, तत्र दिशो देवतात्मिका भूतात्मिकाश्च भवन्ति, तत्र मेघा भावाविना[1] दूरदर्शनलक्षणप्रसादो दिशां भवति, देवताप्रसादस्तु सर्वसाधकः, अतो ज्ञानं सर्वमेव च फलं सिद्धयत्वित्युभयविधदिशां प्रसाद उच्यतेप्र दिशः सेदुरिति।

व्याख्यार्थ—देश तीन प्रकार का है—नीचा, ऊँचा और सब ओर चारों तरफ, उसमें चारों ओर दिशा ऊपर आकाश और नीचे भूमि इन तीनों की निर्दोषता के साथ गुणों का वर्णन किया जाता है उनमें दिशा देवता रूप भी होती है और भूतात्मक भी होती है। उनमें भूतात्मक पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं का प्रसाद (निर्मल होना) वह है, जिससे दूर देशस्थ वस्तु का भी दर्शन हो सके। मेघ आदि के न होने के कारण वैसी निर्मलता होती है और श्रवण इन्द्रिय की अधिष्ठात्री दिग्देवता का प्रसाद तो सर्व सिद्धि का कारण है। अतः[2] ज्ञान भी सिद्ध हो और सर्व फल भी सिद्ध हो, इसलिए भूतात्मक और देवात्मक दोनों प्रकार की दिशाओं की प्रसन्नता "दिशः प्रसेदुः" इन शब्दों से कही है—

श्लोक—दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम् ॥
मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा ॥ २ ॥

मूलार्थ—जिस समय दिशाएँ निर्मल हो गई थीं आकाश भी निर्मल तारागणों के उदय से शोभित था। पृथ्वी में भी प्रत्येक नगर और ग्रामों में एवम् गौओं के रहने के स्थान तथा रत्नादिकों के भी उत्पत्ति स्थानों में सर्वत्र ही प्रचुर मङ्गलाचार हो रहे थे ॥ २ ॥

श्री सु०—दिशः प्रसेदुरिति, निर्मला उडुगणा यत्र, वर्षाकाले मेघाः सह्जास्तैः कृत्वोडुगणानां प्रकाशो न दृश्यत इति नैर्मल्यमुच्यते, उदयेति, उदयकालेपि मेघानामभावः, उदयो दर्शनमेव वा, मही भूमिर्मङ्गलभूयिष्ठा, सर्वत्रैव विवाहपुत्रजन्माद्युत्सवास्तस्मिन् समये जायन्त इति, पुरं नगरं, ग्रामाः साधारणाः, व्रजो गवां स्थानं, आकरा रत्नाद्युत्पत्तिस्थानानि, सर्वाण्येव मङ्गलभूयिष्ठानि यस्याम् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—आकाश निर्मल तारागणों से उनके उदयकाल में भी शोभित था। वर्षाकाल में मेघों का होना स्वाभाविक है। उनके कारण ताराओं का प्रकाश नहीं दीख पाता। इस कारण ताराओं की निर्मलता बतलाई है कि उदयकाल में भी मेघादिकों का अभाव था अथवा उदय शब्द से "दर्शन" अर्थ यहाँ पर अधिक उपयुक्त है। आकाश में निर्मल तारागणों का दर्शन हो रहा था पृथ्वी में विवाह, पुत्र-जन्म

---

१ मेघादीनां, ऐसा पाठ भी सङ्गत है, मेघादीना ऐसा पाठ तब सङ्गत होता है जब "दिशां" के आगे "न" शब्द और हो।

२ दूरदर्शिता एवं सर्व इन्द्रियों की सत्प्रवृति के द्वारा जीवन की सफलता इन दो महान् लाभों की सूचना 'दिशः प्रसेदः' की व्याख्या में निगुढ़ाशय आचार्य ने की है।

आदि माङ्गलिक उत्सव होने लगे। बड़े से बड़े नगर, छोटे से छोटे ग्राम, गौओं के निवास तथा रत्न आदि के उत्पत्ति स्थान सब ही बहुविध एवम् अत्यधिक मङ्गलमय दृश्यों से पृथ्वी में सज उठे ॥ २ ॥

श्लोक—नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः ॥
द्विजालिकुलसन्नादस्तवका वनराजयः ॥ ३ ॥

मूलार्थ—(जिस समय) नदियों का जल निर्मल था, सरोवर भी कमलों से शोभा सम्पन्न हो रहे थे, वन पंक्तियां भी पक्षीवृन्द एवम् भ्रमर पुञ्ज की गुञ्जार से पुष्प गुच्छों को मुखरित कर रही थीं ॥ ३ ॥

श्री सु०—एव देशकालयोर्गुणानुक्त्वा भौतिकानां तत्तद्भूतप्रधानानां गुणानाह, तत्र प्रथममपामाह।

नद्यः प्रसन्नसलिला इति, यद्यप्यापो बहुविधा एकोनविंशतिभेदास्तथाप्युभयविधा एव, स्थावरा वहन्त्यो वा, अत उभयानां गुणा उच्यन्ते, नदीषु कालवशात् पङ्किलं जलं भवति, आधिदैविककालवशात् कालनियन्तृभगवद्वशाद् वा स निवर्तते, अतः काल नियन्तरि भगवति समागते नद्यः प्रसन्नं सलिलं यासां तादृश्यो जाताः, दोषनिवृत्तिपूर्वकः स्वाभाविक गुण उक्तः, ह्रदाः स्थावराः, जलरुहाणां कमलानां श्रीर्येषु, जलस्य योयं सारांशः स कमलादिः, अतो-साधारणा गुणा अनेनोक्ताः, भूमेर्गुणान् वक्तुं गन्धस्तस्या मुख्यो गुण इति स च पुष्पादिषु प्रसिद्ध इति गन्धरसकार्य-कथनपूर्वकं पुष्पादिसम्पत्तियुक्तां वनरूपां भूमिमाह द्विजालीति, द्विजाः पक्षिणः, अलयो भ्रमराः, उभयेषां कुलानि, तेषां सन्नादयुक्ताः स्तवकाः पुष्पगुच्छा यासां तादृश्यो वनराजयो वनपङ्क्तयो जाताः ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार देश और काल के गुणों का वर्णन कर उन-उन भूतों की प्रधानता रखने वाले भौतिक पदार्थों के गुणों को कहते हैं उनमें प्रथम जलों के गुणों को कहते हैं कि नदी प्रसन्न सलिला हो गई। उनका जल निर्मल हो गया यद्यपि जल अनेक प्रकार के हैं फिर भी मुख्य दो ही प्रकार हैं। एक तो स्थिर रहने वाले और दूसरे बहने वाले। अतः उन दोनों के गुण कहे जाते हैं। नदियों में कालवश जल गदला हो जाता है। आधिदैविक काल के प्रकट होने से या काल के नियामक भगवान् के सामर्थ्य से वह गदले होने का दोष दूर होता है अतः काल के नियामक भगवान् के पधारने के समय नदियों का नीर निर्मल हो गया एवम् प्रसाद गुण पूर्ण हो गया। इस प्रसन्न सलिला पद के द्वारा मलांश दोष की निवृत्ति के साथ साथ स्वाभाविक नेत्र सुखकारी सौन्दर्य गुण का निर्देष किया है। सरोवर स्थिर जलाशय होते हैं। जल में प्रकट होने वाले कमलों की शोभा उन जलाशयों में व्याप्त हो रही थी। जल का जो यह सारांश है या उनके हृदय का जो रत्न है वह कमलादि ही है। अतः जल के असाधारण गुणों का वर्णन इस विशेषण से हुआ है। भूमि के गुणों का वर्णन करना है, इसलिए गन्ध ही भूमि का प्रधान गुण है, इस दृष्टि से तथा उस गन्ध की प्रसिद्धि पुष्पादिकों में है इस दृष्टि से गन्ध और रस के

कार्यों[1] का कथन करते पुष्पादि सम्पत्तिपूर्ण वनरूपिणी भूमिका वर्णन करते हैं कि पक्षियों एवम् भ्रमरों के समूहों की मधुर ध्वनि से शब्दायमान पुष्प गुच्छों द्वारा वन राजियाँ भी आनन्दोल्लास से परिपूर्ण हो गईं ॥ ३ ॥

श्लोक—ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः ॥
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत ॥ ४ ॥

मूलार्थ—(उस समय) पवित्र एवम् शुभसूचक सुगन्धपूर्ण तथा सुस्पर्श वायु बह रहा, था और द्विजातियों के शुभ अग्नि देव भी प्रदीप्त हो उठे थे ॥ ४ ॥

श्री सु०—ववौ वायुरिति, सुखस्पर्शो वायोर्गुणः, गन्धंच भूमेर्वहतीति शुभकार्यं, पुण्यं गन्ध वहतीति पुण्य-गन्धवहः, शुचिर्गङ्गादिजलसम्बन्धी दोषरहितो वा, योवा वायुः शुभसूचकः सशुचिः, अग्नयो लौकिका वैदिकाश्च, द्विजातीनामिति निषिद्धतराः, तत्राप्यशुभकार्यस्थव्यावृत्त्यर्थं शान्तास्तस्मिन् समये समिन्धत सम्यग् दीप्ता जाताः, तस्मिन् समये शुभा अग्नयः पिहिता अपि प्रज्वलिता जाता इत्यर्थः ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—सुखमय स्पर्श वायु का गुण है और वह वायु पृथ्वी के प्रधान गुण गन्ध का वहन करता ही है परन्तु भगवत्प्राकट्य के सुअवसर पर तो उस वायु ने शुभसूचक पवित्र सुगन्ध को बहा दिया .दिशा विदिशाओं को सुगन्ध से सुवासित कर दिया, इस वायु में गंगादि पवित्र नदियों के जल कण व्याप्त थे अतः इसे 'शुचि' कहा है अथवा दोष रहित होने के कारण इसे 'शुचि' कहा गया है या शुभसूचक होने से 'शुचि' है, उक्त सब ही अभिप्रायों को लेकर शुचि पद का प्रयोग हुआ है, वायु के दोषाभाव और गुणों में उसके तीनों विशेषणों का उपयोग है ,और स्मृति प्रतिपादित कर्मों के उपयोगी लौकिक अग्नि तथा श्रुति प्रतिपादित अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के उपयोगी वैदिक अग्नि दोनों प्रकार के शुभ अग्नि प्रज्वलित हो उठे 'द्विजातीनाम्' इस पद से अग्नि के ब्राह्मण आदि उच्च श्रेणी के सत्कर्माधि-कारियों के सम्बन्धी होने का निर्देश किया है और उसके द्वारा म्लेच्छ आदि से सम्बन्धित निषिद्ध कर्मगत अग्नि का अग्रहण सूचित किया है अर्थात् म्लेच्छों की अग्नि बुझ गई, यह सूचित किया है 'शान्ता' इस विशेषण से अशुभ कार्यगत अग्नि का व्यावर्तन किया है, आशय यह है कि भगवत्प्राकट्य के सुअवसर पर शुभ अग्नि दबी हुई भी जाग उठीं और अशुभ मांसपाकादि क्रियागत अग्नि जगाने से भी नहीं जगी ॥४॥

श्लोक—मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् ॥
जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ॥ ५ ॥

---

१ आम्र आदि के पुष्प गुच्छों पर केवल रसना द्वारा रस ग्रहण करने वाले कोकिलादि पक्षियों का और मालती आदि के पुष्प गुच्छों पर गन्ध तथा रस दोनों के ग्राहक भ्रमरों का वर्णन यथा योग्य ज्ञातव्य है ।

मूलार्थ-(उस समय) असुरों के विरोधी सब ही सन्मार्गवर्ती साधुओं के मन उल्लासपूर्ण होकर खिल उठे थे, अजन्मा के जन्म काल के अधिक निकट आने पर आकाश में नगाड़े बजने लग गये ॥ ५ ॥

श्री सुबोधिनी–सात्त्विकाहङ्कारकार्यं मन इति भौतिकगुणसमये मनसोऽपि गुणा उच्यन्ते ।

यदा सत्त्वमारूढं भवति तदा मनांसि प्रसन्नानि भवन्ति, मनसो दैत्यसम्बन्धित्वमपि वर्तत इति तन्निवृत्त्यर्थं साधूनामित्युक्तं, इदं साधुपदं दैत्यव्यतिरिक्तमात्रपरमिति ज्ञापयितुमसुरद्रुहामित्युक्तं, साधुपदं च व्यवहारे सन्मार्गवर्तित्वाय, इयमवस्था स्थूलकालेपीति निकटकाले विशेषमाह जायमानेजन इति, अजने जायमाने दिवि दुन्दुभयो नेदुः, तस्मिन्निति तन्निकटे, यथा वसुदेवादयः शृण्वन्ति, आकाशस्य गुणा नृत्यवादित्राणि, दुन्दुभिर्मङ्गलवाद्यं, स्वयमेव नेदुर्न तु केश्चिद् वादिताः ॥ ५ ॥

अनुवाद–मन सात्विक अहंकार का कार्य है । इस कारण से (तामस अहङ्कार के कार्य) पृथिवी आदि भौतिक पदार्थों के गुण वर्णन के अवसर पर मन[2] के भी गुणों को कहा जाता है, जब सत्वगुण[1] मन से आरुढ होता है अर्थात् मन सत्व गुण पर स्थित होता है, तब मन प्रसन्न होते हैं, मन दैत्यसम्बन्धी भी होता है, उस दैत्य सम्बन्धी मन को प्रसन्नता प्राप्त नहीं हुई ऐसा बतलाने को 'साधूनाम्' इस पद का प्रयोग किया है, यह 'साधू' पद दैत्यों के अतिरिक्त सब ही का बोधक है ऐसा सूचित करने को 'असुरद्रुहाम्' इस पद का प्रयोग किया है, व्यवहार में सन्मार्ग पर बर्तने वाला सदाचारी ही साधु है ऐसा बतलाने को 'साधु' पद उपयुक्त है, यह अवस्था स्थूल काल में भी रही अर्थात् भगवान् के जन्म काल से कुछ पूर्व में इस अवस्था का प्रारम्भ हुआ और माया के जन्म पर्य्यन्त यह देश काल आदि की प्रसन्नता वाली अवस्था वर्तमान रही परन्तु जन्म के निकट समय में तो यह विशेषता हुई कि आकाश में दुन्दुभि बज उठीं, अजन्मा भगवान् के प्राकट्यकाल के निकट आते ही आकाश में निगाड़े खड़कने लगे, यह शब्द इतना निकट था जिससे वसुदेवजी आदि सुन सकें आकाश[3] के गुण नृत्य और वाद्य हैं, दुन्दुभि मंगलवाद्य है, आप ही आप दुन्दुभि बजी थीं किन्हीं लोगों ने इन्हें बजाया नहीं था ॥ ५ ॥

श्लोक—जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः ॥
विद्याधराश्च ननृतुरप्सरोभिः समं मुदा ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१, "यदा रज स्तमोभावाः कामलोभादयश्चये चेत एतैरनाविद्धम् स्थितं सत्वे प्रसीदति" भा० प्र० स्क० द्वि० अ० १६वां श्लोक देखिये ।

२. मन सब ही इन्द्रियों का उपलक्षण है समस्त इन्द्रियों की प्रसन्नता में तात्पर्य है ।

३. आकाश प्रधान अन्तरिक्ष लोक के यह नृत्य आदि गुण कहे हैं । इस श्लोक में दुन्दुभि वाद्य कहा है आगे श्लोक में गान और स्तुति कही है । गान और स्तुति तो शब्द रूप से आकाश के गुण स्पष्ट हैं हीं ।

मूलार्थ—(उस समय) किन्नर और गन्धर्व गान करते थे, सिद्ध एवम् चारण लोग स्तुति पढ रहे थे और विद्याधर गण अप्सराओं के साथ हर्ष से नाच रहे थे ॥ ६ ॥

श्री सु०—किन्नरगन्धर्वा अपि स्वत एवोल्लसितहृदया जगुः, अज्ञात्वैवेति ज्ञातव्यं, अन्यथा माहात्म्यप्रतिपादकं न स्यात्, सिद्धाश्चारणाश्च तुष्टुवुः, अकस्मादेव स्तोत्रं तत्काले कृतवन्तः, ते हि वैतालिकप्रायाः, विद्याधरा नर्तकाः, चकाराद् विद्याधर्यश्च ननृतुः, अप्सरोभिः सममित्यानन्दावेशेनैव नृत्यं, न तु शास्त्रीयं, मुदाऽऽनन्देन, न केनचेत् प्रेरिताः, स्वत एवानन्दाविर्भूता[1] अकस्मात् तस्मिन् समये स्त्रियः पुरुषाश्च ननृतुः, अनेन ये केचन यस्यां विद्यायां रतास्तेकस्मान् मुदा तत्तत् कार्यं कृतवन्त इत्यर्थः ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—किन्नर और गन्धर्व भी गान करने लगे। उनका हृदय स्वतः ही उल्लासपूर्ण हो गया, भगवान् प्रकट हो रहे हैं–इस ज्ञातव्य विषय के ज्ञान के बिना ही उनको यह रसमत्त दशा हो गई, यदि भगवत्प्राकट्य को जानकर उन्होंने गान किया ऐसा माना जाय तब तो भगवत्प्राकट्य की महिमा का प्रतिपादन न हो सकेगा, उसकी स्वाभाविक चमत्कृति का दिग्दर्शन न हो सकेगा, सिद्ध और चारण स्तुति करने लगे,उस समय अकस्मात् ही माङ्गलिक स्तुति पाठ में प्रवृत्त हो गये, क्योंकि वह लोग इस माङ्गलिक समय के राय भाट जैसे थे, विद्याधर लोग नर्तक (नाचने वाले) थे। विद्याधराश्च इस च शब्द से यह भी सूचित होता है कि विद्याधरों की स्त्रियाँ भी नाचने लगीं, अप्सराओं के साथ सम्पन्न हुआ यह नृत्य आनन्द के आवेश से ही है नाट्य[2] शास्त्र की पद्धति से नहीं अतएव 'मुदा' पद के द्वारा आनन्द को सूचना की है, किन्नर आदि किसी के प्रेरणा से गानादि में प्रवृत नहीं हुए किन्तु स्वतः ही आनन्द से व्याप्त होकर अकस्मात् स्त्री और पुरुष उस समय नाचने लगे, इससे यह अर्थ निकलता है कि जो भी कोई जिस विद्या में तल्लीन थे वह सहसा हर्ष के साथ उस उस कार्य को करने लगे ॥ ६ ॥

श्लोक—मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः ॥
मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ—(उस समय) मुनि एवम् देवताओं ने प्रसन्नता के साथ सुमन वृष्टि की एवं मेघों ने सागर के निकट मन्द मन्द गर्जना की ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१. आनन्दाभिभूताः ऐसा पाठ होना अत्यधिक सम्भव है। लेखकार ने तो स्वत एव जातो य आनन्दस्तेनाविर्भूतास्तेषां गानादि क्रियाइति शेषः, इस प्रकार पंक्ति के लगाने की सफल चेष्टा की है परन्तु उस प्रयास की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती पूर्वा पर की वाग्धारा से 'आनन्दाविर्भूताः', ऐसा ही प्रयोग अधिक सङ्गत प्रतीत होता है।

२. शास्त्रीय नृत्य में तो उसके नियमानुसन्धान से व्यग्रता का रहना स्वाभाविक है और व्यग्रता की दशा में आनन्द की स्थिति समुचित साङ्गोपाङ्ग बनी रहे यह सम्भव नहीं।

श्री सु०—देवा ज्ञात्वैव पुष्पवृष्टिं मुमुचुर्मुनयश्च, शब्दबला मुनयः, अर्थबला देवाः, उभये प्रामाणिकाः, स्वसेवामभिज्ञतां च ज्ञापयितुं शुभसूचनार्थं सुमनांसि पुष्पाणि हर्षेणान्विता मुमुचुः, सर्वथा मेघानामभावे विपरीतः कालधर्मोऽशुभकर इति तेषामपि कार्यमाह जलधरा मन्दं मन्दं सागरनिकटे जगर्जुः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—देवगण और मुनिगणों ने भगवत्प्राकट्य को जान[1] कर ही धारा रूप से पुष्पों की वृष्टि की थी मुनियों[2] को शब्द रूप श्रुति का बल है और देवताओं को अर्थ रूप भगवान् का ही बल है, यह दोनों प्रामाणिक है, इन्होंने अपनी सेवा (प्रभु के प्रति सेवक का कर्तव्य) और भगवान् पधारते हैं, इस विषय में अपनी जानकारी प्रकट करने को मङ्गल की सूचना के लिए हर्षपूर्वक पुष्प-वृष्टि की, भगवत्-प्राकट्य काल में यदि सर्वथा ही मेघ न होवे तब तो वर्षा-ऋतु में मेघों के न होने से काल-धर्म विपरीत होने से अशुभकारी समझा जावे, अतः मेघों का भी कार्य वर्णन किया है कि समुद्र के तट पर मेघों ने गर्जना की ॥ ७ ॥

श्री सु०—अथ च मुनयः सुष्ठ निर्दुष्टानि मनांसि पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावात् समाधितो निष्कास्य तदाविर्भाव-स्थले मुमुचुर्ववृषुरित्यर्थः, देवास्तु पुष्पाणीत्यर्थः, अतएव पुष्पादिपदानि विहायोभयार्थकत्वात् सुमनःपदमुक्तं, सुमनसः इतिस्त्रीलिङ्गप्रयोगाभावश्च, पुष्पवाचकस्यैव स्त्रीलिङ्गनिर्देशाद्, अन्यथा भुवि स्थितानां मुनीनां नभसि स्थितैर्देवैः सह वृष्टिकर्तृत्वं कथमुपपद्येत ? मनसः पुष्पतया कथनमुज्ज्वलत्वसङ्कोचविकासादिधर्मवत्त्वादविरुद्धम्, मुदान्विता इति, तत्रा-नन्दावेशलक्षणमकरन्दसम्पत्तिः सूचिता, तदा सुमनोवृष्ट्यपेक्षया जलवृष्टिरल्पा नाद्भुता चेति मत्वा मेघा नववृषुः किन्तु तत्र गर्जितं नास्तीति तावत् कार्यं कृतवन्त इत्याह मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरिति, मेघानामुच्चैर्गर्जनं पूर्वोक्त-वाद्यगीतादिश्रवणप्रतिबन्धकतां भवतीति तदभावाय मन्दं मन्दमित्युक्तं, अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः'

अनुवाद—मुनियों ने अपने निर्दोष मानसों को पुरुषोत्तम से सम्बन्ध के न होने के कारण समाधि से निकालकर भगवान् के प्राकट्य स्थल पर छोड़ दिये व रख दिये धारावाहिक रूप से उनकी मनोवृत्ति वहीं पर लग गई, देवताओं ने तो वहाँ पर पुष्पों की वृष्टि की, ऐसा अर्थ है इसीलिए पुष्प आदि पद को छोड़ कर "सुमनस्" पद का प्रयोग किया है, क्योंकि ये पद सुन्दर मन और पुष्प दोनों अर्थों का वाचक है, पुष्पवाचक "सुमनस्" शब्द स्त्रीलिङ्ग है, स्त्रीलिङ्ग का "सुमनसः" ऐसा प्रयोग न करना

टिप्पणी—१ क्योंकि पुष्प वृष्टि एक ऐसा कार्य है जिसमें गान आदि की भांति अज्ञान पूर्वकता का सम्भव नहीं, गान आदि आनन्द की उमङ्ग में स्वतः भी होते हैं परन्तु पुष्प वृष्टि उसके कारण का ज्ञान होने पर ही हो सकती है।

२ प्रकाशकार के अनुसार यह व्याख्या है, लेखकार ने तो मुनि और देव दोनों को क्रम से शब्द और अर्थ के द्वारा वेद के उपजीवी बतलाया है। मुनिगण वेद का स्वाध्याय कर सामर्थ्य-सम्पन्न होते हैं और देवगण अपने प्रतिपादक मन्त्रों द्वारा प्राप्त हुए हवि का भोग का सामर्थ्य सम्पन्न होते हैं। लेखकार का कहना है कि कालादि के गुण जो पूर्व में कहे गये हैं वह सब रूप लीला सम्बन्धी पदार्थों के ही कहे गये हैं नाम लीला सम्बन्धी पदार्थों के गुण यहाँ देव और मुनियों के पुष्प वृष्टि द्वारा कहे हैं।

सूचित करता है कि द्वितीय अर्थ 'सुन्दर मन' भी यहाँ अभीष्ट है, अन्यथा भूमि में स्थित रहने वाले मुनियों का आकाश में स्थित हुए देवताओं के साथ पुष्प-वृष्टि करना कैसे सिद्ध हो सकेगा मन का पुष्प रूप से कथन पुष्पों के "उज्ज्वल एवं संङ्कोचविकास आदि धर्मों से युक्त होने के कारण विरुद्ध नहीं (किन्तु अनुकूल है उचित है) 'मुदान्विताः'' इस विशेषण से मुनि और देवताओं में आनन्दावेश की सूचना है जिससे पुष्प रूप मुनि मानसों की मकरन्दभरपूर्णता व्यञ्जित होती है, उस समय मेघों ने विचार किया कि इस सुमन वृष्टि की अपेक्षा हमारो की हुई जल-वृष्टि न्यून रहेगी और ऐसी अद्भुत न होगी। अतः उन्होंने जल-वृष्टि नहीं की, किन्तु वहाँ गर्जना नहीं है अतः गर्जना मात्र ही मेघों ने आवश्यक कर्त्तव्य समझकर की, गर्जना भी मन्द-मन्द सुहावने ढङ्ग से की जिससे वह किन्नर गन्धर्वों के गान तान सुनने में आ सके, क्योंकि गम्भीर गर्जना पूर्वोक्त वाद्य गीत आदि के श्रवण में प्रतिबन्ध करने वाली होती है अतः उसमें प्रतिबन्ध न होने पावे इसलिए मन्द गर्जना की ऐसा कहा है, अन्यथा वाद्य गीतों की व्यर्थता हो जाने की आपत्ति थी, इससे यह अभिप्राय सिद्ध होता है कि एक ही साथ वाद्य, गीत, और गर्जना हो रहे थे और उनका आपस में मेल मिल रहा था एक दूसरे के उतराव चढाव में सहायक हो रहे थे ऐसी सुव्यवस्था के साथ सब लोगों के सुनने में आ रहे थे,

श्री सु०—तथा च युगपज्जायमानान्यपि वाद्यगीतगर्जितान्यन्योन्यमिश्रितानि सर्वैरश्रूयन्तेतिभावः, किञ्च जगर्जुरेव न तु ववृषुः, यतो जलधरा न जलमुचः, अत्रायमाशयः, मेघास्तु भगवत्प्राकट्यात् पूर्वं लोके नीलरूपमश्लाघ्यं मत्वा स्वस्य तादृशत्वेन तदभावाय जलमुचो जाताः, इदानीं स्वसारूप्यमङ्गीकृत्य भगवान् प्रकट इति कवयोऽग्रे स्वस्योपमां दास्यन्ति तेन स्वजन्मसाफल्यं भविष्यतीति हर्षवशादात्मनो नीलरूपस्यैवाभीष्टत्वेन तद्धेतुभूतं च जलधारणं, अन्यथा शुभ्रता स्यात्, अतो जलधरा जाताः, यद्यपि मरकतेन्दीवरादीनामपि सारूप्यमस्ति तथापि स्वस्य विद्युत्सहभावात् कामिनीतनुकनकलतालङ्करणदशायां द्वैरूप्येऽपि सादृश्यमधिकमिति च जलधरपदेन सूचितं, सजलमेघानामेव तडित्सहभाव-दर्शनाद्, अपि च समुद्रः स्वगाम्भीर्यगुणं प्रभुरङ्गीकृतवानितिगर्वेण गर्जति तस्य तं गर्वमपहन्तुं धर्मापेक्षया स्वरूपसादृश्यं स्वस्याधिकमिति ज्ञापयितुमनुसागरमित्युक्तं ।

व्याख्यार्थ—वह मेघ जल का धारण करने वाले ही थे वर्षा करने वाले नहीं थे अतः गर्जना ही की वृष्टि नहीं की मेघों का 'जलधर' शब्द से व्यवहार करने में शुकदेवजी का यह आशय है कि भगवत्-प्राकट्य से पूर्व में नील वर्ण की प्रशंसा लोक में नहीं थी इस कारण वह अपने नीलरूप को अप्रशस्त समझ कर उसके दूर करने के लिए जल का त्याग करते रहते थे, और शुभ्र हो जाते थे, परन्तु अब तो परम मनोहर श्याम स्वरूप प्रभु प्रकट हो रहे हैं अतः कविगण आगे हमारी उपमा उन्हें देवेंगे, उससे हमारा जन्म सफल होगा इस हर्ष के कारण अपने नील रूप को अभीष्ट होने से उसे बचाये रखने को उस नील-रूपता का कारण जल धारण है, इस विचार से जलधर ही रहे आये, 'जलद' या 'जलमुक्' नहीं हुए, यदि जल धारण नहीं करते उसकी वृष्टि कर देते तो शुभ्रता हो जाती नीलिमा न रह पाती, यद्यपि मरकत मणि, नील कमल आदि की भी समान रूपता है परन्तु अपना (मेघ) का साथ विद्युत (बिजली) से होता

है मरकतादि का नहीं, अतः स्वामीनिश्रों की सुनहरी तनुलता से जब श्याम तमाल प्रभु वेष्टित होंगे तब उस दशा में युगलच्छवि के दोनों रूपों में अधिक साम्य अपना ही ठहरेगा, इत्यादि 'जलधर' पद का स्वारस्य है, क्योंकि जल वाले मेघों में ही विद्युत् का साथ देखने में आता है, और भी बात यह है कि समुद्र इस गर्व से गर्जना करता है कि मेरे गाम्भीर्य गुण को प्रभु ने अङ्गीकार किया है, उसके उस गर्व को दूर करने के लिए मेघ गर्जता है कि तेरा तो केवल गाम्भीर्य मात्र धर्म से ही साम्य है और मेरा साम्य तो स्वरूप से है अतः मेरा साम्य अधिक है तू क्या गर्व करता है ऐसा सूचित करने के लिए 'अनुसागरम' यह पद कहा है ॥ ७ ॥

आभास—एवं देश कालयो स्तत्रत्यानामृतोश्च गुणानुक्त्वा रात्र्येस्तन्मुहूर्तस्य च गुणानाह निशीथे इति ।

श्लोक—निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने ॥
देवक्यां विष्णुरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ॥८॥
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥ ८½ ॥

मूलार्थ—(जिस समय) अविद्या नाशक भगवान् जनार्दन प्रकट हो रहे थे अंधकार ऊँचा जा चुका था उस अर्धरात्र के समय विष्णु रूप धारिणी श्री देवकी में सर्वान्तर्यामी पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु का पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्र की भांति जन्म हुआ ॥ ८½ ॥

श्री सुबोधिनी—अर्धरात्रं निशीथं पञ्चचत्वारिंशत्षट्चत्वारिंशद्घटिकाद्वयं, तस्य दोषाभावः, तमउद्भूत इति, तम उद्भूतं, ऊर्ध्वं भूतं निवृत्तं यस्मिन्, योहिं निर्गच्छति स ऊर्ध्वो भवति, जायमाने जनार्दने सतीति गुणा उक्ताः, यावता गुणेन जना नामविद्यामर्दयतीति सर्वाविद्यानाशकः प्रादुर्भवति तादृशगुणवान् निशीथ इत्यर्थः, भगवज्जननस्य मूलभूतगुणानां प्राकट्ये भौतिकानां च प्राकट्ये निमित्तत्वं वक्तुं 'जायमानेऽजन' इति मध्ये निरूपितं, अजनत्वान्न कालनिमित्तत्वं किन्तु कालस्य तादृशगुणवत्त्वेऽजन एव निमित्तं, अन्ते च पुनर्जायमाने जनार्दन इति सर्वाविद्या-नाशनार्थं प्रादुर्भावे सर्वगता गुणाः प्रकटीभवन्तीति प्रकटीभावे हेतुरुक्तः, एवं सन्दर्भे भगवतोऽवतारत्रयमप्युक्तं, सर्वधर्म-संरक्षकोऽनिरुद्धः सर्वमुक्तिदाताऽज्ञाननिवृत्तिद्वारा सङ्कर्षणो देवक्यां प्रद्युम्नो नन्दगृहे वासुदेव इति सर्वरूपेणाप्याविर्भूतो भगवानित्युक्तं ॥ ८½ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार देश कालों के तथा देश कालस्थ जलवायु आदि तत्वों के और वर्षा ऋतु के गुणों का निरूपण करने के अनन्तर 'निशीथे' आदि श्लोकार्ध से रात्री के और उसके मुहूर्त के गुणों

का वर्णन करते हैं, रात्री का मध्य भाग जहाँ उसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मिलते हैं 'वह अर्धरात्र या निशीथ कहलाता है, जो कि ४५ पैंतालीस[1] और ४६ छयालीसवीं घड़ियों का जोड़ा है, उस समय की निर्दोषता का सूचक 'तम उद्भूते' यह विशेषण है क्योंकि उस निशीथ में तम (अन्धकार) उद्भूत हो चुका था ऊंचा हो चुका था अर्थात् निवृत्त हो चुका था; रात्री का दोष अन्धकार है उसकी निवृत्ति से निर्दोषता सिद्ध होती है, ऊँचा होना ही निवृत्त होना है क्योंकि देखा जाता है कि जो निकल जाता है वह ऊँचा होता है (और[2] जो फंसा रह जाता है वह नीचा पड़ा रहता है) जनार्दन के जन्म का वर्तमान काल होने से (जायमाने जनार्दने) के द्वारा उस काल के गुणों का निर्देष किया है कि जितने गुण से सर्व प्राणियों के अविद्या नाशक जनार्दन प्रभु प्रकट होते हैं वैसे गुणों का आधार वह निशीथ काल था, ऐसा अर्थ है।

श्री सुबोधिनी—निमित्तत्वं च भगवत एव दोषाभावे गुणप्राकट्ये च, ननु तादृशोपि कालः सहजः कश्चिद्-स्तीत्येकमेव चेन् निमित्तमुच्येत तस्मिन् समयेन्योप्युत्पन्नो भगवत्सदृशः स्याद्, अतो भगवत्प्रादुर्भाव एव गुणप्राकट्ये निमित्तं भगवत्प्रादुर्भावार्थमेव गुणप्राकट्यं चेति निरूपितं, एवं सर्वांशो भगवान् प्रादुर्भूत इत्याह 'देवक्यामिति'! देवक्यां विष्णुः प्रादुरासीत्, देवानां समूहो देवकी, सम्पूर्णे देवसमूहे पूर्णसत्त्वं भवति, तच्च सत्त्वं भगवदाविर्भाव आधारत्वेन निमित्त भवति यथाग्नावरणिः, न केवलमव्यापाराविष्टा निमित्तमरणिरपि भवतीति मथनस्थानीयं किञ्चिन् निरूपणीयं।

व्याख्यार्त—कालगत मूल रूप भगवद्गुणों के और भौतिक नदी आदि के गुणों के प्रकट होने में भगवान् का प्राकट्य ही निमित्त है, इस तत्व को लक्षित कराने के लिए बीच में (जायमानेऽजने) ऐसा पंचम श्लोक में कहा जा चुका है, 'अजन' शब्द से भगवान् का जन्मादि विकारों से रहित होना सूचित कर उसके ऐच्छिक प्राकट्य में विकार हेतु काल निमित्त नहीं हो सकता किन्तु प्राकट्यकाल के सर्व गुण

टिप्पणी—१. यद्यपि मेष या तुला राशि पर सूर्य के संक्रमण काल में ही दिन मान और रात्रि मान ३० तीस-तीस घड़ियों का होता है उसी दिन अर्ध रात्र ४५-४६ घड़ियों का होता है सिंह राशिस्थ सूर्य के काल में ४६-४७ घड़ियों का अर्ध रात्र होता है तो भी ४५-४६ घड़ियों का निर्देश किस प्रकार हुआ ? इस विषय पर प्रकाश डालते हुए प्रकाशकार ने भगवान् के जन्मकाल का गणित कर इस प्रकार निर्णय दिया है कि कलयुग के आने से १२५ वर्ष पूर्व भगवान् का जन्म हुआ था, तथा उस वर्ष में 'आषाढ़' मास अधिक था उस दिन का मान ३१ घड़ी ४ पल था एवं रात्रि का मान २८ घड़ी ५६ पल था रात्रि का पूर्वार्ध १४ घड़ी २८ पल का था तथा रात्रि का उत्तरार्ध भी १४ घड़ी २८ पल का ही था तदनुसार अर्धरात्र का काल ४५ घड़ी के अनन्तर ३२ पल व्यतीत होने पर आता है भगवान् का जन्म उसी समय हुआ था उसी समय चन्द्रमा का भी उदय हुआ था परन्तु अन्धकार की निवृत्ति ४५वीं घड़ी के आरम्भ होते ही हो गई थी ३२ पलों से पूर्व ही चन्द्र प्रकाश का क्षितिज से संयोग होने पर अन्धकार हट गया था इस अन्धकार के हटने के काल का उल्लेख ४५वीं घड़ी पर किया है जिससे अन्धकार की निवृत्ति के द्वारा सर्व दोषों की निवृत्ति का बोध कराना अभीष्ट है कि उस समय किसी प्रकार का कोई दोष अवशिष्ट नहीं रहा था- सर्व दोषों की निवृत्ति होने पर ही 'प्रादुरासीद् यथा प्राच्यांदिशीन्दुरिव पुष्कलः' पूर्ण चन्द्र कृष्ण चन्द्र का प्राकट्य हुआ।

२ यह आशय है निगूढाशय वाक्पति का जीवों की संसारासक्ति के अभाव सम्पादन में ।

युक्त होने में वह प्रकट होने वाले 'अजन' भगवान् ही निमित्त हैं और फिर अन्त में 'जायमाने जनार्दने' के द्वारा यह सूचित करना अभीष्ट है कि सर्व तत्वों के गुणों का प्रकट होना इसलिए अनिवार्य है कि भगवान् सबकी अविद्या का नाश करने को प्रकट हो रहे हैं अतः भगवत्प्राकट्य ही सबके गुणों के प्रकट होने में हेतु है ऐसा बतलाया है। इस प्रकार इस सन्दर्भ में गूढार्थ प्रकाशक पद्धति से विचारित तृतीयाध्याय ग्रन्थ में भगवान् के अवतार त्रय भी कहे हैं सर्व धर्म के संरक्षक श्री 'अनिरूद्धजी'[1] एवं अज्ञान निवृत्ति के द्वारा मोक्षदाता 'सङ्कर्षण'[2] और देवकी में जो विष्णु रूप है वह 'प्रद्युम्न जी'[3] तथा नन्दालय में 'वासुदेव' (जिनका दर्शन रूपान्तर स्वीकार स्थल पर माता-पिता को हुआ है) इस प्रकार सर्वरूप से प्रकट हुए यही भगवान् हैं, ऐसा कहा गया है।

श्री सुबोधिनी—तदाह विष्णुरूपिण्यामिति, विष्णो रूपमस्यामस्तीति विष्णुरूपिणी, भगवद्रूपमेव तत्र विद्यमानं भगवन्तं प्रकटीकृतवान् न तु प्रयत्नः प्रसूतिवातादिर्वा तत्र निमित्तमिति तन्निकारणार्थमुक्तमिदमेव रूपमिति सिद्धान्तः, देवक्यां विद्यमान आधिदैविक इति केचित्, तदा विष्णुरूपायामित्यर्थो भवति, पाठान्तरेऽपि देवो विष्णुरेव, विष्णुर्व्यापकः पुरुषोत्तमो यो वेदान्ते 'ब्रह्म'शब्देनोच्यते, तस्य सर्वत्रैव विद्यमानत्वात् प्रादुर्भावो भाक्त इत्याशङ्क्य सर्वव्यापकत्वेपि यः सर्वान्तरः सर्वान्तरयामी सोन्तः स्थितो बहिरागत इति वक्तुं सर्वेषां गुहा हृदयाकाशं तस्मिन्नासमन्ताच्छेतेऽधितिष्ठतीति गुहाशय इत्युक्तं।

व्याख्यार्थ—दोषों के अभाव सम्पादन में एवं गुणों के प्रकट होने में भगवान् ही कारण हैं, यदि दोषाभाव का सम्पादक एवं गुणों को प्रकट करने वाला कोई स्वाभाविक काल ही है ऐसा मान लिया जावे। तब तो उस समय में उत्पन्न होने वाला कोई अन्य पुरुष भी भगवान् के समान ही होना था क्योंकि उस पुरुष की उत्पत्ति का काल और भगवत्प्राकट्य का काल एक ही है जोकि दोनों स्थलों पर निमित्त रूप से उपस्थित है, अतः यह ही मानना पड़ेगा कि भगवान् का प्राकट्य ही गुण प्राकट्य में निमित्त है और उन गुणों का प्राकट्य भगवान् के प्रकट होने के लिए ही हुआ है, ऐसा निरूपण दो वार 'जायमाने' के कथन से अभीष्ट है। इस प्रकार सर्वांश पूर्ण भगवान् प्रकट हुए ऐसा कहते हैं कि देवकी में विष्णु प्रकट हुए, देवकी सर्व देवता है सर्व देवताओं की समुहात्मक प्रतिमा है, सम्पूर्ण देव समूह में पूर्ण सत्व होता है और वह पूर्ण सत्व भगवान् के आविर्भाव में आधार रूप से निमित्त होता है, जैसे अग्नि के विषय

---

१. अनिरुद्धव्यूह के प्राकट्य की सूचना 'जायनामेऽजने' इस स्थल पर मिलती है क्योंकि 'अथसर्वगुणोपेतः' से लेकर 'जगर्जुरनुसागरम्' पर्य्यन्त कालादि गुणरूप धर्मो का वर्णन है उसी के मध्य में अजन के जन्म का उल्लेख धर्म संरक्षक स्वरूप का ही परामर्श करता है।

२. सङ्कर्षण व्यूह की सूचना 'जायमाने जनार्दने' इस स्थल पर हुई है यहाँ जनार्दन का प्राकट्य उस स्वरूप का प्राकट्य है जो जना नामक अविद्या का 'अर्दन' (विनाश) करता है, विनाश या प्रलय करना सङ्कर्षण का कार्य है, अविद्या का विनाश करने पर मोक्ष दान भी करते हैं।

३. देवकी में प्रकट होकर वंश वृद्धि करने वाला स्वरूप प्रद्युम्न व्यूह है,

में अरणि काष्ठ को आधार रूप से निमित्त देखा गया है यहाँ पर अरणि के दृष्टान्त को लेकर यह विचार उपस्थित होता है कि अरणि भी किसी मथन व्यापार के आवेश को पाकर ही अग्नि के प्रकट होने में निमित्त होती है इसलिए देवकी में भी मथन के स्थान पर किसी का निरूपण करना आवश्यक है, उक्त विचार को लक्ष्य कर 'विष्णुरूपिण्याम्' यह देवकी का विशेषण प्रयुक्त हुआ है, देवकी में विष्णु का रूप विद्यमान है अतः उसे विष्णुरूपिणी कहा गया है, आशय यह है कि देवकी के अन्तः स्थित भगवत्स्वरूप ने ही बाहर भगवान् को प्रकट कर दिया है, देवकी का कोई प्रयत्न अथवा प्रसव का वायु आदि कुछ भी भगवत्प्राकट्य में निमित्त नहीं उन प्रयत्न आदि अन्य निमित्तों के निवारण करने के लिए बतलाया गया यह देवकी हृदयगत रूप ही स्वयमेव मथन स्थानीय होकर अपने आविर्भाव में कारण है, ऐसा सिद्धान्त है ।

श्री सुबोधनी—अनेन सर्वेषां भजनार्थं स्वयं हृदि स्थित्वा तत्पराः कृतार्था भविष्यन्तीति ज्ञापयितुं वेदांश्चकार स इदानीमत्रैव प्रकटीभूत इति न पूर्वप्रक्रियाऽतःपरमुपयुज्यते किन्त्वयमेव बहिः सेव्य इति निरूपितं, प्रादुरासीत् प्रादुर्भूतो जातः, अकस्मात् प्रकटः, अन्तरनुभूयमानो बहिर्दृष्टः, न तु कश्चन व्यापारो देवक्यास्तत्र जातो निमित्तभूतोपि ज्ञानं सावधानता वा, स सम्पूर्ण एवानन्दमय इति निरूपयितुमाधारप्रकटीभूतयोर्दृष्टान्तमाह यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिवेति, सर्वोपास्या प्राची दिक् सर्वदेवतामयी, साऽप्यागमने मार्गमात्रं न तु जनने, इन्दुरमृतमयः, 'इदि परमैश्वर्ये' इति परमैश्वर्ययुक्त आनन्दमयः, स प्राच्यां दिशि प्रथमं पूर्ण एव दृश्यते खण्डास्तु मध्ये प्रान्ते, च उच्चैश्च खण्डोऽपि प्राच्यां दृश्यत इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह पुष्कलः इति पूर्णः, पुष्कलशब्देन पुष्टोप्युक्तः, तेन निष्कलङ्को निरूपितः, कलङ्कस्यैव क्षयहेतुत्वात्, तथोक्तरीत्या प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुरिवेत्येको दृष्टान्तः, नन्वानकदुन्दुभेः पत्निषु बह्वीषु सतीषु देवक्यामेवा ।

व्याख्यार्थ—कुछ विद्वानों का कहना है कि देवकी में जो आधिदैविक स्वरूप विद्यमान है उसका विष्णु शब्द से निर्देश है, परन्तु उस दशा में विष्णुरूपा देवकी ऐसा अर्थ होता है, विष्णु रूप को धारण करने वाली विष्णु रूपवती देवकी इस प्रकार विष्णु रूप से अतिरिक्त उसकी आधार रूप देवकी ऐसा अर्थ यहाँ पर अभीष्ट है कहीं 'देवरूपिण्याम्' ऐसा पाठ है वहां भी देव शब्द से विष्णु का ही ग्रहण अभीष्ट है विष्णु का अर्थ व्यापक पुरुषोत्तम है जिसे वेदान्त में ब्रह्म कहा जाता है, जब उस व्यापक की सर्वत्र ही सत्ता है तो उसका प्रादुर्भाव वास्तविक नहीं औपचारिक किसी धर्म को लेकर कथन मात्र ही है ऐसी शङ्का के निवारणार्थ 'सर्वगुहाशयः' इस पद का प्रयोग किया है, भगवान् प्राणीमात्र की हृदयरूप कन्दरा में शयन करते हैं विराजते हैं वह सर्व व्यापक होते हुए भी सर्वान्तर हैं सबके अन्तर्यामी हैं अन्तर्देश में स्थित हैं वह बाहर पधारे हैं बाहर पधारना ही उनका प्रादुर्भाव है, अतः पूर्वोक्त शङ्का को स्थान नहीं आपकी व्यापकता और सर्वान्तरता श्रुति सिद्ध हैं अतः उनका अविरोध है, उक्त गुहाशय स्वरूप के प्राकट्य प्रतिपादन से यह निरूपण किया है कि भगवान् ने अपने भजन के लिए सर्व साधारण लोगों के हृदय में विराजमान होकर इस तत्व के समझाने के लिए वेदों की रचना की वेदोक्त कर्तव्यपरायण लोग कृतार्थ हो जावेंगे, इस समय वह अन्तरस्वरूप बाहर प्रकट हुआ है इसलिए अब इससे आगे भविष्य में

वेदोक्त अन्तःस्वरूप चिन्तन आदि की प्रक्रिया का उपयोग नहीं किन्तु इस बाहर प्रकट हुए स्वरूप की ही सेवा करनी चाहिए।

श्री सुबोधिनी—आविर्भावे को हेतुरितिशङ्कानिरासाय यथा प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुरिति द्वितीयो दृष्टान्तः, अत्र प्राच्यादिपदानामावृत्तिर्ज्ञेया, एवं सति पूर्णेन्दुप्राकट्यस्थानं प्राच्येव तथा पूर्णशक्तेः पुरुषोत्तमस्य प्राकट्यस्थानं देवक्येव तथेत्यर्थः, अतः सर्वकलापूर्णो भगवान् सच्चिदानन्दविग्रहोकस्मादग्रे प्रादुर्भूत उपविष्टयोस्तयोर्देवकीवसुदेवयोः सतोः, अतएव तयोराश्चर्यं वर्णनं च सङ्गच्छते, दासीनां सर्वरक्षार्थं निमित्तीकृत तादृशम्। प्रादुर्भूतो मम स्वामी नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववत् ॥१॥८॥

अनुवाद—भगवान् अकस्मात् प्रकट हो गये देवकी जिस स्वरूप का हृदय में अनुभव कर रही थी वह स्वरूप बाहर दृष्टिगोचर हो गया; देवकी का कोई भी व्यापार उनके प्रकट होने में निमित्त नहीं हुआ, न कुछ ज्ञान ही हुआ कि प्रसव होने वाला है और न उसके लिए सावधानता ही की गई, वह प्रकट हुआ स्वरूप सम्पूर्ण ही आनन्दमय है ऐसा निरूपण करने की आधाररूप देवकी का प्राची दिशा और प्रकट हुए भगवान् का पूर्ण चन्द्र दृष्टान्त कहा है 'यथा प्राच्यां दिशिइन्दुरिव' प्राचा पूर्व दिशा सबकी उपासना करने योग्य है सर्व देवतामयी है, वह भी चन्द्रमा के आगमन में मार्ग मात्र है, चन्द्रमा को उत्पन्न करने में निमित्त नहीं, चन्द्रमा अमृतमय है परम ऐश्वर्यशाली होने से इसे 'इन्दु' भी कहते हैं, यह आनन्दमय है; पूर्व दिशा में प्रथम इसका पूर्ण रूप से ही दर्शन होता है, इसके खण्ड तो मध्य आकाश में और प्रान्त भाग पश्चिम दिशा में दीखते हैं, और इसका ऊँचा विशाल खण्ड भी पूर्व दिशा में दीखता है, कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा द्वितीया तिथियों के काल में पूर्व दिशा में दीखने वाले अपूर्ण चन्द्र के निवारण करने को 'पुष्कल' शब्द का प्रयोग किया है, इस पूर्ण चन्द्र के दृष्टान्त से भगवान् की पूर्णता सिद्ध की है, पुष्कल शब्द से परिपुष्टता भी सूचित होती है, जिसके द्वारा निष्कलङ्कता का बोध होता है क्योंकि कलङ्क ही तो क्षय का कारण है, तथा उक्त रीति से पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्र की भांति देवकी में विष्णु का प्राकट्य हुआ, यह एक दृष्टान्त निकलता है, और इस शङ्का के निवारण करने के लिए कि वसुदेवजी की अनेक पत्नियों के होते देवकी में ही भगवान् का प्राकट्य क्यों हुआ ? दूसरा दृष्टान्त है कि, जैसे अनेक दिशाओं के होते हुए भी पूर्ण चन्द्र प्राची दिशा में ही उदित होता है उसी प्रकार देवकी में ही भगवान् प्रकट हुए, 'इव' और 'यथा' इन दो दृष्टान्तवाचक शब्दों की आकांक्षा शान्त करने को 'प्राची-दिशा' और 'पुष्कल-चन्द्र' इन शब्दों का दो वार उच्चारण जानना आवश्यक है, इस प्रकार व्याख्या करने पर यह अर्थ सिद्ध होता है कि जैसे पूर्ण चन्द्र का प्राकट्य स्थान पूर्व दिशा ही है, उसी भांति सर्व शक्ति परिपूर्ण पुरूषोत्तम का प्राकट्य स्थान देवकी ही है, अतः सच्चिदानन्द स्वरूप, एवं सकलकला परिपूर्ण भगवान् अकस्माद् ही देवकी वसुदेव के सम्मुख प्रकट हो गये वह दोनों तो बैठे थे उनके बैठे-बैठे ही आकस्मिक प्रादुर्भाव हुआ तभी आश्चर्य भी उन दोनों को हुआ और उन्होंने वर्णन भी किया। यह भी सङ्गत होता है, भगवान् के प्रकट होने में कुछ श्रुति वाक्यों का विरोध प्रतीत होता है उसके निवारणार्थ आचार्यों ने कारिका में आज्ञा की है कि मेरे स्वामी दासीजनों की सर्व प्रकार से रक्षा करने के हेतु वैसा निमित्त बना

कंसके कारागारमें भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य

गीताप्रेस, गोरखपुर

वसुदेवजीने देखा, उनके सामने एक अद्भुत बालक है।

कर प्रकट हुए हैं, 'अदृश्यम् अग्राह्यम्' आदि उपनिषद् वाणी में किसी प्रकार की चिन्ता की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन्द्रिय सामर्थ्य से उनकी अग्राह्यता एवं अदृश्यता में उसका तात्पर्य है स्वेच्छा से तो वह दृश्य एवं ग्राह्य होते ही हैं अतः प्राकट्य से पूर्व जैसे कोई विरोध नहीं था प्रकट होने पर भी कोई विरोध नहीं है ॥ ८½ ॥

कारिका—दासीनां[1] सर्वरक्षार्थं निमित्तीकृत्य तादृशम् ।
प्रादुर्भूतो मम स्वामी नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववत् ॥१॥८½॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

तमद्भुतं बालकम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम् ॥
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥९॥

मूलार्थ—प्रकट हुआ वह बालक अद्भुत था कमल जैसे नेत्र थे चार भुजायें थीं उन भुजाओं में शङ्ख गदा आदि आयुध उठे हुवे थे श्री वत्स का चिन्ह वक्षःस्थल में था, गले में शोभा सम्पन्न कौस्तुभ मणि थी पीताम्बर धारण किये था नीले स्निग्ध मेघ के समान सुन्दरता थी ॥ ९ ॥

आभास—एवं भगवतः प्रादुर्भावमैश्वर्येण निरूप्य वीर्यनिरूपणार्थं भगवन्तमनुवर्णयति तमद्भुतमिति द्वाभ्याम् । अत्र निर्वृताः सर्वे श्रोतारो बहिःसंवेदनरहिता जाता इति ज्ञापयितुं पुनः शुकोक्तिकथनम् ।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् के प्रादुर्भाव का निरूपण उनके ऐश्वर्य के साथ साथ साढ़े आठ (८½) श्लोकों से करने के अनन्तर उनके वीर्य का निरूपण करने के लिए 'तमद्भुतम्' आदि दो श्लोकों से भगवान् का अनुरूप वर्णन करते हैं, इस वर्णन के पूर्व में 'श्री शुकउवाच' ऐसा कहा गया है, जबकि अध्याय के आरम्भ में ही 'श्री शुकउवाच' ऐसा कहा जा चुका है, साढ़े आठ श्लोकों में प्रादुर्भाव का वर्णन

टिप्पणी—१ इस कारिका के शब्दों से निश्चय होता है कि श्री वल्लभाचार्य ने अपने सर्वस्व प्रभु का जिन्हें गोपीजन वल्लभ कहते हैं यहां प्राकट्य माना है मम स्वामी और दासीनाम् इन शब्दों का स्वारस्य इस ओर आकृष्ट करता है, मथुरा में व्यूह सहित पुरुषोत्तम का प्राकट्य है, यह तो सर्व सम्मत है ही, अनिरुद्ध, संकर्षण, और प्रद्युम्न इन तीनों व्यूहों का तो श्री सुबोधिनी में स्पष्ट उल्लेख हुआ ही है. प्रकाशकार पुरुषोत्तम जी महाराज ने श्री सुबोधिनी के ही अक्षरों के आधार पर वासुदेव व्यूह का प्राकट्य भी मथुरा में हुआ है, ऐसा सिद्ध कर दिया है, लेखकार वासुदेव के प्राकट्य को यहां नहीं मानते हैं उनका मत है कि वासुदेव व्यूह के अतिरिक्त तीनों व्यूहों के साथ पुरुषोत्तम का प्राकट्य मथुरा में हुआ है, वासुदेव का प्राकट्य तो नन्दालय में नवमी के दिन हुआ है, पुरुषोत्तम प्राकट्य में तो कोई मतभेद नहीं है, पुरुषोत्तम प्राकट्य व्यूहों के सहित मथुरा में हुआ और व्यूह रहित द्विभुज पुरुषोत्तम प्राकट्य गोकुल में हुआ.

शुकदेवजी ने ही किया है बीच में कोई अन्य संवाद आया नहीं अब वर्णन भी शुकदेव ही कर रहे हैं ऐसी दशा में फिर 'श्रीशुक उवाच' इस प्रकार का उल्लेख अनुपयुक्त प्रतीत होता है परन्तु वह उल्लेख किसी विशेष दशा की दिशा को दिखला रहा है कि इस भगवत्प्राकट्य प्रसङ्ग में आनन्दमग्न हुए श्रोतागण बाह्यानुसन्धान रहित होगये परीक्षित आदि सबकी लीला तन्मयता हो गई उन्हें सावधान करते हुए शुकदेवजी वर्णन करने लगे इस अभिप्रायसे यहाँ 'शुक उवाच' कहा गया है।

कारिका-दशलीलानिरूप्योऽयं पुरुषो द्वादशात्मकः।
द्विगुणो भगवानत्र प्रादुर्भूत इतीर्यते ॥ १ ॥
सर्वेषां प्राणरूपश्च ऐहिकः पारलौकिकः
ज्ञानक्रियोभययुतो दशलीलाप्रवर्तकः ॥ २ ॥
सगुणां नवधाभक्तिं निर्गुणां च प्रवर्तयन्।
काण्डद्वयार्थं तनुते सोत्र द्वादशधामतः ॥ ३ ॥
सर्वप्रकाशकश्चैव कालात्मेन्द्रियनायकः।
आत्मा कार्यं च भूतानि अहन्तत्वमुभौ त्रयः ॥४॥
अक्षरं भगवांश्चेति द्वादशात्मा हरिःस्वयम्॥ ४½ ॥

कारिकार्थ—सर्ग, विसर्ग, आदि दश विध लीलाओं से जिसका स्वरूप निरूपण होता है वह ही यह प्रकट हुआ अद्भुत बालक द्वादशात्मक पूर्ण पुरुषोत्तम है, यहां पर प्रकट हुऐ भगवान् द्विगुण हैं अर्थात् षड् ऐश्वर्यादि गुणयुक्त जो भगवान् कहलाता है उसकी अपेक्षा यह द्विगुण है इस प्रकट हुए स्वरूप में मर्यादा मार्गीय षड्ऐश्वर्यादि और पुष्टिमार्गीय षड् ऐश्वर्यादि मिलकर एक काल में विराजमान हैं अतः इस स्वरूप को द्विगुण भगवान् जानना यह कहा गया है ॥ १ ॥

यह प्रकट हुआ स्वरूप सब का दशविध प्राण है और इस लोक एवं परलोक दोनों ओर का परम फल है, एवं ज्ञान शक्ति तथा क्रियाशक्ति दोनों शक्तियों से पूर्ण है और सर्गआदि दशलीलाओं को प्रवृत्त करने वाला है ॥ २ ॥

श्रवण, कीर्तन, आदि नवधा सगुण भक्ति और निर्गुण प्रेम लक्षण भक्ति को प्रवृत्त करता हुआ वेद के पूर्व और उत्तर दोनों काण्डों के प्रतिपाद्य कर्म, और ज्ञान का विस्तार करता है वह स्वरूप यहां पर द्वादश प्रकार से माना है ॥ ३ ॥

द्वादश राशियों के द्वादश सूर्यों की भांति सर्व प्रकाशक हैं, एवं द्वादश भासात्मक काल रूप हैं, तथा एकादश इन्द्रिय और उनका नायक मन यह सब मिलकर द्वादश रूप यह ही है, आत्मा (जीवात्मा[1] और परमात्मा[2]) कार्य (महत्तत्व[3]) भूत (पृथ्वी आदि पञ्च महाभूत[4]) अहन्तत्व (अहङ्कार[5]) दोनों प्रकृति[6] और पुरुष[7] तीनों गुण सत्व,[8] रज,[9] तम,[10] अक्षरब्रह्म[11] और भगवान् (परब्रह्म[12]) इस प्रकार द्वादशात्मा स्वयं हरि ही सब कुछ है ॥ ४½ ॥ (क) (ख)

श्री सुबोधिनी—तत्र प्रथमं दशधा स्वरूपलक्षणानि वर्णयति तमिति, तं प्रसिद्धं लोकवेदयोः, "अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम" इति, आश्रयभूतः सर्वमूलभूतत्वात्, सृष्टिरूप इति केचिद्, अद्भुतमिति, अलौकिकमेव ह्यद्भुतं, न तु लोकवेदसिद्धं, इदं हि प्रमेयबलं प्रमाणादतिरिक्तं, तदेव हि वीर्यं भवति यल् लौकिकैर्वैदिकैश्चानुल्लङ्घ्यं, आश्चर्यं तदेव भवति, अनेन तद् रूपं दृष्टुमेवोपपद्यते न तु स्मतुं वर्णयितुं वा शक्यत इत्युक्तं, एवं सर्वैर्वर्णयितुं शक्यमशक्यं चोक्तं पदद्वयेन,

व्याख्यार्थ—उन द्वादश विशेषणों में प्रथम दश प्रकार के स्वरूप लक्षण विशेषणों का वर्णन करते हैं, 'तम्' इस विशेषण से लोक वेद प्रसिद्ध जिसका भगवद्गीता अध्याय १५ श्लोक १८ में निरूपण किया है जो मूलरूप होने के कारण आश्रय[1] भूत सर्वाधार है उसी का निरूपण हुआ है, कुछ विवेचकों ने 'तम्' इस प्रथम विशेषण से, 'सृष्टि' सर्ग नामक प्रथम लीला का ग्रहण कर भगवान् की सृष्टि रूपता स्वीकार[2] की है, अद्भुत शब्द भगवान् की अलौकिकता का सूचक है क्योंकि पदार्थ लोक अथवा वेद में प्रसिद्ध होता है वह तो दृष्टिगत या श्रवणगत होकर सर्वसाधारण को आश्चर्यजनक नहीं हो सकता, अलौकिक पदार्थ ही आश्चर्यजनक होता है, यही प्रमेयबल[3] कहलाता है, यह प्रमाण से सर्वथा भिन्न है,

---

टिप्पण—(क) उक्त साढ़ी चार कारिकाओं में 'तमद्भुतम्' इत्यादि श्लोक द्वय में प्रयुक्त हुए। भगवत्-स्वरूप के परिचायक विशेषणों की सख्या का प्रयोजन ८ आठप्रकार से सूचित किया है, प्रथम श्लोक में १० और द्वितीय श्लोक में २ दो विशेषण हैं, उनका पृथक् और मिलाकर दोनों प्रकार से तात्पर्य वर्णन किया है, एवं उसके द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि भगवल्लीलास्थ सर्व सामग्री भगवद्रूप ही है,

(ख) दो श्लोकों से वीर्यगुण का निरूपण भी भगवान् की द्विगुणता का सूचक है।

१. भगवत गीता अ० ८ श्लो० २२ जिसे भक्ति द्वारा लभ्य कहा है।

२ क्योंकि तमद्भुतं' श्लोक के अन्तर्गत दश विशेषणों से सर्ग, विसर्ग आदि दश लीलाओं का ग्रहण उन्हे अभीष्ट है, परन्तु कोई बलिष्ठ प्रक्रिया का निर्देशन मिलने से उनका मन्तव्य चिन्त्य ही है,

३. जो लोक वेद प्रसिद्ध है वह ही अद्भुत भी है अर्थात् लोक वेद प्रसिद्ध नहीं भी है, यह तत्व प्रमाणयुक्ति द्वारा बुद्धि गम्य नहीं हो पाता क्योंकि उस अद्भुत तत्व की अद्भुतता तो यह ही है कि सब प्रमाण उसका अनुसरण करते हैं परन्तु 'इदमित्य' रूप से नहीं बतला पाते उस प्रमेय स्वरूप परम तत्व का यह बल है यह ही उसका वीर्य है कि लोक और वेद दोनों मिलकर या पृथक् २ भी उसका पार नहीं पा सकते वह अपार है, दो श्लोकों द्वारा भगवत्स्वरूप का वर्णन उनके वीर्य की प्रमेय बल की लोक और वेद दोनों से अगम्यता का सूचक है।

दूरस्थ है, वीर्य वह ही होता है जिसका उल्लङ्घन लौकिक और वैदिकों से न हो सके, तब ही आश्चर्य होता है, 'अद्भुत' विशेषण से सूचित होता है कि भगवत्स्वरूप ऐसा है कि जिसे देखे ही बने उसका स्मरण या वर्णन नहीं हो सकता, इस प्रकार 'तम्' और 'अद्भुतम्' इन दो पदों से भगवत्स्वरूप के सर्व साधारण लोगों से वर्णित हो सकने की और न हो सकने की सूचना की है,

श्री सुबोधिनी—बालकमिति, बाले बाले को ब्रह्मा ब्रह्माण्डविग्रहो यस्य, अद्भुतश्च बालको न स्वरूपतो वक्तुं शक्यः, बालानामपि कं सुखं यस्मादिति, बालः को ब्रह्मा यस्य, बलसम्बन्धिनो ये बालास्तेषां कं शिरोभूतं, एवमद्भुतपराक्रमत्वेन यशो निरूपितं, अलौकिकशोभां निरूपयत्यम्बुजेक्षणमिति, अम्बुजतुल्ये कमल तुल्ये ईक्षणे यस्य, अम्बुजा वा लक्ष्मी रीक्षणे यस्य, अम्बुजौ वा सूर्याचन्द्रमसावीक्षणे यस्य, अम्बुजे वा पञ्चाग्निविद्यया साधितरूपवती क्षणं ज्ञानं यस्य, अम्बुजाया इः काम- स्तदेव क्षणं सुखं यस्य, अम्बुजे ब्रह्माण्डे वा पालनार्थमीक्षणं यस्य, अम्बुजायां लक्ष्म्यामीक्षणं सुखं यस्य वा भोगायतनत्वाद्,

व्याख्यार्थ—बालकम्, इस विशेषण के द्वारा भगवान् के यश का निरूपण अभीष्ट है, जिसके बाल बाल में (रोम रोम में) ब्रह्माण्ड शरीर धारी ब्रह्मा है, ऐसे अद्भुत बालक का स्वरूपतः यथावत् वर्णन शक्य नहीं, जिससे बालों को (अत्यन्त मुग्धगोप बालकों को) 'क' सुख ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द प्राप्त होता है या होने वाला है ऐसा यह अद्भुत बालक है, तथा 'क' ब्रह्मा भी जिसका बाल (पुत्र) है, एवं बलसम्बन्धी (बलदेव जी के साथ क्रीड़ा करने वाले) बाल सखाओं के 'क' शिर रूप उनमें सर्व श्रेष्ठ सबके शिरोमणि यह बालक है, इत्यादि निर्वचन से आपके पराक्रम को अद्भुतता के द्वारा "यश" का निरूपण हुआ है, "अम्बुजेक्षणम्" इस विशेषण से आलौकिक शोभा का निरूपण करते हैं, कि कमल जैसे आपके नयन हैं, एवं अम्बुजा (समुद्र से उत्पन्न हुई लक्ष्मी) आपके ईक्षण (दर्शन) में है (जो इन्हें देखपाता है अथवा जिस पर आपका दृष्टि पात हो जाता है वह सर्व समृद्धि परिपूर्ण हो जाता है) तथा सूर्य चन्द्र को उपनिषद् में जिसका नेत्र बतलाया है, और श्रुति सिद्ध पञ्चाग्नि विद्या के द्वारा जिस रूप की साधना उच्च कोटि के साधक करते हैं उस रूप वाले पुरुष को "अम्बुज" शब्द से कहा है क्योंकि "पञ्चभ्यामाहुता वापः पुरुष वचसो भवन्ति" इस श्रुति में पञ्चम आहुति के होने पर जलों की पुरुष शब्द से व्यवहार्यता का उल्लेख मिलता है, उस अम्बुज नामक पुरुष में जिसका ईक्षण है जिसका ज्ञान उस पुरुष में प्रकट होता है, ऐसा वह अद्भुत बालक है, एवं लक्ष्मी का काम जिसका सुख है, तथा ब्रह्माण्ड में उसकी रक्षा के निमित्त जिनका दृष्टि पात होता है, और लक्ष्मी में जिसका दृग्विलास या सुख है क्योंकि लक्ष्मी आपकी भोग मन्दिर है।

टिप्पणी—१. अम्बुजा+ईक्षण-इस पदच्छेद से लक्ष्मी के प्रति दृष्टिपात सूचित होता है तथा अम्बुजा (जल से प्रकट हुई) ई (लक्ष्मी) उसमें क्षण (सुख) ऐसा पदच्छेद सुख पक्ष में ज्ञातव्य है।

श्री सुबोधिनी—अम्बुजायां[1] पृथिव्यामेवेक्षणं यस्य नान्यत्र, एवमनेकधा भगवत: श्रीर्निरूपयितव्या ज्ञानात्मिका, मध्येनिविष्टभ्रमरमेवाम्बुजं नेत्रतुल्यं भवति, निश्चलश्च भ्रमर:, तेन मकरन्दपूरस्तत्र निरूपित:, दयामृतादयोऽत्र मकरन्दा:, तत्सम्बन्धे सर्वोपि मधुपो भवतीति निरूपयितुं:, प्राकृतैरप्युपमीयते, यथा वा जलेऽद्भुतरूपं भवति कमलमेवं सम्पूर्णोऽपि रूपेऽद्भुतरूपे नेत्रे भवत:, अनेनाद्भुता ज्ञानशक्तिर्निरूपिता, क्रियाशक्ति निरूपयंश्चतुर्विधमपि ज्ञान

व्याख्यार्थ:-जल से प्रकट हुई पृथिवी में जिसका दर्शन है अन्यत्र नहीं, (ऐसा सुन्दर सुयोग है कि जिसके दर्शन को अलभ्य या दुर्लभ कहते हैं वह अब यहाँ पृथिवी पर ही दर्शन दे रहा है कहीं अन्यत्र ढूँढने की आवश्यकता नहीं) ऐसे अनेक प्रकार से भगवान् की ज्ञानात्मक[2] श्री का निरूपण किया है कमल के मध्य में भ्रमर के प्रवेश करने पर ही उसे नेत्रकी तुलना प्राप्त होती है और वह भ्रमर भी निश्चल हो गया हो, तब ही नेत्र तारा की सदृशता को प्राप्त कर सकता है, कमल में भ्रमर मकरन्द पान मग्न होकर ही निश्चल होता है अत: कमल की समानता नेत्रों में किसी विलक्षण मकरन्द रसपूर को बतलाती है, दया, अमृत आदि ही नेत्रों में मकरन्द स्थानीय हैं, उन दयामृतादि रूप भगवत्कृपाकटाक्ष के सम्बन्ध होने पर ही सब को भगवद्रस के आस्वाद की योग्यता एवं अधिकारिका प्राप्त होती है जैसे बिना मकरन्द सम्बन्ध के भ्रमर को मधुप नहीं कह सकते वह मकरन्द(मधु)पान से ही मधुप कहलाता है इस तथ्य का निरूपण करने के लिये प्राकृत कमलों से भी नेत्रों को समानता दी है,अथवा जल में कमल एक अद्भुत सौन्दर्यशाली पदार्थ होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण रूप में नेत्रों को प्रधानता होती है वह अद्भुत शोभा सम्पन्न होते हैं, इस विशेषण से अद्भुत ज्ञान शक्ति का निरूपण किया है।

श्री सुबोधिनी—माह' चतुर्भुजमिति' चत्वारो भुजा: क्रियाशक्तयो यस्य, चतुर्विधकार्यार्थं हि भगवदवतार:, तान्येव कार्याणि चतुर्भुजरूपेणोच्यन्ते, चत्वारो वा पुरुषार्था: भूतानि वा धर्मादयो दिक्पाला वा भुजा भुजेषु वा यस्य, अनेन द्विगुण: पुरुष उक्त:, लौकिकोलौकिकश्च।

कारिका—घातको रक्षको चोक्तो विरोधेप्यतिसङ्कटे। वेदोक्तं द्विविधं ज्ञानं भक्तिर्भगवतस्तथा ॥ १ ॥

शङ्खगदायुदायुधमिति वैराग्यं, शङ्खस्तदादिश्च गदा तदादिश्च, "अपां तत्त्वं दरवरं," भुवनात्मकं कमलं, प्राणात्मको वायुर्गदा, "तेजस्तत्त्वं सुदर्शनं, एवं शङ्खपद्मगदाचक्राणि क्रमेण निरूपितानि,

मधुसूदनो माधवश्च त्रिवृन्नारायणस्तथा ॥ १½ ॥

व्याख्यार्थ—चतुर्भुजम्, इस विशेषण से भगवान् की क्रिया शक्ति का निरूपण करते हुए उसके

टिप्पण—१. "अद्भ्य; पृथिवी" इस श्रुति से पृथिवी जलों से प्रकट हुई है ऐसा सिद्ध होता है।

२. नेत्र ज्ञानशक्ति प्रधान है और कमल श्री (शोभा) प्रधान है इन दोनों का साम्य भी अभेद प्रर्यवसायी ही है अत: ज्ञानमयी श्री का निरूपण होता है षड् ऐश्वर्यादि गुणों की भी पारस्परिक विभिन्नता ही हो ऐसा नियम नहीं है, ज्ञान गुण, श्री गुण का एवं श्री गुण, ज्ञान गुण का कार्य कर सकते हैं अप्राकृत गुणों में ऐसा ही सहज चमत्कार है।

मूलभूत ज्ञान[1] की चतुर्विधता[2] का निरूपण करते हैं भगवान् की भुजा चार है, भुजाओं से आदान प्रदान आदि क्रिया होती है अतः भुजा क्रिया शक्ति स्वरूप है, भगवान् का अवतार चार प्रकार के कार्य करने को हुआ है, उन्हीं कार्यों को चतुर्भुज रूप से कहा है, अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यह चारों पुरुषार्थ या पृथ्वी, जल, तेज, वायु यह चारों भूत या धर्म, वरुण, इन्द्र, कुबेर, यह चार दिक्पाल भगवान् की भुजा हैं या भुजाओं में यह सब हैं, इस विशेषण से भगवान् की पुरुष रूपता को द्विगुण रूप से कहा है वह लौकिक भी हैं और अलौकिक भी हैं।

श्री सुबोधिनी–शङ्खगदादीन्येवोद्यतान्यायुधानि यस्य, इन्द्रियदेहप्राणान्तःकरणैरेव सर्वमारणमित्याकाशलक्षणं शरीरं, अन्यानि महाभूतान्यायुधानि, उदायुधानि वा, तत्रैव सर्वान् मज्जयन्ति न तु च्छित्त्वाऽपि त्यजन्ति, एवं षड्गुणो भगवान् निरूपितः, पुनरैश्वर्यादयो वैदिका उच्यन्ते श्रीवत्सलक्ष्ममित्यादि, श्रीवत्सो लक्ष्म यस्य, श्रीर्वत्सा यस्य, यल् लक्ष्म्या जनकं तद् भगवतश्चिन्हं व्यावर्तकं, सा हि ब्रह्मानन्दो भवति, तस्या मूलं ब्रह्मैव, यत् सर्ववेदप्रतिपाद्यं स भगवतोऽसाधारणो धर्मः, सर्वात्मकस्य भगवतो जगद्ब्रह्मकालादिलक्षणधर्मवतो ब्रह्म हि मुख्यं लक्षणं भवति, अतएव हि सर्वब्रह्माधारवतो भृगोः पदं तत्र प्रतिष्ठितं भवति स्वाश्रयत्वाल्लक्ष्म्याश्च स जनको भवति, "भृगोः" ख्यात्यां समुत्पन्ना श्रीः पूर्वं" मितिवाक्याद्, ब्रह्मलक्षणत्वेनैवैश्वर्यं निरूपितं।

कारिकार्थ–भगवान् की चार भुजाओं में दो२ भुजा घातक हैं और दो२ भुजा रक्षक हैं, एक समय में एक ही स्थान पर घात भी करना और रक्षा भी करना अत्यन्त विरुद्ध है, महाराज परीक्षित को उत्तरा माता के उदर में अश्वत्थामा के अमोघ ब्रह्मास्त्र से आहुति कराकर उसके लौकिक बीजाँश का घात भी किया और वैष्णवांश गर्भ की रक्षा भी की और उसकी माता को बचाया, महान् सङ्कट की अवस्था में भी इस प्रकार भक्तों के दोष विघातपूर्वक रक्षा करने की सूचना चतुर्भुज शब्द से हुई है, अथवा वेदोक्त ज्ञान दो प्रकार का होता है कर्म ज्ञान,

---

टिप्पणी—१. क्रिया शक्ति के निरूपण में ज्ञान शक्ति का उल्लेख सूचित करता है कि भगवान् की भुजा आदि कर्मेन्द्रिय जीवों की भांति ज्ञान शून्य नहीं किन्तु ज्ञानपूर्ण ही हैं।

२. प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल, यह चार प्रकार ज्ञान में अपेक्षित होते हैं, किसी वस्तु का ज्ञान प्रमाण के बिना नहीं हो पाता, काले पीले का ज्ञान आंख से और खाटे खारे का ज्ञान रसना ही होता है अतः ज्ञान प्रमाणाधीन हैं, प्रमाण की अपेक्षा रखता है, ज्ञातव्य पदार्थ भी ज्ञान में अपेक्षित है जिस पदार्थ को जानना अभीष्ट है उसकी भी अपेक्षा ज्ञान रखता है उस ज्ञातव्य पदार्थ को ही प्रमेय कहते हैं, ज्ञान होने पर भी तब तक उस ज्ञान की पूर्णता नहीं जब तक उसका ज्ञातव्य किस साधन से प्राप्त होता है ऐसा न जान लिया जावे अतः ज्ञान में साधन की भी अपेक्षा रहती है, एवं ज्ञातव्य के ज्ञान से और उसकी प्राप्ति के साधन ज्ञान से उपस्थित होने वाला उनका फल तो उस ज्ञान की परिपूर्णता में मुख्य है ही अतः प्रमाणादि चतुष्टय को ज्ञान का प्रकार या अङ्ग जानना चाहिए।

वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, इन व्यूहों के क्रमशः मुक्तिदान, असुर वध, वंश वृद्धि, धर्म रक्षा कार्य हैं, उन्हों का भुजाओं से संकेत है। युद्ध आदि के द्वारा शत्रुवध लौकिक चरित्र है, और शकट भङ्ग आदि अलौकिक चरित्र हैं।

और ब्रह्म ज्ञान, या आत्म ज्ञान और परमात्म ज्ञान, तथा भगवद्भक्ति भी द्विविध होती है, साधन भक्ति, और फल भक्ति, या सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति इत्यादि सर्व फल का दान भगवान् के ही हाथ है ऐसी सूचना चतुर्भुज शब्द से होती है,

व्याख्यार्थ—शंङ्ख गदाद्युधायुधम्, इस विशेषण से भगवान् के वैराग्य गुण की सूचना है क्योंकि वैराग्य होने पर ही सर्व दुःख निवृत्त होते हैं और भक्तों की दुःख निवृत्ति के लिये हो आयुधों को भगवान् ने उठाया है, शंङ्ख जलतत्व है, जल से पृथिवी उत्पन्न हुई अतः पृथिवी तत्व का जलतत्व आदि कारण है, अतः भुवनात्मक कमल पृथिवीतत्व का ग्रहण आदि शब्द की योजना से यहां अभीष्ट है, गदा प्राणात्मक वायुतत्व है, वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ है अतः अग्नि तत्व सुदर्शन का ग्रहण 'गदादि' गत आदि शब्द से अभीष्ट है, इस प्रकार शंङ्ख, पद्म, गदा. चक्र, इन चारों आयुधों का क्रम से निरूपण किया है, इन आयुधों को ऊंचा उठाये हुए भगवान् प्रकट हुए

कारिकार्थ—वैष्णव शास्त्र में चतुर्भुज स्वरूप के आयुधों के धारण क्रम में भेद होने से 'मधुसूदन'. माधव, नारायण, इत्यादि भेद बतलाये हैं, यहां पर प्रकट हुवे स्वरूप को दक्षिण हस्तों में ऊपर शंङ्ख, और नीचे पद्म, तथा वामहस्तों में ऊपर गदा और नीचे चक्र इस प्रकार से मधुसूदन माना है, और कुछ समानता को लेकर माधव और नारायण रूप भी कहा है, तथा संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, रूपता भी है ।

श्री सुबोधिनी—वीर्यं निरूपयन् कयाचिदवस्थयाऽवस्थितं ब्रह्म जीवाख्यं लक्षणान्तरत्वेनाह 'गलशोभिकौस्तुभमिति', गले शोभा- युक्तः कौस्तुभो यस्य, सहि सर्वजीवानां स्वरूपभूतः, "चैत्यस्य तत्त्व" मितिवाक्यात्, क्रियाशक्तेर्ज्ञानशक्तिरुत्तमेति मुक्त-जीवानां सरस्वतीस्थानप्रापणार्थं कण्ठे कौस्तुभस्थापनं, जीवानामुभयविधत्वज्ञापनाय मध्ये स्थापनं, केचन क्रियानिष्ठाः केचन ज्ञाननिष्ठा इति, अतएव सर्वाङ्गवर्णनायां कौस्तुभो मणिरुभयत्र निरूपितः, "कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं" "चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठ" इति च, अतएव शोभा द्विविधा, क्रियाकृता ज्ञानकृता च, जीवस्तूभयधर्मयुत इति शोभायुक्त उक्तः, एवं ब्रह्मद्वयसम्बन्धं भगवति निरूप्य जीवानां तथात्वहेतु,

व्याख्यार्थ—उक्त आयुधों के विषय में यह शंका हो सकती है कि शङ्ख, और कमल को किस प्रकार शस्त्ररूप माना जावे उनसे तो शत्रुवध सभव नहीं, उक्त शंका के निवारणार्थ आयुध शब्द के प्रयोग का तात्पर्य समझाते हैं कि यह शंङ्ख, पद्म, गदा, चक्र भगवान् के क्रमशः इन्द्रिय, देह, प्राण, अन्तः करण हैं, इन से ही भगवान् दैत्य वध करते रहते हैं शङ्ख प्राणात्मक वायु से भरा जाता है उसकी ध्वनि से दैत्यों का दर्प नष्ट होता है अतः शीघ्र ही वे मारे जाते हैं, इन्द्रियों का भी पोषण शंङ्ख की भांति प्राण से ही होता है अतः शंङ्ख इन्द्रिय रूप है, और कमल ब्रह्माण्ड रूप होने से भगवान् का स्थूल शरीर ही है, उसको धारण कर सूचित करते हैं कि जैसे अधिक भार युक्त पदार्थ ऊपर गिर पड़ने से साधारण जन्तुओं

को पींच कर मार देता है उसी प्रकार ब्रह्माण्डात्मक कमल के फिराने से इन साधारण कीट पतंग जैसे दैत्यों को चाहूँ जहां वहीं पीस देता हूँ अतः शंख कमल की आयुध सत्ता उपयुक्त है, गदा वायु तत्व होने से आधिदैविक प्राण रूप है ही, और सुदर्शन चक्र तो तेजः स्वरूप होने के कारण आपका अन्तःकरण है मोक्ष देने की इच्छा से जिसका वध करते हैं तेजः स्वरूप चक्र के द्वारा उसे तेज में ही लय प्राप्त करा देते हैं, अथवा पञ्च महाभूतों में आकाश को छोड़ कर अन्य पृथिवी आदि भूतचतुष्टय ही आपके आयुध हैं, आकाश तो निर्लेप होने के कारण आपके शरीर रूप में उपयोग पाता है, पृथिवी, कमल है, जल, शंख है, तेज, सुदर्शन चक्र, है, वायु गदा है, आप तो आकाश की भांति निर्लेप रहते हैं भूतों से भूतों का वध होता रहता है यह अभिप्राय है, उक्त विशेषण में 'उदायुध' पद का 'उद+आयुध' इस प्रकार पदच्छेद करने से 'उदक जल' इस अर्थ की भी प्रतीति होती है उसके अनुसार भी व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार जल अपने में गिरे हुए भारो पदार्थ को अपने में ही डुबा लेता है उसी प्रकार अभिमान के भार से लदे हुए अविनीत पाषाण तुल्य दैत्यों को भगवान् के आयुध अपने में ही मिला लेते हैं निकाल कर अलग नहीं फेंकते अतः आसुर लोग भूतों में ही लीन होते हैं मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

इस प्रकार उक्त श्लोक के पूर्वाध में षड् गुण सहित भगवान् का निरूपण किया है, अब फिर उत्तरार्ध में वैदिक ऐश्वर्य आदि कहे जाते हैं, श्रीवत्सलक्ष्मम्, इस विशेषण से श्रीवत्स को भगवान् का चिन्ह बतला कर उनकी अक्षर ब्रह्म से प्रधानता सूचित की है, जिससे उनके वैदिक ऐश्वर्य का बोध होता है, क्योंकि उक्त विशेषण में श्री-वत्स-लक्ष्म यह तीन शब्द हैं, 'श्री' शब्द का अर्थ 'लक्ष्मी' है वह ही ब्रह्मानन्द कहलाती है, वह ब्रह्मानन्द स्वरूप श्री 'लक्ष्मी' जिसकी 'वत्सा' 'पुत्री' है वह (श्री वत्स)सर्व वेद प्रतिपाद्य अक्षर ब्रह्म ही है, वह अक्षर ब्रह्म स्वरूप श्रीवत्स जिसका लक्ष्म 'चिन्ह' है परिचय कराने वाला असाधारण धर्म है, वह परब्रह्म स्वरूप यह अद्भुत बालक है, सर्वात्मा भगवान् के 'जगत्'-अक्षर ब्रह्म-काल-आदि अनेक लक्षण रूप धर्मों में 'अक्षर ब्रह्म की, मुख्यता है, अतएव आपके वक्षः स्थल में 'भृगुपद' का चिन्ह है, भृगु ऋषि सर्व प्रकार से ब्रह्म का धारण करने वाले थे, जाति से भी ब्राह्मण थे, वेदाध्ययनपरायण थे, अक्षर ब्रह्म के तादात्म्य का अनुभव करने वाले थे, उन्होंने जाति रूप से भी ब्रह्म का धारण किया था, वेद रूप से भी ब्रह्म का धारण किया था, और अभेद चिन्तन की प्रक्रिया से भी ब्रह्म का धारण किया था, सर्व प्रकार से ब्रह्म के धारण करने वाले महात्मा भृगु का पद जहाँ अंकित है वह सर्वथा ही ब्रह्म का आश्रय है क्योंकि आश्रय में ही पद स्थिर हो कर ठहरता है अन्यत्र मार्गादि में तो वह पद गतिशील ही बना रहता है, जब कोई किसी गन्तव्य देश का लक्ष्य कर चलता है जब तक वहाँ पहुँच नहीं पाता तब तक उसके पद व्यापारशील बने रहते हैं ठहरते नहीं, ठहरते तो वहीं पर है जहां उसे पहुँचना है जो उसका आश्रय है, सर्वथा ब्रह्म मय भृगु ऋषि के भगवान् ही आश्रय हैं अतः उनकी गति का पर्यवसान भगवान् में ही है वहीं पर उनका पद प्रतिष्ठित हुआ है, "कितना गम्भीर विश्लेषण है पुनः-पुनः पढ़ने की आवश्यकता है" इन भृगु ऋषि की ख्याति नामक स्त्री में "श्री" नामक कन्या उत्पन्न हुई थी अतः इनको "श्री वत्स" कहते हैं क्योंकि श्री जिसकी वत्सा (बेटी) हो उसे श्रीवत्सा कहा जाता है, ब्रह्म का

लक्षण रूप से अपने परिचायक धर्म रूप से ग्रहण करना भगवान् के ऐश्वर्य का कार्य है वेद सिद्ध होने से यह वैदिक ऐश्वर्य का निरूपण हुआ है, "गल शोभिकौस्तुभम्" इस विशेषण से भगवान् के वैदिक "वीर्य" गुण का निरूपण करते हुए बतलाते हैं कि ब्रह्म ही किसी अवस्था से सम्पर्क प्राप्त कर जोव पदवी को धारण करता है वह भी भगवान् का एक प्रकार का लक्षण विशेष है—

भूतां मायां भगवत: प्रदेशविशेषावरिकां पीताम्बरं निरूपयति, पीतमम्बरं यस्येति, आकाशतनोरविकार-सम्बन्ध एव शोभाहेतुर्भवति, पीतत्वं तामसराजससम्बन्धाद्, अन्यथा त्रिविधमेव रूपमिति पीतत्वं नोपपद्यते, "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच् छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्येति" श्रुते:, व्यामोहिका तु माया तथैव भवति लयविक्षेपात्मिका,

व्याख्यार्थ—भगवान् ने अपने गले में शोभा युक्त कौस्तुभमणि को धारण किया है वह सर्व जीवों की स्वरूप भूत प्रतिमा है, "चेत्यस्यतत्वममलंमणिमस्यकण्ठे" इस भा० स्कं० ३ अ० २८ श्लोक २८ में कौस्तुभमणि को जीवतत्व बतलाया है, उस मणि को श्रीहस्तादि में स्थान न देकर गले में स्थान देने का अभिप्राय यह है कि क्रिया शक्ति की अपेक्षा ज्ञान शक्ति उत्तम होती है, अत: मुक्त जीवों को सरस्वती का स्थान ही उपयुक्त है भगवान् का कण्ठ प्रदेश ज्ञान शक्ति स्वरूप सरस्वती का आश्रय है अत: वहां मुक्तात्माओं का स्थान है मुक्तोपसृप्य भगवान् मुक्त जीवों को कण्ठाभरण रूप से धारण करते हैं, कौस्तुभमणि का बीच में धारण करना सूचित करता है कि जीव दोनों प्रकार के होते हैं। कोई क्रिया निष्ठ होते हैं जिनका कर्मकाण्ड की पद्धति से ब्रह्म प्राप्ति के लिये उद्यम होता है और कुछ ज्ञाननिष्ठ होते हैं जिनका ज्ञानकाण्ड की पद्धति से ब्रह्म प्राप्ति का उद्यम होता है भगवान् की सर्वाङ्ग वर्णना श्री भा० स्कं० ३ अ० २८ में हुई है वहां कौस्तुभ का वर्णन दो वार किया है इससे भी द्विविधता स्पष्ट होती है, श्लो: सं २६ कण्ठश्चकौस्तुभमणेरधिभूषणार्थम् श्लो: सं २८ चेत्यस्यतत्वममलं मणिमस्यकण्ठे, यह वह दोनों श्लोकों के अंश हैं, शोभा दो प्रकार की होती है ज्ञानकृत शोभा और कर्मकृत शोभा सत्कर्माचरण से हुई शोभा कर्मकृत शोभा है, और तत्वचिन्तनादि से सम्पन्न हुई शोभा ज्ञानकृत शोभा है, जीव के यह दोनों ही, क्रिया और ज्ञान, धर्म हैं अत: जीवतत्वात्मक कौस्तुभमणि को "शोभि" शोभा सम्पन्न बतलाया है, उक्त प्रकार से भगवान् में अक्षर ब्रह्म एवं जीव ब्रह्म इन दोनों के सम्बन्ध का श्री वत्स और कौस्तुभ रूप से निरूपण कर जोवों के जीव भाव में करणीभूत माया का भगवान के अमुक अंश को आच्छन्न करने वाली होने के कारण पीताम्बर रूप से निरूपण करते हैं, 'पीताम्बरम् भगवान् का वस्त्र पीतवर्ण है, अत: शोभा का हेतु है क्योंकि नीलवर्ण आपका श्री विग्रह है आकाश का वर्ण भी नील है इसलिये आपको आकाशतनु कहा है कि भगवान् का शरीर आकाश है, नील वर्ण पर पीतवर्ण अधिक शोभादायक होता ही है साथ ही में एक मर्म और भी शोभा में उपयोगी है कि भगवान् का शरीर आकाश है ऐसा "आकाश शरीरं ब्रह्म' आदि श्रुतियों से सिद्ध होता है।

श्री सुबोधिनी— प्रभां वर्णयति सान्द्रपयोदसौभगमिति, सान्द्रो हि स्निग्धो नील:, पयोदो मेघ:, परमानन्दस्य नीलरूपत्वे प्रकारचतुष्टयं पूर्वं निरूपितं, आकाशकालभूमिवैकुण्ठै:

व्याख्यार्थ—ग्राकाश विकार रहित है तो उसकी शोभा भी विकार रहित वस्तु के सम्बन्ध होने पर ही रह पावेगी विकारिवस्तु के सम्बन्ध होने पर निर्विकार की भी शोभा नहीं रह पाती पीताम्बर सर्वांश में विकार रहित है इसमें पीत+ग्रौर ग्रम्बर दो ग्रंश हैं, ग्रम्बर शब्द ग्राकाश वाचक होने से निर्विकारिता का सूचक है ग्रौर पीतवर्ण के सम्बन्ध में इस दिशा से विचार करने पर निर्विकारिता सूचित होती है कि तामस ग्रौर राजस के सम्बन्ध में पीत वर्ण सम्पन्न होता है, इसमें सात्विक का सम्बन्ध नहीं है, सात्विक ग्रहंकार को "वैकारिको राजसश्च तामस श्चेत्यहं त्रिधा, ग्रादि स्थल पर वैकारिक कहा है एवं रोमांच ग्रादि सात्विक भावों को भी विकार माना है ग्रतः पीत वर्ण में सात्विक का सम्बन्ध न होने से निर्विकारता है यदि कहें कि पीत वर्ण स्वतन्त्र है राजस तामस के सम्बन्ध से क्यों माना जाय तो इस विषय में तो श्रुति ही प्रमाण है कि रूप तो तीन ही प्रकार का होता है लाल शुक्ल ग्रौर कृष्ण, पीतवर्ण ग्राया कहां से श्रुति में स्पष्ट उल्लेख है कि "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच् छुक्लं तदपायत्कृष्णां-तदन्नस्य", लालवर्ण तेज का है, शुक्ल वर्ण जलों का है, कृष्ण वर्ण ग्रन्न (पृथ्वी) का है, ग्रतः पीत वर्ण भी विकार रहित 'सात्विक सम्बन्ध रहित' होने से निर्विकार है तो पीताम्बर से नीलवपु की निर्विकार से निर्विकार की शोभा होना सर्वथा सुसंगत है, "सान्द्र पयोद सौभगम्" इस विशेषण से भगवान् की 'श्री' प्रभा का वर्णन करते हैं, गाढ नील वर्ण वाले मेघ के समान ग्रापकी सुन्दरता है, परमानन्द स्वरूप भगवान् की नीलवर्णता का निरूपण चार प्रकार से पूर्व में "निबन्ध" में किया जा चुका है, प्रथम प्रकार यह है कि जैसे नेत्र रूप वाले पदार्थ को देखते देखते ग्राकाश में किसी वस्तु के न होने पर मेघ शून्य प्रदेश में दूर जाकर कुछ नीलासा देखते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी ग्रत्यन्त गम्भीर होने के कारण नीला जैसा ही दीखता है, द्वितीय प्रकार यह है कि सत्ययुग ग्रादि युग के ग्रधिष्ठाता देवताग्रों के शुक्ल, रक्त, पीत, नील, वर्ण है उनके प्रतिबिम्बों की प्रतीति ब्रह्म में होती है, तृतीय प्रकार यह है कि भगवान् भूमि में प्रकट हुए हैं ग्रतः भूमि का नीला वर्ण उन में प्रतिफलित होता है, चतुर्थ प्रकार यह है कि शुद्ध सत्य का वर्ण नील है शुद्ध सत्वात्मक वैकुण्ठ में प्रकट हुए ब्रह्म में उस शुद्ध सत्व की नोलता झलकती है

तस्य धर्मा इदानीं निरूप्यन्ते, यस्तु स्वकाले सर्वानन्ददाय्यन्नोत्पादकस्तापनाशकश्च स सान्द्रः पयोदः, एवमेव भगवानपि पृथिव्याः स्वर्गस्य धर्मस्य भक्तानां च सर्वानिष्टनिवृत्तिपूर्वकसर्वेष्टकर्ता, "सर्वत्र पूर्णगुणकोपि बहूपमोभू" दिति प्राकृतोपमा न दोषः, ग्रन्यथा न सङ्गच्छेत, 'स्निग्धप्रावृड्घनश्याम' इत्यर्थः, ग्रनेन कान्तिलक्षणा श्रीर्निरूपिता ।।६।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार ग्राकाश, काल, भूमि, ग्रौर वैकुण्ठ इनके द्वारा चार प्रकार से नील रूपता का प्रतिपादन किया है, इस समय तो नील मेघ की उपमा के द्वारा उसके धर्मों का निरूपण करना ग्रभीष्ट है, जो मेघ ग्रपने समय पर सर्व साधारण को ग्रानन्द का प्रदान करता है, एवं ग्रन्न का उत्पादन करता है, तथा ताप का नाश करता है वह मेघ गम्भीर ग्रौर नीलवर्ण होता है, इसी प्रकार ही भगवान भी पृथिवी, एवं स्वर्गलोक, धर्म, तथा भक्तों के सर्व ग्रनिष्टों को नष्ट कर सर्व ग्रभीष्टों को सिद्ध करने वाले हैं, भगवान् के विषय में कहा है कि "सर्वत्रपूर्णगुणकोऽपिबहूपमोऽभूत" वह भगवान् सर्वत्र पूर्ण गुणों से

सम्पन्न होते हुए भी बहुत उपमाओं को अंगीकार करते हैं, अतः प्राकृतमेघों की उपमा कोई अनुचित नहीं, अन्यथा सर्वथा अप्राकृत ब्रह्म को प्राकृत मेघों की उपमा कैसे संगत हो सकेगी,इस विशेषण से मनोहर वर्षा कालीन मेघ के समान श्याम सुन्दर स्वरूप का वर्णन कर भगवान् को कान्तिस्वरूप श्री का निरूपण किया है ॥ ९ ॥

श्लोक—महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ॥
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥ १० ॥

मूलार्थ—बहुमूल्य वैदूर्यमणि से जटित मुकुट और कुण्डलों की कान्ति आपके हजारों केशों से आलिङ्गन कर रही थी तथा बन्धन रहित काञ्ची (कन्धनी) एवं अङ्गद (बाजूबन्द) कङ्कण आदि आभूषणों से आपकी छबि अधिक छहरारही थी ऐसे स्वरूप का दर्शन वसुदेव ने किया ॥ १० ॥

श्री सुबोधिनी—एवं मूलभूते ब्रह्मणि स्वयं स्थित्वा स्वांशाञ् जीवान् कृतार्थान् कृत्वा भूमिष्ठाञ् जीवान् व्यामोहेन स्वरूपज्ञानरहितान् विधाय तेभ्यश्चतुर्विधपुरुषार्थान् प्रयच्छतीत्युक्तं, तत्र ज्ञानक्रिययोः प्रकारभेदाः सन्तीति ज्ञापयितुं सर्वशास्त्ररूपाणि भगवदाभरणान्यनुवर्ण्यन्ते ज्ञानवैराग्यरूपेण महार्हेति ।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त श्लोक के 'श्री वत्सलक्ष्मम्' आदि चार विशेषणों के द्वारा यह वर्णन किया कि भगवान् मूल भूत अक्षर ब्रह्म में विराजमान होकर, अपने अंश रूप जीवों को कृतार्थ करके, भूमि स्थित जीवों को महामोह से स्वरूप ज्ञान रहित बनाकर उनको चतुर्विध पुरुषार्थ का दान करते हैं, इस श्लोक के द्वारा ज्ञान और वैराग्य के रूप से भगवान् के सर्व शास्त्र रूपी आभूषणों का अनुरूप वर्णन किया जाता है जिससे यह सूचित करना अभीष्ट है कि भगवत्स्वरूप गत ज्ञान, एवं क्रिया यह दोनों शक्ति विविध भांति की हैं, उनके अनेक प्रकार हैं ।

श्री सुबोधिनी—महानर्हो मूल्यं यस्य तादृशवैदूर्ययुक्तं किरीटं कुण्डले च तेषां त्विषा कान्त्या परिष्वक्तान्यालिङ्गितानि सहस्रं कुन्तलानि यस्य, भगवन्मुखनिरीक्षकाः शास्त्राभिज्ञा जीवा भगवन्मुखामोदपानरताः षट्पदा इव भक्तौ परितश्चकासते,

व्याख्यार्थ—बहुमूल्य वैदूर्यमणि से जटित किरीट एवं कुण्डलों की कान्ति से भगवान् के सहस्रशः केश आलिङ्गित हो रहे हैं, इस विशेषण से यह सूचित होता है कि भगवान् के श्री मुख का निरीक्षण करने वाले शास्त्र के मर्मज्ञ जीवगण भगवान् के श्री मुख कमल के मकरन्द रस पान में निरत हुए भ्रमरों की भांति भक्ति के हो जाने+ पर सब ओर से शोभित हो रहे हैं,

टिप्पण— +इस स्थल पर भक्ति के होने पर ही शास्त्र श्रम की सफलता है, यह सूचित करना अभीष्ट है किसी पुराणादिगत यह भगवद्वचन यहां पर लिखना आवश्यक है, 'यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य, तथैव विप्रा षट् शास्त्र युक्ता मद्भक्ति हीनाः खरवद्वहन्ति ।

श्री सुबोधिनी—तेषां वेदः सांख्ययोगौ च शोभाजनका भवन्ति, वेदसांख्ययोगानां प्राप्तिश्च सर्व लोकप्रसिद्धाद् गुरोरेव भवतीति महार्हवैदूर्यरूपेण निरूपिताः, वेदे काण्डद्वितयं, योगोऽपि साधनफलरूपो द्विविधः, सांख्यमपि न्यास—ज्ञानभेदेन द्विविधं, एवं षड् शास्त्राणि निरूपितानि भवन्ति, तान्येव पदानि, त्रयाणामपि भेदाः सहस्रं सन्तीति ज्ञापयितुं कुन्तलानां संख्या निरूपिता, लौकिकज्ञानविस्मरणार्थं परिष्वङ्गो निरूपितः, एवं लोके ज्ञानं निरूप्य क्रियां निरूपयत्यु—द्दामेति, कर्माण्यनन्तान्येव तथापि त्रिविधानि निरूप्यन्ते काञ्च्यङ्गदकङ्कणरूपाणि तमःसत्वरजोरूपाणि, एतानि त्रीणि वेदादि+ भूतानि स्वसजातीयानि बहुन्येव जनयिष्यन्ति, लोके काञ्ची सदामा भवति, इयं तूद्दामा

व्याख्यार्थ—उन जीवों की शोभा के सम्पादन में वेद, और सांख्य,योगों का उपयोग है तथा वेद सांख्य योगों की प्राप्ति सर्व लोक प्रसिद्ध गुरु से ही होती है इसलिये वैदूर्यमणि को बहुमूल्य卐कहा है, वेद में कर्म और ज्ञान, के प्रतिपादक दो काण्ड हैं, योग भी साधन, फल, भेद से दो प्रकार का है, और सांख्य भी न्यास तथा ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है, इस प्रकार षट् शास्त्रों का निरूपण होता है, यह षट् शास्त्र ही षट् पद भ्रमर रूप जीवों के पद हैं, कुन्तलों को संख्या सहस्त्र शब्द से इसलिये प्रकट की है कि वेद, सांख्य, योग, इन तीनों के भी हजारों भेद हैं शास्त्रज्ञभक्तों का लौकिक ज्ञान विस्मृत हो जाता है इस आशय को व्यक्त करने के लिए कुन्तलों का किरीट और कुण्डलों की आभा से परिषाङ्ग (आलिङ्गन) बतलाया है, अर्थात् कुन्तल रूप जीव षट् शास्त्र ज्ञान जनित भक्ति भाव से सर्वाङ्ग परिपूर्ण हो जाते हैं अतः उन्हें लौकिक का अनुसन्धान नहीं रहता है, इस प्रकार लोक में नाना प्रकारों को प्राप्त हुए ज्ञान के निरूपण करने के अनन्तर 'उद्दाम', इत्यादि विशेषण के द्वारा क्रिया का निरूपण करते हैं, यद्यपि कर्म अनन्त ही हैं तो भी तीन प्रकार के ही बतलाये गये हैं, क्योंकि वह सर्व कर्मों का सात्विक, राजस, तामस, रूप से ही विभाग होता है, अतः यहां पर उनका काञ्ची, अङ्गद, कङ्कण, के रूप में निरूपण हुआ है, काञ्ची तमोमय कर्मरूप है, अङ्गद सत्वमय कर्म रूप है और कङ्कण रजोमय कर्म स्थानीय है,

श्री सुबोधिनी—दामरहिता, हिंसाप्रचुराऽपि वैदिकी कृतिर्न लोकानुसारिणी, भूमौ मायाव्याप्तानामेव तत्राधि-कार इति पीताम्बरोपरि काञ्ची तिष्ठति, लौकिकानि तानि व्यावर्तयितुं लौकिकसूत्राभाव उक्तः;उत्कृष्टानि वाऽ लौकिकानि तत्र साधनानि निरूपितानि, अङ्गदानि बाहुमध्ये तिष्ठन्ति, अङ्गं द्यति खण्डयतीति राजसं तद् भवति, सात्त्विकराजस-योर्विभागहेतुत्वात्, आदिशब्देन मुद्रिका अङ्गदस्थानीयान्यन्यान्याभरणानि क्षुद्रघण्टिकानुपूरादीनि च निरूप्यन्ते, तैः सर्वैरेव धर्ममार्गवर्तिभिर्भगवत्सम्बन्धिभिर्विरोचमानो भगवान् भवति, "वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा आदावन्ते तथा मध्ये हरिः सर्वत्र गीयत" इति, नन्वेतादृशो भगवानिति किमर्थमुच्यते ? तत्राह

टिप्पण— +इस पङ्क्ति में सुदूरवर्ती दीर्घ काल से कुछ अक्षरों की त्रुटि हुई है, अनुसंधान से विदित होता है कि (कङ्कणादि) पदवर्ती आदि शब्द का विवरण (आदि भूतानि) इन शब्दों से किया है, और वेद शब्द (वेदादि विहितानि) के स्थान पर रहगया है।

टिप्पण—卐अमूल्य न कहकर बहुमूल्य कहना वस्तु की प्राप्ति के साधन की सत्ता का सूचक है और उसकी महत्ता का भी सूचक है, अतः किरीट आदि से सूचित वेदादि शास्त्र भी बहुमूल्य सद्गुरुकृपा से प्राप्त होते हैं।

व्याख्यार्थ—यह भगवान् के आभरण रूप त्रिविध कर्म वेदादि शास्त्रों से प्रतिपाद्य हैं, और यावत् कर्म मात्र के आदि भूत (पूर्ववर्ती कारण) हैं, अपने समान जातीय अनन्त सात्विक आदि कर्मों को भविष्य में प्रकट करते रहते हैं, क्योंकि कर्मों का स्वभाव है कि उत्तरोत्तर अपने जैसे कर्मों को उत्पन्न करते रहना, (कङ्कणादिभिः), का आदि शब्द, काञ्ची, अङ्गद, और कङ्कण तीनों से सम्बन्धित है अतः तामस कर्म, तामस कर्मों को सात्विक कर्म, सात्विक कर्मों को और राजस कर्म, राजस कर्मों को जन्म देते रहते हैं यह सूचना अभीष्ट है। लोक में काञ्ची दाम सहित होती है (किसी बन्धन सूत्रादि के आधार पर अवलम्बित होती है) परन्तु यह भगवदाभरण काञ्ची तो उद्दाम है बन्धन रहित है, वैदिक क्रिया यद्यपि हिंसात्मक होती है क्योंकि पशु का बलिदान वहां पर प्रधानतया किया जाता है फिर भी वह लौकिक हिंसा की तरह निन्द्य या पाप जनक नहीं बन्धन हेतु नहीं इस अभिप्राय को 'उद्दाम' विशेषण से व्यक्त किया है, साथ ही वैदिक कृति के हिंसात्मक होने की सूचना से काञ्ची की वैराग्य रूपता+ भ स्पष्ट हो जाती है क्योंकि राग प्रयुक्त हिंसा ही पाप है एवं बन्धन कारण है वैदिक हिंसा पाप नहीं क्योंकि वह शुद्ध विधि प्रयुक्त ही है अतः राग के अभाव की या वैराग्य की स्पष्टता हो ही जाती है, पीताम्बर के ऊपर काञ्ची (कन्धनी) स्थित है, वह यह सूचित कर रही है कि जो लोग भूमि में माया से व्याप्त हैं उनका ही वैसे हिंसात्मक कर्मों में अधिकार है क्योंकि भगवान् के चरण रूप भूलोक पर पीताम्बर रूपिणी माया है और उसका काञ्ची रूप वैसे कर्मों से निकट सम्बन्ध है, भगवान् में लौकिक कर्मों का सर्वथा अभाव है अतः उन लौकिक कर्मों की व्यावृत्ति करने के लिये उनके अभाव बतलाने के लिये लौकिक सूत्र

श्री सुबोधिनी—वसुदेव ऐक्षतेति, तत्पूर्वोक्तानां धर्माणां लौकिकत्वमलौकिकत्वं च सम्भवति, यदि वसुदेवो न ज्ञास्यति तदा लौकिकान्येवैतानीति मंस्यते, अथ ज्ञास्यति तदोक्तं व्याख्यानमुभयार्थं तादृशधर्मयुक्तं दृष्टवानिति शुक आह, एतज् ज्ञानं स्तोत्रे स्पष्टं भविष्यति ॥ १० ॥

(डोरे) का अभाव 'उद्दाम' शब्द से कहा है, अथवा 'उद्दाम' शब्द के अन्तर्गत 'उद्' शब्द का उत्कृष्ट अर्थ होने के कारण उस काञ्ची रूप वैदिक कर्म में अलौकिक [1]साधनों का निरूपण 'उद्दाम' शब्द से किया है, अङ्गद बाहुओं के मध्य में रहते हैं, यह सात्विक कर्मों के मूल भूत है क्यों कि 'अङ्गद्यति खण्डति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अङ्ग का खण्डन करने वाला ही अङ्गद शब्द का वाच्यार्थ है, देहाध्यास की निवृत्ति या विदेह कैवल्य की प्राप्ति में अङ्ग का खण्डन (देह का अनुसन्धान न रहना) स्वाभाविक है यह देहस्मृति की अवस्था सात्विक है अतः इस अवस्था का प्रयोजक कर्म भी सात्विक ही है, चंचल होने से कङ्कण राजस कर्म स्थानीय है, यद्यपि[2] शास्त्र विहित कर्म रूप अङ्गद और कङ्कणों की क्रिया शक्ति रूप भगवद्भुजाओं में स्थिति होने से उनके सात्विक या राजस होने में कोई स्थूल कारण नहीं दीखता परन्तु एक ही कर्म की सकाम निष्काम कर्त्ताओं

टिप्पण— +वैदिक कृति लौकिक दुःख को निवृत करती है अतः वैराग्य रूप है ऐसा प्रकाशकार लिखते हैं।

१. लेखकार ने साधनों की अलौकिकता पर प्रकाश डालते हुए वैदिक साधनों की भगवद्रूपता (तत्साधनञ्च स हरिः प्रयाजादि स्त्रुगादियत्) इस निबन्ध के अनुसार बतलाई है।

२. टिप्पण के लिये पृष्ठ ३२ पर टिप्पण १ पढ़ें।

के आधार पर सात्विकता और राजसत्ता गीता अध्याय १८ श्लोक २३-२४ में कही है उस दिशा से सात्विक और राजस (निष्काम और सकाम) कर्ता ही कर्म के सात्विक और राजस इस विभाग के कारण है अतः उक्त विषय में कोई शङ्का नहीं,

श्री सुबोधिनी—एवं भगवन्तं दृष्ट्वा शुद्धसत्त्वात्मको वसुदेवः क्रियां ज्ञानं च प्रकटीकृतवानित्याह द्वाभ्यां, दानं क्रिया, स्वरूपज्ञानबोधकं स्तोत्रं, कर्मण्याधिकारचतुष्टयं, श्रद्धा चाङ्गम्, 'अर्थी विद्वान् समर्थः शास्त्रेणापर्युदस्त'श्च, इदं च कर्म नैमित्तिकं, तस्यापेक्षाज्ञापको हर्षः, स चासाधारण एव भगवन्निष्ठो भवति, तदाह स विस्मयोत्फुल्लविलोचन इति ।

व्याख्यार्थ-आदि शब्द से मुद्रिका (अंगूठी) एवं अङ्गद (बाजूबन्द) के स्थान पर धारण करने योग्य अन्य आभरण तथा क्षुद्र घण्टिका नूपुर आदि का निरूपण किया है, उन सब ही धर्म मार्गीय भगवत्सम्बन्धी कर्म रूप आभूषणों से भगवान् शोभा सम्पन्न होते हैं, 'वेदे रामायणे चैव,'[२] इस हरिवंशोक्त पद्य का उद्धरण इस दृष्टि से किया गया है कि सर्व सच्छास्त्रों में आमूल चूल भगवान् की महिमा का ही गान हुआ है अतः शास्त्रोक्त कर्म रूप आभरणों से भगवान् का शोभित होना सर्वथा सङ्गत ही है, उक्त श्लोक में 'वसुदेव ऐक्षत' वसुदेवजी ने उक्त स्वरूप भगवान् को देखा, ऐसा कहा गया है, शुक मुनि का ऐसा कथन एक शङ्का के निवारणार्थ हुआ है, कि प्रकट हुए भगवान् का दर्शन तो अनुक्त सिद्ध है उसके कथन की क्या आवश्यकता जो स्वरूप प्रकट हुआ उसका दर्शन होना तो स्वाभाविक ही है एवं 'सविस्मयोत्फुल्ल' श्लोक में 'विलोक्य' पद से दर्शन का अनुवाद आगे किया ही है ऐसी स्थिति में भगवान् ऐसे हैं ऐसे हैं आदि वर्णन की क्या आवश्यकता थी कि ऐसे रूप को वसुदेवजी ने देखा भगवान् प्रकट हुए उन को देखकर वसुदेव ने दान, स्तोत्र आदि किये इतना कथन ही प्रर्याप्त था, परन्तु बात ऐसी है कि वसुदेवजी को भगवत्स्वरूप का सर्वांश में यथार्थ ज्ञान हो चुका है, इस रहस्य की सूचना के लिये वह कथन किया है, बात ऐसी है कि पूर्वोक्त ऐश्वर्यादि भगवद्धर्मों की लौकिकता का भी सम्भव है और अलौकिकता का भी सम्भव है, इस समय वसुदेवजी को यदि यथार्थ ज्ञान न होगा तो वह उन ऐश्वर्यादिकों को लौकिक ही मानेंगे, और यदि यथार्थ ज्ञान होवेगा तो+ हमने लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के ऐश्वर्यादिकों का प्रतिपादक जो व्याख्यान पूर्व में कहा है उसी प्रकार का आगे भी उनको भगवल्लीलाओं में अनुभव होता रहेगा, अतः शुकदेव कहते हैं कि वसुदेवजी ने वैसे धर्मों के सहित भगवान् को देखा उनका लौकिक वैदिक उभय विध ऐश्वर्यादि परिपूर्ण स्वरूप उसी समय पहिचाना, वसुदेवजी का वह ज्ञान उनके किये हुए स्तोत्र में स्पष्ट हो जावेगा ।। १० ।।

टिप्पण—१. सात्विक राजसयोर्विभाग हेतुत्वात्,इस क्ति पंकी प्रकाशकार के अनुसार यह व्याख्या है,लेखकार ने तो सत्व और रजोगुण को स्थिति और सृष्टि के प्रयोजक होने के कारण ब्रह्म से विभाग कराने में कारण माना है तमोगुण लय का प्रयोजक होने से विभाग का निवर्तक है अतः अङ्गुलि आदि अवयवों से विभाग युक्त हस्तों में सत्व, एवं रजो रूप अङ्गद कङ्कणों को स्थान है और विभाग रहित कटि में तमोमय काञ्ची का स्थान है ऐसा कहा है ।

२. यह प्रकाशकार का अभिप्राय है, लेखकार तो (तमम्दुतम्) आदि श्लोक द्वय द्वादश विशेषणों के अभिप्राय का सिंहावलोकन इस पद्य से किया है ऐसा बतलाते हैं, वेद में आदि[१], मध्य[२], और अन्त[३], में तथा रामायण में आदि[४], मध्य[५], अन्त[६], में एवं पुराण में आदि[७], मध्य[८], और अन्त[९], में और भारत में भी आदि[१०], मध्य[११], और अन्त[१२], में हरि भान किया है, अतः यहां प्रकट हुए भगवान् वह ही हैं जिनका निरूपण वेदादि सर्व शास्त्रों में हुआ है ।

+ वागधीश श्री वल्लभाचार्य ने उक्त श्लोकों के व्याख्यान द्वारा जैसा भगवत्स्वरूप कहा है वसुदेवजी को उस स्वरूप का साक्षात्कार इसी समय हुवा और आगे भी होता रहेगा ।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् का दर्शन कर शुद्ध सत्व गुण के प्रतीक श्री वसुदेवजी ने क्रिया और ज्ञान को प्रकट किया, यह दो श्लोकों से कहते हैं, गोदान रूप क्रिया है, और स्तोत्र भगवत् स्वरूप के ज्ञान का बोधक है, कर्म में चार प्रकार का अधिकार और श्रद्धा अंग है, कर्ता अर्थी होना चाहिये जिस निमित्त से वह कर्म करता है उस निमित्त की उसे अभिलाषा होनी चाहिये, तथा वह विद्वान भी हो उसे निमित्त का और नैमित्तिक कर्म का ज्ञान भी हो, अन्यथा कर्म नहीं कर सकेगा, एवं उसे सामर्थ्यशालीभी होना आवश्यक है, क्योंकि सामर्थ्य के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता है, और शास्त्र से उसे कर्म करने में वर्जन या निषेध प्राप्त न होना चाहिये, इस प्रकार यह चार कर्ता के विशेषण कर्म में अधिकार रूप हैं, और यह दान रूप कर्म नैमित्तिक है। पुत्र जन्म आदि के निमित्त से किया जाने वाला है, वसुदेवजी को भगवान् के जन्म की अपेक्षा है, इसकी सूचना उनका हर्ष ही कर रहा है, वह हर्ष भगवद् विषयक होने से असाधारण ही होता है, उसे (सविस्मयोत्फुल्ल) आदि दो श्लोकों से कहते हैं,

श्लोक—स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा।
कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृशन् मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम्॥११॥

मूलार्थ—उस समय हरि रूप पुत्र को देखकर वसुदेवजी के नयन विस्मय से खिल उठे, कृष्ण के अवतार होने के कारण आनन्दातिरेक से संभ्रान्त होकर प्रसन्नता से स्नान कर ब्राह्मणों को दश सहस्र गौओं के दान का मानस संकल्प किया।

श्री सुबोधिनी—एतत्सर्वपरिज्ञाने स इति पूर्वोक्तो वसुदेवो हेतुः, अलभ्यलाभाद् विस्मयः, स विस्मयोन्तः-प्रविष्ट उत्फुल्ले विलोचने करोति, पूर्वं हरिः सुतो भविष्यतीति श्रुतं, इदानीं हरिं सुतं विलोक्य, अनेन विद्वत्तोक्ता, निमित्तज्ञानेनैव नैमित्तिकमपि ज्ञातमपि ज्ञानं करणात् स्पष्टं भविष्यति, आनकदुन्दुभिरिति, असामर्थ्ये आनका दुन्दुभयश्च कथं नेदुः? कृष्णस्यावतारे य उत्सवो मनसो विलासस्तस्मिन् जाते सम्यग् भ्रमो यस्य तादृशश्च भगवच्छास्त्रे स्मृतिशास्त्रे चोत्सवाविष्टः, तादृशे कर्मणि शास्त्रेणापर्युदस्तः, पुत्रस्य सर्वलक्षणसम्पत्तावेव तथाधिकार इति कृष्णपदं,

व्याख्यार्थ—उक्त श्लोक में 'स' शब्द से पूर्वोक्त वसुदेवजी का परामर्श कर उनके दान, स्तोत्र, और स्वाधिकार सम्बन्धी परिज्ञान में हेतु का निर्देश किया है कि यह वह वसुदेव है जिनने भगवत्साक्षात्कार किया है एवं जो विशुद्ध सत्वात्मक है, अतः इनके सर्व विध ज्ञान सम्पन्न होने में किसी प्रकार की शङ्का का अवकाश नहीं, इनको अलभ्य लाभ+होने के कारण विस्मय हुआ, वह विस्मय अन्तः प्रदेश

टिप्पण +अलभ्य वस्तु का लाभ विस्मय जनक तो होता ही है साथ ही में उस वस्तु की तीव्र प्राप्ति की इच्छा का भी द्योतक है जिसके प्राप्त करने की पूर्ण अभिलाषा हो पर अपने साधन बल को देखकर प्राप्त होने की आशा न हो, लाभ होने पर वह अलभ्य लाभ कहलाता है, इस कथन के द्वारा (आर्तिता) भगवत्प्रादुर्भाव की अपेक्षा की सूचना है जो कि कर्माचरण में एक अधिकार रूप है,

हृदय में प्रवेश कर नेत्रों को खिला देता है यह उसका स्वभाव है, वसुदेवजी के नेत्र विस्मय से खिल उठे, उन्होंने पूर्व में यह सुना था कि भगवान् हरि पुत्र रूप से प्रकट होंगे, इस समय तो पुत्र रूप से प्रकट हुए हरि को देख रहे हैं, इस प्रकार के दर्शन से उनकी विद्वता स्पष्ट होती है जोकि कर्माचरण के अधिकारों में एक है, प्रस्तुत गोदान कर्म में भगवत्प्रादुर्भाव निमित्त है, इस निमित्त के ज्ञान से वसुदेवजी का नैमित्तिक (गोदान कर्म) विषयक ज्ञान भी सिद्ध होता है, उनका वह ज्ञान आगे गोदान करने से स्पष्ट होगा, (आनक दुन्दुभिः) वसुदेवजी को इसलिये कहते हैं कि इनके जन्म समय में आनक और दुन्दुभि बजे थे, इस कारण इनकी गोदानादि सत्कर्माचरण में समर्थता+ व्यक्त होती है कि यदि दश सहस्र गोदान का सामर्थ्य नहीं होता तो जन्म काल में आनक दुन्दुभियों का नाद भी कैसे सम्भव था ।

श्री सुबोधिनी–मुदेति, हर्षः स्नेहात्मक इति भक्तिसूचकः, गवामयुतं द्विजेभ्योऽस्पृशद् ब्राह्मणानुद्दिश्य दशसहस्त्रं गावो दत्ताः, ननु स्नात्वा गावो देयाः कथमेवमेव सङ्कल्पं कृतवानित्याशङ्‌क्याह मुदाप्लुत इति, हर्षजलेनैव स्नातवानित्यर्थः ।। ११ ।।

व्याख्यार्थ—भगवान् कृष्ण के अवतार होने पर वसुदेवजी के मन का विलास रूप जो उत्सव हुआ उसके होने पर उनको परम सुन्दर भ्रम या व्यग्रता हुई कि ऐसे शुभावसर पर क्या क्या न्यौछावर न की जाय, भगवत् सम्बन्धि शास्त्र में एवं स्मृति शास्त्र में वैसे पुरुष का ही उस प्रकार के गोसहस्र दानादि-कर्म में वर्जन❀ नहीं किया जिसका मन उल्लासपूर्ण हो और सम्भ्रान्त हो, पुत्र यदि सर्व शुभ लक्षणों से सम्पन्न हो तब ही उल्लासपूर्ण हृदय होकर वैसे शुभ कर्म का अधिकार प्राप्त हो सकता है अतः यहां कृष्ण पद का प्रयोग कर पुत्र की सर्व लक्षण सम्पत्ति सूचित की है, 'मुदा' हर्ष के साथ गोदान किया, हर्ष स्नेहात्मक है, उसके स्वरूप में स्नेह अन्तः प्रविष्ट है, अतः भक्ति की सूचना करता है, कि भक्तिमान् वसुदेवजी ने भक्ति पूर्वक गोदान का मानस संकल्प किया, दश सहस्र गौओं का दान ब्राह्मणों का उद्देश्य कर वसुदेवजी ने किया, यद्यपि गोदानादि सत्कर्म में प्रथम स्नान आवश्यक है, स्नान करने के अनन्तर ही वैसे सत्कर्मों का विधान है, वसुदेवजी ने ऐसे ही संकल्प कैसे किया इस प्रकार की आशङ्का के समाधान करने के लिये 'मुदाऽऽप्लुत.× इस प्रकार की पद योजना की है, जिससे वसुदेवजी ने हर्ष के जल से स्नान किया ऐसा अर्थ निकलता है । ।। ११ ।।

+कर्माचरण में समर्थता भी अधिकार रूप से अङ्ग है ।

❀शास्त्र में वर्जित न होना भी कर्ता का अधिकार रूप अङ्ग है ।

×'मुदा' इस शब्द की आवृत्ति अभीष्ट है, 'मुदा' हर्ष के साथ दस सहस्र गौओं का मानस स्पर्श किया, तथा 'मुदा' हर्ष रूपी जल से स्नान किया, इस प्रकार दो वाक्यों में विना आवृत्ति के अन्वय नहीं हो सकता ।

श्लोक–अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः ।।
स्वरोचिषा भारत ! सूतिकागृहं विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित् ।।१२।।

मूलार्थ—हे भारत ! गोदान कर्म के अनन्तर वसुदेवजी इस अद्भुत बालक को यह ही पूर्ण पुरुषोत्तम है ऐसा निश्चय पूर्वक जानकर सर्वाङ्ग को झुकाये हुए बुद्धि को अभिमुख किये हुए हाथों को जोड़े हुए स्तुति करने लगे, वह बालक अपनी दिव्य ज्योति से जन्म स्थान को विशेष रूप से प्रकाशित कर रहा था, और वसुदेवजी का भय नष्ट हो चुका था वह भगवत् भाव को जान चुके थे ।

श्री सुबोधिनी आभास–ननु पुत्रः संस्कर्तव्यो जातकाख्येन कर्मणा तत् कथं न कृतवानित्याशंक्य प्राकृत एव तस्य संस्कार इति नास्मिस्तदपेक्षेति तज् ज्ञानं स्वस्य वर्तत इति ज्ञापयन् भगवन्तं स्तौतीत्याहाथैनमिति ।

अथ कर्मसमाप्ति विधाय तदनन्तरमेनं पुत्रत्वेनाविर्भूतं भगवन्तमस्तौत्, स्तोत्रमुत्कृष्टे कर्तव्यमिति कथं पुत्रे स्तोत्रमित्याशंक्याहावधार्य पूरुषमिति, पूर्वोक्तवर्णनप्रकारेण परः पुरुषः पुरुषोत्तम एवायमित्यवधार्य, अभिनन्दनात्मकमपि स्तोत्रं भवतीति तद्व्युदासार्थं ।

व्याख्यार्थ—ऐसी शङ्का हो सकती है कि पुत्र का संस्कार 'जातक' नाम वाले कर्म से करना आवश्यक था, वसुदेवजी ने वैसा क्यों नहीं किया, परन्तु इस शङ्का को यहां अवकास नहीं, क्योंकि प्राकृत पुत्र के जन्म होने पर उसकी शुद्धि के लिये संस्कार का विधान है इस अप्राकृत बालक में संस्कार की अपेक्षा नहीं, वसुदेवजी को इस बालक की अलौकिकता का ज्ञान हो चुका है, ऐसा बतलाते हुए स्तुति करते हैं, मानसिक गोदान रूप कर्म की समाप्ति के अनन्तर वसुदेवजी ने पुत्र रूप से प्रकट हुए भगवान् की स्तुति की, स्तुति अपनी अपेक्षा उच्च कक्षा वाले पुरुष की की जाती है, पुत्र की स्तुति कैसे की गई इस आशङ्का को हटाने के लिये शुकदेवजी कहते हैं कि वसुदेवजी ने पूर्वोक्त प्रकार से इस बालक को परतत्व रूप पुरुष जान कर यह ही पूर्ण पुरुषोत्तम हैं ऐसा निश्चय करने के अनन्तर स्तुति की है, स्तुति केवल प्रशंसा करने मात्र से भी हो सकती है परन्तु यह स्तुति वैसी नहीं है, यह तो नम्रता पूर्ण स्तुति है वसुदेवजी 'नताङ्ग' होकर स्तुति करते हैं, भगवान् को नमस्कार करके स्तुति कर रहे हैं उनका अङ्ग झुक गया है ।

श्री सुबोधिनी—नताङ्गः,नतमङ्गं यस्य, नमस्कारं कृत्वेत्यर्थः, यो भगवान् जातो यादृशस्तं तथैव ज्ञात्वा स्तोत्रमुचितं,"अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा" चेत् "प्रतिपद्यते" तदाऽयुक्तमिति तद्व्युदासार्थमाह कृतधीरिति, यद्यपि पूर्वं पुरुषोत्तम आविर्भविष्यतीतिज्ञानं न स्थितं तथापि प्रदर्शितैर्भगवत्ताऽवयवादिभिः कृता धीर्यस्य, समानयोरपि तथात्वं सम्भवतीति तद्व्युदासार्थं कृताञ्जलिरिति, अञ्जलिर्महत एवं क्रियते, स्तोत्रं कायवाङ्मनोभिः कर्तव्यं, तत्र कृताञ्जलिरिति स्तोत्रे कायस्थितिः, कृतधीरिति मनसः, स्तोत्रं वाचनिकं, ननु स्तोत्रमुच्चैः कर्तव्यं तथा सति प्राहरिकाणां जागरणं भवेद् ।

व्याख्यार्थ—जो भगवान् जैसे प्रकट हुए हैं उनको वैसा ही जानकर स्तुति करना उचित है, अन्यथा उचित नहीं, शास्त्र में कहा है कि आत्मा का स्वरूप हो कुछ अन्य प्रकार से और यदि कोई असावधान व्यक्ति उसे अतिरिक्त प्रकार से समझने लगजावे तो वह पापी है चौर है आत्मा का अपहरण करने वाला है वैसी स्थिति के हटाने को कहते हैं कि वसुदेवजी तो 'कृतधी' हैं, भगवत्स्वरूप के यथावद् ज्ञाता हैं, यद्यपि इनको पूर्व में यह ज्ञात नहीं था कि पुरुषोत्तम का प्राकट्य होगा परन्तु भगवान् ने अपने श्री हस्तादि अवयवों का दर्शन कराकर उनकी उस प्रकार की बुद्धि बनादी जिस से वह समझगये कि यह पूर्णपुरुषोत्तम हैं। नम्रता पूर्वक स्तुति भी समान स्तर के लोग आपस में एक दूसरे की किया करते हैं परन्तु यहां वैसी बात नहीं है इसलिये ये कृताञ्जलिः, वसुदेवजी को कहा है कि वह हाथ जोड़े हुए हैं, महान् पुरुष की ही हाथ बांध कर स्तुति की जाती है, समान कक्षा वाले की नहीं, स्तुति शरीर, वाणी और मन से होनी चाहिये, हाथों का जोड़ना शरीर की स्थिति का सूचक है कि स्तुति करने में शरीर का उपभोग हुआ है, और 'कृतधी' शब्द से मन की अवस्था सूचित हो हो रही है, और वाणी का उपयोग तो स्तुति में स्पष्ट ही है क्योंकि स्तोत्र वचन द्वारा ही तो होता है, स्तुति उच्च स्वर से की जाती है वैसा करने पर पहरे वाले जाग जावेंगे यह शङ्का हो सकती है।

श्री सुबोधिनी—इत्याशंक्य कंसभयं तस्य नास्तीत्याह गतभीरिति, तत्र हेतुः प्रभावविदिति, भगवतः कालादिनियमनं जानातीति प्रभाववित्, ननु विद्यमानमपि सामर्थ्यं न प्रकटयेच् चेत् प्रमाणसिद्धं वा शालग्रामादिवत् सामर्थ्यं स्यात् तदा विपरीतं भवेदित्याशंक्य प्रकटतेजःपुञ्जेन प्रकटमेव सामर्थ्यं तस्येत्याह स्वरोचिषा स्वरूपकान्त्या कोटिमणितेजसा यथा गृहं प्रकाशितं भवति तथा प्रकाशयन्तं, भारतेतिसम्बोधनं विश्वासार्थम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—उस शङ्का के निवारणार्थ 'गतभीः' विशेषण का प्रयोग किया है कि वसुदेवजी को कंस का भय नहीं था, क्योंकि वह 'प्रभावविद्' थे, भगवत्प्रभाव को उन्होंने जान लिया था कि यह काल आदि के भी नियामक हैं, यदि सामर्थ्य होते हुए भी उसे प्रकट न करें अथवा शालग्राम शिला आदि की तरह वह सामर्थ्य प्रमाण सिद्ध ही हो (अतिक्रम करने वाले को परोक्ष रूप से ही दण्ड देने वाला हो) प्रत्यक्ष कोई चमत्कार न हो शिलावत् मूक ही रहा आवे तब तो विपरीत हो जाने का सम्भव है, इस शङ्का को निवृत्त करते हैं कि उनका सामर्थ्य तो प्रकट तेजः पुञ्ज से प्रत्यक्ष ही प्रतीत हो रहा है अपनी दिव्य कान्ति से जन्म स्थान को इस प्रकार प्रकाशित कर रहे हैं जैसे करोड़ों मणियों से गृह प्रकाशित होता है, भारत ! यह सम्बोधन परीक्षित के विश्वास के लिये प्रयुक्त हुवा है कि हे राजन् तुम भगवद्भक्त राजर्षि भरत के वंश में प्रकट हुए हो अतः तुमारा इस प्रकार के भगवत्प्रभाव पर पूर्ण विश्वास होना तो अनिवार्य है ॥१२॥

कारिका—**द्वादशात्मा हरिर्ज्ञेयस्त्रिधा च नवधा तथा ।**
नवधा वैदिकः प्रोक्तस्त्रिधा लौकिक उच्यते ॥ १ ॥

यज्ञस्तु पञ्चधा प्रोक्तश्चतुर्धा भगवानिति ।
पञ्चात्मकश्चतुर्मूर्तिस्तन्त्रं वेदेन सम्मितम् ।। २ ।।
लौकिकस्त्रिगुणः प्रोक्तः स्मृतिश्चैव हि लौकिकी ।
नवधा वसुदेवोऽस्तौत् त्रिधा चैव हि देवकी ।। ३ ।।

कारिकार्थ—भगवान् श्री हरि द्वादशात्मा है, ऐसा (तमद्भुतम्) श्लोक के ऊपर कारिकाओं से अनेक भांति प्रतिपादन किया जा चुका है, वसुदेव, तथा देवकी के द्वारा की हुई स्तुतियों के श्लोकों की संख्या भी उसी तत्व की परिचायक है इस आशय से आचार्य निरूपण करते हैं कि, हरि को द्वादशात्मा जानना चाहिये, वसुदेवजी ने ९ (नव) +श्लोकों द्वारा स्तुति कर उनकी नव विधता बतलाई है और देवकीजो ने ३ (तीन) *श्लोकों द्वारा स्तुति कर उनको त्रिविधता बतलाई है। दोनों स्तुतियों के द्वारा मिलित रूप से द्वादश विधता स्पष्ट हो जाती है, वेदोक्त प्रक्रिया से ९ (नव) श्लोकों द्वारा स्तुति के विषय हुए भगवान् नवधा वैदिक रूप से बतलाये गए हैं, और स्मृति प्रोक्त प्रक्रिया से ३ (तीन) श्लोकों द्वारा स्तुति के विषय हुए भगवान् त्रिधा स्मार्त या लौकिक रूप से कहे जाते हैं।१। अग्निहोत्र १ दर्शपूर्णमास २ पशु ३ चातुर्मास्य ४ सोय ५ इन भेदों से यज्ञ रूपी भगवान् पांच प्रकार के कहे हैं, तथा वासुदेव १ सङ्कर्षण २ प्रद्युम्न ३ अनिरुद्ध ४ इन व्यूहों के भेद से भगवान् चार प्रकार के हैं, अतः भगवान् पञ्चयज्ञात्मक है और चतुर्व्यूह मूर्ति रूप भी हैं, यद्यपि व्यूह मूर्ति का निरूपण तन्त्र ने किया है तथापि तन्त्र भी वेद के समान ही आदरणीय है ।। २ ।। (अतः पञ्चयज्ञात्मक और व्यूह चतुष्टयात्मक नवधा स्वरूप को वैदिक कहा गया है) ।। २ ।। लौकिक स्वरूप सत्व, रज, तम इन गुणों के भेद से त्रिविध कहा है, देवकीजो ने स्मृति को प्रक्रिया से स्तुति की है स्मृति प्रणेता ऋषियों ने लोक रीति से वर्णन किया है अतः स्मृति लौकिक ही कही गई है वसुदेवजी ने नवधा ९ प्रकार से स्तुति की है, और देवकी ने त्रिधा (३) तीन प्रकार से स्तुति की हैं।

टिप्पण— +वसुदेव कृत स्तुति में यद्यपि १० (दश) श्लोक हैं तथापि अन्तिम श्लोक की गणना स्तुति में नहीं है।

*देवकी कृत स्तुति में यद्यपि ८ आठ श्लोक हैं तथापि पिछले ५ (पञ्च) श्लोकों की गणना स्तुति में नहीं है,

कारिका—**एकेन प्रार्थनं पूर्वं द्वाभ्यां चैव तथापरम् ।**
दशभिः पञ्चभिश्चैव निरूप्येते स्तुती उभे ।।४।।
शाश्वतो भगवानेव प्रतीत्यापि दृढीकृतः ।
बाधकं त्वन्यथाज्ञानमज्ञानं चापि हेतुतः ।।५।।

कारिकार्थ—एक श्लोक से पूर्ववर्ती वसुदेव स्तुति गत प्रार्थना की है और दो श्लोकों से परवर्ती देवकी स्तुति गत प्रार्थना की है; अतः दोनों स्तुति क्रमशः प्रार्थना श्लोकों को लेकर १० दश एवं पञ्च ५ श्लोकों द्वारा निरूपित हुई है वसुदेव कृत स्तुति प्रार्थना के साथ १० दश श्लोकों में हुई है और देवकी कृत स्तुति प्रार्थना के दो श्लोकों को लेकर ५ पञ्च श्लोकों में हुई है (यद्यपि देवकी कृत स्तुति ८ आठ श्लोकों में सम्पन्न हुई है तथापि प्रारम्भ के ३ तीन श्लोकों में ही मुख्यतया स्तुति की है अतः उसको 'त्रिधा', कहा है, चतुर्थ श्लोक में तो तृतीय श्लोकोक्त शरणागति के कारण का निर्देश किया है अतः उसका पूर्व में ही अन्तर्भाव है प्रथक् सत्ता नहीं, पञ्चम् एवं षष्ठ श्लोकों में क्रमशः अपनी रक्षा, एवं कंस को आपके जन्म का ज्ञान न हो पावै यह दो प्रार्थनायें की हैं, उक्त दोनों प्रार्थनाओं के साथ पूर्व कथित श्लोक त्रय गत स्तुति 'पञ्चधा' कही गई है, सप्तम श्लोक में रूप के उस संहार की प्रार्थना है उसका पूर्व प्रार्थनाओं के समान स्तुति में उपयोग नहीं अतः प्रार्थना २ दो ही बतलाई है ३ नहीं, अष्टम् श्लोक में तो भगवान् के गर्भगत होने में विरोध का परिहार मात्र किया है अतः उसका भी स्तुति में मुख्यतया उपयोग नहीं, इस दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि देवकी स्तुति मुख्यतया 'त्रिधा' ही है, उपयोगी दो प्रार्थनाओं को मिलाकर ५ 'पञ्चधा' भी है, और अवशिष्ट अङ्कों को लेकर 'अष्टधा' भी है ।।४
'विषितोऽसि' इस वाक्य में वसुदेवजी ने भगवत्स्वरूप को शास्त्र सिद्ध कहा है और प्रतीति के द्वारा भी उस शास्त्रैकसमधिगम्य स्वरूप की दृढता की है चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय हो जाने के कारण लोगों को भगवत्स्वरूप के ब्रह्म रूप होने में बाधा डालने वाला अन्यथा ज्ञान एवं अज्ञान हो सकता था वसुदेवजी स्तुति के द्वारा 'विदितोऽसि' वाक्य में उस अदृश्य अग्राह्य ब्रह्म की स्वेच्छा से दृश्य ग्राह्य होने की सूचना देकर उस अज्ञान एवं अन्यथा ज्ञान का निवारण करते हैं ।।५।।

॥ श्रीवसुदेव उवाच ॥

**श्लोक—विदितोऽसि+भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः ॥
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ॥ १३ ॥**

मूलार्थ—वसुदेवजी ने कहा है कि मैंने तुमको जान लिया है आप साक्षात् प्रकृति से पर उसके नियामक पुरुष हो आप पुरुषोत्तम हो, आपका स्वरूप केवल अनुभव एवं आनन्द रूप है, आप सर्व चेतनों की बुद्धि के द्रष्टा हैं ॥१३॥

श्री सुबोधिनी—तत्र प्रथमं बाधकधर्मैश्चाक्षुषत्वादिभिर्ब्रह्मत्वं नोपपद्यते इति चाक्षुषत्वे निमित्ताज्ञानाद् भगवद्विषयकमज्ञानं सम्भवति तदादौ निराकरोति विदितोऽसीति ।

ज्ञातस्वरूपस्तोत्रे एते, भवान् विदितो मया सम्यग् ज्ञातः आर्षेण ज्ञानेन, "तत्त्वमस्या" दिवाक्योत्थेन बहव एव जीवमपि भगवत्त्वेन जानन्तीति चेत् तत्राहासिती, यस्तु युष्मच्छब्देनापि व्यवह्रियते चतुर्भुजः सोऽपि त्वं विदितोऽसीत्यर्थः, अप्रयुज्यमानेऽपि युष्मच्छब्दे मध्यमपुरुषप्रयोगः, अतः शास्त्रतो लोकतश्च यः प्रतीयसे स मया विदित इत्यर्थः, ।

व्याख्यार्थ—उक्त स्तुति में सर्व प्रथम वसुदेवजी ने 'विदितोऽसि' इस वाक्य से मुझको तुम्हारा ज्ञान हो चुका है ऐसा कह कर भगवान् के विषय में अपने अज्ञान का निराकरण किया है, अज्ञान की सम्भावना इस प्रकार हो सकती है कि ब्रह्म तो अतीन्द्रिय है, उसका चक्षु आदि इन्द्रिय से ग्रहण सम्भव नहीं, जो स्वरूप सम्मुख प्रत्यक्ष दीख रहा है वह ब्रह्म नहीं हो सकता, चाक्षुष होना (नेत्रों से गृहीत होना) आदि उस स्वरूप की ब्रह्मता के बाधक धर्म हैं, यदि ब्रह्म के चाक्षुष प्रत्यक्ष होने में कारण उस ब्रह्म की एकमात्र इच्छा ही है ऐसा ज्ञान न हो पावे तो उक्त प्रकार से अज्ञान का सम्भव है, अतः आरम्भ में ही वसुदेवजी ने वैसे अज्ञान का अपने में अभाव बतलाया है कि 'विदितोऽसि' तुम जान लिये हो, वसुदेव और देवकी इन दोनों की की हुई स्तुति उनके भगवद्विषयक ज्ञान की सूचक हैं कि पिता और माता दोनों को भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो चुका है ।

श्री सुबोधिनी—अनेन परम्परया यः प्रतीयतेचेतनश्च यो वा साक्षात् प्रतीयते तदुभयरूपो भवानित्युक्तम् ।

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी का कहना है कि मैंने आपको अच्छी तरह जान लिया है, आर्ष ज्ञान से

टिप्पण— + विदितोऽसितभवान्, ऐसा पाठ न होकर उक्त पाठ का होना और वह भी भगवान् के जन्म प्रसङ्ग में उनके पिता श्री वसुदेवजी के शब्दों में वैयाकरणों को जो कि अर्धमात्रा के लाघव से पुत्रोत्सव मानते हैं अपनी ओर आकृष्ट करता है क्योंकि 'अस्मि' पद की अपेक्षा 'असि' पद में अर्धमात्रा का लाघव है वसुदेवजी का पुत्रोत्सव ही स्तुति रूप में व्यक्त हो रहा है ।

(ऋषियों जैसे दिव्य ज्ञान से) आपको मैंने भली भांति पहिचान लिया है, कदाचिद् भगवान् ऐसा प्रश्न कर बैठें कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वैदिक वाक्य जन्य ज्ञान से तो बहुत लोग जीव को भी भगवद्रूप से जान लेते हैं क्या उसी तरह आपका भी ज्ञान है ? इसके समाधान में वसुदेवजी ने 'असि' इस मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है, उक्त श्लोक में 'त्वम्' इस प्रकार युष्मद् शब्द का प्रयोग नहीं भी हुआ है तो भी 'असि' यह मध्यम पुरुष का प्रयोग सम्मुखस्थ चतुर्भुज स्वरूप के प्रति किया गया है कि 'युष्मद्' शब्द से जो सम्मुखस्थ चतुर्भुज रूप व्यवहृत होता है वह भी तुम जान लिये गये हो, अतः शास्त्र से और लोक से जो तुम ज्ञात होते हो वह मैंने जान लिया है, इस व्याख्यान से यह निरूपण किया है कि जिस अंतर्गत स्वरूप की परम्परा से प्रतीति होती है जिसके लिये 'भवान्' शब्द का प्रयोग अपेक्षित है एवं जिस देह इन्द्रियादि रूप जड वर्ग की बाह्य प्रतीति होती है जिसके लिये 'त्वम्' शब्द का प्रयोग अपेक्षित है वह दोनों रूप आप एक ही है, आपके स्वरूप में देह देही का विभाग नहीं, आप सर्वांश में आनन्दमय हैं 'आनन्द मात्र करपाद मुखोदरादि, श्रुति सिद्ध आपके स्वरूप का ज्ञान मुझे हुआ है,

श्री सुबोधिनी—अथवा, "विदितोऽसी" ति प्रतिज्ञाय भगवतो ब्रह्मत्वमुपसंहरिष्यन् सर्वत्वं प्राप्तस्य ब्रह्मत्वं भवतीति "भवान् "पुरुष" इतिपदद्वयेन बाह्याभ्यन्तररूपस्त्वमेवेन्याह, प्रत्यक्षोऽप्यप्रत्यक्ष इति ज्ञापयितुं वा सम्मुखोऽप्य- सम्मुख इति वा

व्याख्यार्थ—पूर्व व्याख्यान में 'भवान्' शब्द की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो पाती है क्योंकि 'असि' इस मध्यम पुरुष के प्रयोग से 'त्वम्' शब्द का या उसके अर्थ का लाभ होना अनिवार्य है ऐसी दशा में 'भवान्' शब्द से जो कार्य सिद्ध; करना है वह 'त्वम्' शब्द से ही सिद्ध हो जाता है, अतः दूसरे प्रकार से व्याख्यान करते हैं कि-अथवा 'विदितोऽसि' तुमको मैंने जान लिया ऐसी प्रतिज्ञा करके भगवान् की ब्रह्म रूपता का ही आगे उपसंहार में निरूपण करना है इस दृष्टि से 'भवान्' और पुरुष, इन दो पदों के द्वारा बाह्य, एवं आभ्यन्तर दोनों रूपों में एक रूप तुम ही हो क्योंकि सर्वभाव को प्राप्त होने वाला ही तो ब्रह्म है—

श्री सुबोधिनी—पुरुषत्रयरूपो भगवानिति वा वक्तु "मसि" "भवान्" "साक्षात्पुरुष" इतिपदत्रयं, अन्नमया- देरपि पुरुषविधत्वात् पुरुषो भवतीति तद्व्युदासार्थं साक्षादित्युक्तं, पुरुषप्रवेशात्परम्परया ते पुरुषाः, नन्वात्मस्फूर्तेः ब्रह्म- विदामपि साक्षात्पुरुषत्वं भवतीति ततोऽप्याधिक्यमाह प्रकृतेःपरः इति, न हिते जीवाः प्रकृतिनियन्तारः, प्रकृतिनियमनं च गुणानामर्थानां मायाजीवादीनां प्राकट्यकरणात्

व्याख्यार्थ—अथवा 'भवान् पुरुषः' इन पदों से ब्रह्म की विरुद्ध धर्माश्रयता का ज्ञान दिखलाना अभीष्ट है कि वह प्रत्यक्ष होते हुए भी अप्रत्यक्ष है सम्मुख होते हुए भी असम्मुख है, इस व्याख्यान में भी यह अरुचि रह जाती है कि 'असि' इस मध्यम पुरुष के प्रयोग के विना भी 'विदितो भवान्' इत्यादि प्रकार से भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष आदि अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो सकता था 'भवान्' शब्द ही 'त्वम्' के अर्थ को

बोधित कर सकता था 'असि' पद की सार्थकता प्रतीत नहीं होती अतः प्रकारान्तर से व्याख्यान करते हैं कि– अथवा भगवान् पुरुष त्रय+रूप है– क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम, या, आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक रूप से त्रिविध रूप आप ही है ऐसा प्रति पादन करने को 'असि' 'भवान्' 'साक्षात्पुरुष' इन तीन पदों का उपयोग है, 'साक्षात्पुरुषः' पद के अन्तर्गत 'साक्षात्' पद का प्रयोग इसलिये है कि आनन्दमय पुरुष का ही बोध हो अन्नमयादि पुरुषों का नहीं, क्योंकि वह आनन्दमय पुरुष के प्रवेश से पुरुष रूप होते हैं अतः साक्षात् पुरुष नहीं हो सकते वह तो परम्परा से पुरुष हैं, आत्म स्वरूप की स्फूर्ति होने पर ब्रह्मवेत्ताओं की भी साक्षात्पुरुषरूपता हो जाती है अतः उनसे भी अधिकता बतलाते हैं कि आप तो प्रकृति से पर हैं उसके नियन्त्रण करने वाले हैं। वह ब्रह्मवेत्ता लोग तो जीव हैं अत प्रकृति के नियामक नहीं, भगवान् ने कौस्तुभमणि और पीताम्बर के द्वारा गुप्त जीव, माया, आदि तत्वों को प्रकट कर अपनी प्रकृति नियामकता स्पष्ट की है।

श्री सुबोधिनी—प्रत्यक्षदोषस्तु 'असि' 'भवान्' इति पदाभ्यां परिहृत, ज्ञातत्वदोषश्च सर्वभावेन प्राकट्यात्, विरुद्धा धर्मा एकैकांशेन चरितार्था भवन्ति, तर्ह्यहमात्मा चतुर्भुजदेहे विद्यमानस्तथा भविष्यामीतिचेत् तत्राह केवलानु भवानन्दस्वरूप इति, केवलो देहेन्द्रियप्राणान्तः करणरहितः, नापि जीववत् केवल चिद्रूपः किन्त्वनुभवानन्दः, अयोगोलके वन्हिरिव भगवानस्मिन् देहे चिदानन्दः संक्रान्तो भविष्यती।

व्याख्यार्थ—प्रत्यक्ष दोष का परिहार तो 'असि' 'भवान्' इन पदों द्वारा कर ही दिया है, कि जिस तत्व को श्रुति अतीन्द्रिय बतलाती है वही तत्व अपनी इच्छा से साकार आनन्द रूप में वसुदेवजी के सम्मुख उपस्थित होता है और वसुदेवजी उनकी इच्छा से उन्हें जानकर कहते हैं कि आपको मैंने शुद्ध ब्रह्म पुरुषोत्तम रूप से जान लिया है, ऐसी अवस्था में यह मानना ही पड़ेगा कि अतीन्द्रिय होने के कारण ब्रह्म की प्रत्यक्षता जो दोष रूप मानी जाती थी वही उनकी निजेच्छा से गुण रूप हो जाती है, यद्यपि ब्रह्म को जान लेना प्रमाण सिद्ध नहीं क्योंकि उस अनन्त, एवं अग्राह्य तत्व का ज्ञान सम्भव नहीं अतः उसके विषय में 'ज्ञातत्व' भी एक दोष ही है परन्तु उस दोष का भी परिहार भगवान् के सर्वभाव से प्रकट होने के कारण हो जाता है, बात ऐसी है कि 'ससर्वं भवति' भगवान् सब कुछ हो जाते हैं, 'इदं सर्वं यदयमात्मा' यह सब कुछ जो है यह आत्मा ही है, इत्यादि श्रुति भगवान् की सर्वरूपता का प्रतिपादन करती हैं; वसुदेवजी भी 'भवान् पुरुष, पदों से उनकी बाह्य एवं आभ्यन्तर रूपता का वर्णन कर सर्व रूपताही सूचित करते हैं, ऐसी स्थिति में यह मानना अनिवार्य है कि भगवान् को देखने वाले नेत्र या नेत्रों का सामर्थ्य भी भगवान् ही है, तब स्वयं भगवान् का अपने आपको जान लेना जिस प्रकार दोषावह नहीं उसी प्रकार वसुदेवजी का भी उन्हें जान लेना अविरुद्ध ही है वसुदेवजी या उनकी शक्ति आदि सर्वरूप

टिप्पण + 'असि' पद से देह रूप 'भवान्' पद से देहाभिमानी, 'साक्षात्पुरुष', पद से परमात्मा इन तीनों का बोध होता है, भगवत्स्वरूप में जो देह है वही देही आत्मा है और वही परमात्मा भी है, भगवत्स्वरूप को खांड के पुरुष के भांति एक रस सर्वांश में आनन्दमय वसुदेवजी ने जाना है, व्याकरण में प्रथम, मध्यम, उत्तम, इस प्रकार तिङान्त पदों में व्यवहार किया गया है वहां भी उन्हें 'पुरुष' पदवी मिली है जो कि भगवान् की त्रिविधता की सूचक है

भगवान् ही तो हुए हैं अतः सर्व भाव से प्रकट होने के कारण (ज्ञातव्य) दोष को अवकाश नहीं, प्रत्यक्षत्व, अप्रत्यक्षत्व, आदि विरुद्ध धर्म एक २ अंश+से चरितार्थ हो जाते हैं, उनका विरोध नहीं रहता, अपनी इच्छा से भगवान् जिस समय दर्शन देते हैं उसी समय दर्शन करने वाले की इन्द्रिय के सामर्थ्य से अदृश्य भी बने रहते हैं।

श्री सुबोधिनी—त्याह स्वरूपः इति, यत् स्वरूपं दृश्यते तदेव चिदानन्दरूपं, न तु चिदानन्दौ स्वरूपे यस्मिन्, अतश्चिदानन्दस्वरूपः सच्चिदानन्दविग्रह इत्यर्थः, एवं परोक्षापरोक्षान्तर्यामिरूपः परिदृश्यमानो भवानित्युक्तं, आत्मा नोक्त इत्यात्मत्वेनापि भगवन्तं निरूपयति सर्वबुद्धिदृगिति, सर्वेषां बुद्धीः पश्यतीति सर्वेषां बुद्धिषु दृग् ज्ञान यस्येति वा, एवं षड्विधोऽपि भगवानयमेवेत्युक्तं प्रत्यक्षव्यवहारादयश्च धर्मा अंशेन समर्थिताः ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—'केवलानुभवानन्द स्वरूपः, इस विशेषण से वसुदेवजी ने भगवान् के एक प्रश्न का उत्तर देकर उनके स्वरूप के विषय में अपनी अभिज्ञता प्रकट की है भगवान् ने प्रश्न किया कि तो क्या इस चतुर्भुज देह के अन्तर्गत जो आत्मा है वही मैं उस प्रकार का पुरुषोत्तम आदि रूप होऊँगा। वसु-देवजी उत्तर में कहते हैं कि आप तो केवल हैं, देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण रहित हैं, आपके स्वरूप में जड़ देह एवं इन्द्रियादि का सम्भव ही नहीं, और न आप जीव की भांति केवल ज्ञान रूप ही हैं, आप तो अनुभवानन्द रूप हैं, चिन्मय एवं आनन्दमय हैं, लोहे के गोले में जिस प्रकार अग्नि का संक्रमण होता है कि प्रथम तो लोहा अग्नि से भिन्न ही प्रतीत होता है पश्चात् मुद्गर प्रहार आदि की प्रक्रिया से शनैः २ अग्नि उस लोह में प्रकट होकर सर्वांश में उसे अपने रूप में मिला लेता है। क्या उसी प्रकार चिदानन्द का सङ्क्रमण इस चतुर्भुज देह में हैं ? नहीं २ जो स्वरूप दृष्टिगत हो रहा है यह ही चिदानन्द रूप है, इस में चिद् और आनन्द हों और यह उनसे प्रथक् हों ऐसी बात नहीं, आप चिदानन्द स्वरूप है, सच्चिदानन्द ही आपका विभूह है मूर्तिमान् सच्चिदानन्द आप हैं, इस प्रकार परोक्ष (अदृश्य) अपरोक्ष (दृश्य) और अन्तर्यामी इन तीनों रूपोंवाला जो स्वरूप सामने दीख रहा है वह आप हैं यह निरूपण किया है, आप ही सर्वात्मा है ऐसा कहना अवशिष्ठ रहगया, अतः (सर्व बुद्धि दृग्) इस विशेषण से सब के आत्मा हैं इस प्रकार निरूपण करते हैं कि आप सब की बुद्धियों को देखते हैं, अथवा सब की बुद्धियों में जिनका दर्शन है ज्ञान है प्रकाश है जिनके प्रकाश से सब की बुद्धि प्रकाशित होती है इस प्रकार क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी, देह, जीव, अथवा आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, अन्तर्यामी, देह, जीव इन रूपों से छहों प्रकार का भी भगवान् यह ही है ऐसा कहा है, और प्रत्यक्ष व्यवहार आदि धर्मोंका अंशतः समर्थन❀ किया है ॥ १३ ॥

टिप्पण +प्राकृत इन्द्रियों से तो ब्रह्म सर्वथा अग्राह्य ही है परन्तु अप्राकृत इन्द्रिय भगवद्रूप ही है अतः अप्राकृत इन्द्रिय से ग्राह्य होने पर भी भगवान् की अधोक्षजता निर्विरोध सिद्ध है।

❀ प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष आदि के विरोध को हटाया है।

श्लोक—स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रेऽ त्रिगुणात्मकम् ॥
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे ॥ १४ ॥

मूलार्थ—वह ही आप अपनी प्रकृति से इस गुणत्रयात्मक जगत् को रचकर उसके अनन्तर प्रविष्ट न होते हुए भी प्रविष्ट जैसे प्रतीत होते हो।

श्री सुबोधिनी—दूषणान्तरमाशङ्क्य परिहरति स एवेति, यद्यहं सर्वरूपो भगवानेव कथं देवक्या उदरे प्रविष्ट इति चेत् तत्राहाप्रविष्ट एव तत्र विद्यमान एव प्रविष्ट इव भाव्यसे, न हि दर्शनमात्रेण प्रविष्टत्वनिर्धारः कर्तुं शक्यो यावच्छास्त्रेण दर्शनं संवादि न भवति, "स एष इह[1] प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये" "तत् सृष्ट्वा[2] तदेवानुप्राविशद्," "गुहां प्रविष्टौ[3] परमे परार्धे" एवं वेदे स्थित्यर्थं कार्यार्थमनेकरूपभवनार्थमन्यप्रवेशनार्थञ्च प्रवेशः श्रूयते,

व्याख्यान—उक्त श्लोक में अन्य दोष की आशङ्का कर समाधान करते हैं, भगवान् ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि यदि मैं सर्व रूप भगवान् ही हूँ तो देवकी के उदर में मेरा किस प्रकार से प्रवेश हुआ, उक्त प्रश्न पर वसुदेवजी बोलते हैं कि आप तो अप्रविष्ट ही हैं कहीं अन्यत्र से आकर आपने देवकी के उदर में प्रवेश किया हो ऐसी बात नहीं है आप तो वहां विद्यमान ही हैं उपस्थित ही हैं प्रवेश तो उसका होता है जो वहां पर न हो, परन्तु आप प्रविष्ट की भांति प्रतीत होते हो, केवल दर्शन या प्रतीति से प्रवेश का

टिप्पण—१– वृहदारण्यक उपनिषत् प्रथमाध्याय चतुर्थ ब्राह्मण सप्तम मन्त्र का वाक्य है। 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने ऽवहितः स्याद् विश्वम्भरो वा विश्वम्भर कुलाये' इस वाक्य में स्थिति के निमित्त आत्मा का प्रवेश इस शरीर में होता है यह निरूपण किया है छुरे का उसके कोष में प्रवेश स्थिति के निमित्त से ही होता है अतः छुरे के दृष्टान्त से यहां स्थित्यर्थ प्रवेश ही अभिमत है जैसा कि 'अवहितः स्यात्' इस वाक्य शेष से स्पष्ट होता है द्वितीय दृष्टान्त विश्वम्भर के कुलाय प्रवेश का है, इसके द्वारा कार्यार्थ प्रवेश सिद्ध होता है, यदि विश्वम्भर शब्द से भगवान् विष्णु का ग्रहण किया जावे तब तो भू भार हरणादि कार्य के लिय उनका प्रवेश जिस प्रकार देव मनुष्य पशु पक्षि आदि शरीरों में होता है उस प्रकार आत्मा का प्रवेश भी कार्यार्थ ही है, विश्वम्भर शब्द 'अग्नि' के अर्थ में यदि प्रयुक्त हुआ है तो भी 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' के अनुसार अन्न परिपाकं कार्य के लिये प्राणियों के देह में अग्नि रूप से भगवत्प्रवेश की भांति आत्मा का प्रवेश कार्यार्थ सिद्ध होता है।

२–द्वितीय वाक्य तैत्तरीय उपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली षष्ठ अनुवाक के अन्तर्गत है। तत् स्टट्वा तदेवानु प्राविशत इस प्रवेश को अनेक रूप भवनार्थ' मानना आवश्यक है जैसा कि 'सच्चत्यच्चाभवत्' इत्यादि अग्रिम वाक्यों से स्पष्ट है।

३. उक्त श्रुति काठकोपनिषत् प्र० अध्याय तृतीय वल्ली के प्रथम मन्त्र गत है, इसमें जीवात्मा परमात्मा दोनों का हृदय में प्रवेश कहा है।

निर्णय नहीं हो सकता है जब तक कि वह दर्शन या प्रतीति शास्त्र से संवाद प्राप्त न कर पायँ, जो दीखता है वह तब ही प्रमाणित माना जाता है जब शास्त्र भी वैसा ही प्रतिपादन करता हो, प्रवेश के विषय में कतिपय श्रुति उपलब्ध होती हैं, उनके अनुसार स्थिति के अर्थ तथा कार्यार्थ, एवं अनेक रूप होने के लिये, और अन्य प्रवेश के अर्थ (जीवात्मा के प्रविष्ट कराने के लिये) ब्रह्म का प्रवेश होता है, ऐसा सुना जाता है।

श्री सुबोधिनी—तथा देवक्यामपि कश्चन प्रवेशनप्रकारो भविष्यति, ननु तथापि सोपाधिक एव कार्याभिनिविष्ट एव प्रविशतीति मुख्यः कृष्णः कथं स्यात् तत्राह–प्रविष्ट एव प्रविष्ट इवेति, योगबलादपीन्द्र इव प्रवेशः सम्भवति दक्षिणायां वा जननार्थं प्रवेशः सम्भवति, 'यो वा इतो जनिष्यते स इन्द्रो भविष्यतीति तां प्राविशत् तस्या इन्द्र एवाजायते' तिश्रुतेर्दितेर्जठरे च मरुतां छेदनार्थमिन्द्रः प्रविष्टस्तथा भगवानत्र न प्रविष्ट इति वक्तुमप्रविष्ट इत्युक्तं, प्रवेशधर्मो भगवति वर्तत इति तज्ज्ञापनार्थं प्रविष्ट इवेति विभाव्यते, तर्हि कः प्रकारः प्रवेश इत्याकाङ्क्षायामाह यः पूर्वं सच्चिदानन्दरूप उक्तः स एवाग्रे पूर्वमेव स्व।

व्याख्यार्थ—उस प्रकार देवकी में भी प्रवेश का कोई प्रकार होगा, श्री देवकी के उदर में प्रकार विशेष से प्रवेश मानने में भगवान् की मुख्य कृष्णरूपता में उनकी प्रधानपरमतत्वरूपता में विचिकित्सा उत्पन्न हो सकती है कि प्रवेश करने वाला तो सोपाधिक होता है किसी कामना की उपाधि को लेकर ही प्रवेश करता है और उसका किसी कार्य में अभिनिवेश भी होता है वह किसी कार्य के सम्पादन करने को उसके अनुकूल उपायों का आग्रह पूर्वक संग्रह भी करता है जैसा कि जगत् के निर्माण आदि कार्य के लिये 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' (रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव) आदि श्रुतियों से सिद्ध है, सोपाधिक एवं कार्यार्थी स्वरूप मुख्य तत्व सदानन्द कृष्ण नहीं हो सकता वह तो सर्वोपाधि रहित लोक और वेद में अप्रसिद्ध पूर्णानन्द है उसका प्रवेश सम्भव नहीं, इस सदेह की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि 'अप्रविष्ट एव प्रविष्ट इव' आपतो अप्रविष्ट ही हैं प्रविष्ट जैसे प्रतीत हो रहे हैं, योग बल से भी प्रवेश हो सकता है (इन्द्र योगबल से परमात्मा में प्रविष्ट हुआ था) एव दक्षिणा नामक स्त्री में जन्म ग्रहण करने के निमित्त प्रवेश हो सकता है जैसा कि 'यो वा' इत्यादि श्रुति से सिद्ध है कि जो इससे जन्म ग्रहण करेगा वह इन्द्र होगा इस कारण से उस दक्षिणा में प्रवेश किया उस दक्षिणा से इन्द्र ही उत्पन्न हुवा, और दिति के उदर में मरुत नाम वाले उसके गर्भस्थ बालकों के नष्ट करने को भी इन्द्र ने प्रवेश किया था, भगवान् का प्रवेश उस प्रकार का नहीं है, ऐसा सूचित करने को "अप्रविष्टः" इस शब्द से भगवान् को अप्रविष्ट कहा है, परन्तु प्रवेश धर्म तो भगवान् में है ऐसा बतलाने को "प्रविष्ट इव" प्रविष्ट जैसे प्रतीत हो रहे हो-ऐसा कहा गया है, तो प्रवेश में क्या प्रकार है—

श्री सुबोधिनी—प्रकृत्याऽऽधिविकस्वभावेनेदं भगवदर्थमेव जगत् त्रिगुणात्मकं सृष्ट्वा, अन्यार्थं जगत्सृष्टौ प्रवेशोऽपेक्ष्यते न स्वार्थसृष्टावित्यप्रविष्ट एव भोगार्थं कारणत्वेनैवाविर्भूतः सृष्ट्यन्तरन्यायेन प्रविष्ट इव विभाव्यसे, अयमत्र प्रवेश दर्शने प्रकार उक्तः, भगवान् स्वार्थं सृष्टानस्मानुपभोक्तुमस्मासु स्थित एवाविर्भूत इत्यप्रविष्ट एव प्रविष्टो विभाव्यस इत्यर्थः, यथा सृष्ट्यन्तरन्यायेन प्रवेशभावना तथा स्नेहद्वेषसाधारणभावानामपि प्रभुविषयकाणां लीलास्थजनेषु दर्शनात् सृष्ट्यन्तरन्यायेन तेषामेवात्र सत्त्वादिरूपत्वमित्याशयेन त्रिगुणात्मकत्वोक्तिर्ज्ञेया,

व्याख्यार्थ—ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं कि जो पूर्व में सच्चिदानन्द रूप कहा गया है वह हो आप अपनी निज प्रकृति या आधिदैविक स्वभाव से इस भगवल्लीलोपयोगी त्रिगुणात्मक जगत् की रचना करने के अनन्तर यद्यपि आप उसमें प्रविष्ट नहीं हुए हो क्योंकि अन्य के लिये की गई जगत् की सृष्टि में साक्षी होने के लिये या प्रकाश एवं नियन्त्रण आदि करने के लिये प्रवेश अपेक्षित है अपने लिये की गई लीला सृष्टि में तो कारण रूप से विद्यमान स्वरूप के द्वारा ही अन्तर्यामी का एवं जीव का भी कार्य हो जाता है अतः वहां प्रवेश की अपेक्षा नहीं, वहां पर तो भोग्य पदार्थों का भोग करने को कारण रूप से जो आप प्रकट होते हैं उन्हें ही जीवार्थ सृष्टि की भांति प्रविष्ट जैसा मानलिया गया है, यह यहां पर प्रवेश के दर्शन में प्रकार बतलाया है कि वास्तव में परमतत्व कृष्ण का प्रवेश सम्भव नहीं प्रवेश की प्रतीति मात्र है, वसुदेवजी कहते हैं कि आप भगवान् हैं आपने अपने लीला विलास के लिये हम लोगों को रचा है हमारा उपभोग करने के लिये हमारे अन्तः स्थित ही आप बाहर प्रकट हुए हो अतः अप्रविष्ट हो हो तो भी प्रविष्ट जैसे प्रतीत होते हो यह अर्थ होता है, वसुदेवजी ने इस लीला सृष्टि की त्रिगुणात्मक इस सृष्टि से कहा है कि जिस प्रकार जीवार्थ सृष्टि में होने वाले आपके प्रवेश की भावना इस निज सृष्टि में भी होती है मुख्यतया प्रवेश तो अन्यार्थ सृष्टि में ही है यहां तो केवल उसकी भावना (प्रतीति) मात्र है, उसी प्रकार त्रिगुणात्मक भी साधारण जगत् ही है यह असाधारण लीलात्मक जगत् त्रिगुणात्मक नहीं फिर भी लीलास्थ जनों में भगवद्विषयक स्नेह, द्वेष एवं साधारण (उदासीन) आदि भावों की प्रतीति होती है उन्हीं भावों को परार्थ सृष्टि की प्रक्रिया से यहां सत्व आदि गुण रूप मानलिया गया है और लीला सृष्टि को त्रिगुणात्मक कह दिया है।

श्री सुबोधिनी—अत्रिगुणात्मकमिति वा, यद्वाग्रे पूर्वं त्रिगुणात्मकं जगत् सृष्ट्वा तदनु तदनन्तरमुक्तरूपया स्वप्रकृत्येदं लीलात्मकं जगत् सृष्ट्वेत्यग्रे पूर्ववत्, अन्यथा क्त्वाप्रत्ययेनैव पूर्वभावित्वप्राप्त्यार्थादेवाप्रवेशानन्तर्यमपि लभ्यत एवेति तदन्वितिपदं व्यर्थं स्यात्, यद्वा सृष्ट्यनन्तरं यस्तत्र प्रवेशस्तस्यानुप्रवेश इति रूढनाम ज्ञेयं, तथा सति नोनदोषः, अत एव श्रुतिरपि "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश" दित्युक्तवती अन्यथानिरत्युपसर्गवैयर्थ्यं स्यात् ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—वास्तव में तो यह सृष्टि गुणातीत ही है, अथवा (अत्रिगुणात्मकम्) ऐसा पद-च्छेद यहां पर अभीष्ट है, तब तो लीला सृष्टि की गुणातीतता स्पष्ट ही है, अथवा "अग्रे त्रिगुणात्मकं सृष्ट्वा ततनु स्व प्रकृत्या-इदं सृष्ट्वा' इस प्रकार पद योजना अभीष्ट है, 'तदनु' पद का योग 'प्रविष्ट' पद से नहीं क्यों कि 'तदनु' का अर्थ 'तदनन्तर' होता है और उस अनन्तर अर्थ की प्रतीति 'सृष्ट्वा' पद के अन्तर्गत 'क्त्वा' प्रत्यय से ही हो जाती है, क्यों कि वह 'क्त्वा' प्रत्यय पूर्व काल की क्रिया का बोधक है, तब अनन्तर या उत्तर काल की प्रतीति स्वभावतः हो जाती है अतः प्रवेश की उत्तर कालिकता 'तदनु' पद के बिना ही सिद्ध है तदर्थ उसकी आवश्यकता नहीं, अतः उक्त योजना के अनुसार इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये कि पूर्व में त्रिगुणात्मक जगत् को रचकर तदनन्तर आधिदैविक प्रकृति से इस लीलात्मक जगत् को रचकर आप अप्रविष्ट ही प्रविष्ट जैसे होते हैं, अथवा 'तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशता' इस श्रुति में 'अनु' इस उपसर्ग का प्रयोग हुआ है इससे यह स्वीकार

करना आवश्यक है कि सृष्टि के अनन्तर जो प्रवेश होता है उसका 'अनुप्रवेश' यह रूढ नाम है, उसके अन्तर्गत 'अनु' पद का 'अनन्तर' अर्थ नहीं है, ऐसा मान लेने से पूर्वोक्त रीति से जो 'अनु' पद की व्यर्थता का दोष सम्भावित था वह नहीं रहता है ।+

श्लोक—यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते (तथैव) विकृतैः सह ।
नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि ॥ १५ ॥

मूलार्थ—जिस प्रकार यह अविकृत (आधिदैविक भाव) है उसी प्रकार वह प्राकृत भाव भी हैं, इन दोनों का सादृश्य नाना प्रकार के सामर्थ्य और पृथक होने से है यह अविकृत भाव विकृत भावों से मिलकर ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं यह ठीक ही है ॥ १५॥

श्री सुबोधिनी—उक्तरीत्या दूषणान्तरमप्याशङ्क्य पुनः परिहरति द्वाभ्यां यथेमेऽविकृता भावा: इति । नन्वस्मिन् रूपे प्राकृतेष्विव पृथिव्यादीनि भूतानि प्रतीयन्ते, ततः कथमानन्दमय इति चेत् तत्राह यथेमेऽस्मिन् रूपे विद्यमाना अविकृता भावा आधिदैविकानि चतुर्विंशतितत्त्वानि "चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः" इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितानि तत्तत्कार्यार्थं तत्र तत्र स्थितानि, विकृतैस्तथैव चतुर्विंशतितत्त्वैः प्राकृतैः सह नानावीर्या रूपरसादिज्ञापनादिसमर्थाः ।

व्याख्यार्थ—अन्य दोष की आशङ्का कर फिर उसका परिहार 'यथेमे' आदि दो श्लोकों से करते हैं, यह शङ्का हो सकती है कि इस भगवत्स्वरूप में उसी प्रकार पृथिवी आदि भूतों की प्रतीति होती है जिस प्रकार प्राकृत पदार्थों में उनकी प्रतीति होती रहती है, तो इस भगवत्स्वरूप को आनन्द मय कैसे माना जाय, शरीररूप से पृथिवी की, मुखारविन्द में प्रधानतया जल की, सर्वाङ्ग में कान्ति रूप से तेज की नासिका में प्राण रूप वायु की, एवं अन्यान्य छिद्रों में अवकाश रूप से आकाश की प्रतीति होती है, उक्त आशङ्का के समाधान करने को दृष्टान्त के द्वारा भगवत्स्वरूप में प्रतीत होने वाले पृथिवी आदि तत्वों की नित्यता एवं अविकारिता सूचित करते हैं कि इस भगवत्स्वरूप में विद्यमान देह इन्द्रियादि सब अविकारी भाव हैं चौबीसों तत्व आधिदैविक ही हैं, आधिभौतिक नहीं, इनकी आधिदैविकता का प्रतिपादन केनोपनिषत् की 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'❀ आदि श्रुति ने उपलक्षणरूप से किया है, कि वह श्रवण आदि ज्ञानेन्द्रियों का

श्री सुबोधिनी—अन्योन्यममिलिता भिन्नान्येव कार्याणि कर्तुमेकस्मिन्नेव कार्ये सर्वे संहत्य विराजं ब्रह्माण्डविग्रहं स्वराड्देहं जनयन्ति, युक्तश्चायमर्थः आधिदैविकव्यतिरेकेणाधिभौतिकात् केवलात् कार्यं न सम्भवतीति, तथा प्रकृतेऽपि सर्वांशो भगवानिति तान्याधिदैविकानीह प्रतीयन्त इति न कोऽपि दोषः ॥ १५ ॥

टिप्पण – +इस श्लोक के व्याख्यान में सिद्धान्त पक्ष सर्वप्रथम ही कह दिया है, 'वा यद्वा' शब्दों द्वारा जिन पक्षान्तरों को दिखलाया है वह महा भाष्यकार की व्याख्यान प्रक्रिया का स्मरण दिलाते हैं, कि यह पक्षान्तरोपन्यास केवल किसी शा व्याख्यान की दिशा बतलाने मात्र को ही है इसमें आचार्य का तात्पर्य नहीं,

टिप्पण—❀ यह केनोपनिषत् के प्रारम्भ की द्वितीय श्रुति है ।

श्रवण आदि रूप हैं, मनः प्रभृति अन्तःकरणों का मन आदि रूप है, वागादि कर्मेन्द्रियों का वाक्-आदि रूप है एवं पृथिवी का पृथिवी जल का जल आदि भी है, यह ही आधिदैविक तत्व है, आधिभौतिक पृथिवी आदि में यह आधिदैविक तत्व उन २ कार्यों के लिये स्थित रहते है, इनके बिना केवल आधिभौतिक चक्षु आदि से रूपादि ग्रहण का कार्य नहीं हो सकता है।

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार आधिदैविक २४ प्रकृति आदि तत्व (नाना वीर्य) है जैसे आधिदैविक चक्षु रूप का ज्ञान करा देने का सामर्थ्य रखता है, रसना रस के ज्ञान करा देने का सामर्थ्य रखता है एवं आधिदैविक हस्त पदादि भी आदान प्रदान गमन आगमन आदि का सामर्थ्य रखते हैं तथा पृथक् पृथक् अवस्थित है परस्पर में मिलित नहीं है, भिन्न भिन्न कार्यों के करने को पृथक् ही रहते हैं, उसी प्रकार आधिभौतिक प्रकृति आदि तत्व भी (नाना वीर्य) है और पृथग्भूत भी है, परन्तु ब्रह्माण्ड रचना के एक ही कार्य में यह सब आधिदैविक तत्व आधिभौतिकों से मिलकर ब्रह्माण्ड शरीर विराट् को जन्म देते हैं जो कि स्वराट् पुरुष का देह कहलाता है, ऐसा होना ठीक भी है क्योंकि आधिदैविक मूल या प्राणप्रद तत्व के बिना केवल आधिभौतिक से कार्य नहीं हो सकता है, जब ऐसी बात है कि प्राकृत स्थल में भी अप्राकृत तत्वों का रहना शास्त्र सम्मत है तब अप्राकृत भगवत्स्वरूप में जो तत्व दृष्टिगत हो रहे हैं वह तो अप्राकृत ही हैं आधिदैविक हो हैं अतः उनको लेकर भगवत्स्वरूप की विकारिता या अनित्यता का सन्देह नहीं रह पाता, किसी दोष को अवकाश नहीं रह जाता क्योंकि जो स्वरूप प्रकट दर्शन दे रहा है वह सर्वांश+युक्त भगवान् है किसी भी अंश में प्राकृतता का स्पर्श नहीं ॥ १५ ॥

श्लोक—सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव ॥
प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः ॥ १६ ॥

मूलार्थ—(वह प्राकृत और अप्राकृत भाव) मिलकर भले प्रकार (भौतिक जगत्) को उत्पन्न कर उसमें अनुगत जैसे पीछे से प्रविष्ट हुए से दीखते हैं, परन्तु पहले से ही विद्यमान होने के कारण उनका यहां प्रवेश सम्भव नहीं ॥ १६ ॥

टिप्पण+ यहां इतना और भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि भगवान् पुरुषोत्तम श्री कृष्ण केवल आनन्दमय है उनमें आधिदैविक तत्वों का भी प्रवेश सम्भावित नहीं परन्तु इनके अंशों की विशुद्ध सत्व शरीरता है अतः उन अंशों में आधिदैविक तत्वों की सत्ता प्रमाण सिद्ध है, अवतारी स्वयं भगवान् कृष्ण में अंश गत आधिदैविक तत्वों की प्रतीति अंशी होने के कारण होती है वास्तव में तो वह आनन्द मात्र करपादमुखोदरादि रूप ही है, इसी दृष्टि से सुबोधिनी कार ने (सर्वांशो भगवान्) ऐसा कहा है इस प्रकार योजनाकार ने योजना की है।

श्री सुबोधिनी—ननु त्वक्चर्मादयोऽपि प्रतीयन्ते लोमदन्तनखानि च ततः कथमानन्दमय इति चेत् तत्राह सन्निपत्येति । सन्निपत्य मिलित्वा सम्यगुत्पाद्येतिपूर्वानुवादः कार्येऽपि कारणेष्विवाधिदैविकं रूपं वर्तत इतिज्ञापनार्थः, अनुगता इव दृश्यन्ते पुनः कार्ये त्वक्चर्मादिरूपेण पृथिवीसमष्टौ तत्तद्रूपा वा, सर्वत्र रुधिरादिरूप जलमेवमन्यदपि, तर्हि दर्शनप्रामाण्यादनुगता इव भवन्त्वितिचेत् तत्राह प्रागेव कारणत्वेनेह विद्यमानत्वात् पुनस्तेषामिहोत्पत्तिर्न सम्भवति, कारणानां विलक्षणत्वात्, साक्षात्प्रवेशस्तु प्रतीत्यैव बाधितः, यथाऽऽधिदैविकानि कारणरूपाण्येवं दन्तादीन्यप्याधिदैविकानीतिपूर्ववत् तेषामप्यत्र प्रतीतौ न कोऽपि विरोधः ।। १६ ।।

व्याख्यार्थ—पूर्व श्लोक में यह निरूपण किया गया है कि भगवत्स्वरूप में जो कारण रूप से पृथिवी आदि तत्व प्रतीत होते है वह आधिदैविक तत्व हैं प्राकृत नहीं, अतः सर्वांश पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण में उनके अंशगत आधिदैविक तत्वों की प्रतीति होने पर भी उनकी आनन्दमयता अक्षुण्ण बनो रहती है, परन्तु यह एक सन्देह उपस्थित हो सकता है कि भगवत्स्वरूप में जो त्वचा, चर्म, रोम, दन्त, नख आदि प्रतीत होते हैं वह तो कार्यरूप हैं पृथिवि आदि तत्वों के विकार हैं, इनको आधिदैविक कैसे माना जा सकता है अतः भगवान् को आनन्दमयता विचारणीय ही है, उक्त सन्देह के निवारणार्थ इस श्लोक से दृटान्त के द्वारा त्वचा, चर्म आदि को भोआधिदैविक होने से नित्यता एवं अविकारिता बतलाते हैं, इस श्लोक में आधिदैविक तत्व आधिभौतिक तत्वों से जल से दुग्ध की तरह मिलकर विराट् जगत् को भलीभांति उत्पन्न करके उसमें पट में तन्तुओं की भांति अनुगत जैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु पूर्व से ही विद्यमान होने के कारण उनकी यहां उत्पत्ति का सम्भव नहीं ऐसा कहा है, ध्यान देने की बात है कि जब पूर्वश्लोक में 'विराजं जनयन्ति हि' ब्रह्मांड के निर्माण की चर्चा हो चुकी है तो प्रकृत श्लोक में 'समुत्पाद्य' पद के द्वारा उस चर्चा को फिर दुहराना इसी मर्म को रखता है कि आधिदैविक तत्वों की सत्ता कारणों तक ही सोमित नहीं है अपितु उनके साथ २ कार्य में भी व्याप्त है, इस मर्म की सूचना 'सन्निपत्य' 'समुत्पाद्य' इन पदों द्वारा हुए अनुवाद से ही होती है अन्यथा पूर्व श्लोक में 'सह' 'जनयन्ति' इन पदों से मिलकर उत्पन्न करने का प्रसंङ्ग कथित ही है प्रकृत श्लोक में उसका अनुवाद करना निष्प्रयोजन सिद्ध होगा, आशय यह है कि अनुवाद के द्वारा आधिदैविक तत्वों का स्मरण कराना अभीष्ट है अन्यथा 'दृश्यन्तेऽनुगता इव'

श्लोक—एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः ।।
अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः ।।१७।।

मूलार्थ—इसी प्रकार आप बुद्धि के द्वारा ही जिनका स्वरूप अनुमानतः सिद्ध होता है उन इन्द्रियों से गृहीत होने वाले गुणों के साथ रहते हुए भी उन इन्द्रियों के सामर्थ्य से गृहीत नहीं हो पाते, आपके आवरण होने के कारण बाहर भीतर का भेद नहीं क्योंकि आप सर्वरूप हैं सब के आत्मा हैं और आत्मामात्र के वस्तु रूप (फलरूप) हैं ।। १७ ।।

श्री सुबोधिनी—एवं दृष्टान्तद्वयमुपपाद्य तेषामाधिदैविकानां भगवतो भेदो भविष्यतीति तन्निराकरणार्थं दार्ष्टान्तिकेऽतिदिशन्येवं भवानिति ।

एवंरूपो भवानेवेत्यर्थः. अन्यथा मूलयस्तादृशत्वे कार्यं तादृशं न कदापि भवेदिति पुनर्दूषणान्तरमाशङ्क्य परिहरति बुद्ध्यनुमेयेति, ननु भगवान् दृश्य: कथमन्यथा सर्वमुक्तिश्च स्यात् ? बाह्यत्वेन भिन्नत्वेन च कथं प्रतीयते ? न हि भगवान् बाह्य एव भिन्न एव, तस्माद् भिन्नत्वेन बाह्यत्वेन दृश्यत्वेन च प्रतीयमानत्वाद् दोषत्रयसद्भावान्नानन्दमयो भगवानिति ।

व्याख्यार्थ—इतने कथन मात्र से आधिभौतिकों के ही अनुगत होने की प्रतीति की सम्भावना थी, वह ही आधिदैविक तत्व कार्य में अनुगत जैसे प्रतीत हो रहे हैं, आधिदैविक त्वचा चर्म, आदि रूप से आधिदैविक पृथिवी तत्व, अनुगत है अतः भगवत्स्वरूप में जो त्वचा आदि प्रतीत होते हैं वह आधिदैविक ही हैं एवं समष्टि रूप भौतिक देह में या ब्रह्माण्ड में पृथिवी, जल, तेज आदि कारण तत्व उन रूपों में प्रतीत होते हैं, देह में कारण रूप जल तत्व ही रुधिरादि रूप से प्रतीत होता है, इसी प्रकार अन्य आकाश आदि तत्व भी छिद्र के अवकाश आदि रूप से प्रतीत होते हैं, जबकि कारण तत्व कार्य में दृष्टिगत होते हैं तो उसी आधार पर उस दर्शन (प्रतीति) के प्रमाण बल से यह क्यों न मानलिया जाय कि कारण तत्व अनुगत ही हैं, अर्थात् वह कारण ही कार्य रूप से उत्पन्न हुए हैं, ऐसी शङ्का में उत्तर कहते हैं कि पहले से ही कारण रूप से इस विराट रूप में और ब्रह्माण्ड के ऊपर भी विद्यमान रहने के कारण फिर उन कारण तत्वों को यहां कार्य में उत्पत्ति सम्भावित नहीं, प्रकृत के उपयोगी आशय को इस प्रकार जानना आवश्यक है कि भगवत्स्वरूप में आधिदैविक तत्वों की प्रकट सच्चिदानन्द रूप अलौकिक भावात्मक कारण रूप से सत्ता है अतः उनकी त्वचा चर्म, आदि रूप से उत्पत्ति नहीं है किंतु वह आधिदैविक तत्व हो त्वचा चर्म आदि के रूप को अवतार की तरह ग्रहण करके वहां पर उपस्थित हैं, अतः भगवत्स्वरूपगत त्वक् चर्मादि आधिदैविक तत्वों के कार्य नहीं किंतु रूपांतर ही है, उनकी उत्पत्ति का सम्भव नहीं क्योंकि आधिदैविक तत्वरूप कारणों की आधिभौतिकों से विलक्षणता होती है, भौतिक तत्व लौकिक कार्यों में उस रूप से उत्पन्न होते हैं आधिदैविक तत्व तो आधिदैविक कार्यों का अवतार की भांति रूपान्तर ग्रहण करते हैं ।

श्री सुबोधिनी—चेत् तत्राह बुद्ध्याऽनुमेयं लक्षणं येषां तादृशैरिन्द्रियैर्ग्राह्यैर्गुणै रूपादिभिः सह तत्र विद्यमानो भवान् गृह्यमाणोपीन्द्रियसम्बन्धयुक्तोऽपि सन्नपि तद्गुणैरिन्द्रियसामर्थ्येन ग्रहो यस्य,

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार बीज अङ्कुर रूप में प्रकट होता है तब बीज की पृथक् सत्ता प्रतीत नहीं होती क्योंकि वहां बीज का साक्षात् प्रवेश है उसी प्रकार कारण तत्व कार्य रूप में प्रकट हो जाता है ऐसा भी स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि माता पिताओं के शरीरों में त्वचा आदि की सत्ता पृथक् ही प्रतीत होती है अतः पुत्र के शरीर में उन त्वचा आदि का साक्षात् प्रवेश सिद्ध नहीं हो सकता बीज का अंकुर में जैसे साक्षात् प्रवेश है वैसा प्रवेश तो उक्त प्रतीति से बाधित होने के कारण नहीं माना जा सकता

है उक्त प्रक्रिया से यह सिद्ध होता है कि जैसे आधिदैविक कारणरूप पृथिवी आदि तत्व भगवत्स्वरूप में प्रतीत होते हैं इसी प्रकार दन्त आदि भी आधिदैविक ही हैं अतः पृथिवी रूप शरीर आदि की भांति दन्त आदि की प्रतीति में कोई विरोध नहीं ।। १६ ।।

श्री सुबोधिनी—यद्यपि भगवानिन्द्रियेषु विषयेष्वपि वर्तते तथापि तेषामिन्द्रियाणां न भगवद्ग्रहणसामर्थ्यं, न वाऽऽधिदैविकानामन्यार्थं, निविष्टानां, ग्राह्यस्वरूपत्वाच्च न ग्राहकत्वं, न वा विषयाणां स्वाधिदैविकैः सह ग्राहकसम्बन्धः, अतः सर्वत्र विद्यमानोऽपि रूपभूतोऽपि रूपे गृह्यमाणे न गृह्यसे, इन्द्रियाणां प्रत्यक्षता तु नास्ति, आत्माग्राहकत्वात्, अतो 'रूपोपलब्धिःकरणसाध्या क्रियात्वाच् छिदिक्रियाव' दित्यनुमानेन सामान्यतः करणे सिद्धे नेत्रगोलकान्वयव्यतिरेकानुविधानाच् चक्षुरेव करणमित्यध्यवसीयते, एवं रसोपलब्धिर्गन्धोपलब्धिरित्यादि, अनेक 'प्रत्यक्षत्व एव प्राकृतत्वमप्रत्यक्षत्वेऽप्राकृतत्व' मिति निरस्तं, न ह्यप्रत्यक्षाणीन्द्रियाण्यप्राकृतानि भवन्ति, अतो भगवतः प्रत्यक्षत्वेऽपि,

व्याख्यार्थ—इस प्रकार दो श्लोकों से दो दृष्टान्तों का विचार करने के अनन्तर उन दृष्टान्तोक्त आधिदैविक भावों का भगवान् से भेद होगा ऐसी शङ्का के निवारण करने के लिये दृष्टान्तों द्वारा जिसे लक्षित करना है उस दार्ष्टान्तिक भगवत्स्वरूप में आदेश करते हैं कि ,एवं भवान्' ऐसे स्वरूप वाले आप ही हैं, अर्थात् पूर्व दो श्लोकों में आधिदैविक तत्वों के विषय में जो चर्चा की है वह आपकी ही है, क्योंकि सब के मूल रूप तो आप ही हैं, यदि मूल तत्व नित्य, अविकृत नहीं हो तो उसका कार्य कदापि नित्य, अविकृत नहीं हो सकता, आधिदैविक तत्वों की नित्यता और अविकारिता के प्रयोजक उनके मूल रूप होने के कारण आप ही हैं, पुनः अन्य दोष की आशङ्का कर (बुद्ध्यनुमेय) इत्यादि के द्वारा उस आशङ्का का निवारण करते हैं, आशङ्का यह है कि भगवान् तो दृष्टा है वह दृश्य कैसे हो सकता हैं और यदि वह

टिप्पण—इस श्लोक के व्याख्यान में (तर्हि दर्शनप्रामाण्यादनुगता इव भवन्त्विति) इस पंक्ति में (इव) शब्द के स्थान पर (एव) शब्द का होना सम्भावित है, लेखकार ने तो इस पंक्ति को इसी प्रकार सङ्गत करने का सफल प्रयास किया है, परन्तु प्रकाश एवं योजनाकार ने पाठ सम्बन्ध में यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेखन नहीं किया तो भी उनकी व्याख्या शैली से सूचित होता है कि वह (एव) घटित पाठ से सहमत है, व्याख्या की विश्लेषणात्मक पद्धिति को दृष्टिगत करते मेरा इन शब्दों को लिखना अनधिकार नहीं क्योंकि (दृष्यन्तेऽनुगता इव) यह तो मूल पाठ है ही उसमें (इव) शब्द की आवश्यकता सिद्ध करने के लिये पूर्व पक्ष में (एव) शब्द का प्रयोग दिखलाया है (प्रागेव) इत्यादि ग्रन्थ से पूर्व पक्ष का खण्डन कर (इव) शब्द की आवश्यकता सिद्ध की है । लेखकार कहते हैं किकारण के असाधारण धर्म कार्य में नहीं पहुँचते साधारण धर्म ही पहुँच पाते हैं अतः (इव) पद का प्रयोग है, कार्यों में साधारण धर्म भी कार्य रूप से उत्पन्न होते हैं अतः वहां पर अनुगत कहे जा सकते हैं परन्तु कारण में तो उत्पत्ति का सम्भव नहीं अतः कार्य धर्म कारण में अनुगत जैसे नहीं कहे जा सकते यद्यपि कार्य धर्मों की परम्परा से कारण में प्रवेश हो सकता है कि वह धर्म कार्य में प्रविष्ट होते हैं और कार्य अपने समष्टि रूप विराट् में प्रविष्ट होता है विराट् अपने कारण रूप तत्वों में और तत्व भगवान् में इस परम्परा से कह सकते हैं परन्तु साक्षात् प्रवेश तो बाधित है क्योंकि कार्य धर्मों का उतना सामर्थ्य नहीं ।। १६ ।।

दृश्य है तो सर्व मुक्ति की सम्भावना है क्योंकि विना ही साधन के जब भगवत्स्वरूप दृष्टिगत हो सकता है तो मुक्ति होने में क्या साधन अवशेष रह जाते हैं जो वह नहीं होतो, अतः उक्त स्वरुप का दृष्टिगत होना उनके भगवद्रूप होने में बाधक है, ब्रह्म को तो 'अदृश्यमग्राह्यम्' आदि कहा है, एवं जो 'अनन्तरमबाह्यम्' बाह्य आभ्यन्तर आदि भेदों से रहित है वह बाह्य रूप से तथा भिन्न रूप से कैसे प्रतीत होता है, न तो भगवान् बाह्य ही हैं न वह भिन्न ही हैं, अतः भिन्न, तथा बाह्य, और दृश्य रूप से प्रतीत होने के कारण त्रिदोष के उपस्थित होने से प्रस्तुत स्वरूप को आनंदमय भगवान् नहीं माना जा सकता, ऐसो आशङ्का में कहते हैं कि जब इन्द्रियों के सामर्थ्य से आपका ग्रहण नहीं होता तो श्रुति सिद्ध आपकी अदृश्यता व अग्राह्यता से तो कोई विरोध ही नहीं है, बुद्धि से जिनके लक्षण या स्वरुप को अनुमानतः जाना जाता है उन इन्द्रियों से ग्रहीत होने वाले रूप आदि गुणों के साथ —

श्री सुबोधिनी—प्राकृतत्वमप्राकृतत्वं वा न सेत्स्यतीति युक्तिरप्रयोजिका, ननु व्यापकव्यभिचारो न दोषायेति चेद् यत् प्रत्यक्षं तत् प्राकृतमेवेति भगवतः प्रत्यक्ष त्वात् प्राकृतत्वमेवेति चेत् तत्राह ग्राह्यैर्गुणैरिति, सर्वत्रैव भगवान् वर्तते न सर्वत्रैव प्रत्यक्षः, रूपादिषु विद्यमानस्यास्यैव चक्षुषाऽग्रहणात्, क्वचिदपि प्रत्यक्षत्वमपि बाधकमितिचेत् तत्राह तद्गुणाग्रह इति, न हि चक्षुः सामर्थ्येनेदानीमत्रापि भगवान् दृश्यते, किन्तु स्वेच्छयैव, अतः स्वेच्छया प्रतीतमिन्द्रियग्रहणदोषेण न दुष्टं भवति, 'पराञ्चि+खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छ'न्निति श्रुतेः परावृत्तचक्षुषो ग्राहकत्वं श्रूयते स्वभावतश्च निषेधः, न ह्युभयं विरुद्धं, तथा प्रकृतेपीन्द्रियसामर्थ्यादिदृश्यः स्वेच्छया तु दृश्य इत्यविरुद्धं, तस्माद् दृश्यत्वेनाब्रह्मत्वशङ्का,

व्याख्यार्थ—वहां आप विद्यमान हैं, अतः इन्द्रियों से आपका ग्रहण होता भी है, रूपादि की भांति इन्द्रियों से आपका संयुक्त समवाय आदि सम्बन्ध भी है, होते हुए भी आप उन इन्द्रियों के गुणों से उनके सामर्थ्यो से गृहीत नहीं होते. बात ऐसी है कि भगवान् इन्द्रियों में भी विराजते हैं और उनसे गृहीत होने वाले घट पटादि वस्तु में तथा रूप, रसादि गुणों में भी विराजमान हैं, तो भी उन इन्द्रियों की सामर्थ्य नहीं जो भगवान् को ग्रहण कर सके, तथा आधिदैविक इन्द्रिय तो सामान्य इन्द्रियों में लौकिक विषय के ग्रहण करने के सामर्थ्य सम्पादन को उन भौतिक इन्द्रियों में प्रविष्ट होते हैं अतः उनका भी सामर्थ्य नहीं, तथा (श्रोत्रमयुष्य शब्दः) (घ्राणोऽस्यगन्धः) भा० द्वि० प्र० अध्याय के अनुसार आधिदैविक इन्द्रिय तो स्वयं ग्राह्य विषय स्वरूप है वह विषय के ग्राहक नहीं हो सकते, एवं अपने आधिदैविक इन्द्रियों के साथ विषयों का वह सम्बन्ध भी नहीं जो विषय ग्राहक इन्द्रियों से विषयों का होता है, अतः आप सर्वत्र विद्यमान भी हैं सब के स्वरूप हैं, रूप, रस आदि भी आप है तो भी रूपादि के ग्रहीत होते हुए भी आप ग्रहीत नहीं होते यदि इन्द्रियों की प्रत्यक्षता का संभव हो तब तो इन्द्रियों के सहवर्ती आपका उनके आधिदैविक रूप में प्रत्यक्ष सम्भावित है परन्तु इन्द्रिय तो अपने स्वरूप का ग्रहण नहीं कर सकते अतः वह स्वयं ही अप्रत्यक्ष है, उनकी सत्ता में अनुमान ही प्रमाण है, प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान का आकार इस प्रकार है कि (पक्ष) रूप,

+उक्त श्रुति काठकोपनिषत् अ० द्वि० प्र. वल्ली में प्रथम ही पढी गई है।

रस, गन्ध आदि विषयों की उपलब्धि (ज्ञान), (साध्य) किसी करण (व्यापार वाले असाधारण कारण) से साध्य है, (हेतु) क्रिया रूप होने से, (दृष्टांत) छेदन (विदारण) क्रिया की भांति, सारांश यह है कि जैसे काटना फाडना आदि क्रिया किसी खड्ग कुठार आदि साधन से ही साध्य होती है उसी प्रकार रूप आदि का ज्ञान लेना भी एक क्रिया है वह भी किसी साधन से ही साध्य हो सकती है अत: सामान्यतया करण की सिद्धि होने पर नेत्र गोलक के साथ रूप ग्रहणका अन्वय और व्यतिरेक देखा जाता है कि नेत्र गोलकों के सद्भाव में रूप ।

श्री सुबोधिनी—परिहृता भिन्नत्वेन बाह्यत्वेन प्रतीतौ समाधानमाहानावृतत्वाद् बहिरन्तरं न त इति. बाह्याभ्यन्तरव्यवस्थाऽऽकाशकृतेति पूर्वमेवावोचाम, तदपि भूतादीनामेव, भगवतो व्यवधायकं न किञ्चित्, न हि गृहमध्यस्थितं गृहमन्यस्माद् व्यवहितं भवति, न वा स्वस्य स्वयं व्यवधायक,व्यापको भगवानिति, ततः स्थूलकार्यस्था भावाद् भगवतोऽनावृतत्वं, एतदग्रे स्पष्टीभविष्यत्युलूखलबन्धने, अनावृतत्वादेव तव बाह्याभ्यन्तरव्यवहारो नास्ति, सम्पूर्णे तडागे तदुद्भवैश्छन्ने क्वचित् प्राकट्ये तावन्मात्रत्वं तदुद्भवानां वावच्छेदकत्वं न सम्भवति तथा प्रकृतेऽपि व्यापकस्यैव तदेकदेशे प्रकटस्य न बाह्यान्तरभेदः सम्भवति, प्रतीतिस्तूपपादितैव, परिच्छिन्नत्वमप्यनेनैव, परिहृतं, अस्मिन्नर्थे,

व्याख्यार्थ—ग्रहण हुआ है, एवं उनके अभाव में नहीं इस प्रकार अनुसंधान से नेत्र गोलकवर्त्तीचक्षु इन्द्रिय ही रूप ग्रहण का कारण है ऐसे ही रसना इन्द्रिय रस ग्रहण का व घ्राण इन्द्रिय गन्ध ग्रहण का करण है यह सिद्ध होता है, इस प्रकार इन्द्रियों की अप्रत्यक्षता के प्रतिपादन से यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि जो प्रत्यक्ष होगा वह ही प्राकृत होगा, और जो अप्रत्यक्ष होगा वह ही अप्राकृत होगा, क्योंकि इन्द्रिय अप्रत्यक्ष होते हुए भी अप्राकृत नहीं प्राकृत ही है, अतः भगवान् का प्रत्यक्ष हो रहा है तो भी इतने मात्र से उनकी प्राकृतता या अप्राकृतता सिद्ध न हो पावेगी, क्योंकि दृश्य वस्तु को प्राकृत ठहराने में अदृश्य वस्तु का अप्राकृत स्वीकार करना तर्क की कसोटी पर साफ नहीं उतरता, वादी की युक्ति को सहायता देने वाला उसे सफल या सप्रयोजन सिद्ध करने वाला कोई विचार उपस्थित नहीं होता वह युक्ति अप्रयोजक ही रह जाती है निर्बल पड़ जाती है, यदि ऐसा कहा जाय कि जो प्रत्यक्ष होता है वह प्राकृत ही होता है वह अप्राकृत नहीं होता, और जो प्राकृत होता है वह प्रत्यक्ष ही होता है, वह अप्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा नियम नहीं, वह अप्रत्यक्ष भी देखा जाता है जैसे इन्द्रिय अप्रत्यक्ष होते भी प्राकृत ही हैं, अतः प्राकृतत्व, और प्रत्यक्षत्व समव्याप्त नहीं प्राकृतत्व व्यापक है प्रत्यक्षत्व की अपेक्षा अधिक देशवृत्ति है और प्रत्यक्षत्व व्याप्य है प्राकृतत्व की अपेक्षा अल्प देश वृत्ति है, सारांश यह है कि जहां भी प्रत्यक्षत्व होगा वहां प्राकृतत्व अवश्य होगा, परन्तु जहां प्राकृतत्व होगा वहाँ प्रत्यक्षत्व होगा ही ऐसा नियम नहीं है वहां अप्रत्यक्षत्व भी हो सकता है, ऐसी स्थिति में इन्द्रियों की प्राकृतता होते हुए अप्रत्यक्षता अनुचित नहीं परन्तु प्रत्यक्षता होने पर भगवत्स्वरूप की अप्राकृतता तो कैसे स्वीकृत की जाय, व्यापक का व्यभिचार (अधिक देश में रहना) तो दोष जनक नहीं वह तो उचित है परन्तु व्याप्य का व्यभिचार दोष जनक है, व्याप्य कदापि व्यापक के अभावाधिकरण में नहीं मिलता उनका व्याप्य व्यापक भाव ही नष्ट हो जाता है अत. प्राकृतत्वा भाव स्थल—

श्री सुबोधिनी—शास्त्रीयं हेतुत्रयमाह सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुन इति, सच्चिदानन्दरूपो भगवान्, जगद्रूपो भगवान्, सद्रूपः, चिद्रूपा जीवात्मानः, आनन्दरूपः स्वयं तेषां फलरूपः अत्र व्यावर्तकत्वं जगतो जीवानां फलस्य च न सम्भवति, त्रयाणामपि स्वरूपं भगवानेव, तदाह सर्वस्य सर्वरूपस्य सर्वेषामात्मरूपस्य सर्वात्मनां च वस्तुरूपस्य फलरूपस्य चात्मना न परिच्छेदः, नाप्यात्मनो महतः, अतो भगवदंशानामंशान्तरैर्भगवता वा परिच्छेदः सम्भवति न तु भगवतः केनापि प्रकारेण, तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्या भावात्, आत्मनैवात्मपरिच्छेदपक्षोऽग्रे विवेचनीयः ।

एव वैदिकप्रकारेण पञ्चात्मको भगवान् निर्दोषपूर्णगुणविग्रह एवायमिति निरूपितः ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—स्थल में प्रत्यक्षत्व नहीं रह सकता अतः प्रत्यक्ष हुए भगवत्स्वरूप को अप्राकृत स्वीकार करना कहाँ तक सम्भव है उसका प्राकृत होना ही सम्भावित है ऐसी आशङ्का के निवारण करने को उस विषय में कहते हैं कि इन्द्रिय ग्राह्य गुणों के साथ भगवान् सर्वत्र ही विद्यमान है तो भी सर्वत्र उनका प्रत्यक्ष तो नहीं होता रूप. रस आदि में रहने वाले भगवत्तत्त्व का चक्षु रसना आदि इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता रूप, रस, आदि मात्र का ही ग्रहण होता है, अतः भगवान् में प्रत्यक्षता नहीं हैं तो प्राकृतता भी नहीं ही है, अप्राकृतता ही है, यदि कहें कि कहीं भी प्रत्यक्ष होना अप्राकृतता का बाधक है तो भी इन्द्रियों के सामर्थ्य से होने वाले प्रत्यक्ष को ही अप्राकृतता का बाधक कह सकते हैं, भगवान् ता 'तद्गुणाग्रह' हैं, इन्द्रियों के गुणों (सामर्थ्यों) से ग्रहीत नहीं होते, इस समय भी जो भगवान् का दर्शन हो रहा है, वह नेत्र के सामर्थ्य से नहीं किन्तु उनकी निजेच्छा से ही हो रहा है, अतः स्वेच्छा से प्रतीत होने वाला स्वरूप इन्द्रिय द्वारा गृहीत होने के दोष से दूषित नहीं हो सकता, श्रुति में कहा है कि स्वयम्भू[1] ने इन्द्रियों को पराङ्मुख बनाकर उनकी हिंसा की है अतः बाहर दीखता है अन्तरात्मा में नहीं, कोई धीर पुरुष अमृतत्वरूप परमानन्द की इच्छा करने वाला अपने चक्षु को अन्तर्मुख कर लेता है और अन्तरात्मा का दर्शन करता है, इस प्रकार श्रुति में परावृत्त हुए चक्षु की ग्राहकता भी बतलाई है और स्वभावतः ग्राहकता का निषेध भी किया है, इन दोनों श्रौत सिद्धान्तों का विरोध नहीं है, उसी प्रकार प्रकृत में भी इन्द्रिय सामर्थ्य से आप अदृश्य ही हैं, और निजेच्छा से दृश्य हैं इस रीति से कोई विरोध नहीं रह जाता है, उक्त कारण से भगवान् के दृश्य होने से उनकी अब्रह्मता या प्राकृतता की शङ्का नहीं रह जाती, अब भिन्नता एवं बाह्यता से जो प्रतीति हो रही है उस विषय में समाधान करते हैं कि अनावृत होने के कारण आपका बाहर एवं भीतर कुछ भी नहीं है, आपको न बाहर कहा जा सकता है न भीतर ही कहा जा सकता है, अमुक वस्तु

श्लोक—य[2] आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति व्यवस्यति(ते)स्वव्यतिरेकतोबुधः ।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान्॥१८॥

मूलार्थ—जो पुरुष आत्मा के दृश्य देह इन्द्रियादि गुणों में किसी पदार्थ को आत्मा से भिन्न है इस प्रकार समझता है वह मूर्ख है, क्योंकि विचार करने पर वह देह इन्द्रियादि

१— कठोपनिषत् द्वि० अ० प्र० वल्ली के प्रारम्भ में है ।

२— पृष्ठ ५४ पर देखें

केवल अनुवाद मात्र ही हैं; विचार दशा में जिस पक्ष का अच्छी तरह से त्याग किया जा चुका है उसी पक्ष का स्वीकार करना मूर्खता नहीं तो क्या है ।। १८ ।।

श्री सुबोधिनी तन्त्रप्रकारेण चतूरूपो निरूप्यते य आत्मन इत्यादि चतुर्भिः । तत्र तन्त्रे प्रथमो वासुदेवः ।

व्याख्यार्थ—बाह्य है या आभ्यन्तर है, इस प्रकार व्यवहार व्यवस्था आकाशकृत है यह बात हम पूर्व में तृतीय स्कन्ध २६ अध्याय श्लोक ३४ के 'बहिरन्तर में बच, की व्याख्या में कह चुके हैं, वह भी पृथ्वी आदि भूतों का ही बाह्य अथवा आभ्यान्तर व्यवहार होता है, भगवान् का तो व्यवधायक कोई वस्तु मात्र नहीं उन्हें अपनी आड़ से रोकदे या सीमिति करदे ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिस प्रकार घर के भीतर रहने वाले पदार्थों से घर दूसरे किसी देखने वाले से व्यवहित नहीं होता आड़ में नहीं आ सकता एवं स्वयं भी वह घर अपना ही आप व्यवधान नहीं करता । अपनी आड़ आप ही कर लेता हो यह बात भी नहीं है, उसी प्रकार भगवान् भी सर्व व्यापक हैं सर्वत्र विद्यमान है उनसे स्थूल या महान् कोई भी कार्य नहीं जो उनका व्यवधान या आवरण कर सके अतः भगवान् अनावृत्त है किसी आवरण या व्यवधान से सीमित नहीं है इसका स्पष्टीकरण आगे उलूखल बन्धन प्रसङ्ग में होगा, आवरण रहित होने के कारण आपके सम्बन्ध में बाह्य, या आभ्यन्तर व्यवहार नहीं होता, यदि सम्पूर्ण तालाव उसी में उत्पन्न हुए कमल शैवाल आदि से ढका हुआ हो किसी अमुक भाग में खुला भी हो तो वह जितने भाग में खुला है उतना ही तालाब है ऐसा नहीं माना जाता और न उन कमल शैवाल आदि को तालाब का अवच्छेदक ही माना जाता है कि यह तालाब इतना ही है इस तालाब की इयत्ता या सीमा कमल शवाल आदि के आधीन हो ऐसी भी बात नहीं है, तालाब से प्रकट हुए पदार्थ तालाब को सीमित नहीं कर सकते, उसी प्रकार प्रकृत हुए पदार्थ तालाब को सामित नहीं कर सकते, उसी प्रकार प्रकृत विषय में आप व्यापक हैं एक देश में प्रकट हुए हैं, अतः आपका बाहर भीतर वाला भेद नहीं हो सकता है, प्रतीति जो हो रही है वह तो आपकी इच्छा से उत्पन्न हो है, आप अपनी इच्छा से बाह्य आदि रूप से प्रतीत होते हैं, जैसे इन्द्रिय सामर्थ्य से अदृश्य होते हुए भी स्वेच्छा से दृश्य होते हैं उसी प्रकार सर्व व्यापक होते हुए भी स्वेच्छा से एकदेशस्थ, बाह्य, भिन्न आदि प्रतीति के विषय होते हैं, परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) या भिन्नता का परिहार भी आपके अनावृत्त या व्यापक होने के कारण हो ही जाता है, इस विषय में शास्त्रोक्त तीन हेतुओं का निर्देश करते हैं कि आप सब कुछ हैं, और सब के आत्मा हैं, एवं सब आत्माओं के वस्तु स्वरूप भी हैं, भगवान् सच्चिदानन्द रूप हैं ।

टिप्पणी–[२] +(य आत्मनो दृश्य गुणेषु) इस श्लोक द्वारा भगवान् की सद्रूपता का या प्रपञ्च की असद्रूपता का प्रतिपादन हुआ है, दोनों प्रकारों में कुछ अरुचि बनी रह सकती है क्योंकि भगवान् की सद्रूपता तो (सर्वस्य सर्वात्मनः) के द्वारा कह चुके हैं उसी का पुनः कथन पुनरुक्ति दोष होगा, और प्रपञ्च की असद्रूपता मानने में भगवान् की सर्वात्मकता से विरोध होगा, अतः आचार्यों ने उक्त श्लोक चतुष्टय को (तन्त्र) मत कहकर अविरोध स्थापन किया है ।

श्री सुबोधिनी—तत्र श्रीर्माया "यत् प्रवदन्ति माया" मितिवाक्यात्, मोक्षप्रतिबन्धार्थं तया केवलया जगत् सृज्यते।

व्याख्यार्थ—उस सच्चिदानन्द का 'सद्' रूप तो जगत् रूपो भगवान् है, और 'चिद्' रूप तो जीवात्मा हैं ही. और उन जीवात्माओं का फल रूप स्वयं आप आनन्दरूप हैं, इसमें जगत् या जीव, या फल रूप आनन्द एक दूसरे से अपनी व्यावृत्ति (भेद) नहीं कर सकते हैं क्योंकि तीनों का स्वरूप भगवान् ही है, तब कौन किसका व्यावर्तक (भेदक) होगा, उक्त तथ्य को 'सर्वस्य सर्वात्मन आत्म वस्तुनः' इन शब्दों में कहते हैं, कि भगवान् सर्वरूप हैं (जगद् रूप हैं) सबके आत्मस्वरूप हैं (जीवात्मा) हैं, एवं सर्व जीवात्माओं के भी वस्तुस्वरूप फलात्मक आनन्दरूप हैं, उनका अपने आप से परिच्छेद (व्यावृत्ति या भेद) नहीं हो सकता है, 'अतति व्याप्नोति' इस व्युत्पत्ति से आत्मा पदार्थ सर्व व्यापक महान् सिद्ध होता है उस महान् का परिच्छेद कहाँ सम्भावित है. अतः भगवान् के अशों का उनके अन्य अंशों से या भगवान् से परिच्छेद हो सकता है परन्तु भगवान् का किसी भी प्रकार परिच्छेद नहीं हो सकता क्योंकि उनसे अन्य कोई दूसरा तत्व ही नहीं तो परिच्छेद किससे होगा, स्वयमेव आप ही अपना परिच्छेद करते हैं इस पक्ष का विवेचन आगे उलूखल बन्धन प्रसङ्ग में करना आवश्यक है. इस प्रकार पांच श्लोकों द्वारा निर्दोषपूर्ण गुणसम्पन्न शरीरधारी साकार यह अद्भुत बालक ही (१) अग्निहोत्र, (२) दर्शपूर्णभास, (३) पशु, (४) चातुर्मास्य, (५) सोम नामक पञ्च[1] यज्ञात्मक है ऐसा वैदिक प्रकार से निरूपण किया है ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—'य आत्मन' आदि चार श्लोकों से तन्त्र में कही हुई प्रक्रिया के अनुसार वासुदेव आदि चतुर्मूर्ति भगवान् का निरूपण किया जाता है, वहाँ तन्त्र शास्त्र में प्रथम परब्रह्मरूप वसुदेव हैं ऐसा माना है, वहां पर 'श्री' नामक भगवच्छक्तिया 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' के अनुसार भगवत्पत्नी को माया कहा है क्योंकि पञ्चरात्र में ऐसा वाक्य है 'इत्थां विचिन्त्य परमः सतु वासुदेव नामा बभूव निज कारण मुक्ति दाता, तस्याज्ञयैव नियता परमाऽपि रूपं ववेद्वितीय मिव यत्प्रवदन्तिमायाम्' प्राणियों के मोक्ष में प्रतिबन्ध करने को वह केवल माया ही जगत् को रचती है, वासुदेव तो प्रेरणामात्र करते हैं—

श्री सुबोधिनी—तत्र चेत् सद्बुद्धिस्तदा प्राणी न मुच्यते इति तन्मतं वदन्नेव चतुर्मूर्तिर्भगवानवतीर्ण इति वासुदेवोऽयमन्तरेव बहिर्वा द्रष्टव्यः, उभयथापि न तत्त्वसहितो द्रष्टव्यः केवलचिदानन्दरूपो द्रष्टव्य इति प्रथमाह, य आत्मन आत्मभूतस्य भगवतो दृश्येषु सङ्घातरूपेष्वात्मनैवानुभूयमानेष्वनुभवातिरेकेण तेषां सत्त्वाभावाच् चतुर्विंशतित-त्त्वेष्वप्यात्मनो बन्धकेषु गुणेषु यः सन्निति कमपि पदार्थं व्यवस्यति, अस्ति च तत्र सर्वत्रैव तद्रूपेण निविष्टः स सन्नेव भवति तत्सत्त्वयैव च तत्त्वान्यपि सत्त्वेन प्रतीयन्त इतिपरमार्थः, यदि स्वव्यतिरेकेणात्मव्यतिरेकेणाप्यात्मसम्बन्धाभाव आत्मव्यतिरिक्तस्य वा सत्त्व यद्यङ्गीक्रियते तदाऽबुधः, न तस्यज्ञानमस्ति, मायामोहित एव स इत्यर्थः।

टिप्पण—वसुदेव स्तुति के प्रारम्भिक पञ्च ५ श्लोकों का प्रतिपाद्य अर्थ संख्या के अभिप्राय को लेकर कहा है पृथिवि[1], जल[2], अग्नि[3], वायु[4], आकाश[5] यह पञ्च तत्वात्मक भगवान् ही हैं यह अभिप्राय भी पञ्च संख्या से अभिव्यक्त होता है।

व्याख्यार्थ—उस जगत् में यदि प्राणी सत्यबुद्धि करता है उसे सत्य समझता है तो वह मुक्त नहीं होता है, इस प्रकार तान्त्रिक मत कहते हुए ही श्रीवसुदेवजी पूर्व में यह कहते हैं कि यह चतुर्मूर्ति भगवान् अवतीर्ण हुए हैं, अतः इस वासुदेव का दर्शन अन्तर्देश हृदय में अथवा बहिर्देश में जहाँ कहीं भी करना चाहिए परन्तु दोनों प्रकारों में केवल चिदानन्द का ही दर्शन अभीष्ट है। पृथ्वी आदि तत्वों के सहित उनका दर्शन अपेक्षित नहीं, वसुदेवजी का कहना है कि जो प्राणी आत्मस्वरूप भगवान् के दृश्य गुणों में देह, इन्द्रिय आदि समुदायों में किसी भी पदार्थ को 'सत्' यह सत्य है ऐसा निश्चित कर लेता है वह मूर्ख है, क्योंकि यह देह, इन्द्रिय आदि समुदाय आत्मा के द्वारा ही अनुभव के विषय होते हैं अनुभव के अतिरिक्त उनकी कोई सत्ता नहीं प्रतीतिमात्र ही है, प्रकृति आदि चौबीस तत्व गुण हैं रस्सी की भांति बन्धन करने वाले हैं जीवात्मा को प्रपंच में फसा देने वाले हैं, इनमें से किसी एक को भी जो कोई सत्य मानता है वह मूर्ख है, क्योंकि असली बात तो यह है कि वहाँ सर्व वर्गों में उन उन रूपों से भगवान् ने ही प्रवेश किया है, भगवान् सत्य ही है, उनकी सत्ता से ही तत्व भी सत्य रूप से प्रतीत होते हैं, यदि आत्मा के सम्बन्ध के बिना ही किसी पदार्थ को सत्य मानता है अथवा आत्मा से अतिरिक्त किसी पदार्थ को सत्य रूप से स्वीकार करता है तो वह मूर्ख ही है, उसकी बुद्धि कार्य नहीं करती वह माया से मोहित हो चुका है, यहाँ पर यह पक्ष उठाया जा सकता है कि आत्मा के सम्बन्ध से अनात्म पदार्थ देहादि में भी सत्यता उत्पन्न हो जाती है ऐसा मान लिया जाय तो उसकी प्रतीति में तो कोई आपत्ति या दोष नहीं इसका खण्डन कर वे उक्त विषय पर कहते हैं कि विचारशील मनीषियों के मन ने जगत् को सत्य रूप से नहीं विचारा है, केवल उसका अनुवाद ही किया है, अनुवाद के बिना उसकी अन्य कोई सत्ता नहीं, जगत् की असत्यता के प्रतिपादन—

श्री सुबोधिनी—नन्वात्मसम्बन्धात् तस्य सत्त्वमुत्पद्यतामतः सत्रानीतौ न दोष इतिचेत् तत्राह विनानुवादं न च तन्मनीषितमिति, वैराग्यार्थमिदं मत, त्यागार्थमेवास्यानुवादः, सत्त्वसिद्धिव्यतिरेकेण त्यागो नोपपद्यतेति तदर्थमात्मसम्बन्धात् सत्त्वमित्यनुवादेनोक्तं, न त्वात्मना सह सम्बन्धोऽप्यस्ति प्रतीत्यतिरिक्तस्तदाहानुवादं विना तज्जगत् मनीषितं मनसा सत्त्वनाकलितं न भवति, नन्वेवमप्यबुधत्वं कथमारोपार्थमपि तथाज्ञानं युक्तमेवेतिचेत् तत्राह सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमानिति, सङ्घात आत्मान्वेषणदशायामात्मव्यतिरिक्तं सर्वमेव त्यक्तं तच् चेत् पुनर्गृह्णाति तर्ह्यबुध एव, तदाह पुमान् स्वयं पुरुषोऽपि भूत्वा सम्यक् त्यक्तमुपाददबुध एवेति पूर्वेणैव सम्बन्धः, त्यक्तमपि दूराद् दृश्यते न तूपसमीपे, अन्योपदेशार्थम्—

व्याख्यार्थ—किये विना विषयासक्ति निवृत्ति नहीं हो सकती इस दृष्टि से विषयों से वैराग्य करादेने को यह मत उपयुक्त है, आत्मा से अतिरिक्त वस्तु मात्र का त्याग अपेक्षित है अतः इसका अनुवाद आवश्यक है, त्याग उसी वस्तु का हो सकेगा जिसकी सत्ता सिद्ध होगी, जिसकी सत्ता ही नहीं, जो कुछ है ही नहीं उसका त्याग कैसा, अतः आत्मा के सम्बन्ध से देह इन्द्रिय आदि जगत की सत्ता है ऐसा अनुवाद रूप से कहा गया है। परन्तु आत्मा के साथ जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं केवल प्रतीति मात्र ही है,

अतः कहते हैं कि अनुवाद के विना वह जगत् मनोषित-नहीं, मन के द्वारा सत्य रूप से विचारित नहीं, आशय यह है कि अनुवाद किसी वस्तु के यथार्थ या अयथार्थ होने की अपेक्षा नहीं रखता वह तो केवल प्रतीति मात्र की अपेक्षा रखता है, चाहे वह प्रतीति ठीक हो वा न हों जिसे आंख के दोष से आकाश में दो चन्द्रों की प्रतीति होती है वह कहता है कि दो चन्द्र हैं, उसकी उक्ति का अनुवाद तटस्थ व्यक्ति करता है कि (दो चन्द्र हैं) ऐसा यह भ्रम वश कह रहा है वास्तव में दो चन्द्र नहीं हैं, जिस प्रकार ऐसे अनुवाद से दो चन्द्रों को सत्ता सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार त्यागार्थ अनुवाद मात्र से जगत् की सत्ता सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार त्यागार्थ अनुवाद मात्र से जगत् की सत्ता सिद्ध नहीं हो पाती, आत्मा के अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि दृश्यवर्ग की वास्तविकता नहीं, यद्यपि किसी वस्तु के निषेध करने के लिये भी उसका स्वरूपतः उल्लेख आवश्यक होता है, वस्तु के उल्लेख किये विना उसका निषेध सम्भव नहीं, रस्सी के यथार्थ ज्ञान होने पर यह सर्प नहीं ऐसा कथन भी सर्प का उल्लेख चाहता है जिसे कभी सर्प मान लिया था वह सर्प नहीं रस्सी है, इसी प्रकार जगत् को असत्य ठहराने में उसके पूर्व जो जगत् में सत्यता का आरोप आवश्यक है उसके लिये जगत् को सत्यरूप से जानने में कोई बुराई नहीं वह तो ठीक ही है तो वैसे जानने वालों को (अबुध) क्यों कहा जाय ऐसी आशङ्का में कहते हैं।

श्री सुबोधिनी – अनुवादेनापि ग्रहणं सम्भवति तद्व्यतिरेकार्थमाह सम्यक् त्यक्तमाददिति, येनैव प्रकारेण सम्यक् त्यक्तं तेनैव तद् गृह्णातीति ।। १८ ।।

श्री गो० विट्ठलनाथकृत व्याख्यानम्—

अथवात्मनो भगवतो दृश्येषु गुणेषु केशलोमनखरूपस्पर्शादिष्वेकोऽपि गुणः स्वस्मात् सच्चिदानन्दात्मकभगवत्-स्वरूपाद् व्यतिरेकतः, ल्यब्लोपे पञ्चमी, तथा च व्यतिरेकं प्राप्यैव सन् अन्यथं करसे ब्रह्मणि विविधरूपस्वभानं न स्यात्, इति यो व्यवस्यते सोऽबुधः, धर्मिग्राहकमानेन शुद्धस्यैव ब्रह्मणस्तथैव सिद्धेः, एतदेवाह विनेति, वस्तुन एव तथात्वादाकार-दर्शनानन्तरं यो भक्तकृतः कराम्बुजं पदाम्बुजं नयनाम्बुजमित्यादिरूपो वादः सोऽनुवादस्तं विना तत् कराम्बुजादिकं स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेन ।

व्याख्यार्थ—कि जब विचार पूर्वक अग्राह्य समझकर जिस वस्तु का त्याग कर दिया है उस वस्तु का ग्रहण करने वाला पुरुष मूर्ख ही है, आत्मा और देह इन्द्रियादि के समुदायात्मक इस सङ्घात में आत्मा के अन्वेषण की दशा में आत्मा से अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि सब को अग्राह्य समझाथा उनका त्याग किया था उन त्यागे हुए देहादिकों को पुनः ग्राह्य रूप से स्वीकार करना मूर्खता ही है, (पुमान्) शब्द से ऐसे व्यक्ति का उपहार व्यङ्ग्य है कि स्वयं पुरुष होकर भली भांति से विचार कर त्याग कर चुका है उसी का पुनः ग्रहण करना क्या पुरुषार्थ सिद्धि के अनुकूल है ! नहीं नहीं अत्यन्त मूर्खता ही है, छोड़ी हुई वस्तु दूर से देखी जा सकती है, समीप में उसका ग्रहण नहीं किया जाता पास में वह वस्तु नहीं रखी जाती, किसी अन्य व्यक्ति को तत्व का उपदेश करने के लिये यद्यपि अनुवाद रूप से उस दृश्य वर्ग

का ग्रहण सम्भावित है परन्तु जहां पर उपदेशादि की सम्भावना के विना ही दृश्य वर्ग में सद्बुद्धि होती है वहां तो वह मूर्खता ही है क्योंकि जिस प्रकार से त्याग किया है अनित्य समझकर अग्राह्य कक्षा में समझा है, उसी प्रकार से नित्य समझकर ग्राह्य कक्षा में रखता है अतः मूर्ख ही है क्योंकि उसका विचार यथार्थ नहीं पूर्व में भली भांति त्याग किया अब भली भांति ही ग्रहण करता है ।। १८ ।।

* 'प्रकृत श्लोक का ब्रह्मवाद की रीति से यह व्याख्यान गो० श्री विठ्ठलनाथ प्रभु चरणों ने किया है, (आपने स्वव्यतिरेकतः) इस पद का (स्वव्यतिरेकं प्राप्य) ऐसा विवरण किया है (तथा सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति) (प्रत्येक वाक्य निश्चय के साथ होता है) इस मीमांसकसंमत विचार शैलो के अनुसार (एव) पद का (प्राप्य) पद के साथ प्रयोग किया है, एवं (प्राप्य) इस पूर्वकालिक क्रिया का (सन्) पदार्थैक देश सत्ता क्रिया से अन्वय किया है, (स्वव्यतिरेकतः) यह पद पञ्चमी विभक्ति के अर्थ का प्रतिपादन करने वाले (त) (तसित्) प्रत्यय के योग से—

श्री सुबोधिनी—मनीषितं मनसा सत्त्वेनाकलितं न हि भवति, ननु प्राकृतेष्वपि भगवत्सम्बन्धात् सत्त्वोत्पत्त्या तथाप्रतीतौ न दोष इत्यत आह सम्यगिति, "स यथा सैन्धवघनोनन्तरोवाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मा—नन्तरोवाद्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः" "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" "अथात आदेशो नेति नेती" त्यादिश्रुतिविचारदशायां त्यक्तं प्राकृतधर्ममुपाददद् भवतीत्यर्थः, तैः सह सम्बन्धे सति हि तेषु सत्त्वोत्पत्तिसम्भावना तस्यैवाभावात् तद्सम्भव इतिभावः, अथवा यः पुमानात्मनो द्रष्टुः स्वस्य दृश्येषु गुणेषु करपादादिषु भगवान् सन् वर्तमान इति व्यवस्यते सोऽबुधः, तत्र हेतुरस्वव्यतिरेकत इति, तेष्वात्मत्वेनाभिमतादभिन्नत्वादित्यर्थः, अव्ययान्तप्रयोगेणाविकृतत्वं सूच्यते करादिषु, शेषं पूर्ववत्, अतोऽस्मिन्नपि पक्षे कोऽपि त्वयि प्राकृतो धर्मो नास्तोति वासुदेवो भवान् ।। १८ ।।

व्याख्यार्थ— सिद्ध हुआ है, (ल्यब्लोपेकर्म्मण्यधिकरणे च) इस व्याकरण के नियमानुसार (प्रासादमारुह्य प्रेक्षते) के स्थान पर (प्रासादात्प्रेक्षते) इस वाक्य को भांति (स्वव्यतिरेकं प्राप्यैव सन्) के स्थान पर (स्वव्यतिरेकतः सन्) यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है, इस प्रक्रिया से यह वाक्यार्थ सिद्ध होता है कि आत्म स्वरूप भगवान् के दृश्य गुणों में (भगवदिच्छा से दृष्टिगत होने वाले) केश रोम नख एवं रूप रस स्पर्श आदिकों में किसी एक भी गुण को जो ऐसा मानता है कि सच्चिदानन्द स्वरूप स्वयं भगवान् से व्यतिरेक (भेद) को प्राप्त करके ही यह सत्तावान् है, भगवान् से भिन्न होकर ही इसकी सत्ता है, उस प्रकार का निश्चय करने वाला मूर्ख है, आशय यह है कि भगवान के गुण धर्म आदि सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है भिन्न नहीं, भिन्न मानने वाला मूढ़ सोचता है कि ब्रह्म तो एक रस है यदि उसके रूप आदिकों को सत्य माने तो किसी एक रूप के सत्य मानने पर विविध रूपता सिद्ध नहीं होगी, (समो नागेन समो मशकेन) यह श्रुति हाथी और मच्छर के समान आकार वाला ब्रह्म है ऐसा प्रतिपादन करती है, यदि हाथी के समान है तो मच्छर के समान नहीं हो सकता है, और यदि मच्छर के समान है तो हाथी के समान नहीं हो सकता है, अतः रूपादि की प्रतीति यथार्थ नहीं रूपादि गुण को ब्रह्म से भिन्न ही स्वीकार करना उचित है ऐसा जो निश्चय कर बैठता है वह मूर्ख है, वह यह नहीं समझपाता कि धर्मो

ब्रह्म ही यथाऽवसर उन उन धर्मो को प्रकट करता रहता है, उसके स्वरूपात्मक सब धर्म नित्य सिद्ध हैं, सर्प कुण्डलाकार भी हो जाता है और सरलाकार भी हो जाता है उसके वह आकार न तो उससे भिन्न है और न मिथ्या ही हैं, यथावसर उन आकारों को प्रकट करता है उसी प्रकार ब्रह्म भी धर्मिग्राहक मान, से उसके स्वरूप का ज्ञान कराने वाले (उभय व्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्) ब्रह्म सूत्र तृ० अ० द्वि० पा० २७ सूत्र, इस न्याय से विविध रूपों को प्रकट करता रहता है, यह सिद्ध हो जाता है, शुद्ध ब्रह्म।

श्लोक—त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्॥
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥ १९ ॥

मूलार्थ—हे विभो ! आप से इस जगत् के उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय होते हैं ऐसा प्रामाणिक लोग कहते हैं, आप तो कोई चेष्टा नहीं करते एवं गुण और विकारों से रहित हैं परन्तु समर्थ ब्रह्म में यह कुछ विरोध नहीं आता, गुण भी तो आपके ही आश्रित है, रज आदि गुण से उत्पत्ति आदि का होना उपचार मात्र है ॥ १९ ॥

श्री सुबोधनीः—प्रद्युम्नरूपं भगवन्तं निरूपयति त्वत्तोस्येति, स हि जगत्कर्ता निरूपितः, स्मृतिर्हि तस्य श्रीः, स तस्यां प्रकृतिमुत्पादितवान्, न ततः काचित् पुरुषोत्पत्तिः, प्रकृतौ स्त्र्येव प्रधानभूता,

व्याख्यार्थ—उन उन रूपों को अभिव्यक्त करता है, इसी बात को कहते हैं कि 'विनानुवादम्' भगवत्स्वरूप वस्तु ही वैसा है, उसके आकार विशेष के दर्शन करने के अनन्तर भक्तों के द्वारा किया गया यह कथन ही अनुवाद है, कि यह श्री हस्त कमल है और यह श्री चरण कमल है एवं यह श्री नयन कमल है, इस अनुवाद के विना वह श्री हस्तकमलादि भगवत्स्वरूप से पृथक् सत्तात्मक रूप में मन के द्वारा भी विचारित नहीं होते, यहां पर यह शङ्का हो सकती है कि भगवत्सम्बन्धी पदार्थों को भी प्राकृत ही मान लिया जावे, केवल भगवत्सम्बन्ध होने के कारण उनको 'सत्' कहा जाता है क्यों कि उनमें सत्व की उत्पत्ति भगवत्सम्बन्ध से हुई है अतः प्राकृत पदार्थ ही सद् रूप से प्रतीत होने लगते हैं ऐसा स्वीकार करने में कोई दोष नहीं होता उक्त शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि भगवत्तत्व श्रुति पाद्य है श्रुति विरुद्ध तर्क से उसके विषय में विचार करना मूर्खता है, भगवती श्रुति आज्ञा करती है कि-जैसे सैन्धवधन (जमा हुआ लवण) भीतर बाहर के भेद से रहित सर्वांश में लवण रस का एक पिण्ड है उसी प्रकार अरे जिज्ञासुगण ! यह आत्म स्वरूप भगवान् भीतर बाहर के भेद से रहित प्रज्ञान का सर्वांश में प्रकृष्ट+ज्ञान का मूर्तिमान् स्वरूप है, तथा 'यह पुरुष असङ्ग ही है' इसका किसी प्राकृत वस्तु से स्पर्श या सम्बन्ध नहीं, पुष्कर पलाश की भांति निर्लेप है, एवं ब्रह्म तत्व के विषय में 'अब इस कारण यह आदेश है कि इसको निषेध मुख से समझो कि वह तत्व प्रकृति के साम्राज्य में जो पदार्थ है उन सब से भिन्न है, इस प्रकार प्रतिपादन

टिप्पण+—ज्ञान गत प्रकर्ष आनन्द का तादात्म्य है, रस के दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है,

करने वाली श्रुतियों के विचार काल में प्राकृत धर्मों का सर्वथा त्याग किया गया है कि ब्रह्म में प्राकृत पदार्थ का गन्ध भी नहीं है उसी त्यागे हुए प्राकृत धर्म का स्वीकार करना कि ब्रह्म के सम्बन्ध से उनके प्राकृत गुणों में सद्रूपता आ जाती है सर्वथा अनुचित है, क्योंकि प्राकृत पदार्थों से सम्बन्ध होने पर ही उनमें सत्ता की उत्पत्ति का सम्भव है जब सम्बन्ध ही नहीं तब कैसे सत्ता प्रकट हो सकेगी,—

श्री सुबोधनी:—पुरुषस्तु गुणभूतः, तया प्रकृत्या सृष्टिस्थितिप्रलया भवन्ति, सङ्कर्षणादुत्पन्नेनैव "सूत्र" नाम्ना तस्यामुत्पाद्यत इति जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलये परम्परया सन्निधिमात्रेण प्रद्युम्नस्योपयोगः, तन्मात्रेणैव लोकः प्रद्युम्नात् सृष्टिमाह न तु वासुदेववदपि ततः सृष्टिरस्ति, तदत्रानूद्यते, त्वत्तः प्रद्युम्नरूपाद् ।

व्याख्यार्थ—उक्त श्लोक में 'व्यवस्यति' के स्थान पर 'व्यवस्यते' ऐसा पाठ भी सम्भव है, तदनुसार 'अस्वव्यतिरेकतः' ऐसा पदच्छेद भी अभीष्ट है, तत्र अथवा इस प्रकार भी व्याख्या हो सकती है कि जो पुरुष आत्मा देखने वाले स्वयं अपने इन्द्रिय सामर्थ्य से दृष्टिगत होने वाले भगवान् के कर चरणादि अंगों में भगवान् विद्यमान हैं उन अंगों को व्याप्तकर अभिमानी जीव की तरह स्थित हैं ऐसा निश्चय करता है वह मूर्ख है, क्योंकि 'अस्वव्यतिरेकतः' उन कर चरणादिकों में उसका व्यतिरेक (भेद) नहीं है जिसे आत्मा रूप से मान रखा है, जीव की भाँति वहां देह देही का भेद ही नहीं तो आभिमानिक सम्बन्ध भी असम्भावित है, वहां तो कर चरणादि उनके आत्मरूप ही हैं, जैसे आत्मा शुद्ध निर्विकार है उसी प्रकार आत्मा के (भगवान् के) कर चरणादि भी निर्विकार शुद्ध चिन्मय आनन्दघन हैं इस प्रकार की सूचना हमको अव्ययान्त प्रयोग से मिल रही है, (व्याकरण में तसिल् प्रत्यय की 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' सूत्र से अव्यय संज्ञा हुई है, अव्यय में कोई भी परिवर्तन या विकार नहीं होता उसके प्रयोग से प्रकृत में भगवत्स्वरूप की शुद्ध एकरसता का बोध कराना अभीष्ट है, इस व्याख्यान में अन्य विवरण पूर्व व्याख्यान की भाँति ही जान लेना विशेष मात्र का निर्देश किया है अतः इस पक्ष में भी आप में (भगवान् में) कोई प्राकृत धर्म नहीं है इस कारण आप वासुदेव हैं ।। १८ ।।

व्याख्यार्थ—प्रत्यक्ष हुए जिस अद्भुत बालक का तांत्रिक प्रक्रिया से परब्रह्म होने के कारण वासुदेव रूप से निरूपण किया उसका इस श्लोक से ईश्वर और ब्रह्म होने के कारण प्रद्युम्न रूप से निरूपण करते हैं कि आप ही भगवान् प्रद्युम्न रूप भी हैं, पञ्चरात्र में प्रद्युम्न को जगत् का कर्त्ता बतलाया है, और उसी की शक्ति या पत्नी को 'स्मृति' कहा है, प्रद्युम्न ने स्मृति को पैदा किया है, जो कि रजः सत्वतमोमयी है, उससे कोई पुरुष की उत्पत्ति नहीं होती प्रकृति में स्त्री की ही प्रधानता है पुरुष तो अप्रधान ही है, उस प्रकृति से सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं, सङ्कर्षण से उत्पन्न हुए 'सूत्र' नामक तत्व से उस प्रकृति में जगत्+उत्पन्न किया जाता है, इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय में प्रद्युम्न का उपयोग परम्परा से समीप होने मात्र से ही है, इतने मात्र से ही लोग प्रद्युम्न से सृष्टि बतलाते हैं, किन्तु वासुदेव की भांति प्रद्युम्न से सृष्टि नहीं उस मत का यहां अनुवाद किया जाता है कि हे विभो !

टिप्पण— +प्रकाशकार ने 'पुरुष' उत्पन्न किया जाता है, इस प्रकार उल्लेख किया है ।

प्रद्युम्न रूप-आप से इस जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय होते हैं ऐसा लोग कहते हैं-

श्री सुबोधनी:—भगवतोऽस्य जगतो जन्मस्थितिसंयमानुत्पत्तिस्थितिप्रलयाँल्लोका वदन्ति, तथा कथने हेतुर्विभो इति,समर्थत्वाद्:,वदन्तीत्यर्थ:नन्वस्तु तथैव को दोष इति चेत् तत्राहानीहादगुणादविक्रियादिति,यो हि चेष्टां करोति स एवोत्पादयति यस्तु महदैश्वर्यादिगुणानवलम्बते स पालयति, पालनं ह्याज्ञयैवाविकृतादपि सम्भवति, यस्तु क्रोधादिविक्रियां प्राप्नोति स संहार को भवति, अयं च सत्त्वरजस्तमोगुणातीत:, अत एव नास्य कापि विक्रिया, अतः कूटस्थोऽयं निरीह:, तस्मादघटमानमेवालौकिकसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वाल्लोको वदति, यद्ययंकर्तु मिच्छेत् तदा गुणानप्युत्पादयेदविकृतश्च भवेदुत्पत्त्यादिकमपि कुर्यात्, चिन्तामणिरिव वा स्वत एव कुर्यात्, तर्हि विरोधेन्यतरपरित्यागस्योचितत्वा 'दन्तरङ्गबहिरङ्गयो रन्तरङ्गं बलीय' इतिन्यायेनान्तरङ्गा एव स्वरूप ।

व्याख्यार्थ—उनके इस प्रकार कहने का कारण आपकी विभुता है, सर्व समर्थता है, हे विभो ! यह सम्बोधन पूर्वोक्त लोकोक्ति के कारण की सूचना करता है कि आप समर्थ हैं अतः लोग आपसे जगत् की उत्पत्ति आदि बतलाते हैं, शङ्का हो सकती है कि सामर्थ्य है तो प्रद्युम्न से उत्पत्ति आदि क्यों न मानली जावें, उक्त विषय में उत्तर रूप में कहते हैं कि 'आपतो अनीह (चेष्टा रहित) गुण रहित एवं विकार रहित हैं' जो ही चेष्टा करता है वह ही उत्पादन करता है, जो महान् ऐश्वर्य आदि गुणों का अवलम्ब करता है वह पालन करता है, पालन तो आज्ञा मात्र से भी सम्पन्न हो सकता है उसके लिये विकार की आवश्यकता नहीं, देखा जाता है कि राजवर्ग आज्ञा मात्र से सर्व पालन सम्बन्धी शासन व्यवस्था करता रहता है परन्तु संहार तो क्रोध आदि विकार के विना नहीं होता जो क्रोध आदि विकार को प्राप्त करता है वही संहार करता है, यह भगवान् प्रद्युम्न तो सत्व, रजः, तमः, इन तीनों गुणों का अतिक्रम कर गए हैं, इन गुणों से परवर्ती हैं इनके सर्वथा आधीन नहीं है, अतः इनको किसी भी विकार का सम्भव नहीं यह कूटस्थ हैं सर्वथा निष्क्रिय एवं अविचल स्थिर हैं, उक्त कारण से इनका जगत्कर्ता आदि होना सर्वथा नहीं घटता, परन्तु अलौकिक सामर्थ्य के होने से लोग कहते हैं, यदि यह जगत् की उत्पत्ति आदि करना चाहें तो गुणों को भी उत्पन्न करदें और स्वयं विकारों से रहित भी रह जावे और उत्पत्ति आदि भी कर देवे, अथवा जिस प्रकार चिन्तामणि किसी अन्य साधन के सहयोग के विना ही अनेक पदार्थों की सृष्टि कर देता है उसी प्रकार यह प्रद्युम्न भगवान् भी गुणादिकों की अपेक्ष न कर स्वतः सब कुछ कर सकते हैं, जब सामर्थ्य होते भी जगत् का निर्माण नहीं करते तो इनको अकर्ता ही क्यों न मान लिया जावे कर्त्ता मानने की क्या आवश्यकता है, विरोध होने पर किसी एक धर्म का परित्याग करना उचित ही है, यदि कर्त्ता मानना हो तो अकर्तृत्व का त्याग करना आवश्यक है, अकर्त्ता मानना हो तो कर्त्तृत्व का त्याग अपेक्षित है, क्योंकि विरोध होने पर किसी एक धर्म का त्याग करना ही पड़ता है ।

श्री सुबोधनी:—धर्मा बलिष्ठा न तु लोकप्रतीतिर्बहिरङ्गेति भगवतो जगत्कर्तृत्वाभाव एवास्मिन् पक्षे मुख्यः सिद्धान्त इति युक्तमतो वासुदेवान्न कोऽपि विशेष इति चेत् तत्राह त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यत इति, विरोधे ह्येकतर-

परित्याग उचितः सवभर्वनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावान्नैवङ्कल्पनोचिता, किञ्च न केवलं भगवान् ब्रह्मरूप एव किन्त्वीश्वरोऽपि, ईश्वरत्वेन जगत्कर्तृत्वं ब्रह्मत्वेनाविकृतत्वं च द्वयमुपपद्यते, देशकालस्वरूपावस्थाभेदा अपि नापेक्ष्यन्ते ईश्वरत्वाद् ब्रह्मत्वाच्च, आज्ञाशक्तिरीश्वरेप्रतिहता सर्वभवनसामर्थ्यं च ब्रह्मणि, तस्माद् विरोधाभावान्नैकतरपरित्याग उचितः, किञ्च प्रतीत्यनुरोधेन हि विरोधः प्रतीतिस्त्वन्यथाऽपि व्याख्यातुं शक्या, न हीयं प्रतीतिः प्रत्यक्षा किन्तु शास्त्रीया, शब्दप्रयोगस्तु गौण्यापि सम्भवति यथा 'सिंहो माणवक' इति, तथाधारभूतो भगवानेवेति निराश्रयस्य जगतोऽसम्भवादाधारत्वे सिद्धे तद्द्वारा कर्तृत्वमप्युपचर्यते,

व्याख्यार्थ—यदि लोक प्रतिति से कर्ता मानते हो और स्वरूपतः अकर्ता स्वीकार करते हो तो ऐसी दशा में स्वरूपगत अकर्तृत्व धर्मको ही बलिष्ठ मानना होगा क्योंकि यह अन्तरङ्ग है भगवत्स्वरूप के अन्तर्गत है और कर्तृत्व तो लोक प्रतीति के आधार पर माना गया है अतः दुर्बल है क्योंकि लोक प्रतीति बहिरङ्ग है, अन्तरङ्ग और बहिरङ्गों में अन्तरङ्ग अधिक बलवान होता है इस लोकसिद्ध न्याय से अन्तरङ्ग स्वरूप धर्मों की ही बलिष्ठता सिद्ध होती है बहिरङ्ग लोक प्रतीति दुर्बल पड़जाती हैं, अतः इस पक्ष में यह ही सिद्धान्त होना उचित है कि भगवान् कर्ता नहीं है, अतः वासुदेव की अपेक्षा प्रद्युम्न की कोई विलक्षणता सिद्ध नहीं होती ऐसी शङ्का में वासुदेव से प्रद्युम्न की विलक्षणता बतलाने की उक्त विषय में कर्तृत्व और अकर्तृत्व इन दोनों धर्मो के परस्पर में अविरोध होने के कारण कहते हैं कि (त्वयीश्वरे) इत्यादि, यदि विरोध हो तब तो दोनों में से किसी एक का परित्याग उचित है परन्तु जब ब्रह्म की यह स्वाभाविकता है कि वह सब कुछ हो सकता है उसमें किसी भी विरोध को अवकाश ही नहीं तो किसी एक धर्म के परित्याग करने की कल्पना उचित नहीं, अकर्तृत्व और कर्तृत्व यह दोनों धर्म ब्रह्म के स्वरूप में अविरुद्ध है, अन्य कारण यह भी है कि भगवान् ब्रह्म हो नहीं ईश्वर भी है, ईश्वर होने के कारण जगत्कर्ता है ब्रह्म होने से सर्व विकार रहित है, अतः जगत्कर्तृता और निर्विकारता दोनों ही युक्त हैं, भगवान् को लौकिक कर्ता की भांति किसी देश या काल की अपेक्षा नहीं, और न उन्हें स्वरूप की अवस्थाओं का भेद ही अपेक्षित है, अतः सर्वथा निर्विकार हो रहते हैं, और जगत् का सर्जन भी करते रहते हैं, जगद्रूप भी होते हैं, क्योंकि वह ईश्वर हैं, और ब्रह्म हैं, ईश्वर में आज्ञा शक्ति अकुण्ठित रहती है, उनको स्वयं कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती उनके आदेश मात्र से सर्व व्यवस्था सम्पन्न होती रहती है, तथा ब्रह्म में सब कुछ हो जाने की शक्ति है, अतः किसी प्रकार के विरोध की सम्भावना ही नहीं है तब कर्तृत्व और अकर्तृत्व धर्मो में किसी एक के त्याग की चर्चा अनुचित है, ब्रह्म के विषय में अविरोध प्रतिपादन करने की एक प्रक्रिया यह भी है कि —

श्री सुबोधनी—वस्तुतस्तु गुणा एव कर्तारोऽत एव साङ्ख्यादयः प्रकृतेरेव कर्तृत्वं वदन्ति, गुणानामप्ययमाश्रय इति कार्यकारणाधारभूतत्वादभिमानभावेऽपि लोकदृष्ट्या कर्तृत्वकथनमुपपद्यते, एवं जगतोमायिकत्वं भगवतोऽकर्तृत्वं कर्तृत्वमुभयं चेति वासुदेवाद् वैलक्षण्येन प्रद्युम्नो निरूपितः, इदमाध्यात्मिकत्वेनोत्पत्तिस्थितिप्रलयात्मकत्वमुक्तम् ।। १९ ।।

व्याख्यार्थ—विरोध तो प्रतीति के अनुरोध से होता है, कि प्रतीति की व्याख्या अन्य प्रकार से हो सके तो विरोध नहीं रहपाता, ब्रह्म कर्ता है या अकर्ता है वह अनीह, अगुण, अविकार है या नहीं

इत्यादि प्रतीति प्रत्यक्षप्रमाणजन्य तो है नहीं, किन्तु शास्त्र गम्य हैं, शास्त्रों में ब्रह्म को कर्ता भी कहा है अकर्ता भी कहा है, अनीह आदि भी कहा है, शास्त्र शब्दात्मक है और शब्द का प्रयोग मुख्य अर्थ को लेकर ही होता हो ऐसी बात नहीं है वह किसी गुण कृत साम्य से भी होता है, जैसे (सिंहोमाणवकः) इस वाक्य में बालक को सिंह कहा है परन्तु सिंह शब्द के मुख्य अर्थ पशु विशेष को लेकर नहीं, उसके पराक्रम आदि गुण कृत साम्य को लेकर उस बालक को सिंह कह दिया है उसी प्रकार ब्रह्म की कर्तृता भी औपचारिक है मुख्य नहीं मुख्य तो अकर्तृताही है अतः विरोध नहीं, यदि कर्तृत्व, और अकर्तृत्व दोनों वास्तविक हो तब तो विरोध की आशङ्का हो सकती है किसी एक को अवास्तविक मानने पर विरोध नहीं रह पाता, भगवान् सर्वाधार हैं बिना आधार के जगत् का सम्भव नहीं, अतः भगवान् की जगदाधारता सिद्ध हो जाती है, उसी आधारता को लेकर उन्हें कर्ता कह दिया है वास्तव में तो गुण ही कर्ता हैं अतएव सांख्य वालों ने प्रकृति का हो कर्तृत्व स्वीकार किया है, गुणों के भी भगवान् ही आश्रय हैं, जगत् रूपी कार्य और उसके कारण रूप गुणों के भी आश्रय होने से ब्रह्म को जगत् का कर्ता कहदेना सङ्गत हैं, यद्यपि कर्ता पने का अभिमान ब्रह्म में सम्भव नहीं तो भी लोक दृष्टि से उसकी कर्तृता युक्त ही है, इस श्लोक में जगत् की अमायिकता है तथा भगवान् की अकर्तृता और कर्तृता दोनों ही हैं ऐसा निर्देश कर वासुदेव की अपेक्षा विलक्षणता से प्रद्युम्न का निरूपण किया है क्योंकि वासुदेव के निरूपण में जगत् को मायिकता और भगवान् की सर्वथा साक्षिरूपता या केवल प्रेरकता का ही निरूपण किया है, प्रद्युम्न में जो प्रकृति के उत्पादन द्वारा उत्पत्ति स्थिति प्रलय रूपता का जो निरूपण किया है वह आध्यात्मिक (उपादान) रूप से किया है ।। १६ ।। +

श्लोक—स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः ।।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये ।।२०।।

मूलार्थ—त्रिलोकी की स्थिति के लिये आप अपनी माया से अपने शुक्ल वर्ण रूप सत्वगुण को धारण करते हैं, सृष्टि के लिये रजोगुण से पुष्ट हुए रक्त वर्ण को धारण करते हैं एवं तमोगुण से पुष्ट हुए कृष्ण वर्ण को लोक प्रलय के निमित्त धारण करते हैं ।।२०।।

टिप्पण+—उक्त श्लोक में ब्रह्म के अनीह अगुण आदि होते हुए भी कर्ता होने में विरोध न होने का कारण उसकी ईश्वरता और ब्रह्मता बतलाई है, तथा ब्रह्म के प्रति कर्तृ शब्द का प्रयोग औपचारिक है अतः उसकी कर्तृता प्रमाणिक नहीं ऐसा भी सिद्ध किया है, वास्तव में तो 'कर्ताकारयिता हरिः' यह ही सिद्धान्त है, श्री हरि का कर्तृत्व ही गुणों में उपचरित है क्योंकि गुणों के भी आश्रय श्री हरि ही हैं, ऐसा प्रतिपादन टिप्पणीकार ने किया है । तन्त्र मतानुसारी होने से सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं ।

श्री सुबोधनी—आधिदैविकत्वेनानिरुद्धं तथां[1]भूतमुपपादयति सत्त्वमिति, तथा पिता कृषीवलादिर्वा पुत्रान्नादेरुत्पादको यथा वा ब्रह्मादयो वृष्टि द्वारेन्द्रादेस्ते गुणावतारा उच्यन्ते, तादृशस्त्वनिरुद्धः, तत्र ब्रह्मविष्णुशिवानामेव प्रत्येकगुणैरुत्पत्त्यादिनियामकत्वं न त्वनिरुद्धस्येत्याशङ्क्य तस्यैव त्रितयमाह, त्रिलोकस्थितये स्वमायया शान्त्या सत्त्वं बिभर्षि, तस्य सत्त्वस्य स्वरूपमाहात्मनः शुक्लं वर्णमिति, खल्विति,प्रसिद्धः "कृते शुक्लश्चतुर्बाहु[2]" रित्यादिवाक्यादुपाधिकालरूपाण्येवास्मिन् पक्षे भगवद्रूपाणि, तदर्थं गुणान् वदन् रूपाणि वदति, सर्गाय रक्तरूपं बिभर्षीतिसम्बन्धः,

व्याख्यार्थ—उक्त श्लोक में आधीदैविक रूप से भगवान् अनिरुद्ध का जगत्कर्त्ता होना सिद्ध किया है, जिस प्रकार पिता पुत्रादि का उत्पादक होता है या कृषीवल खेती करने वाला किसान अन्नआदि का उत्पादक होता है, एवं वर्षा के द्वारा इन्द्र आदि देवता सम्यादि सृष्टि के प्रयोजक होते हैं, अथवा गुणावतार रूप ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, संहार के प्रयोजक होते हैं, उस प्रकार का स्वरूप भगवान् अनिरुद्ध का है, उक्त विषय में आशङ्का हो सकती है कि ब्रह्मा विष्णु और शिव को ही रज आदि एक एक गुण के द्वारा उत्पत्ति आदि का नियामक माना गया है अनिरुद्ध को तो उस प्रकार नहीं कहा गया है ऐसी आशङ्का कर समाधान करते हैं कि अनिरुद्ध की ही उत्पत्ति, स्थिति, संहार इन तीनों में नियामकता है अर्थात् ब्रह्मा विष्णु शिव यह तीनों प्रकारान्तर से अनिरुद्ध के ही रूपान्तर हैं ऐसा कहते हैं, त्रिलोकी की रक्षा के लिये आप अपनी शान्ति नामक माया से सत्वगुण को धारण करते हो उसे पोषण देते हो उस सत्वगुण का स्वरूप आपका अपना शुक्ल वर्ण है, ऐसी प्रसिद्धि है, सत्य युग में शुक्लवर्ण एवं चतुर्भुज रूप कहा है, तदनुसार सत्व आदि गुणों को लेकर जो भगवान् के शुक्ल आदि वर्ण बतलाये है वह उन गुणों के उपाधिभूत काल के रूप हैं, उन्हें ही इस पक्ष में भगवद्रूप कहा है, उसी के लिये गुणों को कहते हुए रूपों का निरूपण करते हैं, कि सृष्टि के लिये रक्त वर्ण को धारण करते हैं, वह रूप आपका स्वाभाविक नहीं है किन्तु रजोगुण से अभिवृद्ध हुआ आगन्तुक है, उसी प्रकार कृष्ण वर्ण को लोकों के नाश के निमित्त धारण करते हो, इस प्रकार पूर्वार्ध के (विभर्षि) इस क्रिया पद से सम्बन्ध कर वाक्यार्थ सिद्ध होता है ।। २० ।।

श्लोक—त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषुर्गृहेवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर ।।
राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपैर्निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः ।।२१।।

मूलार्थ—हे विभो ! आप इस लोक की रक्षा करने के इच्छुक हैं, हे अखिलेश्वर मेरे गृह में प्रकट हुए हो, राजनामधारी असुरों की कोटियों के यूथपतिओं द्वारा प्रेरित हुई सेनाओं का आप वध करेंगे ।। २१ ।।

टिप्पण—१. वासुदेव तटस्थ हैं केवल प्रेरणा मात्र से कारण हैं, प्रद्युम्न उपादान रूप से कारण हैं, और अनिरुद्ध तो पिता की भांति अंश विशेष से उपादान भी हैं और किसान तथा इन्द्र एवं ब्रह्मादि की भांति अनेक प्रकार के व्यापार से उस कार्य में सहायक भी है, यह इनकी विलक्षणता है,

टिप्पण-२. (कृते शुक्लः) श्री भागवत एकादशस्कन्ध पञ्चमअध्याय का २० वां श्लोक

श्री सुबोधिनी—तस्य रूपस्य सहजत्वाभावायाह रजसोपबृंहितमिति, तथैव कृष्णं वर्णं जनानामत्यये नाशार्थं बिभर्षीतिसम्बन्धः ।। २० ।।

सङ्कर्षणात्मकमाह त्वमस्येति, अस्य लोकस्य रिरक्षिषू रक्षितुमिच्छुः सन् में गृहेऽवतीर्णोऽसि, अवश्यरक्षायां हेतुरखिलेश्वरेति, विभुरिति, सामर्थ्यं, इदं सङ्कर्षणकार्यं देवान् प्रति तद्द्वेषिदैत्यवधादेव न तु सर्वनाशकत्वेन, अतो देवांशो जगतो रक्षक एव दैत्यानामेव निवारकः, तदाह राजन्यसंज्ञेति, राजन्या राजान इतिसंज्ञामात्रं वस्तुतस्त्वसुरा एव, तेषां कोटयः सेनारूपास्तासां यूथपा महान्तः कंसादयस्तैर्नितरां व्यूह्यमानाः परिपाल्यमानाः प्रेर्यमाणा वा चमूर्निहनिष्यसे नितरां मारयिष्यसे, अतो रक्षार्थमेव दैत्यवधः, भगवत्सान्निध्यात् सर्वज्ञता तस्य, 'यस्मिन् विदिते सर्वमिद विदितं भवती' त्यार्षज्ञानं वा ।। २१ ।।

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में भगवान् का सङ्कर्षण रूप कहा है, कि हे विभो ! आप इस लोक की रक्षा की इच्छा रखते हुए मेरे गृह में प्रकट हुए हो, रक्षा करना आपका आवश्यक कर्तव्य है क्योंकि आप अखिलेश्वर हैं, समस्त जगत् के स्वामी हैं, एवं विभु सर्वथा समर्थ भी हैं, यह लोक रक्षात्मक सङ्कर्षण कार्य देवताओं के प्रति उनके द्वेषि दैत्यों के नाश करने से हो सिद्ध होता है, सर्व नाश करने से नहीं, अतः देवांश सङ्कर्षण सर्वथा संहारक ही हो यह बात नहीं वह तो जगत् के रक्षक ही हैं केवल दैत्यों का निवारण करते रहते हैं, उक्त तथ्य को कहते हैं कि आप राजा कहलाने वाले असुरों की सेनाओं के यूथपति कंस आदिकों से अत्यन्त सुरक्षित एवं उत्तेजित सेनाओं का निःशेष रूप से वध करेंगे, अतः आपके द्वारा सम्पन्न हुआ दैत्य वध लोक रक्षा के लिये ही सिद्ध होता है, इस प्रकार भविष्य का निर्देश वसुदेवजी की सर्वज्ञता का सूचक है जो कि उन्हें भगवान् के सन्निधान से प्राप्त हुई है, अथवा श्रुति कहती है कि ब्रह्म के विदित हो जाने पर सब कुछ विदित हो जाता है, इस कारण इनका यह ज्ञान ऋषियों की भांति भगवत्तत्व के ज्ञान से भी हो सकता है ।। २१ ।।

श्लोक—अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नो गृहे श्रुत्वाग्रजास्ते न्यवधीत् सुरेश्वर ।।
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ।।२२।।

मूलार्थ—हे सुरेश्वर! इस असभ्य कंस ने तो हमारे गृह में आपका जन्म होगा ऐसा सुनकर आपके ज्येष्ठ भ्राताओं का वध किया है, वह दुष्ट अपने प्रहरी पुरुषों द्वारा विदित किये गये आपके अवतार को सुनकर शस्त्रों को उठाये हुए अभी आता ही है ।।२२।।

टिप्पण—+उक्त शब्द नाम धातु प्रक्रिया से कर्म में प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है सेनापति अपनी सेना की रक्षा एवं उसकी युद्धार्थ प्रेरणा के अनुकूल ही व्यूह रचना करता है अतः 'व्यूह' शब्द मूलक 'नि' उपसर्ग पूर्वक इस नाम धातु के प्रयोग का पालन या प्रेरण रूप से व्याख्यान सर्वथा उपपन्न है ।

श्री सुबोधनी— एवमपि ज्ञाते भयं न निवृत्तमिति लौकिकस्य बलिष्ठत्वज्ञापनाय भयाद् भगवन्तं विज्ञापयत्ययं त्वसभ्य इति, तुशब्दः पूर्वार्थं स्तुतिलक्षणंव्यावर्तयति, भगवानवतीर्ण इति सतामेव सुखं भवति न त्वसतां, अयं त्वसभ्य इममर्थमज्ञाप्यः, अत एव तव जन्म नो गृहे श्रुत्वा तेऽग्रजान् मम षट् पुत्रान् न्यवधीत्, सुराणामीश्वरेतिसम्बोधनं पक्षपातार्थं, तर्हि किमधुना कर्तव्यमितिचेत् तत्राह स एव क्रूरात्मा कंसो रक्षकैः पुरुषैस्तेऽवतारं निवेदितं श्रुत्वोदायुधः सन्नधुनैव निकट एवाभिसर त्यागच्छति, 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वे'ति वर्तमानप्रयोगः, ईश्वरे निवेदनमात्रं सेवककार्यं कर्तव्यं तु प्रभुरेव जानातीत्यस्य तूष्णीम्भावः, अभिप्रायस्तु यदीदानीं मारणीयस्तदा स्थातव्यं नो चेदन्यत्र गन्तव्यमिति, इदानीं मारणे गुप्ततया गोकुलवासिभिः सह क्रीडोद्धारादिकं न भविष्यतीति तत् कृत्वा पश्चान्मारणं, अतः पितुरभिप्रायादन्यत्र गतवानिति लक्ष्यते ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—ऐसा ज्ञान होने पर भी वसुदेवजी का भय निवृत्त नहीं हुआ इसलिये लौकिक की प्रबलता के सूचनार्थ 'अयन्तु आदि श्लोक द्वारा भय से भगवान् के प्रति विज्ञापना करते हैं, उक्त श्लोक में (तु) शब्द स्तुति की व्यावृत्ति का द्योतक है कि अब स्तुति समाप्त हुई पूर्व में जो कहा गया है वह स्तुति पदार्थ है उसकी समाप्ति कर अब एक श्लोक से प्रार्थना करते हैं, वसुदेवजी कहते हैं कि यह कंस तो असभ्य है, भगवान् प्रकट हुए हैं ऐसा जानकर साधु पुरुषों को ही सुख होता है दुष्टों को नहीं, अतः इससे इस प्रसङ्ग को कहना सर्वथा अयोग्य है, असभ्य होने के कारण ही इसने आपके जन्म को हमारे गृह में सुनकर आपके ज्येष्ठ भ्राता मेरे षट् (६) पुत्रों को मारा है, उक्त श्लोक में (सुरेश्वर) यह सम्बोधन अमृत मन्थन आदि प्रसङ्गों पर देवताओं के पक्षपात को स्मृति दिलाता हुआ भक्त पक्षपात का सङ्केत करता है, इस समय क्या करना चाहिये इस प्रश्न के विषय में वसुदेवजी कहते हैं कि वह हत्या प्रिय कंस प्रहरी लोगों से सूचित हुए आपके अवतार को सुनकर शस्त्रों को उठाये हुए अब ही निकट भविष्यमें आ ही रहा है, वर्तमान के समीप होने पर भी वर्तमान जैसा व्यावहार होता है अतः अभिसरति यह वर्तमान का प्रयोग सङ्गत है, ईश्वर के प्रति प्रार्थना मात्र हो सेवक का कार्य है, कर्त्तव्य विषय का ज्ञान तो प्रभु को ही है, अतः वसुदेवजी मौन हो गये, वसुदेवजी का अभिप्राय तो यह है कि यदि इसो समय मारना हो तो यहां विराजे अन्यथा अन्यत्र पधारें, भगवान् ने विचार किया कि अभी मारने में तो गुप्त रूप से जो व्रजवासियों के साथ लीला आपेक्षित है वह नहीं होगी एवं और भी लोगों का उद्धार आदि न हो पावेगा अतः उस कार्य को करने के अनन्तर ही कंस का वध उचित है अतः पिता श्री वसुदेवजी के अभिप्राय से अन्यत्र पधारे ऐसा तात्पर्यतः विदित होता है ॥२२॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम् ॥
देवकी तमुपाधावत् कंसाद् भीता सुविस्मिता शुचिस्मिता ॥२३॥

मूलार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा इसके अनन्तर इस पुत्र को महापुरूष के लक्षणों

से सम्पन्न देखकर कंस से भीत हुई देवकी उस पुत्र रूप भगवान् की शरणागत हो गई, उस दशा में वह आश्चर्य रसान्वित थी अथवा पवित्र मृदुहास से सुशोभित थी ॥२३॥

श्री सुबोधनी—तूष्णीं स्थिते वसुदेवे देवकी रूपोपसंहारं कंसस्य भगवज्जन्माज्ञानं च प्रार्थयितु' प्रथमतः स्तौतित्याहअर्थनमिति', स्वस्यैवायं पुत्र इति ज्ञातवती, तथा बुद्धे रुत्पादित्वात्, परं स पुत्रश्चतुर्भजादिलक्षणै र्लोकप्रसिद्धैर्भगवत्तुल्योऽयमिति ज्ञात्वा स्वबुद्धया स्मृतिपुराणेषु प्रसिद्धं भगवत्स्वरूपं प्रकृतेऽनुवर्णनीयमिति तदर्थमाह, महापुरुषस्य पुरुषोत्तमस्य लक्षणानि यत्र तं भगवन्तमुपाधावच् छरणं गता, स्तुत्वैव शरणं गमिश्यति, भगवन्निमित्तमेव कंसाद् भीता, तर्हि भगवत्स्वरूपज्ञानाद् भयमेव कथ न निवर्तयतीत्याशङ्‌क्याह सुविष्मितेति, आश्चर्यरस एव तस्या उत्पन्नो न तु निर्धारित ज्ञानं जातं येन भयं निवर्ततेत्यर्थः, शुचिष्मितेतिपाठे भगवत्स्तोत्रज्ञानार्थं तस्याः पातिव्रत्यादिधर्मो निरूपितः, अथेति भिन्न प्रक्रमे न तु वेदादिप्रकारेण, अन्यथा पौनरुक्तयं स्यात् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी के मौन हो जाने पर श्री देवकी भगवान् से उनके रूप के छुपा लेने की एवं कंस को उनके जन्म के ज्ञान न होने की प्रार्थना करने के लिये प्रथम स्तुति करती है, ऐसा (अर्थनम्) इस श्लोक द्वारा शुकदेवजी कहते हैं, श्री देवकी ने उस अद्भुत बालक को 'यह मेरा अपना ही पुत्र है, ऐसा समझा क्योंकि भगवान् ने उस प्रकार हो उनकी बुद्धि उत्पन्न कर दी थी, परन्तु वह पुत्र लोक + प्रसिद्ध चतुर्भुज आदि लक्षणों से भगवान के समान है ऐसा जानकर अपनी बुद्धि से स्मृति और पुराणों में भगवान् का स्वरूप जैसा प्रसिद्ध है वैसा इस अवसर पर वर्णन करना आवश्यक है अतः देवकी द्वारा वैसे वर्णन करने के लिए 'महापुरुष लक्षणम्' इस विशेषण का प्रयोग शुकदेवजी ने किया है, महापुरुष श्री पुरुषोत्तम के लक्षण जिस बालक में हैं, उस अद्भुत बालक भगवान् की शरणागति देवकी ने प्राप्त की, स्तुति करने के अनन्तर ही इन्हें शरणागति सिद्ध होगी, यह भगवान् के निमित्त से ही कस से भीत (डरी हुई) हैं, शङ्का हो सकती है कि तब महापुरुष लक्षणों से भगवत्स्वरूप के ज्ञान द्वारा देवकी ने भय को क्यों नह निकाल दिया उसके विषय में कहते हैं कि देवकी 'सुविस्मिता' थी उनको आश्चर्य रस हो उत्पन्न हुआ, निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हुआ, जिससे भय निवृत्त होता 'शुचिस्मिता' ऐसा पाठ भी सम्मत है, तदनुसार भगवान् की स्तुति के उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता के प्रयोजक देवकी के पातिव्रत्य आदि धर्म का निरूपण हुआ है 'ऐसा जानना', उक्त श्लोक के प्रारम्भ में ही 'अथ' शब्द इस प्रसङ्ग की पूर्व प्रसङ्ग से विभिन्न शैली की सूचना देता है कि वसुदेवजी ने वेद और तन्त्र के प्रकार से स्तुति की थी, और देवकीजी उससे भिन्न स्मृति पुराणोक्त दिशा से स्तुति करेंगी, अन्यथा वसुदेवजी के प्रकार से स्तुति करने में तो पुनरुक्ति दोष का संभव है ॥२३॥

टिप्पण+—लेखकार ने 'निवर्तयति' इस क्रिया का कर्ता भगवान् को जतलाया है।

+लोक में भगवान् का स्वरूप 'चतुर्भुज' आदि रूप से प्रसिद्ध है।

॥ श्री देवक्युवाच ॥

श्लोक—रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ॥
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ॥२४॥

मूलार्थ—श्री देवकी ने कहा कि जिसे अव्यक्त, आद्य, ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण, निर्विकार एवं सत्ता मात्र, निर्विशेष, निरीह कहा है (वह आधिदैविक रूप से यह ही है जिसे मैं देख रही हूँ) जो अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला है वह सर्वोपास्य विष्णु आपही हैं ॥ २४ ॥

श्री सुबोधनी—शरणं गता देवक्यष्टभिः स्तोत्रमाह, आधिदैविकमाध्यात्मिकमाधि भौतिकमिति भगवतो रूपत्रयमादौ निरूप्य शरणागमने हेतुं चोक्त्वा प्रकृते रक्षां भगवत्स्वरूपाज्ञानं द्वयं प्रार्थयते, इदानीं मारणे युद्धार्थं प्रवृत्तावेव पूर्वज्ञानसदृशत्वात् प्राणा न स्थास्यन्ति, अतस्तेन प्रकारेण रक्षा न कर्तव्या, प्रकारान्तरेण रक्षां प्रार्थयन्त्यज्ञानमपि प्रार्थयते, अन्यथा प्रथम पक्ष एव नःस्यात्, (न सिद्धयेत्) रूपोपसंहारं च प्रार्थयते, सर्वाधिक्ये सर्वद्वेषसम्भवात्, सर्वमारणं चाशक्यं, अलौकिके च शीघ्रमुपसंहारश्च स्यात्, अतः केवलं स्वार्थमुपसंहारः, प्रार्थनाद्वयं तु प्रकृतोपयोगि, एवं प्रार्थनात्रयं स्वस्य गर्वाभावार्थं, इदं न जननरूपं किन्तु नटवदनुकरणरूपमिति भगवदवतारं निरूपयति ।

व्याख्यार्थ—शरणागत देवकी आठ श्लोकों से स्तुति कह रही हैं, प्रारम्भ में भगवान् के आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, इन तीनों रूपों का तीन श्लोकों द्वारा निरूपण कर चतुर्थ श्लोक से शरणागति में कारण का उल्लेख कर पञ्चम श्लोक से उपस्थित परिस्थिति में रक्षा, एवं सर्व साधारण को भगवत्स्वरूप का ज्ञान न हो, यह दो प्रार्थना करती है, षष्ट श्लोक में इस अभिप्राय से की अभी कंस के मारने में तो उसके साथ आपके युद्ध के लिये प्रवृत्त होते ही मेरे प्राण नहीं रहेंगे क्योंकि पूर्व में मैं जिस भयङ्कर दृश्य को देख चुकी हूँ वैसा ही दृश्य (शस्त्रों को उठाये कंस का आना) देखने में आयेगा, यद्यपि युद्ध में आप ही उसे मारेंगे फिर भी मेरे षट् (६) पुत्रों का हत्यारा शस्त्र धारी क्रूर कंस मेरे सम्मुख उपस्थित होगा इतने मात्र से ही मेरे प्राण नहीं ठहर सकते हृदय इतना दुर्बल पड़गया है, अतः उस प्रकार से रक्षा न कीजिये, आपका अभी युद्ध में उसे मारकर हम लोगों की रक्षा करना मुझे अभीष्ट नहीं, किसी अन्य प्रकार से रक्षा अभीष्ट है, अभी तो आपके जन्म का ज्ञान भी उसे नहीं होना चाहिये, ऐसी प्रार्थना करती है, क्योंकि यदि आपके जन्म का ज्ञान उसे हो जावेगा तो भी हम लोगों के प्रथम पक्ष की ही संभावना है अर्थात् प्राणों की स्थिति नहीं रहेगी, (रक्षा सिद्ध नहीं होगी) सप्तम श्लोक से चतुर्भुज रूप के छुपा लेने को प्रार्थना करती हैं, सम्भव है सर्व साधारण लोग आपसे द्वेष करने लगें क्योंकि ऐसा अद्भुत रूप किसी का भी नहीं है अतः सब से अधिकता होने पर द्वेष ईर्ष्या आदि का सर्व साधारण में उद्गम होना संभावित है, और सब का हो संहार कर देना भी अशक्य है क्योंकि तब तो कोई भी न रहेगा तो आदन

भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा, अतः सब को मारदेना भी नहीं बनेगा, अतः इस रूप को ही तिरोहित करलेना उचित है, दूसरी बात यह भी है कि इस अलौकिक रूप में शीघ्र ही उपसंहार की संभावना है।

कारिका—रूपत्रयं तथा हेतुः प्रार्थनात्रितयं तथा। नटत्वमितिविज्ञानं स्वस्य यादृक् तथोदितम् ॥ १ ॥

सुबोधिनी—अष्टौ भगवानाधिदैविक इति वदन्ती स्वाभिज्ञानप्रमाणे प्रसिद्ध्या निरूपयति, इदं रूपं तदेव यत् सर्वैराधिदैविकत्वेनोच्यते, द्वयमन्यल्लोकसिद्धं, अलौकिकं त्वाधिदैविकमेव, अन्यथा प्रमाणानामनुवादकत्वं स्यात्, अत इदं रूपं तदेव, किं तदित्याकाङ्क्षायामाह तत् यत् प्राहुरिति, यत्तदोरानुपूर्व्येण निरूपणमाकाङ्क्षावैपरीत्येपि स्वानुभवदार्ढ्यार्थं, नन्वाधिदैविकमेसद् भवितुं नार्हति वैलक्षण्यादित्याशङ्क्य वैलक्षण्यहेतुभूतान् धर्मानत्रैव साधयत्य-व्यक्तमित्यादिनवभिः पदैः, नवधा हि जगत्, तद्विलक्षणं ब्रह्म नवधा निरूप्यते,

व्याख्यार्थ अधिक समय तक इस अद्भुत रूप से सर्व साधारण जनता में विराजना सम्भावित नहीं, अतः चिरकाल तक आपके विराजमान रहने के केवल अपने स्वार्थ को लेकर रूप के उपसंहार की प्रार्थना है, अवशिष्ट दो प्रार्थनायें तो प्रस्तुत में उपयोगी है हीं, इस प्रकार तीन प्रार्थना को हैं, अष्टम श्लोक से श्री देवकी अपने गर्भ के न होने की सूचना करती हुई यह निरूपण करती है कि आपका अवतार तो नट की भांति अनुकरण मात्र ही है, माता के आधीन होकर गर्भ में रहना और सर्व साधारण की भांति जन्म ग्रहण करना नहीं है।

कारिकार्थ—आधिदैविक आदि तीन रूप और शरणागति का कारण, तथा रक्षा, भगवत्स्वरूप का तथा उनके जन्म का ज्ञान न होना, और रूप का उपसंहार (तिरोभाव) करना, यह तीन प्रार्थना एवं नट की भांति भगवान् का जन्म अनुकरण मात्र है, ऐसा श्री देवकी ने अपने अनुभव के अनुसार कहा है।

व्याख्यार्थ—श्री देवकी स्तुति के प्रारम्भ में भगवान् को आधिदैविक बतलाती हुई अपने भगवद्विषयक ज्ञान और उस में प्रमाण इन दोनों का प्रसिद्धि के साथ निरूपण करती है, कि यह प्रत्यक्ष सम्मुख दृष्टिगत होने वाला रूप वह ही है जिसे सब लोग आधिदैविक कहते हैं, आधिभौतिक व आध्यात्मिक यह अन्य दो रूप तो लोक सिद्ध हैं, अलौकिक रूप तो आधिदैविक ही है, यदि आधिदैविक रूप भी लोकसिद्ध हो तब तो उसका ज्ञान लोकतः प्राप्त है अतः उसके ज्ञापक वचनों को अनुवाद ही मानना होगा प्रमाण नहीं, अतः श्री देवकी का कहना है यह रूप वह ही है, वह क्या है ऐसी आकाङ्क्षा (जिज्ञासा) होने पर कहती है कि यह वह है जिसे कहते हैं, अर्थात् सर्व शास्त्रों में जिसे परम तत्त्व मूलरूप कहा है वह ही यह साकार आधिदैविक तत्त्व है, श्री देवकी ने अपनी इस उक्ति में अपने अनुभव को दृढ़ता बतलाने के लिये (यत्) शब्द के अनन्तर ही (तद्) शब्द का प्रयोग कर दिया है यद्यपि (यत् प्राहुस्तद् रूपम्) इस प्रकार का शब्द विन्यास अपेक्षित था, अपने ज्ञान की प्रामाणिकता के निरूपण करने के लिये (यत्) और

(तद्) इन दोनो शब्दों के मध्य में (प्राहुः) शब्द का प्रयोग करना आवश्यक था और (तद्) शब्द के साथ ही 'रूप' शब्द का प्रयोग भी उचित था, परन्तु देवकीजी ने वैसा प्रयोग नहीं किया।

श्री सुबोधिनी—जगद्धर्माश्च तस्मिन् रूपे प्रतीयन्ते, तत्रा- "व्यक्तादीनि भूतानी" तिवाक्यादव्यक्तं मूलरूपं व्यक्तं तु जगत्, इदं तु व्यक्तमितिलोकप्रतीतिः, मूलभूतं त्वाद्यं भवति, इद त्वाधुनिकं, जगच्च स्वरूपकृतं कालकृतं च वैलक्षण्यमुक्तं पदद्वयेन, देशकृतं वैलक्षण्यं वदन्ती परिमाणेन तदाह ब्रह्मेति, "बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म" मूलभूतं, जगत् परिच्छिन्नमबृंहितं च तथैवरूपं, एवं सदंशेन वैलक्षण्यत्रयं निरूपितं, चिदंशेनापि त्रयमाह ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारमिति, "प्रकाशकं तच्चैतन्यं" जगत् प्रकाशयति, अन्यथा जगदभिव्यक्तिर्न स्यात् त्रिगुणात्मकं च जगत् त्रिगुणातीतमेव हि कारणं भवति, गुणानामपि कारणत्व भगवत्कारणता न स्यात् स्वातन्त्र्याभावात्, सदंशा एव गुणा न चिति सम्भवन्ति, यत्रैव भूतेन्द्रियान्तःकरणानि तदेव सगुणं, तदेव कारणं भवति यत् प्रपञ्चविलक्षणं, प्रपञ्चस्तूत्पत्त्यादिभावविकारयुक्तः, अतो निर्विकारमङ्गीकर्तव्यं,

व्याख्यार्थ—क्योंकि उनके अनुभव में अंशतः भी शिथिलता नहीं थी सर्वांश में दृढ़ था अतः उनको उस प्रकार के शब्द विन्यास की आवश्यकता नहीं, उनको अपने अनुभव पर विश्वास था अतः उनकी प्रमाणिकता के विषय में प्रयास करना अनावश्यक समझकर (यत् प्राहुस्तद्रूपम्) इस प्रकार आकाङ्क्षा के विपरीत होने पर भी (रूपं यत् तत् प्राहुः) ऐसा ही प्रयोग किया, यह स्वरूप आधिदैविक नहीं होना चाहिये क्योंकि आधिदैविक स्वरूप तो विलक्षण होता है ऐसी शङ्का के समाधान करने के लिये विलक्षणता के कारण रूप धर्मों को (अव्यक्त) आदि नव (९) पदों के द्वारा इसी स्वरूप में सिद्ध करती है, जगत् नव (९) प्रकार का ही है, उससे विलक्षण ब्रह्म नव (९) प्रकार से ही निरूपित होता है, जगत् के धर्म उक्त प्रकट हुए भगवत्स्वरूप में प्रतीत होते हैं, वहां (अव्यक्तादीनि भूतानि) भगवद्गीता द्वि. अ० श्लो २८ में सर्व जगत् का मूल रूप अव्यक्त है ऐसा कहा है, जगत् तो व्यक्त है ही, परन्तु यह भगवत्स्वरूप व्यक्त है इस प्रकार की लोकों को प्रतीति होती है (वास्तव में तो यह अव्यक्त ही है) एवं मूल तत्व तो आद्य सब से पूर्ववर्ती है, और यह स्वरूप अभी देखने में आया है अतः आधुनिक है (ऐसी लोक प्रतीति है) जगत् भी आधुनिक है, (अव्यक्त) (आद्यम्,) इन दो पदों से स्वरूपकृत और कालकृत विलक्षणता उक्त भगवत्स्वरूप की बतलाई गई है, श्री देवकी उक्त स्वरूप की विलक्षणता को देशकृत भी बतलाती हुई परिमाण के द्वारा (ब्रह्म) शब्द से उसे सूचित करती हैं कि यह स्वरूप वह है जिसे (ब्रह्म) कहा है, मूल भूत पर तत्व बृहत् (व्यापक) होने से एवं वृहण (वर्धनशील, बढ़ता ही रहे) होने से (ब्रह्म) कहलाता है, जगत् तो व्यापक नहीं परिच्छिन्न (सीमित) है एवं वर्धनशील भी नहीं ह्रासशील है, उसी प्रकार से लोगों को प्रकट हुआ यह रूप भी प्रतीत होता है, (परन्तु वास्तव में तो यह रूप (ब्रह्म) ही है, इस प्रकार सच्चिदानन्दगत सदंश से तीन विलक्षणताओं का निरूपण किया, चिदंश के द्वारा भी तीन विलक्षणताओं को बतलाती हैं कि यह स्वरूप (ज्योति) (निर्गुण,) एवं निर्विकार है।

श्री सुबोधिनी—लौकिकानि च ज्ञानानि विकारयुक्तानि रूपादिगुणयुक्तानि चेन्द्रियादिभिश्च प्रकाश्यन्ते,

विषयकृतं वैलक्षण्यमानन्दांशे निराकरणीयमित्येतदर्थमाह सत्तामात्रमिति, सत्ता विद्यमानता कालत्रयाबाधितसत्ता वा सर्वमेव हि जगत् सद्रूपमपि विशेषनामरूपधर्मवद् भवति, यावद्विशेषनिर्मुक्तं सामान्यं न भविष्यतीत्याशङ्क्य लौकिक एव विषय इयं व्याप्तिर्न त्वलौकिक इति सत्तामात्रमपि निर्विशेषमित्याह, अन्यथा पौनरुक्त्यं स्यात्, विशेषा हि व्यावर्तकाः, मूलसत्तायां व्यावर्त्याभावात् किं विशेषण ? कार्ये तु सा सर्वत्रानुस्यूतेति कार्यं न व्यावर्तनीयं, अन्यथा तस्य कारणतैव न स्याद् घटपटयोरिव, "पूर्णमदः पूर्णमिद" मित्यादिश्रुतौ सर्वचेष्टारहितमेव कारणं भवति, कार्यं सर्वमेव चेष्टमानं आकाशादेरपि शब्दजननलक्षणा चेष्टा वर्तत एव, आवरणापगमे कार्यापगमवदाकाशापगमस्यापि

व्याख्यार्थ—(प्रकाशकंतच्चेतन्यम्) आदि वचनों से चैतन्य (चित्) को प्रकाशक कहा है, वह जगत् को प्रकाशित करता है अन्यथा उसके प्रकाश के बिना जगत् की प्रतीति ही न हो पावेगी, एवं जगत् त्रिगुणात्मक है, सत्य आदि गुणत्रयों का रूपान्तर है, कारण भूत मूल तत्व तो गुणत्रय से अतीत है निर्गुण है, यदि जगत् के प्रति गुणों को भी कारण मानलिया जावे तो भगवान् की जगत्कर्तृता सिद्ध न हो सकेगी क्योंकि कर्ता स्वतन्त्र होना चाहिये गुणों के कारण उसकी स्वतन्त्रता नहीं रह पाती, गुण सदंश है अतः उनका (चित्) में सम्भव नहीं, पृथिवी आदि भूत एवं इन्द्रिय अन्तःकरण जहां भी होते हैं वह सगुण होता है, कारण वह ही होता है जो प्रपञ्च (कार्य) से विलक्षण हो, प्रपञ्च तो उत्पत्ति आदि षट् ६+ भावविकारों से युक्त है अतः कारण तत्व को निर्विकार मानना आवश्यक है, लौकिक वस्तु मात्र जो ज्ञान के विषय हैं वह सब सविकार हैं और रूपादि गुणों से समन्वित हैं, तथा चक्षु आदि इन्द्रिय एवं उनके सूर्य आदि देवताओं से प्रकाशित होते हैं, अतः चिदंश से उक्त विलक्षणता भगवान् की सिद्ध होती है, क्योंकि लौकिक चित् की भांति आपका प्रकाश इन्द्रियादि के आधीन नहीं आप तो स्वयं प्रकाश ज्योती रूप हैं, और न आप लौकिक गुण एवं विकारों से ही युक्त हैं आप तो निर्गुण एवं निर्विकार हैं, सत्तामात्र निर्विशेष, निरीह, इन पदों द्वारा आनन्दांश से विलक्षणता बतलाती हैं, आनन्दांश में विषय के द्वारा कोई विलक्षणता नहीं आती यह बतलाना आवश्यक है अतः भगवान् को सत्तामात्र कहा है, आपका स्वरूप सर्वत्र विद्यमान है किसी भी काल में आपकी सत्ता बाधित नहीं होती, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में वह अक्षुण्ण बनी रहती है, सत्ता शब्द किसी 'सद्' वस्तु के भाव को ही कहता है' सतो भावः सत्ता सदैव सत्तामात्रम्, बात ऐसी है कि लौकिक आनन्द में भी लौकिक ज्ञान की भांति विषय कृत विलक्षणता देखी जाती है; जिस प्रकार घट, एवं पट, की विलक्षणता से घट ज्ञान एवं पट ज्ञान विलक्षण प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार कामिनी स्पर्शज सुख एवं पुत्र स्पर्शज सुख भी कामिनी 'एवं पुत्र' की विलक्षणता से विलक्षण ही प्रतीत होते हैं,

श्री सुबोधिनी—दृष्टत्वादन्धकारवदीहा तत्रापि, ब्रह्मणि त्वावरकासम्भवादव्यवहार्यत्वाच्च निरीहत्वं सिद्धमेव, यद्यप्येकस्मिन्नपि विशेषणे सर्वे धर्माः क्रोडीकर्तुं शक्यन्ते तथापि नवधा वैलक्षण्यस्य वक्तव्यत्वान्नव विशेषणान्युक्तानि, तात्रशमिदमेव रूपं, नवविधानां प्राणिनां स्वदोषेणैव नवविधत्वप्रतीतिः, यथा भ्रमरिकादृष्ट्या गृहीता भूमिरपि भ्रान्तेव

टिप्पण—+१. उत्पत्ति, २. सत्ता, ३. वृद्धि, ४. परिणाम ५. अपक्षय ६. नाश, यह ६ भाव विकार हैं

दृश्यते तदपि तस्यैव दृष्ट्यैवमत्रापि ब्रह्मविदां दृष्ट्या भगवान् वर्णितगुण एव, अन्यथा तदभिव्यक्त्यर्थं प्रयत्नं नकुर्युर्ब्रह्मादयोऽपि पश्चादुत्पन्नं न नमस्कुर्युः सायुज्यं चात्र न प्राप्नुयुरेतज्ज्ञानेन च सर्वज्ञा ना भवेयुरेतन्निष्ठाश्च निर्गुणा न भवेयुरेतद्भजनेन च सर्वविकाररहिता न भवेयुः सर्वेषु पदार्थेष्वेतं च न पश्येयुरेतज्ज्ञानेन च प्रपञ्चो न निवर्ततेतत्कृपया च ब्रह्मनिष्ठा न भवेयुः, अतोऽयमेतादृश एव,

व्याख्यार्थ—अलौकिक सुख में वैसी विलक्षणताओं का सम्भव नहीं क्योंकि वह सुख स्वरूपतः सुख है, कामिनी, एवं पुत्र आदि के स्पर्श के विषय को लेकर नहीं वह तो सत्ता मात्र है किसी देश या काल में उसके अभाव का सम्भव नहीं वह व्यापक है अतः वह ही यथार्थ सुख है 'यो वै भूमावत्सुखम्-नाल्पे सुखमस्ति' आदि श्रुति भी इसी तत्त्व का प्रतिपादन करती हैं' अस्तु। जब 'सत्तामात्र' शब्द से व्यापक आनन्द का प्रतिपादन हो जाता है तब 'निर्विशेष' शब्द के प्रयोग की क्या आवश्यकता रह जाती है क्योंकि जो पदार्थ सविशेष होता है वह उस विशेष को लेकर अन्य पदार्थ से भिन्न सिद्ध होता है, वैशेषिकों ने परमाणुओं के पारस्परिक विभेद का कारण विशेष पदार्थ माना है, सर्वव्यापक सत्तामात्र आनन्दमय ब्रह्म का भेद सम्भव ही नहीं उसकी निर्विशेषतातो अनुक्त सिद्ध है। ऐसी अवस्था में 'निर्विशेष' शब्द का प्रयोग एक लौकिक नियम का अलौकिक विषय में अनादर बतलाने को उसकी अमान्यता सूचित करने को किया है, कि यद्यपि सम्पूर्ण जगत् ही सद् रूप है, 'घटः सन् पटः सन्' घट है, पट है, इत्यादि प्रतीति के आधार पर सत्ता सर्वत्र व्याप्त है एवं सर्वत्र ही नाम 'रूप' विशेष भी धर्म रूप से उपलब्ध होते हैं, जो है उसका कोई नाम विशेष 'घट' आदि भी है एवं उसका रूप विशेष भी रक्त, कृष्ण, गोलाकार, लम्बाकार आदि भी है ऐसा कोई भी सामान्य पदार्थ नहीं जो नाम रूप विशेष से सर्वथा रहित हो तथापि जगत् के पदार्थों की भांति ब्रह्म के भी सविशेष होने की शङ्का के निवारणार्थ 'निर्विशेष' शब्द का प्रयोग किया है, कि लैकिक विषय में ही यह व्याप्ति या नियम है कि सामान्य पदार्थ सविशेष ही होता है निर्विशेष नहीं, अलौकिक ब्रह्म के विषय में यह नियम नहीं वह तो सर्व विशेष, विनिर्मुक्त, निर्विशेष ही है, आशय यह है कि केवल उक्त नियम का ब्रह्म के विषय में अपवाद बतलाने को 'निर्विशेष' शब्द प्रयुक्त हुआ है अन्यथा उसकी आवश्यकता नहीं किन्तु पुनरुक्ति दोष का ही सम्भव था, उक्त नियम को अलौकिक विषय में इसलिये नहीं माना जाता कि विशेष पदार्थ भेद करने वाले होते हैं, मूल सत्ता स्वरूप ब्रह्म में किसी से भेद अभीष्ट ही नहीं, उससे किसी को व्यावृत्त या पृथक् सिद्ध करना अपेक्षित ही नहीं एवं सम्भावित भी नहीं तो वहां विशेष से क्या प्रयोजन है, कार्य में तो सत्ता सर्वत्र ही व्याप्त है। अतः सत्तात्मक कारण रूप ब्रह्म से कार्य की तो व्यावृत्ति या भेद का सम्भव नहीं, यदि कार्य से उसका उपादान भिन्न हो तब तो उसमें उपादान कारणता ही नहीं मानी जा सकेगी-उपादान कारण तो पट में

श्रीसुबोधनीः—नन्वेतत् सर्वं सर्वज्ञाम्युपास्यत्वे भगवतः सम्भवति न त्विदानीमेवाविर्भूतस्य तथात्वं वक्तुं शक्यत इत्याशङ्क्याह स त्वमिति, यदेतादृशं तत् त्वमेव, तत्र हेतुर्विष्णुरिति, विष्णुर्हि पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वोपास्यः, स एव सर्वेषामधिदेवः, स एवाविर्भूत इति ब्रह्मवाक्यादवसीयते, नन्वेवमप्यंशावतारः स्यात् ततश्च मूलत्वाभावादुक्तं सर्वं

बाधितमित्यत आह साक्षादिति, ननु वाक्यं गौणमपि भवति स्तुतिपरमपि भवति तस्मात् कथं निर्णय इति चेत् तत्राहा-ध्यात्मदीप इति, अध्यात्मं मदन्तःकरणं वस्तुतो जड मुग्धं सर्वशास्त्रविहीनं तच्चेदेवम्प्रकाशयुक्तं त्वत्सान्निध्यात् तदेवास्य कारणमित्यवसीयते, आधिदैविकस्यैवाध्यात्मप्रकाशजनकत्वात्, अतो मदनुभवेनापि भवानुक्तरूप एव, कार्यं चाव्यभिचारि लिङ्गम् ।। २४ ।।

व्याख्यार्थ—तन्तुओं की भांति कार्य में अनुस्यूत ही रहते हैं, 'घट' एवं 'पट' यह दोनों एक दूसरे से व्यावृत्त हैं तो एक दूसरे के कारण भी नहीं हैं, ब्रह्म सब का कारण है सद्रूप से सर्वानुगत है उसकी व्यावृत्ति नहीं अतः वह निर्विशेष ही है, 'निरीहम्' पद से ब्रह्म की चेष्टा का अभाव प्रतिपादन अभीष्ट है ब्रह्म सर्व चेष्टाओं से रहित है, क्योंकि चेष्टा करने वाला अपनी किसी अपूर्णता को पूर्ण करने के लिये चेष्टा करता है, ब्रह्म में अपूर्णता का संभव नहीं, भगवति श्रुति उसके विषय में प्रतिपादन करती है कि 'पूर्ण मदः पूर्ण मिदम्' परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म पूर्ण ही है, उक्त श्रुति में कारण सर्व चेष्टाओं से रहित है ऐसा सूचित किया है, सर्व जगत् का कारण ब्रह्म किसी भी प्रकार की चेष्टा नहीं करता उस कारण का लक्षण ही चेष्टा रहित होना है, और कार्य मात्र चेष्टा शील है, किसी भी प्रकार की चेष्टा होना कार्य में अनिवार्य है, आकाश आदि भी चेष्टा रहित नहीं शब्द को जन्म देने की चेष्टा आकाश आदि को भी प्रसिद्ध ही है, इतना ही नहीं किन्तु जिस प्रकार आवरण के हट जाने पर कार्य की स्थिति नहीं रहती वह भी हट जाता है, जिन कपाल आदिकों ने जितने अंश में आकाश को आवृत करके घट रूपी कार्य को उपस्थित किया था उन आवरण रूप कपाल आदि के हट जाने पर घट आदि कार्य भी हटजाता है उस घट आदि कार्य को नष्ट या चलित हो जाने की चेष्टा प्रतीत होती है उसी प्रकार वह आकाश भी जिसके आवृत होने से घट आदि कार्य दृष्टिगत हुए थे नष्ट या चलित प्रतीत होता है, एवं दीपक के चलने पर अंधकार का चलना प्रतीत होता है उसी प्रकार आकाश भी आवरण के हटने पर हटता हुआ प्रतीत होता है अतः आकाश में चेष्टा है ही, ब्रह्म में तो किसी प्रकार चेष्टा का सम्भव नहीं क्योंकि न तो उसका कोई आवरण करने वाला है और न वह किसी प्रकार के व्यवहार का विषय ही है, अतः उसकी निरीहता सिद्ध ही है, यद्यपि किसी एक ही विशेषण से सर्व धर्मों का संग्रह संभावित है तो भी नव (९) प्रकार से विलक्षणता का बतलाना आवश्यक है अतः नव (९) विशेषण कहे हैं, पूर्वोक्त नव (९) विशेषणों के द्वारा जैसा मूल कारण ब्रह्म का स्वरूप कहा है वैसा ही प्रत्यक्ष दृष्टिगत यह स्वरूप है, व्यक्त आदि (९) नव प्रकार के लोगों को अपने दोष से ही उनमें व्यक्तत्व आदि नव (९) दोषों की प्रतीति होती है, प्राणी स्वयं व्यक्त, आधुनिक, परिच्छिन्न पर प्रकाश्य, सगुण, सविकार, त्रैकालिक, सत्ताहीन, सविशेष, सचेष्ट होते हैं उनको भगवत्स्वरूप में भी व्यक्तत्व आदि नव धर्मों की प्रतीति होती है, जैसे घूमती हुई दृष्टि से देखी गई पृथ्वी घूमती सी प्रतीत होती है उसी प्रकार भगवत्स्वरूप भी- व्यक्त आदि रूप में प्रतीत होता है, भ्रान्त दृष्टि वाले की दृष्टि से ही पृथ्वी भ्रमित—

श्लोक—नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ॥
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञः ॥२५॥

मूलार्थ—द्विपरार्ध (ब्रह्मा की पूर्ण आयु) के समाप्ति काल में भुवनों के नाश हो जाने पर एवं प्रकाश के विलीन हो जाने पर पृथ्वी आदि महाभूतों के आदिभूत अहंकार में लीन हो जाने पर काल वेग से सब ही व्यक्त हुए महत्तत्व आदि पदार्थों के अव्यक्त (प्रकृति अथवा अक्षर ब्रह्म) में प्राप्त हो जाने पर अपनी अशेष संज्ञाओं को धारण किये हुए सर्व शब्दों के वाच्यार्थ आपही एक अवशिष्ट रहते हैं ॥२५॥

श्री सुबोधिनी—एवमाधिदैविकरूपं निरूप्याध्यात्मिकं रूपं निरूपयति 'नष्टे लोक इति,' आधिभौतिकस्य सर्वस्याध्यात्मन्येव लयः, तस्यैवात्मत्वप्रतिपादनात्, दृश्यते च स्वप्नादौ बाह्यप्रकाशेप्यान्तरः प्रकाशः,

व्याख्यार्थ—प्रतीत होती है, स्थिर दृष्टि वाले की दृष्टि से नहीं, भगवत्स्वरूप भी संसारी लोगों की दृष्टि से ही व्यक्त आदि रूप से प्रतीत होता है ब्रह्मवेत्ताओं की दृष्टि से तो अव्यक्त, आद्य आदि वर्णन किये गये गुणों से परिपूर्ण ही दिखता है यदि भगवान् अव्यक्त नहीं होते व्यक्त ही होते तो उनकी अभिव्यक्ति (प्राकट्य) के लिए भक्त जन प्रयत्न नहीं करते क्योंकि व्यक्त तो प्रकट ही है उसकी अभिव्यक्ति तो स्वतः सिद्ध है, उसके अर्थ प्रयत्न प्रकाश में दीपक जलाने की भाँति व्यर्थ ही है अतः अभिव्यक्ति के प्रयत्न से सिद्ध होता है कि आप अव्यक्त हैं, एव यदि आप आद्य नहीं आधुनिक होते तो इस अर्वाचीन स्वरूप को ब्रह्मादिक सर्व प्राचीन देवता नमस्कार नहीं करते, यदि आप ब्रह्म नहीं होते तो मुक्तात्मा इस स्वरूप में सायुज्य को प्राप्त नहीं कर पाते, यदि स्वयं प्रकाश ज्योति रूप नहीं होते तो इनके ज्ञान से साधक गण सर्वज्ञ नहीं हो पाते, यदि निर्गुण नहीं होते तो इसमें निष्ठा रखने वाले लोग निर्गुण नहीं हो पाते, यदि निर्विकार नहीं होते तो इनके भजन से भक्तजन सर्व विकार रहित नहीं हो पाते, यदि सर्व देश-काल में सत्तात्मक रूप से नहीं विराजते तो सर्व पदार्थों में इनका दर्शन न हो पाता, यदि नाम रूप आदि विशेषों से विरहित न होते तो इनके ज्ञान से नाम रूपात्मक प्रपञ्च की निवृत्ति नहीं हो पाती, यदि स्वयं पूर्ण होने के कारण चेष्टा रहित न होते तो इनकी कृपा से लोग ब्रह्मनिष्ठ परम शान्त भी नहीं हो पाते, अतः यह प्रत्यक्ष दृश्यमान स्वरूप ऐसा ही है, एक शङ्का हो सकती है कि यह सब कुछ उस दशा में सम्भावित है जब भगवान् सर्व ज्ञानी जनों के उपास्य रूप में माने गये हों, इस समय प्रकट हुए स्वरूप को 'अव्यक्त' आदि कहना शक्य नहीं, सामर्थ्य से साध्य नहीं, उक्त आशङ्का के निवारणार्थ कहती हैं कि 'सत्वम्' वह आप ही हैं, जो ऐसा अव्यक्त आदि स्वरूप है वह आप ही हैं, उसमें कारण आपका विष्णु रूप होना है, क्योंकि कि विष्णु ही अव्यक्त आदि पूर्व वर्णित प्रकार से सर्व साधारण के उपास्य हैं, वह ही सबके अधिदेव हैं, वह ही आप प्रकट हुए हैं, ऐसा ब्रह्माजी के वचन से निश्चित होता है, 'दिष्ट्याम्ब ! ते कुक्षि-

अतः परः पुमान्' ऐसा ब्रह्मा का स्पष्ट वचन है, यद्यपि ब्रह्मा के उक्त वचन में 'अंशेन जातः' अंश शब्द का प्रयोग किया है अतः अंशावतार की सम्भावना हो सकती है, तब मूल रूप होने के कारण पूर्व में कहा हुआ सब ही बाधा ग्रस्त है, युक्ति सङ्गत नहीं ऐसी शङ्का के निवारणार्थ 'साक्षात्' पद का प्रयोग कर श्री देवकी ब्रह्माजी के पूर्वोक्त वचन गत 'अंशेन' के साथ प्रयुक्त हुए 'साक्षात् भगवान् भवायनः' साक्षात् पद का स्मरण दिलाती है कि आप साक्षात् मूल रूप ही हैं—

श्री सुबोधिनी— तस्मादयं भगवानात्मा, अन्यस्य लयावधित्वं नास्तीति तस्य लयावधित्वमाह लोके प्रकाशे चतुर्दशलोकेषु च नष्टेषु सर्वनाशो नियतकाल इति ज्ञापयितुमाह द्विपरार्धावसान इति, ब्रह्मण आयुः परशब्देनोच्यते, तस्यार्धं परार्धं, परार्धद्वये ब्रह्मसमाप्तिः, बन्धमोक्षव्यवस्थां लोके वक्तुं, ब्रह्मण आयुषोऽर्धव्यवहारो ब्रह्मण उत्तरायुष्येव ब्रह्माण्डस्थानां मुक्तिरितिज्ञापनार्थः, द्विपरार्धस्याप्यवसाने समाप्तौ,

व्याख्यार्थ—किसी ज्ञान या क्रिया के अंश से प्रकट हुए हो ऐसी बात नहीं है, श्री देवकी ने ब्रह्मा के कथन से ही भगवान् की परमतत्व रूपता समझी हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा का उक्त वाक्य 'सिंहोमाणवकः' की भांति गौण भी हो सकता है, जिस प्रकार बालक में शूरता आदि गुणों को देखकर उसे सिंह कह देते हैं उसी प्रकार मूल तत्त्व के किसी अंश को लेकर भी अंशावतार को साक्षात् भगवान् कहा जा सकता है, तथा प्रशंसात्मक स्तुति में भी ब्रह्मा का तात्पर्य हो सकता है प्रशंसा सर्वांश में यथार्थ ही हो ऐसा नियम नहीं है, श्री देवकी ने अपने अन्तःकरण के संवाद से निर्णय किया है आप कहती है कि 'अध्यात्मदीपः' मेरा अध्यात्म यह अन्तःकरण जो कि जड़ता एवं मोह से व्याप्त है सर्व शास्त्र विहीन है जिसे किसी प्रकार से प्रकाश प्राप्त नहीं हुआ, उस अन्तःकरण का आपके सन्निधान से इस प्रकार प्रकाश पूर्ण हो उठना ही सूचित करता है कि आप परम तत्त्व हैं, इस जड़ मुग्ध अन्तःकरण की प्रकाश पूर्णता का कारण आपका मूल रूपत्व ही है ऐसा निश्चय होता है, क्योंकि अध्यात्म को प्रकाशित करने वाला आधिदैविक ही होता है, अतः मेरे अनुभव से भी आप उक्त रूप ही हैं, अव्यक्तादि विशेषण विशिष्ट परम कारण मूल तत्व आधिदैविक स्वरूप ही हैं, क्योंकि कार्य तो बिना कारण के होता नहीं धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता वह अग्नि का कार्य है, अग्नि से प्रकट होता है, उसे देखकर अग्नि नहीं भी दीखता तो भी निर्णय कर लिया जाता है कि अग्नि है, क्योंकि धूम अग्नि से व्यभिचरित नहीं होता, वह उसका अव्यभिचारी लिङ्ग है (चिन्ह है) उसको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं रहता अतः धूम अग्नि का अनुभावक या निश्चायक है उसी भांति अध्यात्म (अन्तःकरण का प्रकाश भी) भगवान् के आधिदैविक होने का निश्चायक है ॥२४॥

व्याख्यार्थ— इस प्रकार आधिदैविक स्वरूप का निरूपण कर 'नष्टे लोके' आदि श्लोक से आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण करती हैं, समस्त आधिभौतिक पदार्थ का लय अध्यात्म में ही है क्योंकि 'अधिक आत्मा' 'अध्यात्मा', इस व्युत्पत्ति से सर्वाधिक आत्मा ही सर्व तत्त्वों का लय स्थान होने से आत्मारूप से प्रतिपादित हुआ है, स्वप्न आदि में देखा जाता है कि बाह्य वस्तु के सर्वथा प्रकाश न

रहने पर भी आन्तरिक प्रकाश होता है, उक्त कारण से यह स्वीकार करना पड़ता है कि यह भगवान् आत्मा है, प्रलय काल में अन्य कोई स्वप्न का द्रष्टा जीव लय का अवधि नहीं होता, वह तो स्वप्नावस्था में ही उस प्रकार का हो सकता है, इस—

श्री सुबोधिनी – ब्रह्माण्डस्य तु प्रलयस्तदैव भवति, तदा तत्त्वानि तिष्ठन्ति, तेषामपि प्रलयमाह महाभूतेष्वादिभूतं गतेष्विति, आदिभूतशब्देनाहङ्कार उच्यते, अग्रे महत्तत्त्वस्यापि प्रकृतौ लयस्य वक्ष्यमाणत्वात्, अहङ्कारोऽपि महति लीयत इति ज्ञापितं, भूतानामादिभूत इतिव्युत्पत्त्याऽऽदिभूतशब्दवाच्योऽहङ्कारो भवति, आदौ भूतो जातश्चेत्, महत्तत्त्वमेव, व्यक्तं महत्तत्त्वेऽव्यक्तं प्रकृतिं गते सति, व्यक्ताव्यक्तपदाभ्यामेतत् सूचयति, अक्षरात् प्रकृतिपुरुषविभागपक्षे प्रकृतिपुरुषयोरप्यक्षरे लयः, कालादीनामव्यक्ततैव, किं बहुना ? सर्वमेव व्यक्तमव्यक्ते प्रविष्टं, तत्र प्रवेशे कालवेग एव हेतुः, भगवतः सर्वोपसंहारेच्छायां सर्वोपसंहारार्थमधिकारी कालो वेगवत्तरो भवति, एवं स्वयमप्यक्षरे, अक्षरं पुरुषोत्तमे, पुरुषोत्तमाभिन्ने वाऽक्षरे, तदा भवानेवैकः शिष्यते, तस्य भगवतः स्वरूपाणि यानि स्थितान्याधिदैविकानि तेषामपि लयमाशङ्क्य

व्याख्यार्थ—कारण भगवान् को ही लय का अवधि बतलाती है कि लोक के नष्ट हो जाने पर आप ही शेष रहते हैं 'लोक' शब्द से 'प्रकाश' तथा 'चतुर्दशभुवन' दोनों ही का ग्रहण अभीष्ट है, सर्व नाश एक किसी निश्चित काल में होता है ऐसा बलताने को 'द्विपरार्धावसाने' कहा है, ब्रह्मा के आयु को 'पर' शब्द से कहते हैं, उस आयु के अर्ध भाग को परार्ध कहते हैं, दो परार्धों के समाप्त होने पर ब्रह्मा की समाप्ति हो जाती है, ब्रह्मा के आयु का अर्ध व्यवहार अर्थात् पूर्वार्ध और परार्ध इस प्रकार का विभाग लोक में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था के सूचनार्थ ही प्रचलित हुआ है, कि जिससे लोगों को ज्ञात हो जावे कि ब्रह्मा के आयु के उत्तरार्ध में ही +ब्रह्माण्डवर्ती जीवों की मुक्ति होती है, द्विपरार्ध के भी अवसान अर्थात् समाप्ति होने पर ही ब्रह्माण्ड का प्रलय होता है, ब्रह्माण्ड का प्रलय तो तब ही होता है परन्तु उस समय तत्त्व रह जाते हैं, उनके प्रलय को भी कहती है कि पृथ्वी आदि महाभूत अहङ्कार को जो कि सर्व भूतों का आदि भूत है उसे प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उसमें लीन हो जाते हैं, आदि भूत शब्द से अहङ्कार कहा जाता है, आगे महत्तत्व का लय प्रकृति में होता है ऐसा कहेंगे अतः अहङ्कार भी महत्तत्व में लीन हो जाता है यह सूचना मिलती है, आदि भूत शब्द से अहङ्कार का ग्रहण 'भूतानामादिभूतः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पृथ्वी आदि भूतों के प्रथमवर्ती होकर उनको उत्पन्न करने से उचित हो है, यदि आदौ भूतो जातः' इस प्रकार व्युत्पत्ति अभीष्ट है तो 'महत्तत्व' का ग्रहण 'आदिभूत' शब्द से सम्भावित है, 'व्यक्त' महत्तत्व के 'अव्यक्त' प्रकृति को प्राप्त कर लेने पर भगवान ही शेष रहते हैं, यहाँ 'व्यक्त' 'अव्यक्त इन पदों द्वारा श्री देवकी यह सूचना देती हैं कि जब यह मान्यता है कि अक्षर ब्रह्म से प्रकृति और पुरुष का विभाग हुआ है तो उस पक्ष में प्रकृति और पुरुष का भी अक्षर ब्रह्म में लय होता है,

---

टिप्पण— +यहाँ जिनकी मुक्ति की चर्चा की है वह ज्ञानी एवं भक्तों से अतिरिक्त अधिकार प्राप्त जीवों की समझनी, ज्ञानी और भक्तों को किसी काल विशेष का बन्धन नहीं है—

श्री सुबोधिनी—तन्निवृत्त्यर्थमाहाशेषसंज्ञ इति, अशेषाः सर्वाः संज्ञा यस्य, सर्वशब्दवाच्यो भगवानेक एवेति, एक एव शिष्यत इत्यर्थः, एवामधिभौतिकानां सर्वेषां लयस्थानभूतोऽध्यात्मा उक्तः ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ—'व्यक्त' शब्द से प्रकृति और पुरुष भी संगृहीत होते हैं, और 'अव्यक्त' शब्द से अक्षर ब्रह्म का सग्रह अभीष्ट है, काल आदि तो अव्यक्त ही हैं, अधिक कहने से क्या प्रयोजन है सब ही 'व्यक्त' प्रकट हुए पदार्थ 'अव्यक्त' अक्षर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, प्रवेश कर जाते हैं, उस प्रवेश में कारण काल का वेग ही है, जब भगवान् सर्व जगत् को समाप्त करना चाहते हैं तो उस कार्य के लिये उनका अधिकारी काल तीव्र वेग धारण करता है, और वह स्वयं काल भी अक्षर ब्रह्म में ही लीन हो जाता है, अक्षर ब्रह्म का लय परब्रह्मपुरुषोत्तम में होता है अथवा उनके चरण रूप होने से उनके स्वरूप से पृथक् न रहकर उनके चरण में ही प्रवेश कर जाता है, उस समय केवल भगवान् ही आप शेष रहते हैं, उक्त अवस्था में भगवान् जो आधिदैविक स्वरूप हैं उनका लय भी हो जाता होगा इस आशङ्का के निवारणार्थ 'अशेष संज्ञः' पद का प्रयोग किया है कि आपकी तो सब ही संज्ञा यथावत् रहती हैं, आप तो अपने वाचक अशेष शब्दों से वाच्य बने रहते हैं, अनन्त शब्दों के द्वारा जिन जिन अनन्त रूपों का बोध होता है उन सर्व रूपों को लेकर आप एक मात्र अवशिष्ट रहते हैं, इस प्रकार सब ही आधिभौतिकों के लय स्थान आध्यात्मा का प्रतिपादन किया है ॥२५॥

श्लोक—योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्त बन्धो ! चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ॥
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयाँस्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥ २६ ॥

मूलार्थ—हे अव्यक्त बन्धो ! प्रकृति के सहायक ! यह सम्पूर्ण विश्व जिससे चेष्टा प्राप्त कर रहा है वह जो यह काल है उसे आपकी चेष्टा बतलाते हैं, वह निमेष से लेकर वर्ष पर्यन्त का है वर्षों से भी उसका अन्त नहीं वह अत्यन्त महान् है उस काल के स्वामी मङ्गलमय धाम विशुद्ध सत्व में विराजनेवाले सर्व समर्थ आपकी मैं शरणागत हूँ ॥२६॥

श्री सुबोधिनी—आधिभौतिकं रूपमाह योऽयं काल इति, आधिभौतिकानामाधिभौतिकभूतो भगवान् न त्वाधिभौतिक एव, तथात्वज्ञापकमाह कालो यस्य चेष्टेति, कालप्रेरितानि सर्वाण्येवाधिभौतिकानि, योऽयं कालः सर्वेषां निमित्तभूतः, तस्य सर्वेषां मूलभूतस्य—

व्याख्यार्थ—श्री देवकी उक्त श्लोक में भगवान् के आधिभौतिक रूप को कहती हैं, उनके आधि-भौतिक होने का प्रकार यह है कि वह आधिभौतिक वर्ग में प्रवेश कर आधिभौतिक कहलाते हैं, जैसे वह चक्षु के चक्षु हैं, श्रोत्र के श्रोत्र हैं, वैसे ही आधिभौतिकों के आधिभौतिक हैं, न कि आधिभौतिक ही हैं, उक्त प्रकार से उनके आधिभौतिक हो जाने का ज्ञान कराने के लिये काल को उनकी चेष्टा बतलाया

है कि यह जो काल है जिसके द्वारा सब ही आधिभौतिक वर्ग प्रेरणा प्राप्त करते हैं वह आपकी चेष्टा है, श्री देवकी का कहना है कि सब का निमित्त कारण जो यह काल है वह आप ही हैं क्योंकि सबके मूल कारण तो आप ही ठहरे अतः काल में प्रवेश कर उसे प्रेरणा शक्ति का लाभ कराने से काल भी आपका अन्यतम रूप है जैसा कि श्री कपिल देवजी ने देवहूति के प्रति कहा है कि 'प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ! चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः' भा. तृ स्कं २६ अध्याय श्लो० १० हे मनुपुत्रि ! आप महात्मा मनु की पुत्री होने के कारण अलौकिक प्रकार को समझती हैं जब तक काल के द्वारा प्रकृति के गुणों में क्षोभ का उदय नहीं होता तब तक किसी भी प्रकार का विशेष (भेद) न होने से उन गुणों की साम्यावस्था निर्विशेष कहलाती है काल के द्वारा चेष्टा प्राप्त होने पर ही उन गुणों में क्षोभ होता है उनकी निष्क्रियता दूर होती है वह सक्रिय होकर परस्पर में एक दूसरे का अभिभव करते हैं एवं उत्तरोत्तर प्राकृत तत्वों का सर्जन करते हैं वह चेष्टा का हेतुकाल उपलक्षण रूप से भगवान् ही समझा जाता है वास्तव में तो वह काल आपकी चेष्टा ही है, उक्त श्लोक में 'आहुः' इस क्रिया पद से भगवान् की चेष्टा के काल रूप होने में प्रमाण की आकाङ्क्षा को शान्त करती हैं कि अलौकिक तत्त्व के यथार्थ दर्शी महानुभावों ने भगवान् की चेष्टा को काल कहा है, भगवान् की चेष्टा के अस्तित्व में प्रमाण की आकाङ्क्षा को शान्त करने के लिये अनुमान प्रमाण—

श्री सुबोधनी—स एव भवानिति ते तव चेष्टामाहुः, ननु भगवतश्चेष्टासत्त्वे किं प्रमाणं चेष्टाया वा कालत्वे ? तत्राहुरिति चेष्टायाः कालत्वे मानमुक्तं, चेष्टासत्त्वे मानमाह चेष्टते येन विश्वमिति, येन कालेन विश्वमेव चेष्टते, न हि कारणस्य चेष्टाभावे कार्ये चेष्टा भवति, कालवशाच्च चेष्टा, चेष्टायाः कर्मरूपत्वात्, कर्म च कालजनितं, काले कर्मविधानात्. अतो भगवच्चेष्टारूपः कालः, ननु प्रकृतिकारणपक्षे तद्द्वारा कार्यपक्षं वा न चेष्टारूपः कालः सिद्ध्येदित्याशङ्क्याहाव्यक्तबन्धो इति, अव्यक्तस्य प्रकृतेर्बन्धुः सर्वकार्यकर्ता, अतः प्राकृतकार्यपक्षेऽपि चेष्टारूपः कालः, आधिदैविककालस्य भगवद्रूपत्वात् तद्व्यावृत्त्यर्थमाह निमेषादिर्वत्सरान्त इति, यद्यपि परमाणुकाल आदि भूतस्तथापि परमाण्वादिलवान्तानामतिसूक्ष्मत्वाद् व्यवहारानौपयिकत्वमाशङ्क्य निमेषादिरेव गृहीतः, 'द्विपरार्धावसान' त्वाच्चेष्टारूपकालस्य संवत्सरो मध्यम इति

व्याख्यार्थ—का उपन्यास करती कहती हैं कि 'चेष्टते येन विश्वम्' जिस काल से समस्त विश्व चेष्टा युक्त हुआ हैं, विश्व का सचेष्ट होना ही भगवान् की सचेष्टता का साधक है क्योंकि विश्व कार्य है भगवान् कारण है, कारण के धर्म हीं कार्य में उपस्थित होते हैं, विश्व में चेष्टा प्रत्यक्ष उपलब्ध होती है तो उसके कारण भगवान् में भी चेष्टा की सत्ता है भगवान् भी चेष्टावान है, यह सिद्ध हो जाता है, अनुभवियों ने चेष्टा को काल इसलिये कहा है कि समस्त चेष्टा काल ही के आधीन है और काल वश से ही चेष्टा होती है, चेष्टा का स्वरूप कर्म ही है, कर्म की उत्पत्ति काल से है क्योंकि उन उन कर्मों के लिये शास्त्र ने नियत काल का निर्देश किया, कि अमुक काल में अमुक कर्म कर्त्तव्य है अतः काल को कर्मों का कारण मानना आवश्यक है, जो जिसका कारण होता है वह उसका प्रकारान्तर से एक रूपान्तर है अतः

कर्म या चेष्टा को काल बतलाना युक्ति युक्त ही है, काल भगवान् को चेष्टा का ही स्वरूप है, जिस पक्ष में प्रकृति को विश्व का कारण माना है अथवा प्रकृति के द्वारा विश्व की कार्य रचना होती है ऐसा स्वीकार किया है, उस पक्ष में काल की चेष्टा रूपता सिद्ध न हो पावेगी ऐसी आशङ्का कर 'अव्यक्तबन्धो ! इस सम्बोधन से समाधान करती हैं कि हे अव्यक्तबन्धो ! आप तो अव्यक्त (प्रकृति) के बन्धु (सहायक) हैं, बन्धु बन्धु की सहायता करता है आप प्रकृति के सर्व कार्यों को सिद्ध करते हैं, अतः प्रकृति सम्बन्ध से प्राकृत कार्य जगत् होता है इस पक्ष में भी प्रकृति के बन्धु भगवान् चेष्टा करते हो हैं, तो उस पक्ष में भी भगवान् का चेष्टा रूप काल सिद्ध होता है, आधिदैविक काल तो भगवद्रूप होता है अतः उसे चेष्टात्मक न समझ लिया जावे इसलिये आधिभौतिक काल के आकार को भी बतला देती हैं कि निमेष से लेकर वर्ष पर्यन्त का जिसका विभाग है वह काल आपकी चेष्टा है, यद्यपि काल के अवयवों में सर्व प्रथम आदि अवयव परमाणु काल माना है परन्तु—

श्री सुबोधिनी:—ततोऽप्याह महीयानिति, एवं यस्य चेष्टा कालो य "आवशिष्यते" यश्चाधिदैविकः सर्वकारणभूतस्तं त्वां प्रपद्ये शरणं गच्छामि, अनेन 'बालकः पुत्रं कथं शरणार्ह इति निरस्तं, तं त्वामित्यत्र प्रमाणं पूर्वमुक्तमे'वाहु' रित्य'ध्यात्मदीप' इति च 'विष्णु' रिति च, एवं सर्वरूपोऽपि यदि रक्षादिकं नाविष्कुर्यात् तदा शरणागतिरप्रयोजिकेति तद्व्यावृत्त्यर्थमाहेशानमिति, यत्र भगवत एतावन्तो धर्माः स ईश एव भवति, ऐश्वर्यं विलम्बं न सहते न चोपेक्षते, नन्वीश्वरो दैत्यपक्षपाती चेत् तदापि कार्यं न सिध्यतीति तदर्थमाह क्षेमधामेति, क्षेमाख्यं शुद्धसत्त्वं धाम यस्य, अतः शिष्टानामेव पक्षपातं करिष्यतीति न काचिच्चिन्ता, आधाररूपधर्मस्यैव प्राधान्यख्यापनार्थं लिङ्गव्यत्ययः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—परमाणुकाल से लेकर लव पर्यन्त का काल अत्यन्त सूक्ष्म होने से व्यवहार में उपयुक्त नहीं अतः निमेष से हो प्रारम्भ मान कर उसका हो आदि रूप से ग्रहण किया है, वर्ष पर्यन्त का काल भी पूर्ण तो नहीं है चेष्टात्मक काल की समाप्ति तो वहाँ पर नहीं होती उसके एक अंश की समाप्ति ही वहाँ पर होती है, चेष्टात्मक काल तो उससे कहीं अधिक विशाल है, ब्रह्मा की आयु का अन्तिम भाग द्वितीय परार्ध जब समाप्त होता है तब उस काल का अन्त कहा जाता है, संवत्सर तो उसके मध्य में होता रहता है अतः वह तो मध्यम काल ही है इस मध्यम काल से उसकी महत्ता का बोध कराने को (महीयान्) शब्द प्रयुक्त किया है कि आपका चेष्टा रूप काल तो अत्यन्त महान् है वत्सर पर्यन्त का कथन तो उसके अवान्तर भेद को लक्ष्य में रखकर कर दिया है, क्योंकि वत्सरों के द्वारा हो तो उसका परिणाम होता है, इस प्रकार काल जिसकी चेष्टा है, एवं सब के लय हो जाने पर जो अवशिष्ट रहता है, तथा जो आधिदैविक परतत्व है सर्व कारणों का कारण है वह आप हो हैं, मैं उन्हीं आपकी शरणागत हूँ, इस प्रकार आधिदैविक आदि रूप त्रय का प्रतिपादन करने से एक आक्षेप का समाधान किया है कि, जो बालक एवं पुत्र है उसे शरण कैसे किया जावे, इस आक्षेप को अवकाश नहीं क्योंकि आप तो वह हो है जो पूर्व में बतलाये गये हैं, इस विषय में प्रमाण तो 'आहुः' 'अध्यात्मदीपः' विष्णु' इन पदों द्वारा सूचित हो ही चुका है, इस प्रकार सर्व रूप होते हुए भी यदि रक्षा आदि धर्म को प्रकट नहीं करें तो शरणागति निष्प्रयोजन

ही ठहरेगी अतः उसके निवारणार्थ कहती हैं कि ऐसा नहीं हो सकता आप 'ईशान' हैं, समर्थ हैं जिसमें भगवान् के इतने धर्म प्रकट हैं वह ईश ही होता है. ऐश्वर्य विलम्ब का सहन नहीं करता शीघ्र ही शरणागत का त्राण करता है और उपेक्षा भी नहीं करता शरणागत की रक्षा ही करता है, ईश्वर यदि दैत्यों का पक्षपाती होवे तोभी काय सिद्धि नहीं हो सकती इस शङ्का के निवारणार्थ 'क्षेमधाम' पद का प्रयोग है, क्षेम नामक विशुद्ध सत्व ही आपका धाम है अतः विशुद्ध सत्व में विराजने वाले आप भद्र पुरुषों का ही पक्षपात करेंगे दैत्यों का नहीं अतः कोई चिन्ता नहीं है, 'क्षेमधाम की उक्त व्याख्या के अनुसार 'क्षेमधामानम्' ऐसा पुलिङ्ग का निर्देश उचित था परन्तु आधारभूत विशुद्ध सत्व रूप धर्म की प्रधानता को बतलाने के लिये यह लिङ्ग व्यत्यय हुआ है अर्थात् इस लिङ्ग परिवर्तन से विशुद्ध सत्व की प्रधानता के साथ सत्पुरुषों की रक्षा सूचित होती है।

श्लोक—मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् सर्वाल्लोकान् निर्भयं नाध्यगच्छत्॥
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥२७॥

मूलार्थ—मरण धर्मा मनुष्य मृत्यु रूपी सर्प से डर रहा है, डर से भाग रहा है, ऊँचे नीचे लोकों में भटक रहा है कहीं भी निर्भयता या शान्ति इसे नहीं मिल पाती। अकस्मात् आज आपके चरणारविन्द को प्राप्त कर स्वस्थ होकर शान्ति से सोता है, और इससे मृत्यु भाग जाता है ॥२६॥

श्री सुबोधिनी—एवं भगवतो रूपत्रयं प्रपत्तिं च निरूप्य तस्याः प्रपत्तेः प्रकृतोपयोगित्वाय हेतुं निरूपयति मर्त्य इति, अतीन्द्रियः कालो लोके स्वज्ञापनार्थं स्वप्रतिकृतिं सर्पमुत्पादितवान्, लौकिकास्त्वलौकिकं तद्द्वारैव प्रतिपद्यन्ते, यथा सिंहप्रतिकृतिर्ग्रामसिंहः, एवं बिडालगवादयश्च व्याघ्रगवयादीनां प्रतिकृतिरूपाः, कालः स्वभक्ष्यमेव सृजति, अतः कालः

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् के आधिदैविक आदि तीनों रूपों का तीन श्लोकों से निरूपण किया है और तृतीय श्लोक में शरणागति का भी निरूपण किया है, तदनन्तर उस शरणागति के प्रकृत में उपयोगी होने की सिद्धि करने के लिये श्री देवकी मर्त्य आदि श्लोक से शरणागति के हेतु भय का निरूपण करती है, काल अतीन्द्रिय है इन्द्रियों द्वारा वह नहीं जाना जाता अतः उसने अपने स्वरूप को लोगों के बुद्धिगम्य बनाने को सर्प प्रकट किया सर्प काल की प्रतिकृति है उसके समान आकार प्रकार वाला है, लौकिक प्राणी उस अलौकिक या अतीन्द्रिय काल को सर्प के द्वारा ही समझ पाते हैं, जैसे सिंह जैसे आकार का श्वान होता है, व्याघ्र एवं गवय जैसे आकार के विडाल एवं गौ होते हैं, वह काल जिसे प्रकट करता है वह उसका भक्ष्य ही होता है अतः काल से रचे गये प्राणी 'मृत्यु' कहलाते हैं, उस काल की भार्या कुण्डलिनो शक्ति है वह अपने भर्त्ता काल से परिचय करा देती है सब पुरुषों के देहों में उसका निवास है उस कुण्डलिनी शक्ति को प्रबोधित करने वाला योग ही है, योगी उस कुण्डलिनों के ही

शरणागत होना है, तब उस काल भार्या कुण्डलिनी की प्रार्थना के कारण योगी को काल शीघ्र भक्षण नहीं करता, और उस काल का आध्यात्मिक रूप वेद है अतः वेदोक्त कर्म से भी विलम्ब होता है, जो कर्म मार्गी वैदिक कर्म का सविधि आचरण करते हैं, उनका भी भक्षण करने में काल विलम्ब करता है, शीघ्र भक्षण नहीं करता है, अन्य सर्व पुराणोक्त देवता उस काल के आधिभौतिक रूप हैं वह भी विलम्ब के कारण हो जाते हैं, पुराणोक्त देवताओं के उपासक भी काल के शीघ्र भक्ष्य नहीं होते, यह तीनों प्राणी योगी, कर्मी, और उपासक निरन्तर एक ही साधन में निष्ठापूर्वक तत्परता से लगे रहते हैं अतः इनके भक्षण में विलम्ब होता है, और जो साधारण प्राणी हैं जिनको काल ने अपने भक्षण के लिये हो रखा है जो रन्धित ओदन (भात) की भांति सरलता से उसके गले में उत्तर जाने वाले हैं वह लोग यदि काल के उल्लङ्घन के लिये प्रयत्न करते हैं तब काल के कार्य रोग आदि का अनुभव कर उस काल के निवारक रूप से सुने गये—

श्री सुबोधिनी—सृष्टा मर्त्या इत्युच्यन्ते, तस्य च भार्या कुण्डलिनी शक्तिः स्वभर्तृज्ञापिका सर्वेषु पुरुषदेहेषु तिष्ठति, योगो हि तदुद्बोधकः, तच्छरणं गत एव योगी, तदा तया प्रार्थितः कालः शीघ्रं न भक्षयति, तस्य चाध्यात्मा वेद तदुक्तकर्मणापि विलम्बो भवति, अन्ये च सर्वे देवाः पुराणोक्तास्तयाधिभौतिकरूपाणि, तेपि विलम्बहेतवो भवन्ति, इमे त्रिविधा अपि धर्ममार्गवर्तिनो निरन्तरमेकनिष्ठास्तत्प्रवणाः, ये पुनर्लौकिकाः साधारणाः शीघ्रं भक्षणार्थमेव स्थापिता ओदनभूतास्ते चेत् कालातिक्रमार्थं यतन्ते तदा कालकार्यं स्वस्मिन् रोगादिकमनुभूय कालनिवर्तकत्वेने श्रुतान् बहूनेव धर्मान् कर्तुं यतन्ते तद् व्यालभीतस्य पलायनं मूषकस्येवाग्रे पतितस्य, मृत्युः कालस्य मुखं, सोऽपि व्यालः, भयहेतुवाचको व्यालशब्दो मुखहेतुक ।

व्याख्यार्थ—बहुत से धर्मों का आचरण करने का प्रयास करते हैं, वह उनका प्रयास सर्प से डरे हुए एवं उसके आगे पड़े हुए मूषक के भागने के समान व्यर्थ है, मृत्यु काल का मुख है वह भी व्याल है यद्यपि कोष में सर्प, दुष्ट, हस्ती, शठपुरुष, एवं व्याघ्र सिंह आदि हिंसक पशुओं को ही व्याल शब्द से बोधित होने वाले कहा है तो भी वह सब मुख के द्वारा ही भय के कारण हैं अतः काल के मुख्य रूप मृत्यु को व्याल कह देना समुचित ही है, उस मृत्यु से डर कर भागना मुषक की भांति ही सिद्ध होता है, जहाँ कहीं भी जाता है वहाँ भूख, प्यास, वृद्धता, शरीर की त्वचा का सिकुड़ना, बालों का श्वेत हो जाना आदि ऊँचे नीचे विविध प्रकार के काल धर्मों का अनुभव करता है, काल के कार्यों के देखने से भय बना ही रहता है उसकी निवृति नहीं होती, बहुत काल तक स्थित रहने वाले देवत्व, मनुष्यत्व, वृक्षत्व आदि धर्मों के प्राप्त होने पर भय की निवृत्ति होती होगी इस आशंका के निवारणार्थ कहा है कि 'सर्वाँल्लोकान्' सब लोकों को दोडता हुआ भी निर्भयता को प्राप्त नहीं करता 'निर्भयम्' पद से भय का अभाव बोधित होता है अतः किसी भी उपाय से मृत्यु की निवृत्ति नहीं होती यह अर्थ सिद्ध हुआ, अथवा 'निर्भयम्' पद का अर्थ है 'भय का निवर्तक स्थान' ऐसा कोई स्थान विशेष नहीं मिल पाता जहाँ मृत्यु का भय न हो, सब लोकों को दोड़ता २ भय के निवारण करने वाले स्थान को नहीं पहुँच पाता, क्योंकि भय की निवृत्ति तो

शास्त्र एवं निजानुभव इन दोनों के परस्पर में मेल मिलने पर ही हो सकती है, शास्त्र में जिसे निर्भय बतलाया हो और अपने अनुभव से भी वह निर्भय ही सिद्ध होता हो, जहाँ पहुँचकर किसी प्रकार के भय के उदय की हृदय में सम्भावना भी न हो, ऐसा स्थान शास्त्र एवं अनुभव के द्वारा अवगत नहीं होता, पूर्व में जिनकी चर्चा कर चुके हैं वह तीनों योग, कर्म और उपासना तो काल के आधीन ही हैं, अतः योगादि के साधन करने वालों का भी काल अवश्य भक्ष्य करता है, कुछ विलम्ब से भक्षण करे यह बात दूसरी है, परन्तु सर्वथा उनको छोड़ नहीं देता, अतः वह भय निवारण में समर्थ नहीं है—

श्री सुबोधनी—एव, यत्र क्वापि गच्छन् क्षुत्पिपासे जरावलीपलिताद्युच्चनीचधर्माननुभवति, अतः कालकार्यदर्शनाद् भयं न निवर्तते, देवत्वे मानुषत्वे वृक्षत्वे वा बहुकालस्थितधर्मेषु भयं निवर्तत इत्याशङ्क्य लोकान् सर्वानित्युक्तं, निर्भयं भयाभावं, अतः केनाप्युपायेन मृत्युर्न निवर्तत इति निर्भयं नाध्यगच्छन् भयनिवर्तकस्थानं वा, शास्त्रानुभवयोः संवादे हि तन् निवर्तते, येऽपि पूर्वमुक्तास्त्रिविधास्ते कालाधीना इत्यवश्यभक्ष्यत्वे न समर्था भवन्ति, प्रार्थना हि दुर्बला, एवं शरणान्वेषणार्थं परिभ्रमणे क्रियमाणे सर्वत्र प्रवर्तको भगवान् कदाचित् परितुष्यति तदा भगवच्चरणप्राप्तिः, सत्सङ्गो भागवतं चेति भगवच्चरणद्वयमाधिभौतिकं, ज्ञानं भक्तिश्चाध्यात्मिकं,

व्याख्यार्थ—पूर्वोक्त कुण्डलिनी की प्रार्थना इतना बल नहीं रखती जिससे वह काल सर्वथा भक्षण न करे, इस प्रकार अपने रक्षक के ढूँढने को परिभ्रमण किया जा रहा है ऐसी दशा में सर्वत्र प्रवृत्ति कराने वाले भगवान् कदाचित् सन्तुष्ट हो जावें तब उनके चरण की प्राप्ति होती है, 'सत्सङ्ग' एवं 'श्रीमद्भागवत' यह दोनों भगवान् के आधिभौतिक चरण युगल हैं, ज्ञान एवं भक्ति, यह दोनों आध्यात्मिक चरण युगल हैं एवं उन प्रसन्न हुवे भगवान् के साक्षात् चरण युगल आधिदैविक तो है हीं, उनमें से किसी एक को भी प्राप्ति हो जाने पर पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है ऐसा सूचित करने को 'त्वत्पादाब्जम्' यह एक वचन प्रयुक्त किया है, उक्त पद में भगवान् के साथ उनके चरण कमल को प्राप्ति को सूचना है क्योंकि समास के द्वारा उनकी मिलित रूप से उपस्थिति होती है, 'ते पादाब्जम्' इस प्रकार पृथक पदों का उपन्यास न कर समास युक्त पद का प्रयोग भगवान् को लक्षित कर सत्संग, भागवतादि का सेवन कर्त्तव्य है, ऐसा सूचित करता है, भगवान् के साथ उनके किसी भी अन्यतम चरण कमल का लाभ होने से कृतार्थता हो जाती है, यह चरण कमल का लाभ किसी काल से सम्बन्धित नहीं है कि अमुक समय उसकी प्राप्ति के लिए नियत हो वह सर्वथा काल के आधीन नहीं वह तो भगवदिच्छा पर ही निर्भर है अतः भगवदिच्छा के बोधक 'यदृच्छया' पद का प्रयोग किया है, नियत हुए काल को यदृच्छा नहीं कह सकते आकस्मिक स्थल में ही यदृच्छा शब्द का प्रयोग होता है, अतः भगवच्चरणारविन्द को प्राप्ति भगवदाधीन ही है कालाधीन नहीं यह सिद्ध होता है, 'पादाब्जम्' शब्द से चरण को कमल बतलाया है, कमल जल में होता हुआ भी उससे अस्पृष्ट एवं अन्यान्य पुष्पों से अधिक शोभाशाली होता है प्रभु का चरण भी लोक में होते हुए अलौकिक तथा अपने स्वरूप का चमत्कार बतलाने वाला अतिशय शोभाशाली है ऐसा प्रतिपादन यहाँ अभीष्ट है, भगवच्चरण की शोभा कुण्डलिनी, वेद, देव इन तीनों से कहीं अधिक यह तीनों काल के आधीन हैं—

श्री सुबोधनी—चरणावेव प्रसन्नस्याधिदैविकौ तन्मध्येऽन्यतरप्राप्तावपि कृतार्थतेति ज्ञापयितुं स्वपादाब्जमित्युक्तं, भगवत्तद्धितं भगवच्चरणारविन्दं प्राप्य, यदृच्छया भगवदिच्छया, कालसम्बन्धाभावाय यदृच्छयेत्युक्तं, नियतकालस्य यदृच्छात्वाभावात्, अब्जपदेन चालौकिको लोक एव ज्ञापकः शोभातिशयो निरूपितः, त्रितयापेक्षयाप्यतिशयः, अनेनैव विश्वासेन, अद्यैव यदैव चरणप्राप्तिस्तदैव, स्वस्थः शेते, मृत्युनिवारणार्थं यत्नं च न करोति, मृत्युः पुनः स्वत एव निवर्तते भगवच्चरणारविन्दमत्र वर्तत इत्यास्मादसाध्यादपगमनं युक्तमेव, शास्त्रं तु प्रमाणं, संवादस्त्वलौकिकभावसिद्धिः, कालनियन्ता च भगवान्, अतोनुभवप्रमाणयुक्तयोऽत्रैव सन्तीति न पूर्ववदस्मिन् मार्गे शङ्का, निःकपटतया प्रवृत्तौ तु नात्र व्यभिचारः ।। २७ ।।

व्याख्यार्थ—भगवच्चरण काल के आधीन नहीं, काल से अतीत है, काल भी उसके अधीन है, जो भगवच्चरण का आश्रय करता है वह काल कवलित नहीं होता ऐसा विश्वास अपेक्षित है, इस विश्वास के साथ जब ही जीव प्रभु चरण का आश्रय करता है उसी समय निश्चिन्त हो जाता है इस आशय से 'अद्य' पद का प्रयोग है, आज प्रभो चरण कमल को आकस्मिक प्राप्ति होते ही तत्काल ही वह जीव स्वस्थ होकर शयन करता है, अत्र मृत्यु के निवारण का प्रयत्न नहीं करता, मृत्यु तो फिर अपने आप ही निवृत हो जाता है, क्योंकि वह मृत्यु सोचता है कि इसके हृदय में भगवच्चरणारविन्द विराजमान हैं अतः मेरा प्रभाव यहां न चलेगा, यह मेरे लिये असाध्य है इससे हट जाना ही उचित है, उक्त विषय में प्रमाण तो शास्त्र हैं, ही, परन्तु अलौकिक भाव की सिद्धि ही अपने अनुभव के साथ उन शास्त्रों का संवाद होना है, अर्थात् स्वानुभवैकवेध अलौकिक भाव के उदय होने पर ही शास्त्र प्रतिपादित भगवच्चरण को काल भय निवारकता का प्रत्यक्ष हो पाता है, जब हृदय में भगवान् के चरणों के प्रति अलौकिक भाव सिद्ध होता है तब स्वयं ही भावुक का हृदय निर्भयता का अनुभव करता है, भगवान् काल के नियामक हैं उसे अपनी इच्छानुसार प्रेरणा देते हैं, उसका नियन्त्रण करते हैं अतः अनुभव, प्रमाण एवं युक्ति इसी पक्ष में हैं कि भगवच्चरण शरण जीव ही निश्चिन्त होता है अतः योगादि मार्गों की भांति शरण मार्ग में कोई भी शङ्का का अवसर नहीं उसके लेश का भी अवकाश नहीं, निष्कपट भाव से शरण मार्ग में प्रवृत्ति हो जाने पर सर्वथा निर्भयता हो जाती है ऐसा दृढ सिद्धान्त है अकाट्य नियम है, इस नियम का व्यभिचार या भग नहीं हो सकता, भक्त प्रह्लाद आदि उक्त सैद्धान्तिक नियम के उज्जवल उदाहरण उपस्थित हैं ।।२७।।

श्लोकः—स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्नस्त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहासि ।।
रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः ।।२८।।

मूलार्थ—वह आप हमारी उस भयंङ्कर उग्रसेन के पुत्र कंस से रक्षा करें हम उससे भयभीत हो रहे हैं, आप सेवकों के भय का निवारण करने वाले हैं, इस पुरुषोत्तम सम्बन्धी चतुर्भुज रूप को चर्म चक्षुओं के प्रत्यक्ष न करें यह तो ध्यान का ही विषय।।है२ ८।।

श्री सुबोधिनी – एवं शरणागतौ हेतुमुपपाद्य त्रयं प्रार्थयति स त्वमित्यादित्रिभिः, अत्रावसरे त्रयं सम्भवति, भगवानिदानीमेवान्तर्हितो भवेत् पश्चात् स्वेच्छयान्यत्र स्थितः कंस मारयेत्, तदिमां कथां कंसः श्रुत्वा मारयेदस्मान् ज्ञानदापनयोर्नियोगात्, अतो रक्षा प्राथनीया, इदानी वा कंसं मारयेत् ततो गच्छेत् ततः कंसपक्षपातिनः पश्चादस्मान् मारयेयुः, तदर्थमिदं रूपं लौकिके न ख्यापनीयमिति प्रार्थनीयं, एवमरूपेणैव च स्थितिरपि सम्भवति तदाऽलौकिकं दृष्ट्वा प्राकृतो लोको द्वेषं कुर्यादस्मदादयश्च ।

व्याख्यार्थः—इस प्रकार शरणागति में कारण का उपपादन कर श्री देवकी 'सत्वम्' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा तीन प्रार्थनायें करती हैं, इस अवसर पर तीन सम्भावनायें हैं, एक तो यह कि भगवान् अभी तो छुप जावें पीछे अपनी इच्छा से अन्य स्थान में विराजमान हो कंस को मारें तो इस आपके प्रकट होने की कथा को सुनकर कंस हम लोगों को मार सकता है, कि इनको उस अष्टम बालक का ज्ञान था और इन्होंने ही उसको अन्यत्र दिला भेजा है, इस प्रकार आपके विषय में हमारे ज्ञान और दापन (प्रेषण) के अपराध का निर्धार करने से वह हमें मारे बिना नहीं रहेगा, अतः ऐसी सम्भावना में अपनी रक्षा की प्रार्थना करना आवश्यक है, दूसरी सम्भावना यह है कि यदि आप अब ही कंस को मार देवें तत्पश्चात् पधार जावें तो कंस के पक्षपाती जरासन्ध आदि पीछे हम लोगों को मार सकते हैं, इसलिए इस रूप को जनसाधारण में प्रख्यात न करें ऐसी भी प्रार्थना आवश्यक है, तीसरी सभावना यह है कि कंस को अब ही मारकर यदि आप इस रूप से यहाँ पर ही विराजें तो अलौकिक स्वरूप को देखकर साधारण लोग द्वेष भी कर सकते हैं, (क्योंकि लोगों का स्वभाव दुष्ट है वह अन्य की प्रधानतया पार्श्व वर्ती की समृद्धि या उत्कर्ष को देख नहीं सकते) तथा इस रूप से विराजने पर हम लोगों की मुक्ति के शीघ्र हो हो जाने का सम्भव है, अतः भक्ति रस का अनुभव न हो सकेगा, एवं पुत्र भाव की मर्यादा भी न रह पावैगी, इसलिये रूप के अप्रदर्शन की प्रार्थना उचित ही है, इस सब दोषों के परिहार के लिये इस समय कंस को आपके जन्म का ज्ञान न हो यह प्रार्थना की है, अथवा श्री देवकी इस आशय से—

श्री सुबोधिनी—शीघ्रं मुच्येरन् भक्तिरसानुभवश्च न स्यात् मर्यादा च भज्येतेत्यतो रूपाप्रदर्शन-प्रार्थना युक्तैव, एतत्सर्वदोषपरिहारार्थं साम्प्रतं कंसस्याज्ञानं भवत्विति प्रार्थना, इदानीं मारणे वा युद्धसमये स्वजीवनार्थमनुप-संहारे पूर्वोक्तपक्षसम्भवादपसंहारोऽपि प्रार्थ्यः, भगिनीपतिश्चेति कदाचिन्न मारयेदित्याशङ्काव्युदासार्थमाह घोरादिति, प्रार्थनीयसर्वदानसामर्थ्यार्थं स त्वमिति, स पूर्वोक्तधर्म एव त्वं, घोरो निर्दयो भयानकः, क्रूर इतियावत्, उपायेन विषादिनाऽमारणार्थमुग्रसेनात्मजादित्युक्तं, उग्रसेनस्य शरीरजः कथं वध्यो भवेत् ? घोरत्वात् स मारयेदेव, त्रस्तांनिति, पूर्वपुत्रमारणेन, त्राहि पालय, उभयपदी धातुरयं प्रचुरप्रयोगान्निश्रीयते, ननु पर्यवसाने बाधाभावाद्

व्याख्यार्थ—रक्षा की प्रार्थना करती है कि यदि अभी आप कंस को मारें तो उसके साथ आप के युद्ध होने के काल में मेरा जीवन नहीं रहेगा उस आपके अग्रजों के हत्यारे का वह भयङ्कर दृश्य उप-स्थित होते ही प्राण निकल जावेंगे अतः रक्षा की प्रार्थना आवश्यक है, एवं रूप के उपसंहार या परिवर्तन की प्रार्थना इस दृष्टि से आवश्यक है कि यदि इस अद्भुत रूप को ही धारण किये रहेंगे तो पूर्वोक्त पक्षों

का संभव है कंस को मारकर अन्यत्र पधारने में उसके पक्षपातियों से हमको आशङ्का रहेगी और यहां विराजने पर लोक प्रद्वेष की आपत्ति बनी रहेगी, अतः इस लौकिक रूप का उपसंहार भी प्रार्थनीय ही हैं, बहन बहनोई का सम्बन्ध विचार कर कदाचित् कंस नहीं मारे ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है, उक्त सम्भावना या आशङ्का के निवारणार्थ (घोरात्)+ यह विशेषण कंस के प्रति प्रयुक्त किया है, 'सत्वम्' इन शब्दों द्वारा भगवान् के उस सामर्थ्य की सूचना है जिस सामर्थ्य से आप अपने भक्तों के सर्व-विध प्रार्थनीय अभीष्ट पदार्थों को देते रहते हैं, पूर्व में जिन शरणागत वत्सलता आदि गुणों को कहा है आप उन समस्त गुण या धर्मों के आश्रय हैं 'घोर' शब्द से कंस को निर्दय एवं भयानक हत्यारा कहा है, एवं उग्रसेन का आत्मज (शरीर से उत्पन्न हुआ पुत्र) बतलाकर उसकी अन्य उपायों से अवध्यता सूचित की है कि वह विष आदि के द्वारा नहीं मारा जा सकेगा क्योंकि वह जिस शरीर से उत्पन्न हुआ है उसकी तो सेना ही 'उग्र' विष रूप है अतः विष का प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता, वह तो स्वयं ही घोर हालाहल विष है, 'त्रस्तान्' पद के द्वारा अपनी भयभीत परिस्थिति का चित्रण करती हैं कि हम लोग अत्यन्त उद्विग्न हैं हमारे पूर्व पुत्रों को मार कर कंस ने हमको अत्यन्त व्यथित करदिया है उस कंस से हमारी रक्षा करो, 'त्राहि' यह पालनार्थक 'त्रैङ्' धातु का प्रयोग पाणिनीय व्याकरण की रीति से यद्यपि सङ्गत नहीं

श्री सुबोधिनी - इदानीं मारणपक्षे किमिति रक्षा प्रार्थ्यत इति चेत् तत्राह भृत्यवित्रासहासीति, भृत्यानाम-स्मदादीनां वित्रासं भयं हन्तीति तथा, असीति तव सङ्कल्पः, यथा गन्धः पृथिव्या एवैवं भगवतो भक्तदुःखनिवर्तकत्वमेव' यथाऽस्मद्रक्षेदानीममारणेनान्यत्र गमनेन च कर्तव्या तथा स्थितौ रूपोपसंहारश्च कर्तव्य इत्याह रूपं चेदमिति, सर्वदाऽनेन रूपेण स्थातुमयुक्तमिति, इदं रूप मांसदृशां चर्मचक्षुषां प्रत्यक्ष मा कृषीष्ठाः, तर्हि कस्यापि मुक्तिर्न स्यादित्याशङ्क्याह ध्यानधिष्ण्यमिति, ध्यानमेव धिष्ण्यं स्थानं यस्य, ध्यान एव प्रकाशो भवतु न बहिः, अतः सर्व सुस्थं भविष्यतीतिभावः, मा कृषीष्ठा इत्यनेन चैतज् ज्ञापितं, अयं स्वेच्छयैव प्रकटीकरोति, वस्तुत स्त्विन्द्रियाद्यवेमेव, मांसदृशामित्यनेन दैत्या एते मांस-भक्षका मांसमेव पश्यन्ति सर्वत्र न तु विहितं निषिद्धं वा विचारयन्तीत्युक्तं, चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थः ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—वहां इसे आत्मनेपदी ही माना है, परन्तु स्तोत्रों में इसका प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है अतः इसे उभयपदी मानना आवश्यक है, ऐसा निश्चय किया जाता है, यह शङ्का की जा सकती है कि कंस का अभि वध करने में परिणाम तो बाधा रहित ही रहेगा उसमें तो कोई आपत्ति नहीं आने की तो रक्षा की प्रार्थना को क्या आवश्यकता इसके समाधान के विषय में श्री देवकी कहती है कि आप तो अपने भृत्यगण हम सेवक लोगों के विविध प्रकार के त्रासों का विनाश करने वाले हैं, (अतः परिणाम में बाधा न होने पर भी आरम्भ की पूर्वोक्त बाधा निवृत्ति के लिए रक्षा प्रार्थनीय है) 'असि' पद के द्वारा भगवान् के संकल्प की सूचना है कि आपका तो यह सङ्कल्प है 'परित्राणाय साधुनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्' भक्तों का दुःख निवारण करना आपका स्वभाव है जिस प्रकार 'गन्ध' पृथिवी का

टिप्पण— +क्रूर कर्मा पापी लोग सम्बन्ध का विचार नहीं करते—

स्वाभाविक गुण है उसी प्रकार भक्तों के दुःखों की निवृत्ति करना आपका सहज धर्म है, जिस प्रकार हम लोगों की रक्षा इस समय कंस के न मारने से एवं अन्यत्र पधारने से करनी आवश्यक है, उसी प्रकार यहाँ स्थिति रखने में इस रूप का उप संहार करना भी आवश्यक है, इस बात को 'रूपञ्चेदम्' इस उत्तरार्ध से कहती हैं कि सर्वदा इस अलौकिक रूप से विराजना उचित नहीं इस रूप को लौकिक बाह्य दर्शी चर्म चक्षु लोगों के प्रत्यक्ष न कीजिये इस स्वरूप के दर्शन के बिना किसी की मुक्ति न हो सकेगी इस आशङ्का के समाधान में कहती हैं कि यह रूप तो 'ध्यानाधिष्ण्य' है ध्यान ही इसका स्थान है अतः ध्यान में ही इसका प्रकाश होना चाहिए बाहर नहीं, इससे सर्व व्यवस्था सुन्दर रहेगी, ध्यान से मुक्ति हो सकेगी, 'मा कृणीष्ठाः' साधारण लोगों के प्रत्यक्ष न करिये ऐसा कहने से सूचित होता है कि यह स्वरूप स्वभावतः तो इन्द्रिय वेध नहीं अप्रत्यक्ष ही है परन्तु भगवदिच्छा से ही प्रत्यक्ष होता है, 'मांसदृशाम्' पद से सूचित किया है कि यह मांसाहारी दैत्य सर्वत्र मांस को ही देखते हैं कर्त्तव्य, अकर्तव्य का विचार—

श्लोकः—जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान् मधुसूदन ॥
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥ २९ ॥

मूलार्थ—हे मधुसूदन! वह पापी कंस मुझ में आप के जन्म को न जान पावै, मैं आपके कारण कंस से डरती हूँ मेरी बुद्धि अधीर हो रही है धैर्य धारण नहीं कर पाती ॥ २९ ॥

श्री सुबोधिनी—अन्यतरकरणाभावाय मध्यमपक्षे स्वतो निवृत्तावपि कंसश्चेज् जानीयात् स्वयमागत्य युद्ध कुर्यात्, अत एव स दोषस्तदवस्थ इति तस्य जन्माज्ञानं प्रार्थयति जन्म त इति, असौ कंसस्ते जन्म मा विद्यात्, यतोऽयं पापः, तर्हि मत्स्वरूपं न जानासीतिचेत् तत्राह मधुसूदन इति, यद्यप्येतज् जानीमस्तथापि मध्यमपक्षशङ्कया प्रार्थ्यते, ननु मध्यमपक्षे को दोषोविश्वासस्तु न कर्तव्य इति चेत् तत्राह भवद्धेतोः कंसादहं सम्यगुद्विजे, विश्वासः कर्तव्य इति चेत् तत्राहाधीरधीरिति, न हि भगवत्युत्पन्ने परमानन्दे कोऽपि क्लेशहेतुर्भवितुमुचितः, भवद्धेतोरित्यनेनैतज् ज्ञापयति यद्ययं जानीयादस्मादुत्पन्नो भगवानन्यत्र तिष्ठतीति तदा निर्बन्धेन समानयनं वा प्रार्थयेत् पूर्वं प्रतिज्ञातत्वात्, अतोऽस्य ज्ञानाभाव एवोचितः ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ—नहीं करते, 'रूपञ्च' यहां पर 'च' शब्द पूर्वोक्त रक्षा का समुच्चायक है अर्थात् देवकी को 'रक्षा' और रूप का 'अदर्शन' दोनों ही अपेक्षित है ॥ २८ ॥ कंस को अभी इसी समय मारा जावे और आलौकिक रूप को सर्व साधारण देखे इन दोनों घटनाओं में से एक भी घटना उपस्थित न हो न तो कंस अभी मारा जाय और न सर्व साधारण को भगवत्स्वरूप का दर्शन ही हो इसलिये श्री देवकी कंस को भगवान् के जन्म का अज्ञान चाहती है कि कंस को आपके जन्म का ज्ञान न हो, अभी कंस को न मारकर अन्यत्र पधारें यह प्रथम पक्ष है, उसके विषय में अपने प्राणों की आशंका थी देवकी ने पूर्व में प्रस्तुत की है, एवं कंस को अभी न मारकर यहां पर ही विराजमान

रहें यह तृतीय पक्ष है उसके विषय में भी साधारण लोगों का प्रद्वेष एवं हम लोगों की शीघ्र मुक्ति का प्रसङ्ग आपत्ति रूप से निर्दिष्ट किया गया है, कंस को अभी मारकर अन्यत्र पधार जावें यह मध्यम पक्ष है, इस मध्यम पक्ष में भी स्वयं कस के पास जाकर उसे मारें तो आपके अन्यत्र पधारने पर उसके पक्षपातियों का भय हमको रहेगा अतः आप स्वतः अपनी ओर से कंस के मारने से निवृत्त भी हो जावें स्वयं उसे मारने को नहो भी पधारें तो भी यदि कंस को आपके जन्म का ज्ञान हो जायगा तो स्वयं आकर युद्ध करेगा, अतः हमारे प्राणों की स्थिति न रहने की संभावना का दोष तो इस मध्यम पक्ष में भी बना ही रहेगा हमारे प्राण उस भयङ्कर दृश्य को देखकर नहीं रह पावेंगे, अतः आपके जन्म का ज्ञान कस को नहीं होना चाहिये ऐसी प्रार्थना करती हैं कि यह कंस आपके जन्म को नहीं जाने, क्यों कि यह पापात्मा है, अत्यन्त भयङ्कर हत्यारा है, आप ऐसा न कहें कि तू मेरे स्वरूप को नहीं जानती, मैं जानती हूँ आप मधु दैत्य के विनाशक हैं, यद्यपि हम लोग जानते हैं कि आप ही उसे मारेंगे तो भी मध्यम पक्ष की सम्भावना से प्रार्थना की जाती है. आप कह सकते हैं कि मध्यम पक्ष में क्या दोष है अविश्वास करना तो उचित नहीं, मैं इस विषय—

श्लोक—उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ॥
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥३०॥

मूलार्थ—हे विश्वात्मन् ! शङ्ख चक्र गदा पद्म और अलौकिक शोभा से सम्पन्न इस अलोकिक रूप को छुपा लीजिये ॥३०॥

श्री सुबोधिनी—रूपान्तरस्वीकारे त्वन्यत्रापि स्थापयितुं शक्यते न त्वनेन रूपेणेत्युपसंहारं प्रार्थयत्युपसंहरेति अदो वेदवेद्यमलौकिकं रूपं लोक उचितं न भवतीत्युपसंहर, विश्वात्मन्निति रूपग्रहण उपसंहारे च सामर्थ्यं द्योतितं, स हि विश्वस्मिन् सर्वाण्येव रूपाणि गृह्णात्युपसहरति च, अद इतिपदेन चैतज् ज्ञापयति, अवतारो नोपसंहर्तव्योऽलौकिकत्वमात्र मुपसंहर्तव्यमिति, सर्वमेवालौकिकमिति सर्वस्यैवोपसंहारे प्राप्ते यल् लौकिकसमानं तत् स्थापनीयमन्यदुपसंहर्तव्यमिति

व्याख्यार्थ—मैं कहती हूँ सुनिये आपके कारण से मैं कंस से अत्यन्त उद्विग्न हूँ भय से कांप रही हूँ, विश्वास करना आवश्यक है पर विश्वास धीरता की अपेक्षा रखता है मैं तो 'अधीर धीः' हूँ, मेरी बुद्धि तो धैर्य को खो बैठी है, परमानन्द मय भगवान् के प्रकट हो जाने पर किसी भी प्रकार के क्लेश का कारण उपस्थित होना उचित नहीं, 'भवद्धेतोः' पद से यह सूचित करती हैं कि यदि कंस को विदित हो जावे कि हम लोगों से उत्पन्न हुए भगवान् कहीं अन्यत्र बिराजते हैं तो हठ पूर्वक आपको मंगालेने के लिये हमें बाध्य करेगा क्योंकि पूर्व में वैसी प्रतिज्ञा उससे की गई है कि अपने पुत्रों को तुम्हें देंगे, अतः कंस को आपके जन्म का ज्ञान ही न होना चाहिये ॥२९॥

व्याख्यार्थ—अन्य रूप के स्वीकार करने पर तो आपको कहीं अन्यत्र भी पधराया जा सकता है, इस अद्भुत रूप से तो नहीं पधराया जा सकता, अतः इस रूप के उपसहार की प्रार्थना करती हैं, कि वह वेद के द्वारा जानने योग्य अलौकिक रूप लोक में उचित नहीं, अतः उसे छुपा लीजिये, 'विश्वात्मन्' इस सम्बोधन से रूप के ग्रहण एवं उपसंहार के विषय में सामर्थ्य की सूचना है कि विश्वात्मा भगवान् विश्व में सब ही रूपों का ग्रहण और त्याग भी करते रहते हैं, +(अदः) पद से भगवत्स्वरूप की अलौकिकता व्यक्त की है जिसके द्वारा यह सूचित किया है कि अवतार को तिरोहित न किया जावे अलौकिकता मात्र का ही तिरोभाव कर्त्तव्य है, भगवत्स्वरूप में सब ही अलौकिक सामग्री है तो सब का ही उपसंहार करना होगा ऐसी दशा में जो लोक के समान है उसको रखना चाहिये अन्य जो लोकवत् नहीं है उसका उपसंहार करना चाहिये ऐसा बतलाती हुई श्री देवकी अलौकिक अंश को कहती हैं, कि शंख, चक्र, गदा, पद्म—

श्री सुबोधिनी—वदन्त्यलौकिकमंशमाह शङ्खचक्रेति, शङ्खचक्रगदापद्मान्यायुधान्युपसंहर्तव्यानि, अलौकिकी श्रीश्चोपसंहर्तव्या भुजानां चतुष्टयं चोपसंहर्तव्यं द्वयं स्थापनीयं, उपलक्षणमेतत्, प्राकृतभावाद्यदतिरिक्तं तदुपसंहर्तव्यं, अविद्यमानोऽपि प्राकृतो भावः स्थापनीयः, यद्यपि चतुर्भुजं रूपं देवादीन् प्रति प्राकृतमेव तथापि साधारणान् प्रति तादृशमपि न प्रकटनीयमितिप्रार्थना ।।३०।।

व्याख्यार्थ—इन आयुधों को छुपा लीजिये और अलौकिक श्री 'शोभा' को भी छुपा लीजिये, एव चार भुजाओं को छुपा लीजिये, दो ही भुजा रखिये, यह कथन एक उपलक्षण है लौकिकता से जो भिन्न प्रतीत होता है वह सब छुपा लीजिये, अलौकिक स्वरूप में यद्यपि लौकिकता की सत्ता अंशतः भी नहीं है तो भी लोगों के दिखाने भर के लिये उसको रखना आवश्यक है, यद्यपि चतुर्भुज रूप देवताओं के प्रति साधारण जैसी बात है क्योंकि देवताओं के तो चार मुख, तीन नयन एवं विभिन्न संख्या वाले बाहु आदि प्रसिद्ध है परन्तु सर्व साधारणों के प्रति वैसा चतुर्भुज रूप भी प्रकट करने योग्य नहीं यह प्रार्थना है ।।३०।।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

श्लोक—विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते यथाऽवकाशं पुरुषः परो भवान् ॥
विभर्षि सोऽयं मम गर्भगोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं महत् ॥३१॥

मूलार्थ—प्रलय काल के समाप्त हो जाने पर सृष्टि काल में इस सम्पूर्ण विश्व को आप अपने ब्रह्माण्ड शरीर में धारण करते हैं, (इस विश्व के वितान में कोई प्रकार का सङ्कोच न कर ज्यों का त्यों अपने देह में इसे आप रखते हैं) आप ही परम पुरुष हैं पुरुषोत्तम हैं, वह ही यह ब्रह्माण्ड विग्रह पुरुष मेरे गर्भ गत हुआ यह आश्चर्य है, मनुष्य लोक का महान् नाट्य है, अनुकरण है ।। ३१ ।।

टिप्पण+'अदस्' शब्द का प्रयोग दूरवर्ती पदार्थ के प्रति होता है समीपवर्ती के प्रति इदम्, एतद्, शब्दों का प्रयोग होता है, भगवतत्व रूप लोक से अत्यन्त दूरवर्ती अलौकिक है अतः यहाँ प्रयुक्त हुआ है ।

सुबोधिनी—एवं स्तुत्वा प्रार्थयित्वा च विरोधं परिहरति विश्वमिति, अथवाऽर्घोपसंहारेणार्धस्थापने सामर्थ्यार्थं विरोधिगुणमनूद्यान्यतरस्य प्रदर्शनपरत्वेनोपपादयन्ती समर्थयते विश्वमिति, स्वतनौ स्वशरीरे विराजि ब्रह्माण्डाख्ये निशान्ते सृष्टिसमये यथाऽवकाशं चतुर्दशलोकात्मकं भुवनं बिभर्षि, प्रलये सूक्ष्मतया निवेशनं भवती

व्याख्यार्थ — इस प्रकार स्तुति एवं प्रार्थना करने के अनन्तर 'विश्वम्' इत्यादि श्लोक से निरोध का परिहार करती हैं, अथवा अर्ध (अलौकिक अंश) का उपसंहार करके अर्ध (लौकिक समान अंश) के रखने में समर्थता के प्रतिपादन करने के लिये 'विश्व को स्वकुक्षिस्थ रखना और स्वयं मेरे कुक्षिस्थ होना इस विरोधी गुण का अनुवाद कर उन दोनों में से एक गुण मेरे कुक्षिस्थ होना तो दिखलाने भर को है इस प्रकार विरोध के अभाव का उपपादन करती अविरोध का समर्थन करती हैं कि ब्रह्माण्ड नाम वाले अपने विराट् शरीर में सृष्टि के समय आप यथावकाश उसे सङ्कुचित किये विना ही चतुर्दश लोकात्मक विश्व को धारण करते हैं, 'निशान्त' शब्द से प्रलय रूप निशा का अन्त हो—

श्री सुबोधिनी—ति निशान्त इत्युक्तं, निर्भीरतया स्थितिर्निषिद्धा, नन्वत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह पुरुषः पर इति, पुरुषो व्यष्टिः परः समष्टिः, भवानिति सम्मत्यर्थं, तेन स्वस्य एतादृङ्माहात्म्यज्ञानवत्त्वसम्बोधनं. एवं विश्वाधारभूतोऽपि भवान् मम गर्भगोऽभूत्, यद्यपि विरुद्धसर्वधर्माश्रयस्य भगवतो नेदमाश्चर्यं तथापि स्वप्रतीत्याश्चर्यं मत्वा परिहरत्यहो नृलोकस्य विडम्बनं महदिति, अहो इत्याश्चर्ये, नृलोकस्य मनुष्यमात्रस्य महदेतदनुकरणमितिसमाधानं, महानप्यल्पमनुकरोति यथा पुरुषो बिडालं तथापि ब्रह्माण्डविग्रहस्य परमसूक्ष्मताऽऽश्चर्यरूपेत्याशङ्क्याह महदिति, अनुकरणं महदिति, अनुकरणं सत्यमेव, परमलौकिकमनुकरणं, अनेन गर्वाभावोप्युक्तः ।। ३१ ।।

व्याख्यार्थ—जाने पर आने वाला सृष्टि का काल सूचित होता है, प्रलय काल में तो सूक्ष्म रूप से विश्व का ब्रह्म में निवास रहता है, स्थूल रूप से नहीं अतः प्रलय को समाप्ति होने पर उपस्थित होने वाले सृष्टि काल का निर्देश 'निशान्त' शब्द से किया है, 'यथाऽवकाश' शब्द के द्वारा 'विर्भीरतया' सङ्कुचित रूप से स्थिति का निषेध किया है, कि अवकाश बना रहे अपेक्षित विकास में कोई बाधा न आवे उस प्रकार विश्व का धारण आप सृष्टि काल में करते हैं, इसमें प्रमाण क्या है इस आशंङ्का के समाधान करने के लिये 'पुरुषः' 'परः' इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है, श्री देवकी कहती हैं कि आप ही पुरुष हैं और आप ही पर हैं, वृक्ष आदि की भांति व्यष्टि एक देशी भी आप हैं और वन आदि की भांति समूहात्मक समष्टि सर्व देशी भी आप हैं अतः आप से विश्व का सविकास धारण वन और वृक्ष के दृष्टान्त से सर्वथा उपपन्न है, प्रमाणान्तर की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती, इस विषय में भगवान् की सम्मति के सूचनार्थ 'भवान्' शब्द प्रतियुक्त हुआ है, किआप से आप का स्वरूप तो छुपा नहीं आप तो जानते ही हैं कि आप एसे ही हैं, उक्त सम्मति के प्रदर्शन से श्री देवकी को अपना भगवद्विषयक ऐसे माहात्म्य के ज्ञान सम्पन्न होने का भगवान् को भली भांति बोध कराना अभीष्ट है, इस प्रकार विश्व के आधार भूत होकर भी आप मेरे गर्व गव हुए यह आश्चर्य है, यद्यपि सर्व विरोधी धर्मों के आश्रय रूप भगवान् के विषय में यह आश्चर्य नहीं तो भी श्री देवकी अपनी प्रतीति से आश्चर्य मान कर विरोध का परिहार करती

हैं कि यह तो मनुष्य मात्र का महान् अनुकरण है, 'अहो' शब्द आश्चर्य सूचक है, मनुष्य मात्र का अनुकरण ही उक्त शंका का समाधान है, बड़े लोग भी छोटों का अनुभव करते हैं जैसे मनुष्य विडाल का अनुकरण करता है फिर भी ब्रह्माण्ड शरीर धारी पुरुषोत्तम की परम सूक्ष्मता आश्चर्य रूप है इस शङ्का की निवृत्ति को 'महद्' शब्द का प्रयोग किया है कि यह अनुकरण भी महान् है अन्य साधारण नहीं, अनुकरण है यह तो सत्य है परन्तु अलौकिक अनुकरण लोक साधारण अनुकरण नहीं, इस कथन से श्री देवकी ने अपने गर्व का अभाव सूचित किया है कि मेरा क्या सामर्थ्य है जो आपको धारण कर सकूं यह तो सब आप ही का खेल है ॥ ३१ ॥

श्री सुबोधिनी आभास—एवमुभयोः स्तोत्रे सप्रार्थने कृते भगवान् स्वस्य पुत्रत्वे तादृशरूपेण प्राकट्ये च हेतुं वदंस्तयोः पूर्ववृत्तान्तमाह परिज्ञानार्थं, त्वमेवेति चतुर्दशभिश्चतुर्दशविद्यानां प्रामाण्यार्थम् ।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार वसुदेवजी और देवकी दोनों की की हुई प्रार्थना के सहित स्तुतियों के वर्णन करने पर भगवान् अपने पुत्र होने में एवं उस प्रकार से अलौकिक रूप से प्रकट होने में कारण को बतलाते हुए उन दोनों के पूर्व वृतान्त को उन्हें सर्वथा ज्ञात कराने के लिये (त्वमेव) इत्यादि चतुर्दश (१४) श्लोकों द्वारा सूचित करते हैं, इन श्लोको की १४ चतुर्दश-संख्या इस मर्म से रखी गई है कि पूर्ण ब्रह्म पर तत्व ही श्री देवकी नन्दन रूप में प्रकट होते हैं इसमें कोई सन्देह या असम्भावना आदि करने का अवकाश नहीं इसकी प्रमाणिकता में +चतुर्दश विद्यायें अपने सम संख्याक श्लोकों के मिष से उपस्थित है ।

कारिका—पूर्वस्थितिस्तथा कार्यं प्रकारो भजनं हरेः । कालस्तोषश्च प्राकट्यं वरप्रार्थनया सह ॥ १ ॥

अल्पबुद्धित्वभोगौ च जन्मत्रितयमेव च । त्रिगुणं भगवत्सत्यं लौकिकाद् वैदिकान् महत् ॥ २ ॥

रूपदर्शनकार्यं च साधनं प्रोच्यते महत् ॥ २½ ॥

व्याख्यार्थ—श्री देवकी वसुदेवों की पूर्व जन्म की स्थिति प्रथम श्लोक में कही है द्वितीय श्लोक में उनका कार्य तप कहा है, तृतीय श्लोक में तपश्चर्या का प्रकार कहा है, चतुर्थ श्लोक में उनका भगवदाराधन हरिभजन कहा है, पञ्चम श्लोक में तपस्या का काल है, षष्ठ श्लोक में भगवान् का सन्तुष्ट होना कहा है, सप्तम श्लोक में वरदानार्थ भगवान् का प्रकट होना कहा है साथ में वरके लिये प्रार्थना भी कही है ॥ १ ॥ अष्टम श्लोक में उनकी बुद्धि की अल्पता बतलाई है कि मोक्ष नहीं मांग सके नवम श्लोक में उनका ग्राम्य सुख भोग कहा है, दशम, एकादश, द्वादश, इन तीन श्लोकों में भगवान् के तीन वार जन्म ग्रहण करने का निर्देश किया है भगवान् का कहा हुआ सत्य वचन लौकिक और वैदिक इन दोनों से

टिप्पण+ —ऋग्[1], यजु[2]:, साम[3], अथर्व[4] यह चार वेद; शिक्षा[1], कल्प,[2] व्याकरण[3], निरुक्त[4], छन्द[5], ज्योतिष[6] यह है अङ्ग; स्मृति[1], पुराण[2], मीमांसा[3], तर्क[4] यह चार शास्त्र मिलकर १४ विद्या हैं—

अधिक महत्व रखता है, इस मर्म की सूचना तीन बार जन्म लेने से होती है, लौकिक+ सत्य एक गुण है वैदिक सत्य द्विगुण है लौकिक वैदिक दोनों से अधिक बलवान है और भगवत्सत्य त्रिगुण है लौकिक वैदिक दोनों से अधिक बलवान है ॥ २ ॥ त्रयोदश श्लोक में भगवत्स्वरूप के दर्शन का कार्य पूर्व जन्मों का स्मरण कहा है, चतुर्दश श्लोक में स्नेह रूप महान् साधन का निर्देश किया है ॥ २½ ॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

श्लोक—त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति ।।
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥ ३२ ॥

मूलार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे सति ! पूर्व सृष्टिगत स्वायुम्भुव मन्वन्तर में तुम ही प्रश्नि नाम वाली हुई थी, उस समय यह वसुदेवजी सुतपा नाम वाले प्रजापति हुए थे इनमें काम क्रोध आदि कल्मष (दोष) नहीं थे ॥ ३२ ॥

श्री सुबोधिनी—प्रथमं स्थितिमाह, पूर्वसर्गे प्रथमब्रह्माण्डे प्रथमकल्प इतः पूर्वकल्पे वा, साक्षाद् देवकीं प्रत्येवाह भगवान्, तस्या दीनत्वेन स्नेहातिशयात्, पृश्निरितिनाम, त्वमेव पृश्निरभूः स्वायम्भुवे मन्वन्तरे, सतीतिसम्बोधनं अनेनास्या अधिककृपायां धर्मातिशयो हेतुरुक्तः, तदा तस्मिन्नेव समये, अयमपि सुतपा इति नाम प्रसिद्धः, अयं च प्रजापतिर्ब्रह्मणः सुतो मरीच्यादिवत् कर्दमवत् स्वभावत एवायमकल्मषः कामक्रोधलोभादिरहितः ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—पूर्व में स्थिति को कहते हैं कि पूर्व सृष्टि काल में जब सर्व प्रथम ब्रह्माण्ड रचना हुई उस प्रथम कल्प में अथवा इस वर्तमान कल्प से पूर्व कल्प में हे सति ! तुम प्रश्नि हुई थी, श्री भगवान् ने श्री देवकी को ही सम्बोधित कर साक्षात् उनके प्रति ही वचन कहे हैं, क्योंकि उनकी दीनता के कारण उनमें स्नेह अधिक था, (प्रश्नि) यह श्री देवकी का उस समय नाम था, उनके प्रति आप कहते हैं कि तुम ही प्रश्नि हुई थी, उस समय स्वायुम्भुव मन्वन्तर था, (सति) शब्द से सम्बोधित कर श्री देवकी के प्रति अधिक कृपा होने का कारण निर्दिष्ट किया है कि पातिवृत्य धर्म की महत्ता ही ऐसी कृपा का कारण है, उस समय यह श्री वसुदेवजी भी सुतपा इस नाम से प्रसिद्ध प्रजापति हुए थे, यह (मरीचि) आदि की भांति ब्रह्मा के पुत्र होने से प्रजापति कहे गये, कर्दम प्रजापति की भांति स्वभाव से ही यह अकल्मष थे काम, क्रोध, और लोभ आदि दोषों से रहित थे ॥ ३२ ॥

टिप्पण — + लौकिक सत्य वह है कि इस जन्म में कहा हुआ इसी जन्म में फलित हो, वैदिक सत्य जन्मान्तर में भी फलित होता है भगवत्सत्य तो मोक्ष पर्यन्त जितने भी जन्म हों सर्वत्र फलित होता है ।

श्लोक—युवां वै ब्रह्मणादिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः ॥ ३३ ॥

मूलार्थ—जब ब्रह्मा ने तुम लोगों को प्रजा सृष्टि के निमित्त आदेश दिया, उसी समय आदेश पाते ही तुम दोनों ने इन्द्रिय वर्ग को वश कर परम तपस्या का आरम्भ कर दिया ॥ ३३ ॥

श्री सुबोधिनी—एतादृशौ पूर्वं स्थितौ तादृशौ प्रति ब्रह्मण आज्ञामाह युवामिति. प्रजासर्गे ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ तदा ततस्तदनन्तरमेव कचिद् देशविशेषे सन्नियम्येन्द्रियग्रामं ततः प्रभृति सम्बन्धमकृत्वा परमं तपस्तेपाथे, सर्वेन्द्रियनिरोधेन सर्वाहारपरिवर्जनेन वाय्वादिनिरोधे विहिते शरीरे सन्तापजननात् तपो भवति, परममुत्कृष्टं भगवद्विषयकत्वात्, एवं तस्मिन् जन्मनि कार्यमुक्तम् ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—ऐसे पूर्व में स्थित थे श्री देवकी परम पतिव्रता थी श्री वसुदेव भी कामादि दोष रहित थे उस प्रकार योग्यता पूर्ण उन दोनों के प्रति ब्रह्माजी की आज्ञा हुई ऐसा युवाम्' इस श्लोक से कहते हैं कि प्रजा की सृष्टि के निमित्त जब ब्रह्मा ने तुम लोगों को आदेश दिया उसके अनन्तर आदेश पाते ही तुम दोनों किसी विशेष स्थान पर इन्द्रिय समूह को वश में कर उस समय से लौकिक दम्पती के सम्बन्ध को न कर परम तप को करने लगे, सर्व इन्द्रियों के नियन्त्रण से सर्व प्रकार के आहार का त्याग कर देने के कारण वायु आदि के निरोध होने पर शरीर में सन्ताप के जन्म होने से तप हो जाता है, इनका यह तप भगवान् को उद्देश्य रूप में रखकर था अतः भगवद्विषयक होने से इस तप को (पर) अत्यन्त श्रेष्ठ या उत्कृष्ट कहा है, इस प्रकार उस जन्म में जो उन्होंने कार्य किया था उस कार्य का (तप का) निर्देश किया है ॥ ३३ ॥

श्लोक—वर्षवातातपहिमघर्मकालगुणाननु ॥
सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ ॥ ३४ ॥

मूलार्थ—तुम दोनों वर्षा, वायु, पञ्चाग्नि का ताप, शीत, एवं घाम आदि काल के गुणों को सहते रहते थे तथा प्राणायाम के द्वारा मन के मलों को निकाल चुके थे ॥३४॥

श्री सुबोधिनी—तस्य तपसः प्रकारमाह वर्षवातेति, वर्षवातयोः सहनं प्रावृट्कालेऽनावृतदेशेऽन्तरिक्षे स्थित्वा, आतपसहनं पञ्चाग्निप्रकारेण, हिमसहनं जलवासादिना, घर्मः कालान्तरीयोऽपि, कालगुणा अन्येऽपि शीतादयः साधारणाः तेषामप्रतीकारेण स्थितिरेव सहनं, उभावपि सहमानौ न त्वेकस्तपः करोत्यपरस्तत्सेवामिति ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ—'वर्षवात' इत्यादि श्लोक से उस तप के प्रकार को कहते हैं, वर्षा ऋतु के समय पर खुले स्थान पर किसी वृक्ष आदि के ऊपर अन्तरिक्ष में बैठकर वर्षा और पवन का सहन करना, एवं पञ्चाग्नि प्रकार से सब ओर से ताप का सहन करना (चारों दिशाओं में अग्नि पुञ्ज स्थापित कर ऊपर से सूर्य का ताप सहना) जल में निवास आदि के द्वारा हिमशीत का सहन करना, पञ्चाग्नि ताप के काल से विभिन्न काल वाले घाम का भी सहन करना, एवं अन्यान्य तत्तत्समय के शीत आदि काल गुणों का सहन करना उन शीत आदि से बचने का उपाय न कर उनमें ठहरे रहना ही उनका सहन है, दोनों ही सहन करते रहे यह बात नहीं थी कि एक तप करता हो और दूसरा उसकी सेवा करता हो ॥ ३४ ॥

श्लोक—शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा ॥
मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः ॥ ३५ ॥

मूलार्थ—वृक्षों के झरे हुए पत्तों का और कभी वायु का ही आहार कर लेते थे, शान्त चित्त से मेरे आराधन को करते थे (सकाम आराधना थी) मुझ से पुत्र आदि कामनाओं की सिद्धि प्राप्त करना चाहते थे ॥ ३५ ॥

श्री सुबोधिनी—तादृशयोर्भगवत्सेवामाह शीर्णेति, कियत्कालतपसा चित्ते शुद्धे भगवत्सेवैव कार्या नान्यथेति ज्ञात्वा तपः कुर्वाणावेव परिचर्यां कृतवन्तौ सर्वथाहाराभावे बहिस्संवेदनाभावे चोभयोः परिचर्या न भवतीति यादृशेन तपसा परिचर्यां कृतवन्तौ स विशेष उच्यते, शीर्णानि पर्णान्यनिलो वायुश्चाहारो ययोः, परमोपशान्तिः शुद्धसात्त्विक-गुणाविर्भावः, स एवोपशमः, सोऽपि चित्तस्य स्वभावत एव चेज्जातस्तदोपशान्तं चित्तं भवति, एवं यमा नियमाश्चोक्ताः, मत्तो हरेरेव, कामान् पुत्रादीनभीप्सन्तौ सकामौ मदाराधनं मत्परिचर्यामीहतुः कृतवन्तौ ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—उस प्रकार तपस्या में निरित हुए उन दोनों के द्वारा सम्पन्न हुई भगवत्सेवा का 'शीर्ण पर्णौ' इत्यादि श्लोक से वर्णन करते हैं। कुछ समय तपश्चर्या से चित्त की शुद्धि हो जाने पर भगवत्सेवा करनी चाहिये अन्यथा चित्त शुद्धि के विना नहीं, ऐसा जानकर आप दोनों तपश्चर्या करते करते सेवा करने लगे, सर्वथा आहार न करने पर और बाह्य अनुसन्धान के न रहने पर दोनों की सेवा नहीं हो पाती, अतः जिस प्रकार के तप के साथ सेवा की वह प्रकार विशेष कहा जाता है, कि झरे हुए पत्ते और पवन यह तो आप दोनों का आहार था, चित्त उपशान्त था, राजस, तामस, भावों से रहित शुद्ध सात्विक गुण भाव का चित्त में उदय होना ही परम उपशान्ति हैं, इसे ही उपशम कहते हैं, वह उपशम भी यदि चित्त का स्वभावतः सिद्ध हो जावे तब चित्त उपशान्त होता है, इस प्रकार इनके यम नियमों का निरूपण किया, भक्त दुःख हारी मुझ हरि से ही पुत्र आदि अभीष्ट पदार्थों की कामना करते हुए सकाम भाव से तुम लोगों ने मेरा आराधन या परिचर्या की ॥ ३५ ॥

श्लोक—एवं वां तप्यतोर्भद्रे ! तपः परमदुष्करम् ॥
दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः ॥ ३६ ॥

मूलार्थ—हे भद्रे ! इस प्रकार परम कठिन तप को करते हुए आप दोनों का देवताओं के बारह हजार वर्ष का दीर्घ काल व्यतीत हो गया क्योंकि मैं तुम दोनों के आत्मा में स्थित था ॥ ३६ ॥

श्री सुबोधिनी—एवं तिष्ठतोर्यावान् कालो जातस्तमाहैवमिति, भद्रे इतिसम्बोधनं स्त्रीपुम्भावेन स्थितयोः सौभाग्यबोधनार्थं, उत्तरोत्तरतपोवृद्धौ परमदुष्करता,

व्याख्यार्थ—इस प्रकार रहते दोनों का जितना काल हुआ उसे उक्त श्लोक से कहते हैं, भद्रे+ यह सम्भोधन स्त्री पुरुष भाव से रहते हुए दोनों के सौभाग्य की सूचना देता है, आगे आगे क्रम से तप की वृद्धि होने पर उस—

सुबोधनी—द्वादश दिव्यवर्षसहस्राणि चतुर्युगं, युगधर्मा अपि तयोर्बाधका न जाता इतिज्ञापनार्थं, तावत्कालं देहस्थितौ हेतुर्मदात्मनोरिति, अहमेवात्मनि ययोः ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ—की परम दुष्करता अधिक (कष्ट साध्यता) हो जाती है, देवताओं के द्वादश सहस्त्र (१२०००) वर्ष ही सत्य युग, त्रेता युग, द्वापर युग, कलियुग, इन चारों युगों का काल मान है, कलिकाल आदि के युगधर्मों ने भी उन्हें बाधा नहीं पहुँचाई ऐसा बतलाने को वैसा काल का निर्देश है, उतने समय तक देह की स्थिति रहने में कारण का निर्देश (मदात्मनोः) इस पद से किया है कि मैं ही तुम दोनों के आत्मा या शरीर में उपस्थित था ॥ ३६ ॥

टिप्पण— + उक्त श्लोक की व्याख्या में 'असकृत्' एवं चिन्तयन्तौ' इन दोनों पदों का उल्लेख नहीं मिलता हैं, कारण चिन्त्य है,

प्रथम कल्प— श्री सुबोधिनी के प्रमाणिक आदर्श पुस्तक की अप्राप्ति,

द्वितीय कल्प— आगे कारिकाओं में चिन्तन का आकार प्रकार कहना है अतः यहाँ पर उसके व्याख्यान को अनावश्यक समझा हो।

यद्यपि (भद्रे) यह सम्बोधन श्री देवकी के प्रति ही प्रयुक्त हुआ है अतः (देवक्या सौभाग्य बोधनार्थम्) इतना कहना ही पर्याप्त था परन्तु श्रीमदाचार्य चरणो की उक्त पंक्ति इस आशय को व्यक्त कर रही है कि स्त्री पुरुष दोनों ही यदि स्वकर्तव्य परायण हो तब ही प्रत्येक का सौभाग्य सम्पन्न होता है, अन्यथा उस सौभाग्य में अपूर्णता रहती है, पूर्ण सौभाग्य सूचक (भद्रे) यह सम्बोधन देवकी के सौभाग्य को बोध कराता हुआ दम्पत्ती के सौभाग्य का बोधक है।

**श्लोक—तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषाऽनघे ॥
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः ॥ ३७ ॥**

मूलार्थ—हे पाप रहिते ! उस समय तुम दोनों के ऊपर मै इसी अलौकिक शरीर से प्रसन्न हुआ था क्योंकि तुम लोगों ने तपश्चर्या, श्रद्धा एवं भक्ति नित्य परिचर्या (सेवा) के द्वारा मानसी भावना से हृदय में मेरा चिन्तन किया था ॥ ३७ ॥

श्री सुबोधिनी—एवं कृतेऽहं प्रसन्नो जात इत्याह तदेति, वां युवयोः परितस्तुष्टः सर्वभावेन, अहमिति, न मदंशो नाप्यहं तस्यांशः, परं वपुरिदं प्रदर्शितं, आकारोऽयं, वपुःपदेन पुत्रत्वं स्थापयति, अन्यथा तयोः परमस्नेहो न स्यात्, अनघे इतिसम्बोधनं तादृशेऽपि रूप इच्छाभावार्थं, तदपि च बालरूपं, रूपस्य बलिष्ठत्वात् स्थानात् प्रच्युतिर्भवेदिति, तोषे त्रयं हेतुस्तपः श्रद्धा नित्यं परिचर्या च, एवमपि बहिर्मुखानां न परितुष्यतीति हृदि भावित इत्युक्तं, हृदये सर्वदा मानसपूजादिना भावितश्चिन्तितइत्यर्थः ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ—ऐसा करने पर मैं प्रसन्न होगया यह बात (तदा) इत्यादि श्लोक से कहते हैं, तुम दोनों पर मैं सर्वथा सन्तुष्ट हो गया, (अहं) शब्द से यह कहना अभीष्ट है कि जो मैं हूँ वही मैं तब भी था वह मेरा कोई अंश हो या मैं उसका अंश होऊं यह बात नहीं, और तो क्या शरीर भी यह ही था जो तुम्हें दिखाया है, यही आकार था, (वपुः) इस पद के द्वारा भगवान् (वं सुखं पुष्णाति) इस व्युत्पत्ति के आधारपर पुत्र भाव की स्थापना करते हैं, क्योंकि पुत्र भाव सुख का पोषक है, यदि पुत्र भाव की स्थापना न की जावै तो उन दोनों का परम स्नेह होना सम्भावित नहीं, (अनघे) यह सम्बोधन कन्दर्प कोटि लावण्य पूर्ण उस प्रकार के सुन्दर स्वरूप में काम भाव के उदय न होने का सूचक है, परम पतिव्रता होने से उनकी सर्वथा पापाचार से शून्यता का बोधक है, इस समय जैसा बाल रूप है उस समय भी जो रूप था वह भी बाल रूप था, यद्यपि बाल रूप से काम का उदय सम्भावित नहीं तो भी परम सुन्दर स्वरूप को देखकर अन्य स्त्रियों का अपने धैर्य आदि स्थान से च्युत हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि रूप मोहित करने में अतिशय बलवान है, भगवान् के सन्तोष में तीन कारण हुए, तप, श्रद्धा और नित्य सेवा, तप आदि के होते हुए भी—

**श्लोक—प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया ॥
व्रियतां वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतः सुतः ॥ ३८ ॥**

मूलार्थ—तुम दोनों को अभीष्ट वर देने की इच्छा से वरदायकों का राजा स्वयं मैं प्रकट हुआ, 'वर माँगो' इस प्रकार मेरे कहने पर तुम दोनों ने मुझ जैसा पुत्र मांग लिया ॥ ३८ ॥

श्री सुबोधिनी–तदाहमाविर्भूतो जात इति वदन्नाविर्भावस्य बलनैकट्यनियमार्थं वरप्रार्थनामप्याह प्रादुरासमिति, वरान् ददत इति वरदा अन्ये ब्रह्मादयः, यावत्प्रार्थितमेव हि ते प्रयच्छन्ति, तेषां राजा वरदराट्, स तु ततो बहुगुणमलौकिकं च प्रयच्छति, अत एव मादृशसुतवरणेऽहमेव वारत्रयं सुतो जात इति वरदराजः, आविर्भावे हेतुमाह युवयोः कामदित्सयेति, युवयोरिति बहुकालतपस्तप्तौ निरूपितौ, ताभ्यां चाल्पमेव प्रार्थनीयं तपश्च बहु, यतो मन्निष्ठयोस्तपः स्वाभाविकादपि तपसोधिकफलमिति तद्दानार्थं वरदराडुक्तः, साधारण्येनैव व्रियतां वर इत्युक्तं, तावपि मां साधारणं ज्ञात्वा बालकसौन्दर्येण च सम्मुग्धौ त्वादृशः पुत्रो भूयादिति वृतवन्तावित्याह मादृश इति. वां युवाभ्यां, सुतः, भूयादित्यर्थात् ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ—बहिर्मुखों के ऊपर भगवान् प्रसन्न नहीं होते इस कारण इनकी अन्तर्मुखता के निरूपण करने को (हृदि भावितः) इस विशेषण का उपन्यास किया है, मानस पूजा आदि के द्वारा हृदय में मेरी भावना की गई, अन्तर्देश में मेरे स्वरूप का चिन्तन सदैव चलता रहा, अतः सन्तुष्ट होना आवश्यक था ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ—(उस समय मैं प्रकट हुआ) इस प्रकार कहते हुए भगवान् (अपने प्रकट होने का फल निकट ही रहना है, शीघ्र ही मिलता है) ऐसा बतलाने को (प्रर दुरासम्) आदि श्लोक से वरयाचना को भी कहते हैं, अन्य ब्रह्मा आदि देवता वर देते हैं अतः (वरद) कहलाते हैं, साधना करने वाले की प्रार्थना के परिमाण से ही वह वर का दान देते हैं। उन वरदायक ब्रह्मादिकों का मैं सम्राट हूँ तो प्रार्थना से कहीं अधिक बहुत कुछ देता है और अलौकिक लोकोत्तर वस्तु को देता हैं, इसी कारण मुझ जैसे पुत्र का वर मांगने पर स्वयं मैं हो तीन वार पुत्र हुआ, इस कारण मैं वरदराज हूँ, प्रकट होने में कारण का निर्देश करते हैं कि (तुम दोनों के अभीष्ट प्रदान करने की इच्छा से मैं प्रकट हुआ) चार युगों के सुदीर्घ काल तक तपश्चर्या से तप्त हुए तापसों का (युवयोः) पद से उल्लेख किया है, उन तपोनिष्ठ व्यक्तियों के द्वारा जो भी मांगा जाता थोड़ा ही था, उनका तप अधिक था मेरे स्वरूप में पूर्ण निष्ठा वाले उन दोनों का तप स्वाभाविक तप से कहीं अधिक फल सम्पन्न होने के योग्य है इसलिये उसके फल देने की योग्यता के सूचनार्थ वरदराट्) शब्द कहा है, हमने (वर मांगिये) ऐसा साधारणतया ही कहा था, उन दोनों ने भी मुझे साधारण समझकर बाल सौन्दर्य से सम्मुग्ध होने के कारण (तुम जैसा पुत्र हो) ऐसा वर मांगा, इस बात को (यादृशः) आदि शब्दों से कहते हैं, (वां) शब्द (युवाम्) के अर्थ में प्रयुक्त हुवा है, वृतःसुतः) इन दो शब्दों के अर्थ से (भूयात्) इस क्रिया पद के इस प्रार्थना बोधक क्रिया पद का अर्थ स्वतः प्राप्त है, सुत वरण किया अर्थात् सुत होवे ऐसा वर मांगा ॥ ३८ ॥

श्लोक—अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती ॥
न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया ॥ ३९ ॥

मूलार्थ—तुम दोनों लौकिक विषय सुख का सेवन नहीं कर पाये थे और सन्तान

भी नहीं हुई थी, मेरी माया से मौहित होने के कारण दोनों स्त्री पुरुष मुझ से मोक्ष नहीं मांग सके ॥ ३९ ॥

श्री सुबोधीनी—मोक्षावरणे हेतुमाहाजुष्टेति, ग्राम्यविषय- स्त्रीसम्भोगो लौकिकः, प्रीतिः स्थितैव सेवा न वृत्तेति, न जुष्टो ग्राम्य विषयो याभ्यां, वैदिकेनापि लौकिक फलसिद्धिर्भवतीति तत्सम्भवेऽपि लौकिकसिद्धिरिति तन्निषेधार्थमाहानपत्याविति, न विद्यतेऽपत्यं ययोः, चकारादन्येऽपि स्रगादयो नानुभूता इति सूचितं, दम्पतीपदेनोभयोः सहभावो नियत उक्तः, अतोऽपि मोक्षस्यावरणं, रागस्यानिवृत्तत्वादृणानामनिवर्तितत्वाद् विरुद्धाश्रमनिष्ठत्वाच्च मोक्षस्यावरणं रागस्यानिवृत्तत्वादृणानामनिवर्तितत्वाद् विरुद्धाश्रमनिष्ठत्वाच्च मोक्षस्यावरणं, सर्वतः शास्त्रार्थपरिज्ञानेऽपि यदेतत् त्रितयं तत्र हेतुर्मोहितौ मम माययेति, इयं विशेषमाया भगवल्लीलासाधिका साधारणी तु शास्त्रान् निवर्तत एव, अपवर्गं न च वव्राथे, जन्ममरणानां समाप्तिरपवर्गः, यदि साक्षादपवर्गमप्यप्रार्थयित्वा भक्तिं प्रार्थयेतं तथाप्यपवर्गो भवेत् सापि न प्रार्थितेति वै निश्चयेनापवर्गो न प्रार्थितः, में इतिपाठे मत्तो मत्सम्बन्धि वा, प्रमेयबलेनापवर्गं न प्रार्थितवन्ताविल्यर्थः ॥३९॥

व्याख्यार्थ—मोक्ष के वर न मांगने में हेतु का वर्णन करते हैं कि प्रश्नि और सुतपाओं ने ग्राम्य विषय का सेवन नहीं किया था, ग्राम्य विषय स्त्री सम्भोग को कहते हैं, यह लौकिक सुख है, उस सुख में उन दोनों की प्रीति तो थी ही सेवन नहीं किया था, इस कारण मोक्ष नहीं मांगा, कोई सन्तान भी नहीं थी, यद्यपि स्त्री सम्भोग के सेवन न करने से सन्तान का न होना अनुक्त सिद्ध है परन्तु वैदिक यज्ञादि के द्वारा भी लौकिक पुत्रादि फल की सिद्धी होती है अतः वैदिक कर्म के सम्भव होने पर भी लौकिक सन्तान रूप फल की सिद्धी हो सकती थी उसके निषेध करने को 'अनपत्यौ' विशेषण कहा है, उन दोनों के किसी प्रकार कोई सन्तान नहीं हुई थी, 'च' शब्द अन्य लौकिक सुख सेवन के भी अभाव का सूचक है, उन्होंने अन्य लौकिक स्रक् चन्दन आदि सुखो का भी अनुभव नहीं किया था, 'दम्पती' शब्द से दोनों स्त्री पुरुषों का नियमतः साथ रहना कहा है, इस कारण से भी मोक्ष को नहीं मांग सके, लौकिक सुख भोग में राग की निवृत्ति न होने से, पुत्र के उत्पन्न होने के कारण पितृ आदि के ऋणों के भी निवृत्त न होने से एवं मोक्ष के विरुद्ध ग्रहस्थ आश्रम में निष्ठा होने से मोक्ष नहीं माग सके, सर्व प्रकार से शास्त्र के अर्थ का परिमार्जित ज्ञान होते हुए भी पूर्वोक्त लौकिक सूख रागादि तीन कारण मोक्ष के वर रूप से स्वीकार करने में कैसे सफल हो सके, शास्त्रार्थ ज्ञान ने उन लौकिक रागादि को निवृत्त क्यों नहीं कर दिया, उसमें कारण वतलाते हैं कि 'मौहितो मम मायया' मेरी माया से वह दोनों मोहित थे, यह विशेष माया भगवान् की लीला के साधने में अनुकूल है, साधारण माया तो शास्त्र से निवृत्त हो जाती है, अपवर्ग को उन्होंने नहीं मांगा, जन्म और मरण की समाप्ति को अपवर्ग कहते हैं, यदि साक्षात् मोक्ष को न मांग कर भक्ति को ही मांग लेते तो भी मोक्ष हो जाता उन्होंने भक्ति भी नहीं मांगी अतः निश्चयार्थक 'वै' शब्द का प्रयोग उपयुक्त है कि उन्होंने किसी भी प्रकार मोक्ष मांगा ही नहीं, न तो सीधा मोक्ष ही मांगा और न भक्ति के द्वारा ही उसकी इच्छा की, 'वै' के स्थान पर 'ये' ऐसा पाठ माने

श्लोक—गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम् ।
ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ ॥ ४० ॥

मूलार्थ—मेरे चले जाने पर तुम दोनों मुझ जैसा पुत्र वरदान रूप में प्राप्त कर विषय भोग में रत हो गये क्योंकि तुम दोनों को मनोरथ तो प्राप्त हो ही चुका था निश्चिन्त थे ॥ ४० ॥

श्री सुबोधिनी—वरदानमर्थसिद्धमिति तदनुक्त्वा भगवन्निर्गमे जाते प्रथमतो रागनिवृत्त्यर्थं ग्राम्यभोगा भुक्ता इत्याह गते मयीति, मत्सदृशं सुतं वरत्वेन प्राप्य तन्निर्धारं कृत्वा ग्राम्यभोगेन च तत्र विघ्नो भविष्यतीतिशङ्कामकृत्वा ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां यतो युवां प्राप्तमनोरथाविति भिन्नं वाक्यं नैश्चिन्त्ये हेतुत्वार्थमुक्तं, पुनर्युवामितिग्रहणं संस्कारोद्बोधे सम्मत्यर्थम् ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—तो मुझ से मोक्ष नहीं मांगा अथवा मेरे सम्बन्ध का अवगाहन करने वाला मोक्ष सुख नहीं मांगा यह अर्थ निकलता है 'प्रमेय बल (भगवदिच्छा)' से मोक्ष नहीं मांगा यह अर्थ सिद्ध हुआ+ ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ—वर का दान तो अर्थ सिद्ध है, विना ही कथन किये आगे पीछे के वचनों से बुद्धि गम्य हो जाता है, इस कारण वरदान के प्रसङ्ग को शब्दों से न कहकर भगवान् के पधारने पर उन दोनों ने प्रथम तो लौकिक विषयों से राग की निवृत्ति करने के लिये वैषयिक सुख भोगों को भोगा, इस बात को (गते मयि) इस श्लोक से कहते हैं, कि मेरे चले जाने पर तुम दोनों मेरे समान पुत्र को वर ग्रहण रूप से प्राप्त कर अवश्य ही ऐसा पुत्र होगा ऐसा निश्चयकर ग्राम्य सुख के भोग करने से उस वर प्राप्ति में विघ्न हो सकता है ऐसो शङ्का न कर ग्राम्य भोगों को भोगने लगे क्योंकि तुम दोनों अपने मनोरथ को तो प्राप्त कर ही चुके थे, यहां (युवां प्राप्त मनोरथौ) यह वाक्य पृथक् है जोकि दोनों स्त्री पुरुषों की निश्चिन्तता प्रतिपादन करने को उसमें कारणता के उल्लेख के लिये कहदिया है, (युवाम्) शब्द की पुनरुक्ति थी देवकी वसुदेवों के जन्मान्तरीय संस्कारों के जागरित हो जाने में उनकी सम्मति की सुचना के लिये आवश्यक है अतः दोषा वह नहीं ॥ ४० ॥

टिप्पण—+ मोक्ष के स्वीकार न करसे में माया मोह को कारण बतलाना भक्ति मार्ग के अनुकूल नहीं क्योंकि (दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः, के अनुसार भक्ति मार्ग में तो भगवत्सेवा ही परम पुरुषार्थ है मोक्ष का अधिक महत्व नहीं इस प्रकार की शङ्का का समाधान (मे + अपवर्गं न वव्राथे) इस योजना से होता है कि भगवत्सम्बन्धि भक्ति मार्गीय मोक्ष का तो स्वीवार करना उचित था उसको स्वीकार नहीं किया इसमें चिकीर्षित लीला के रसानुभव कराने की भगवदिच्छा ही कारण है, उसी को (मम मायया, इन शब्दों से कहा है ॥ ३९ ॥

श्री सुबोधिनी आभाष—यद्यपि युवाभ्यां भ्रमादेव याचितो वरस्तथाप्यविद्यमानं न देयं कृत्रिमं तु न सम्भवति सर्वभावेन स्वस्य द्वैरूप्ये श्रुतिविरोधो मर्यादाभङ्गश्च स्यात्, अदानेऽपि तथा, साद्दस्यस्य भेदसहिष्णुत्वेऽपि तयोराकार एव तात्पर्यमिति तात्पर्यविरोधाभावात् तात्पर्यज्ञापकं वचनमिति जीववाक्यत्वाद् यथाश्रुतं वचनं बाधित्वाऽहमेव पुत्रो जात इत्याहादृष्ट्वेति ।

श्लोक—अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलोदार्यगुणैः समम् ॥
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति स्मृतः ॥ ४१ ॥

मूलार्थ—शील उदारता आदि सद्गुणों से अपने समान किसी अन्य को लोक में न देखकर मैं ही तुम दोनों का पुत्र हुआ था, जोकि प्रश्नि गर्भ इस नाम से प्रसिद्ध था ॥४१॥

श्री सुबोधिनी—यद्यपि मत्तोन्ये केचन सम्भवन्ति मायया सृष्टाः, तेषामपि मत्सत्तयैव सत्तेति सर्वात्मनान्यतमत्वं नास्ति, असतः सत्ता नाङ्गीक्रियत इति लोकेऽदृष्ट्वेत्युक्तं, यद्यपि कृत्रिमेऽपि रूपसाम्यं शक्यते कर्तुं तथापि शीलौदार्यगुणा आत्मान्तःकरणनिष्ठा अलौकिका नोत्पादनीया इति विशिष्टस्य मिलितस्य वाऽदर्शनमेव, अतोऽहं सुतो वामभवं, उभयोरपि क्रमेण प्रादुर्भूत इत्यर्थः, 'स एकधा भवति दशधा भवती' त्यादिश्रुत्या तथा तस्य भवने न कोऽपि विरोधः, जन्मैव मुख्यमिति पृश्निगर्भ इति तन्नाम्नैव लोकप्रसिद्धिरुक्ता, स्मृत इतिप्रमाणम् ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ—यद्यदि तुम दोनों ने (मेरे समान कोई अन्य होगा) इस प्रकार के भ्रम से मेरे सदृश पुत्र होने का वर मांगा था तो भी जो वस्तु उपस्थित ही नहीं उसका दान तो सर्वथा अशक्य है और मेरे सदृश किसी रूप को बनाया जा सकता नहीं, सर्वथा अपने दो स्वरूपों के होने पर श्रुति का विरोध और मर्यादा का भङ्ग संभावित था (एकमेवाद्वितीयम्) यह श्रोत सिद्धान्त एवं ईश्वर के एक होने की मर्यादा इन दोनों पर आपत्ति थी, वरके नहीं देने में भी मर्यादा भग्न हो जाती, क्योंकि मेरे शरणागत जन को किसी प्रकार की चिन्ता करना योग्य नहीं इस मर्यादा को रक्षा न हो पाती, ऐसी परिस्थिति में सादृश्य यद्यपि भेद को अपेक्षा करता है तो भी प्रश्नि सुतपाओं का मेरे इस परम मनोहर आकार में ही तात्पर्य है कि ऐसे सुन्दर आकार वाला पुत्र हो उनका तात्पर्य यह नहीं है कि वह पुत्र स्वयं यह न होकर इससे कोई अन्य हो, ऐसे विचार से मेरे स्वयं पुत्र होने में उनके तात्पर्य का कोई विरोध न होने से मैं ही पुत्र हुआ, उनका मुझ जैसे पुत्र को प्रार्थना का वचन जीव की उक्ति है केवल अपने तात्पर्य बतलाने को शब्दों का प्रयोग मात्र है, इस दृष्टि से यथा श्रुत वचन का बाधकर अक्षरशः उस वचन के पालन को आवश्यकता न समझकर स्वयं मैं ही उनका पुत्र हुआ, इस बात को (अदृष्ट्वा) इस श्लोक से कहते हैं कि—लोक में स्व सदृश किसी भिन्न को नहीं देख मैं ही तुम्हारा पुत्र हुवा, यद्यपि मुझसे भिन्न कोई हो भी सकते हैं माया से जिनको उत्पन्न किया जावे तो भी उनकी सत्ता तो मेरी सत्ता से ही है मेरी सत्ता के आधीन होने से उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं—

श्लोक—तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात् ॥
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः ॥ ४२ ॥

मूलार्थ—फिर भी उनही तुम दोनों के मैं कश्यप से अदिति में उत्पन्न हुआ (दूसरे जन्म में तुम अदिति थी और वसुदेव कश्यप थे) उस समय (उपेन्द्र) इस नाम से मैं विख्यात था और शरीर ठिगना होने के कारण मुझे वामन भी कहते थे ॥ ४२ ॥

श्री सुबोधिनी—अपवर्गस्याप्रार्थितत्वात् पुनर्जन्मान्तरं जातं तस्मिन्नपि जन्मनि तयोस्तुल्यत्वात् पुनरहं पुत्रो जात इत्याह तयोर्वामिति, तयोरेव युवयोः पुनरेवाहं स्वसदृशमदृष्ट्वा पुनरेवाहं जातः, तयोर्जन्मान्तरेऽदितिकश्यपत्वं, तदाहादित्यामास कश्यपादिति, यद्यप्यत्रादितिगर्भे इति वक्तव्यं तथाप्युपेन्द्र इत्येव लोके विख्यातः, नामान्तरप्रसिद्धौ हेतुमाह वामनत्वादिति, द्वितीये जन्मनि नामद्वयमुपेन्द्रो वामन इति ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ—अतः सर्वथा सर्वांश में भिन्न नहीं, असत् की सत्ता मानी नहीं जाती, इस कारण लोक में अपने समान अन्य को न देखकर मैं ही स्वयं तुम्हारा सुत हुआ, यद्यपि रूप की समानता कृत्रिम+ वस्तु में की जा सकती है परन्तु शील, उदारता, आदि गुण तो उसमें उत्पन्न नहीं किये जा सकते, वह तो आत्मा (भगवान्) के अन्तः करण में रहने वाले हैं, उन अलौकिक उदारतादि गुणों का उत्पादन नहीं हो सकता, अतः निज गुणों से सर्वथा विशिष्ट*अथवा अंशतः मिलित किसी अन्य का दर्शन ही नहीं हुआ,

श्लोक-तृतीयऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषा युवाम् ॥
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति ॥ ४३ ॥

मूलार्थ—हे सति उसके अनन्तर तुम्हारे इस तीसरे जन्म में उस पूर्वदर्शित शरीर से ही मैं तुम दोनों के प्रकट हुआ हूँ, मेरा कहा वचन सत्य ही होता है ॥ ४३ ॥

टिप्पण— लेखकार ने (कृत्रिम) शब्द का (अंश) अर्थ माना है, अर्थात् भगवान् के अंशावतारों में चतुर्भुज आदि आकार एवं श्यामलत्वादि रूप का साम्य सम्भावित है ।

टिप्पण—*विशिष्ट और मिलित के विवेचन को श्री लेखकार इस प्रकार किया है कि भगवान् के अलौकिक शील उदारतादि गुणों के समान लौकिक शील उदारता आदि गुणों से युक्त होना 'विशिष्ट' होना है, एवं भगवन्निष्ठ अलौकिक गुणों से भी युक्त होना 'मिलित होना' है ।

इनके व्याख्यान का आशय यह है कि इस श्लोक में 'अन्यतमम्' 'अदृष्ट्वा' यह पृथक् वाक्य है, और 'शीलौदार्यगुणैः समम्' अदृष्ट्वा, यह भिन्न वाक्य हैं क्योंकि जब अन्यतम 'भिन्न' कोई है ही नहीं तो उसमें शील उदारतादि से समानता का आपादान करना अशक्य है,

इस कारण मैं ही तुम दोनों का पुत्र हुआ, दोनों में क्रम से प्रकट हुआ, प्रथम सुतपा के मन में तत्पश्चात् प्रश्नि के हृदय में उदित हुआ, श्रुति ने परमात्मा के पुत्रादि भाव से प्रकट होने का प्रतिपादन किया है कि वह एक प्रकार से होता है, दश प्रकार से होता है, इन प्रकारों में पुत्र रूप से होना भी एक प्रकार है, अतः भगवान् के पुत्र रूप से प्रकट होने में कोई विरोध नहीं, जन्म की मुख्यता को लेकर ही (प्रश्नि गर्भ) इस जन्म सूचक नाम से ही लोक में प्रसिद्धि बतलाई है, (स्मृतः) इस पद से इस प्रसङ्ग को प्रामाणिकता सूचित की है ॥ ४१ ॥

श्री सुबोधिनी—पुनस्तृतीयं जन्म तयोर्जातं, तत्राप्यहमेव पुत्रो जात इत्याह तृतीयेऽस्मिन्निति, अयं परिदृश्यमानो भवस्तृतीयो भवति, अत्रापि नामद्वयं मुख्यं, तृतीयस्थाने बहूनि, देवकीनन्दन इति च मुख्यं, तदग्रे वक्ष्यामः, पूर्वयोर्भवयो रूपभेदोऽस्ति तृतीये तु जन्मनि तेनैव प्रसन्नेनैव वपुषा तयोरेव भूयो जातः, एवं वारत्रयभवने हेतुमाह सत्यं मे व्याहृतमिति, यदि कस्मिन्नपि जन्मनि वरानन्तरभाव्ये भगवान् पुत्रो न भवेत् तदा वाक्यमसत्यं स्यात्, पूर्वदेहस्य त्यक्तत्वात् तत्पुत्रो न पुत्रो भवति,

व्याख्यार्थ—मोक्ष के न मांगने के कारण उनका पुनः जन्मान्तर हुआ, उस जन्म में भी वह दोनों पूर्व समान ही थे इसलिये मैं ही उनका पुत्र हुआ इस बात को (तयोर्वाम्) इस श्लोक से कहते हैं, उन्हीं तुम दोनों के फिर भी मैं ही हुआ, अपने सदृश को न देखकर फिर भी मैं ही हुआ, उन प्रश्नि, सुतपा, ओं को जन्मान्तर में (अदिति) (कश्यप) इस नाम से कहा गया इस बात को कहते हैं कि अदिति में कश्यप से मैं उत्पन्न हुआ, यद्यपि इस जन्म में (प्रश्नि गर्भ) की भांति (अदिति गर्भ) ऐसा नाम आवश्यक है तो भी लोक में (उपेन्द्र) नाम से विख्यात हुआ, (वामन) इस दूसरे नाम को प्रसिद्धि का कारण मेरा वामन (ठिगना) होना था दूसरे जन्म में दो ही नाम थे (उपेन्द्र) और (वामन) ॥ ४२)

व्याख्यार्थ—फिर तृतीय जन्म उनका हुआ, उस जन्म में भी मैं ही पुत्र हुआ इस बात को इस श्लोक से कहते हैं, यह दीखने वाला जन्म तृतीय जन्म है, इसमें दो नाम मुख्य हैं (कृष्ण) और (वासुदेव) तृतीय जन्म में तीन नाम तो होने ही चाहिये अतः तृतीय नाम के स्थान पर मुख्य (देवकी नन्दन) यह नाम है उसे आगे बतलायेंगे, और भी बहुतेरे नाम तृतीय नाम के स्थान पर हैं, प्रथम दो जन्मों में रूप का भेद था इस तृतीय जन्म में तो उसी प्रसन्न शरीर से उन्हीं माता पिताओं के पुनः प्रकट हुए, इस प्रकार तीन बार जन्म ग्रहण करने का कारण बतलाते हैं कि मेरा कथन सत्य होता है यदि वरदान के अनन्तर होने वाले किसी भी जन्म में भगवान् पुत्र नहीं होते तो उनका कथन मिथ्या हो जाता क्योंकि पूर्व जन्म का शरीर तो छोड़ दिया था अतः पूर्व जन्म का पुत्र पुत्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस प्रकार का व्यवहार भी नहीं है और उसमें प्रमाण भी नहीं है, पूर्व जन्म के पुत्र से पुत्रवान् कोई नहीं होता, अतः जन्मान्तर होने पर पुत्र रूप से प्रकट होना आवश्यक है, इसके पश्चात् तो अब तुम लोगों का जन्म नहीं होगा तो मेरा पुत्र रूप से प्राकट्य भी नहीं होगा, (सति) ! यह सम्बोधन सम्मान का सूचक है पतिव्रता वह ही होती है जो कल्प के प्रारम्भ में जिस पति को प्राप्त करे कल्पान्त तक यदि प्रत्येक जन्म में उसी पति को पति रूप से प्राप्त करती रहे, उस पतिव्रता के धर्मों को शास्त्र में—

श्री सुबोधिनी—व्यवहाराभावात् प्रमाणाभावाच्च, अतः पुनर्जन्मान्तरे पुत्रत्वेन भाव्यं, अग्रे तु जन्माभावात् पुत्रत्वाभावः, सतीतिसम्बोधनं सम्माननार्थं, सैव पतिव्रता भवति या कल्पादौ यं पतिं प्राप्नोति कल्पान्तपर्यन्तं सर्वजन्मसु तमेव चेत् प्राप्नोति, तस्याश्च पुनर्धर्मा अभिज्ञानं च शास्त्रे निरूपितं, "या प्रथमं न म्रियते मृते म्रियेत तादृशी त्वमिति ज्ञापयति मोक्षार्थं, व्यभिचारिण्याः स्त्रियास्तु न मुक्तिः, अतः सर्वदोषपरिहारार्थं सतीतिसम्बोधनमन्ते निरूपितम् ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ—बतलाया है, और उसकी पहचान भी कही है, कि जो पति से पूर्व मृत्यु को प्राप्त न करे उसके मरण होने पर ही मृत्यु को प्राप्त हो, वैसी पतिव्रता तुम हो ऐसा श्री देवकी को बतलाते हैं जिससे उनके मोक्ष की सूचना देते हैं, व्यभिचारिणि स्त्री की मुक्ति नहीं होती, अतः सर्व दोषों के परिहार करने को (सति) ! यह सम्बोधन अन्त में कहा ॥ ४३ ॥

श्लोक—एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे ॥
नान्यथा+ मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जन्यते ॥ ४४ ॥

मूलार्थ—पूर्व जन्मों का स्मरण कराने को मैंने यह रूप तुम दोनों को दिखाया है, यदि ऐसा नहीं करता तो मनुष्य शरीर में मेरा ज्ञान न हो पाता ॥ ४४ ॥

श्री सुबोधिनी—एवं पुत्रत्वे हेतुमुक्त्वा तादृग्रूपेणाविर्भावे हेतुमाहैतदिति, वां युवयोरर्थं एतत् पूर्वानुभूतं रूपं दर्शितं, सम्बन्धिदर्शने सम्बन्धिनः संस्कार उद्बुद्धो भवति, एतद्विषयको लुप्तोऽपि संस्कारश्चोद्बुद्धो भवति, सान्निध्यात् सर्वज्ञतायां तु वैराग्यं स्यात्, तदाविहितभक्तिरसो नानुभूयेत, रूपेण तदुद्बोधने तु तत्कालमात्रस्यैव स्मरणं वाक्याज् ज्ञानं तु प्रत्यक्षाद् दुर्बलमिति न काप्यनुपपत्तिः, प्राग् जन्मनोः प्रथमजन्मन एव वा स्मरणाय, एतावता क्लेशेनायं भगवान् पुत्रो जात इति, केवलवाक्ये तु भगवतो माहात्म्यमुच्यामान शास्त्रार्थ

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पुत्र होने में कारण का निर्देश कर चतुर्भुज आदि रूप से प्रकट होने में कारण को बतलाते हैं, कि यह पूर्व में जिसका अनुभव आप लोगों को हो चुका है वह चतुर्भुज स्वरूप तुम दोनों के लिये दिखलाया है, क्योंकि ऐसा स्वाभाविक नियम है कि किसी एक सम्बन्धी पदार्थ के देखने से उसके सम्बन्धी अन्य पदार्थ के विषय में संस्कार जाग उठता है, और इस दिखने वाले पदार्थ के विषय में लुप्त हुआ भी संस्कार पुनः जागरित हो जाता है यद्यपि मेरे समीप होने मात्र से सर्वज्ञता होने पर भी पूर्व जन्म का प्रत्यक्ष सम्भव था परन्तु उस सर्वज्ञता में तो

टिप्पण – +उक्त श्लोक (४४) में (अन्यथा के स्थान पर (नान्यथा) ऐसा पाठ प्रायः सर्वत्र उपलब्ध होता है, आचार्यों ने (मर्त्यलिङ्गे) यह सप्तम्यन्त पाठ माना है, और (न) यह पृथक् पद माना है, (अन्यथा मर्त्य लिङ्गे न जायते) इस प्रकार योजना की है (नान्यथा) ऐसा पाठ मानने पर (मर्त्यलिङ्गेन) यह तृतीयान्त पाठ मानना पड़ता है, यद्यपि विवक्षा के अनुसार (करण) और अधिकरण दोनों ही कारकों का (जायते) क्रिया में अन्वित होना सम्भावित है परन्तु मुख्यतया विषय की आधार रूपता ही स्वीकार की है, कारणता भी संभावित है परन्तु करणता तो विवक्षा के आधीन ही है,

वैराग्य की सम्भावना थी, वैराग्य होने पर अविहित पुष्टि) भक्ति रस का अनुभव नहीं होता, और इस रूप के दर्शन से पूर्व संस्कार के जागरित करने पर तो पूर्व काल में जैसा अनुभव हुआ है वैसा स्मरण आप लोगों को हो गया इसमें भक्तिरस प्रतिबन्धक वैराग्य की कोई सम्भावना हो नहीं, वाक्य से (यह भगवान् है) ऐसा ज्ञान तो प्रत्यक्ष की अपेक्षा दुर्बल है अतः कोई भी किसी प्रकार की आशङ्का नहीं—

श्री सुबोधिनी— पर स्यात्, तदाह, अन्यथा रूपप्रदर्शनव्यतिरेके केवलमुच्यमाने मर्त्यलिङ्गे रूपे मानुषशरीरे मद्भवं ज्ञानं न जायते साक्षाद्भगवानयमिति, प्रदर्शिते तु रूप उच्यमानं ज्ञानमनुभवारूढं भवति ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—रह जाती, (बात ऐसी है कि भगवान् को इस स्वरूप के दर्शन से श्री देवकी वसुदेवों को मोहित करना भी अभीष्ट है जिससे लीला रस का अनुभव इन्हें होता रहे, सान्निध्य से सर्वज्ञता होने के कारण भगवत्स्वरूप के मार्मिक परिचय पूर्ण स्तोत्र इन दोनों ने किये फिर भी भय इन लोगों का निवृत्त नहीं हुआ भय की निवृत्ति के लिये प्रार्थना अन्त में दोनों ने की ऐसी दशा में स्वीकार करना पड़ता है कि भगवान् अपनी इच्छानुसार मोह भी उत्पन्न करते हैं और ज्ञान का भी प्रकाश करते रहते हैं, जिसके उनकी विचारित लीला यथोचित रूप से सम्पन्न होती रहती है) उक्त रूप का दर्शन प्रथम के दोनों जन्मो के अथवा प्रथम के एक हो जन्म के स्मरण दिलाने का भगवान् ने इन्हें कराया है, जिससे इन्हें यह विदित हो जावे कि इतने परिश्रम से यह भगवान् पुत्र रूप से प्रकट हुए है, केवल वाक्य मात्र कहने पर तो भगवान् का माहात्म्य कहा हुआ भी अनुभव बिना शास्त्र वेव ही रहता (अतः शास्त्र और अनुभव दोनों के परस्पर में संवाद कराने को उनका मेल मिलाने को स्वरूप दर्शन कराया है) इसी बात को (अन्यथा) इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं कि अन्यथा रूप दर्शन के अभाव में केवल कहने पर कि मैं भगवान् हूँ मर्त्यलिङ्ग रूप में सर्व साधारण मनुष्य शरीर में (यह साक्षाद् भगवान् है, ऐसा करा देने पर तो कहा हुआ ज्ञान अनुभवारूढ हो जाता है हृदय से मिलान मिल जाती है ॥ ४४ ॥

श्लोक—युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् ॥
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ—तुम दोनों पुत्र भाव से अथवा ब्रह्म भाव से बार बार मेरा चिन्तन करते स्नेह करने से मेरी परागति (व्यापि वैकुण्ठ) को प्राप्त करोगे ॥ ४५ ॥

श्री सुबोधिनी— अथवा तु अप्रार्थितेऽप्यपवर्गे मुक्तिर्भविष्यतीत्याह युवामिति, प्रमेयबलस्य प्रकटीकृतत्वाच्छास्त्रस्य गौणत्वादविहितस्नेहेन पुत्रभावेन विहितस्नेहेन ब्रह्मभावेन वा विषयस्य तुल्यत्वात् प्रकारस्याप्रयोजकत्वाद् यथाकथञ्चिन्मयि कृतस्नेहौ परां मद्गतिं व्यापिवैकुण्ठाख्यां यास्येथे 'माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोऽधिकस्नेह'स्य तुल्यत्वात्, अत एव भगवान् गोपिकादीनामपि माहात्म्यज्ञानमुत्पादयिष्यति, अन्यथा बोधांशोऽधिकः स्यात्, भक्तानां प्रपञ्चाभावस्य निरोधत्वात्, अत एव पूर्वस्कन्धे उत्पत्तिनिरूपणेन स्वरूपत एव भक्ता निरूपिताः,

व्याख्यार्थ—इस समय तो मोक्ष के न मांगने पर भी मोक्ष हागा ऐसा कहते हैं कि तुम दोनों स्नेह के द्वारा परम गति को प्राप्त हो जावोगे, क्योंकि इस समय प्रमेय बल प्रकट किया है वस्तुशक्ति को हो प्रधानता दी गई है, शास्त्र की इस समय प्रधानता नहीं गौणता है अप्रधानता है, इस कारण शास्त्र में जिसका कर्त्तव्य रूप से वर्णन नहीं उस अविहित भक्ति स्नेह के द्वारा पुत्र भाव से अथवा शास्त्र में जिसका कर्त्तव्य रूप से वर्णन है उस विहित भक्ति स्नेह के द्वारा ब्रह्म भाव से किसी भी प्रकार से मुझ में स्नेह करने पर व्यापि वैकुण्ठ नाम वाली मेरी परागति को प्राप्त हो जावोगे, बात यह है कि स्नेह का विषय तो समान ही रहेगा पुत्र भाव से स्नेह का विषय भी मैं ही रहूँगा और ब्रह्म भाव से भी स्नेह का विषय मैं ही रहूँगा, स्नेह के प्रकारों में अवश्य भेद है, (पुत्र भाव प्रयुक्त स्नेह,) या (ब्रह्म भाव प्रयुक्त स्नेह) परन्तु परम गति रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये अमुक भेद ही उपयुक्त है ऐसी बात नहीं है, यथा कथञ्चित् मुझ में स्नेह करना ही आवश्यक है उसके द्वारा परमगति प्राप्त हो ही जावेगी, बिना मांगे ही मुक्ति हो ही जावेगी, नित्य लीला प्रवेश ही यहां पर मुक्ति पदार्थ है प्रकार भेद होते हुए भो स्नेह मात्र से समान फल या एक ही फल को सिद्धि इसलिये असम्भावित नहीं कि उक्त फल के प्रति जिस स्नेह को कारण बतलाया है वह माहात्म्य ज्ञान पूर्वक (सुदृढ) एवं सब से अधिक होना चाहिये उसमें ब्रह्म रूप से या पुत्र रूप से होने के प्रकार विशेष का निर्देश नहीं है, माहात्म्य ज्ञान आप लोगों को हो चुका है, अब तो स्नेह मात्र से ही कार्य सिद्धि है, वह स्नेह पुत्र भाव से हो या ब्रह्म भाव से हो, दोनों प्रकारों में माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेह तो तुल्य ही है, स्नेह में माहात्म्य ज्ञान की आवश्यकता है तभी तो श्री गोपी जनों को भी माहात्म्य ज्ञान का उदय आगे कराया जावेगा, यदि स्नेह में माहात्म्य ज्ञान अपेक्षित नहीं रहता तो इस दशम स्कन्ध में ज्ञान की चर्चा अनावश्यक समझी जाती क्योंकि इसमें तो निरोध प्रतिपाद्य है, और भक्तों के प्रपञ्च को निवृत्ति या अभाव हो निरोध कहलाता है, उक्त निरोध की सिद्धि भगवान् को मधुर लीलाओं से सम्पन्न हो सकती है फिर उद्धवजो के द्वारा ज्ञान का प्रसङ्ग दशम स्कन्ध प्रतिपाद्य निरोध में समावेश पाने के योग्य न होकर—

श्री सुबोधिनी—प्रेमज्ञानं निरोधश्च यथैव भवति तदत्रैव वक्ष्यते, आधिकमत्र नोच्यत इति 'मां गोकुले नय तत्र स्थापयित्वा तत्रत्यां कन्यामत्रानये'ति मुखतो नोक्तं, एतदुक्त्वैव पश्चात् तूष्णीं जात इति ज्ञातव्यं,

व्याख्यार्थ—अपनी अधिकता यो या अनुपयुक्तता को झलकायेगा, या स्पष्ट बतलायेगा, भक्ति में (बोध) अंश भी अपेक्षित है इसोलिये दशम निरोध स्कन्ध से पूर्व नवम स्कन्ध में उत्पत्ति के निरूपण से भक्तों के स्वरूप का हो निरूपण किया है उन भक्तों को प्रेम, ज्ञान, निरोध जिस प्रक्रिया से होते हैं वह इस दशम स्कन्ध में ही कहेंगे, जो बात बिना कहे ही प्रतीत होती है उसके लिये शब्द प्रयोग की आवश्यकता नहीं, अतः हमको गोकुल ले चलिये वहां पधराकर वहां से कन्या को ले आईये, इस बात को मुख से नहीं कहा (प्रेरणा मात्र की) ऐसा कहकर हो चुप हो गये ऐसा समझना चाहिये—

श्री सुबोधिनी—एभिर्वचनैर्भगवता वसुदेवदेवक्योः स्वावतारात् पूर्वं तदनन्तरं च दुःखप्राप्तौ हेतुरपि निरूपित इति ज्ञेयं, तथा हि 'मत्तः कामानभीप्सन्ता'वितिवाक्यात् तदर्थमेव भगवदाराधनं पूर्वं कृतं न तु भगवदर्थं, तस्य चानि-

ष्फलत्वाद्धर्याविर्भावे सौन्दर्यं दृष्ट्वा तादृशः सुतो वृतो न तु स्नेहेनार्त्या प्रभुप्राकट्यं वृतं, अत एव 'वरं मत्सदृश' मित्यादिना स्वप्राप्त्यनन्तरमपि 'ग्राम्यभोग' भोजनमेवोक्तं, एवं सति स्वसाम्यमन्यत्रादृष्ट्वा स्वस्यैव तथाविर्भावने प्रभोर्निर्बन्धोऽभूत्. मुक्तानामपि दुरापस्य स्वरूपस्याल्पार्थे प्रकटीकरणमापतितं यतः, 'अदृष्ट्वाऽन्यतम' मितिवाक्येनायमेवार्थो ज्ञापितः प्रभुणा, अतोऽधुना प्रभुप्राकट्यनिमित्तकः कंसकृतो निर्बन्धोऽभूत्, पुत्रत्वे निर्बन्धात् कीर्तिमदादिपुत्रनाशोऽपि, साम्ये निर्बन्धाद् गुणैस्तत्सम्भवाद् गुणसमसङ्ख्यानां तेषां तथा, मर्यादारक्षार्थं तद्दण्ड इवायं प्रभुणा सम्पादितः, अद्भुतकर्मत्वाद् भगवत एतयोः स क्लेशः स्नेहातिशयहेतुरभूत्, क्लेशेन प्राप्तेर्थे तस्यावश्यकत्वात् ।। ४५ ।।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने इन वचनों के द्वारा अपने प्रकट होने के पूर्व और उसके पश्चात् भी देवकी वसुदेवों को दुःख की प्राप्ति में हेतु का निरूपण किया है, ऐसा जानना आवश्यक है, देखिये (मत्तः कामानभीप्सन्तौ) इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि प्रश्नि सुतपाओं ने काम प्राप्ति के लिये भगवान् का आराधन किया था, भगवत्प्राप्ति के लिये नहीं, भगवान् का आराधन निष्फल नहीं होता अतः भगवान् श्री हरि का आविर्भाव हुआ, अविर्भाव होने पर उनकी सुन्दरता को देखकर उन जैसा पुत्र वरदान रूप से मांगा, स्नेह से आर्त होकर प्रभु का प्राकट्य नहीं मांगा (स्नेह जनित आर्ति के अभाव में प्रभु प्राकट्य की इच्छा कैसे हो सकती थी) इसलिये (वरं मत्सदृशं सुतम्) इत्यादि वाक्य से अपनी अभीष्ट प्राप्ति होने के अनन्तर भी ग्राम्य विषयों का सेवन ही उन्होंने किया ऐसा कहा है, ऐसी स्थिति में अपनी समानता को अन्यत्र नहीं देखकर अपने को ही पुत्र रूप से प्रकट करने को भगवान् का आग्रह हुआ, जिसके कारण मुक्तात्माओं को भी दुर्लभ (प्राप्त न होने वाले या कठिनता से प्राप्त होने वाले) अपने स्वरूप को थोड़े से कार्य के लिये प्रकट करना पड़ा, प्रभु ने (अदृष्ट्वाऽन्यतमम्) इस वाक्य से यह ही आशय सूचित किया है, अतः इस समय प्रभु के प्राकट्य के निमित्त से देवकी वसुदेवों को कंस के द्वारा किये गये बन्धन प्रयुक्त कष्ट का अनुभव उपस्थित हुआ, प्रश्नि सुतपाओं का पुत्र रूप में आग्रह था अतः इनके कीर्त्तिमान्, आदि पुत्रों का नाश भी हुआ, वह दुःख भी इन्हें भोगना पड़ा, एवं समानता में आग्रह था कि आप जैसा पुत्र हो और वह समानता (ऐश्वर्यादि) षडगुणों से ही सम्भावित है अतः षड्गुणों के समान संख्यावाले षट् (६) पुत्रों का ही नाश हुआ, भगवान् अद्भुतकर्मा हैं अतः उन्होंने ही मर्यादा की रक्षा के लिये इनको यह दण्ड जैसा विधान किया है, अद्भुतकर्मा भगवान् के एक कार्य में अनेक कार्य होते हैं अतः इनका वह क्लेश अधिक स्नेह का कारण बनगया क्योंकि क्लेश से प्राप्त हुई वस्तु में अधिक स्नेह आवश्यक है ।। ४५ ।।

कारिका:—

आविर्भावे पुत्रतया साधनं तु तपोऽभवत् । अग्रे लीलारसप्राप्तौ साधनं मृग्यमेव हि ।। १ ।।
भक्तिमार्गीयमित्यात्मवियोगमकरोद्धरिः । तदा तु स्वत एवासीद् भगवद्भावसन्ततिः ।। २ ।।
एतावन्ति दिनान्यासन्नेवं कुर्वन् भविष्यति । एतावन्मासिकश्चासीदेवमेवं करिष्यति ।। ३ ।।
एतावद्वार्षिकश्चासीत् तेन चैवंविधाः शुभाः। लीलाः कुर्वन् साग्रजः श्रीप्रभुस्तत्र भविष्यति ।।४।।

कुशल्यास्ते साग्रजो नु कदा द्रक्ष्यामि तादृशम् । एवंविधानन्तभावैरत्यार्त्या दर्शने तयोः ॥५॥
मिथस्तथालापतश्च सर्वथेन्द्रियवृत्तयः । सर्वा हरिपरा आसन् स एव सततं हृदि ॥ ६ ॥
वियोगतापतप्तेऽभूत् तेनासां जोवनं तयोः । तेनैकादश वर्षाणि तथा कुर्वन् हरिर्बभौ ॥ ७ ॥
'युवां मा' मितिवाक्येन चेममेव वरं ददौ । अन्यथैतादृशो भावो न भवत्येव कुत्रचित् ॥ ८ ॥
अतो माहात्म्यधीयुक्तस्नेहोऽभवदिति प्रभुम् । चिरात् प्राप्य पितरौ सस्वजाते न शङ्कितौ॥६॥

कारिकार्थः—उक्त श्लोक पर श्री आचार्य चरणों ने इन कारिकाओं का उपन्यास कर श्रीमग्दोकुल में भगवान् के एकादश (११) वर्षों तक स्थित रहने का प्रयोजन बतलाया है+ कि—भगवान् के पुत्र रूप से प्रकट होने में श्री देवकी वसुदेवों का जन्मान्तरीय साधन तो तप हुआ, परन्तु आगे लीला रस की प्राप्ति में भक्ति मार्गीय साधन तो विचारणीय ही है ॥ १ ॥ इस कारण श्री हरि ने अपने वियोग रूप साधन को उपस्थित किया तब तो श्री देवकी वसुदेवों की स्वतः ही भगवद्भाव वृद्धि होने लगी ॥ २ ॥ कि—इतने दिन हो गये ऐसा करते होंगे, इतने मास के हो गये ऐसा २ करते होंगे । इतने वर्ष के हो गये, उस कारण से इस प्रकार को शुभ लीलाओं को करते हुए ज्येष्ठ भ्राता श्री रोहिणी नन्दन के साथ श्री प्रभु वहाँ पर विराजते होंगे ॥ ४ ॥ श्रो बलभद्र के साथ आप प्रसन्न तो है कब मैं उनको सकुशल देखूंगा, इस प्रकार के अनन्त भावों से अत्यन्त विरह जन्य वेदना के कारण उन देवकी वसुदेवों को भगवान् का दर्शन (विप्रयोग दशा में) होता रहता था ॥ ५ ॥ ऐसी दशा में वह दोनों परस्पर में पूर्वोक्त प्रकार से बातचींत करते रहते थे इस कारण उनकी इन्द्रियों की वृत्तियां सर्वथा भगवत्परायण हो गई, वह भगवान् ही निरन्तर उनके हृदय में विराजमान रहते थे ॥ ६ ॥ भगवद्वियोग के ताप से सन्तप्त हृदय में भगवान् का विराजना ही उन दोनों के जीवन का कारण था, इन्द्रियों की एकादश (११) संख्या होने के कारण एकादश वर्ष पर्यन्त भगवान् श्री हरि उनकी इन्द्रिय वृत्तियों को अपने स्वरूप परायण करते हुए व्रज में विराजे ॥ ७ ॥ 'युवांमाम्' इस वाक्य से भगवान् ने श्री देवकी वसुदेवों को यह ही वर दिया था कि आप दोनों पुत्र भाव से या ब्रह्म भाव से बार बार मेरा चिन्तन करते स्नेह द्वारा परम गति को प्राप्त करोगे यदि भगवान् ऐसा वर नहीं देते तो इस प्रकार के भाव को कहीं भी संभावना नहीं थी ॥ ८ ॥ अतः देवकी

टिप्पण+ —असकृत चिन्तन का आकार प्रकार इन कारिकाओं में निर्दिष्ट किया है अतः श्लोक के व्याख्यान में 'असकृत्' 'चिन्तयन्तौ' इन पदों का उल्लेख नहीं है ?

वसुदेवों को माहात्म्य ज्ञान सहित स्नेह हुआ तभी तो कंस वध के अनन्तर एकादश वर्ष व्यतीत होने पर प्रभु को प्राप्त करके भी माहात्म्य ज्ञान से शङ्कित हुए माता पिताओं ने पुत्र वात्सल्य प्रयुक्त आलिङ्गन नहीं किया ऐसा आगे स्पष्ट उल्लेख है ॥ ६ ॥

श्री शुक उवाच

श्लोक—इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥ ४६ ॥

मूलार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि इस प्रकार कहकर भगवान् श्री हरि चुप हो गये और आत्म माया+ से माता पिताओं के देखते देखते तत्काल ही साधारण शिशु रूप हो गये ॥ ४६ ॥

टिप्पण—+ प्रभुचरण श्रीमद्गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथजी ने 'आत्ममाया' शब्द पर जो प्रकाश डाला है वह अत्यन्त ही आदरणीय एवं माननीय है, आपका कहना है कि यहां आत्म शब्द के प्रयोग के बिना 'भगवान्' शब्द के सान्निद्धय से ही भगवच्छक्ति रूप माया की प्रतिति होते हुए भी 'आत्म' शब्द का प्रयोग इस माया की विलक्षणता सूचित करता है कि यह माया आत्म स्वरूपा है जिस प्रकार आत्मा निर्विकार हैं शुद्ध है सत्य है यह माया भी वैसी ही है इसका उपयोग केवल भगवान् की निर्विकार शुद्ध सत्य लीलाओं के अनुभव कराने में ही है, असत्य पदार्थ का अनुभव कराने वाली संसार की बीज रूप माया से यह सर्वथा विपरीत है ऐसा होने पर भी इसको 'माया' इसलिये कहा जाता है कि यह भक्तों को अपने स्वरूप का विस्मरण करा देती है और भगवान् में आसक्ति करादेती है जैसे साधारण माया जीव के स्वरूप का विस्मरण कराकर लौकिक विषयों में आसक्ति कराती है, यह आत्ममाया भगवान् का ही एक अन्यतम स्वरूप है सूर्य का प्रकाश सूर्य से भिन्न नहीं उसी भांति यह आत्ममाया भी आत्म रूप ही है आत्मा से भगवान् से पृथक् नहीं है, इस आत्ममाया से ही श्री देवकी वसुदेव माता पिता हुए हैं अन्यथा गर्भाधान, प्रसव आदि के न होने पर भी इन्हें माता पिता कैसे कहा जा सकता है, इस आत्ममाया से ही देवकी वसुदेवों को इनका भली भांति दर्शन भी हो रहा है अन्यथा मानुष रूप में ईश्वर का भलि भांति ज्ञान असम्भव ही था इस स्वरूप का दर्शन नयनों के सामर्थ्य से नहीं किन्तु 'आत्ममाया' से ही हुवा है, 'प्राकृत' शब्द का भी स्वारस्य यह है कि इस शिशु का स्वरूप अपनी २ प्रकृति के अनुसार लोगों को प्रतीत होता है जैसे रङ्गभूमि में मल्लों को व्रज स्त्रियों को काम आदि रूप से प्रतीत होंगे, लौकिक प्रकृति के जीव लौकिक समझते हैं और अलौकिक प्रकृतिवालों को अलौकिक रूप से प्रतीत होते हैं, प्रकृत्याग्राह्यम्' 'प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति से ऐसा मर्म स्पष्ट किया है, इसी प्रकार के निगूढ आशयों से 'रूपान्तर स्वीकार को अध्यायार्थ माना है' इसी रूपान्तर स्वीकार के समय ही श्रीमद्गोकुल में पुरुषोत्तम का प्राकट्य है उसी का यहां पर दर्शन देवकी वसुदेव को हुआ है—

श्री सुबोधिनी – एवमुक्त्वा रूपान्तर स्वीकरणं कृत्वा नित्याहेत्यक्तवासीदीति, तुष्णींभावोऽनुक्त सिद्धोऽपि रूपवज् ज्ञानस्यापि तिरोभाव प्रतिपादनार्थः, यथा रूपं प्राकृतं स्वीकृतवानेवं प्राकृतमेव ज्ञानं स्वीकृतवानिति, तथा सति रूपान्तरस्वीकरणंसम्यगुत्पद्येत, नन्वेवं स्वविरुद्धधर्मं कथं स्वीकृतवानित्याह हरिरिति, यतः स सर्वदु.खहर्ता, स्वरूपमप्यन्यथा करिष्यती त्याशङ्क्याह भगवानिति, रूपज्ञानकार्ययोरपि तदा प्राकट्यं न स्यादित्याशङ्क्याहात्ममाययेति, स्वस्यैव सर्वभवनसामर्थ्येन तथा कृतवान्, ततः स्वेच्छया यदा तत्कार्यमायास्यतीति गीतोपदेशने भीष्ममुक्तौ स तथैव तदा प्रकटीभविष्यति, अन्यदा तु मातृप्रार्थनया रूपान्तर–

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कहकर भगवान् ने अन्य रूप का अङ्गीकार किया यह उक्त श्लोक से कहते हैं, यद्यपि भगवान् का चुप होना नहीं भी कहा जावें तो भी वह तो सिद्ध ही है उसके बतलाने को किसी शब्द प्रयोग की आवश्यकता नहीं, परन्तु इस मर्म की सूचना देने को आप के चुप होने का शब्दतः उल्लेख किया है कि जिस प्रकार अलौकिक रूप को छुपाया उसी प्रकार आपने अपने आलौकिक दिव्य ज्ञान को भी छुपा लिया, जिस प्रकार प्राकृत रूप का स्वीकार किया उसी प्रकार ज्ञान भी प्राकृत स्वीकार किया, क्योंकि वैसा करने पर रूपान्तर का स्वीकार भली भांति सङ्गत होगा, सर्वांश में संघटित होगा, इस प्रकार अपने स्वरूप से विरुद्ध धर्म का स्वीकार क्यों किया ? इस शङ्का को निवृत्ति 'हरि' शब्द से होती है, आप हरि हैं सर्व दुःखों का हरण करने वाले हैं, रूपान्तर के स्वीकार किये बिना भक्तों का दुःख निवृत्त नहीं होता अतः आपने वैसा किया, 'कहीं अपने मूल स्वरूप को भी आकार, और ज्ञान की भांति अन्यथा न करलें, इस शङ्का के निवारणार्थ 'भगवान्' शब्द कहा है, कि प्राकृत रूप में भी वह मूल स्वरूप भगवान् ही है, यदि भगवान् ही है तो प्राकृत रूप और प्राकृत ज्ञान के कार्य प्रकट नहीं हो सकते वात्सल्य, माधुर्य आदि रस का अनुभव एवं आसुर व्यामोह, आदि क्रमशः प्राकृत रूप, एवं प्राकृत ज्ञान के कार्य हैं, उनका सम्भव नहीं हो सकेगा, इस शङ्का के समाधान करने को 'आत्ममायया' इस पद का प्रयोग किया है भगवान् ने अपनी सर्व भवन सामर्थ्य (सब कुछ होने की शक्ति) से प्राकृत रूप एवं ज्ञान का अङ्गिकार किया है, इस कारण अपनी इच्छा से जब निज मूल रूप का कार्य आयेगा तब अर्जुन के प्रति गीता के उपदेश के अवसर पर एवं भीष्मपितामह के मुक्ति प्रसङ्ग पर वैसे हो दिव्य रूप एवं ज्ञान को प्रकट करेंगे, अन्य काल में तो माता श्री देवकी की प्रार्थना से प्राकृत रूप से ही दर्शन देवेंगे, जब ही चुप हुए उसी समय तत्काल हो प्राकृत बालक हो गये, नाभि के नालच्छेद की अवस्था से पूर्ववर्ती अवस्था में दर्शन देने लगे, नटों को रूप परिवर्तन करने में दर्शनार्थियों की परोक्षता अपेक्षित है परन्तु भगवान् नटवर प्रभु के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं इस कारण कहते हैं कि माता पिताओं के देख देखते प्राकृत शिशु रूप हो गये,—

श्री सुबोधनी—मेव प्रदर्शयिष्यतीतिभावः, यदैव तूष्णीं स्थितस्तदैव सद्यस्तत्क्षणमेवऽप्राकृतः शिशुर्बभूवाच्छिन्ननालोऽवस्थितः, नटानां रूपान्तरस्वीकारे दिदृक्षूणां परोक्षताऽपेक्ष्यतेऽत्र तु तन्नापेक्ष्यत इत्याह पित्रोः सम्पश्यतोरिति, लौकिकज्ञाननैपुण्यं पितुः, उभयमपि विद्यमानमेव न भगवत्सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धकम् ।। ४६ ।।

व्याख्यार्थ—माता लौकिक ज्ञान में निपुण है, और पिता पारमार्थिक अलौकिक ज्ञान में निपुण है, दोनों प्रकार की निपुणता उपस्थित होते हुए भी भगवान् के सामर्थ्य का प्रतिबन्ध नहीं कर सकीं, वह तो उनके सामने ही अद्भुत बालक प्राकृत शिशु रूप में प्रद्युत हो गये ।। ४६ ।।

श्लोकः—ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ।।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाऽजनि नन्दजायया ।।४७।।

मूलार्थ—और उसके पश्चात् भगवान् से प्रेरित होकर श्री वसुदेवजी जब प्रसव मन्दिर से पुत्र को लेकर बाहर जाने लगे उसी समय नन्दपत्नी श्री यशोदा ने योगमाया को जन्म दिया जो 'अजा' भी कहलाती है ।।४७।।

श्री सुबोधिनी—एवं स्वीकृत्य रूपान्तरं तत्र स्थितौ प्रयोजनाभावात् स्वयं गमने रूपान्तरस्वीकारवैयर्थ्यात् तस्य चाज्ञानात् सर्वसमाधानार्थं तं बोधयित्वा तद्द्वारा स्वयं गोकुले गतवानित्याह ततश्चेति, प्राकृतभावानन्तरं शौरिश्चकाराद्राज्ञापनानन्तरं च सुतं भगवन्तं समादाय सम्यग् गृहीत्वोत्तमपात्रं वस्त्रं च प्रसार्य तदुपरि स्थापयित्वा स सूतिकागृहाद् यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्हि तस्मिन् समये नन्दजायया योगमायाऽजनि जनिता, शौरिरिति गमने भयाभावः, स इति भगवद्वाक्ये विश्वासः, सुतमिति, तस्यापि पुत्रत्वबुद्धिः प्राकृतेव जातेति ज्ञापितं, सूतिकागृहादिति, प्रसवधर्माः

व्याख्यार्थ—इस प्रकार रूपान्तर के स्वीकार करने पर वहां स्थित रहने में कोई प्रयोजन नहीं था, एवं स्वयं पधारने में रूपान्तर के स्वीकार की सार्थकता नहीं होती, तथा वसुदेवजी को यह कुछ ज्ञान नहीं था कि अब इनको कहां पधराया जावें इन सब कारणों से सर्वत्र त्रुटियों के समाधान करने को वसुदेवजी को मानसिक प्रेरणा देकर उनके द्वारा स्वयं श्रीमद्गोकुल पधारे यह कहते हैं, 'ततश्च' प्राकृत भाव होने के अनन्तर 'च' शब्द से यह भी सूचित होता है कि भगवान् की आज्ञा के भी अनन्तर 'शौरि' शूरनन्दन श्री वसुदेवजी ने सुत रूप में भगवान् को अच्छी तरह लेकर उत्तम पात्र को लेकर उस पर वस्त्र को बिछा कर और उसके ऊपर बालक को स्थापित करके सूतिका सदन से जब बाहर जाने की इच्छा की उसी समय नन्द पत्नी यशोदा ने योग माया को जन्म दिया, "शोरि" शब्द से वसुदेवजी को ऐसो विकट परिस्थिति में रात्रि के समय महावन के प्रति प्रस्थान करने में किसी प्रकार का भय नहीं था, यह सूचित होता है, 'स' शब्द पूर्व परामर्शक होने से भगवान् के वाक्य में विश्वास का सूचक है कि यह वह वसुदेवजी है जिनका भगवान् के प्रति वार्तालाप करके उनके वाक्य में दृढ विश्वास हो चुका है, 'सुतम्' शब्द से यह विदित किया जाता है कि वसुदेवजी को भगवान् के प्रति पुत्र बुद्धि प्राकृत जैसी हो गई थी, 'सूतिका गृहात्' शब्द से स्पष्ट होता है कि प्रसव के धर्म उस गृह में भी प्रकट हुए थे श्री देवकी के भी प्रसव वतीत्व

(बालक को जन्म देने वाली माता के धर्म) प्रकट हुए, साधारण*मोह की निवृत्ति साधारण ज्ञान से हो सकती है, इसलिये गोकुल जाने में स्वच्छन्दता का होना और कपाटों का खुल जाना उचित है—

श्री सुबोधनी—तत्रापि गृहे आविर्भूताः, देवक्या अपि सूतिकात्वं जातं, साधारणमोहस्य निवर्तकं साधारणं ज्ञानमिति गमनस्वाच्छन्द्यं कपाटोद्घाटनं च, आत्मन इव देहस्यापि विस्मरणं यथा भवति तदर्थं तस्मिन्नेव समये योगमाया जाता, भगवत्समानकाले चेज् जाता भवेत् तदा देवकीवसुदेवयोरपि प्रस्वापः स्यात्, अनेन मुहूर्तानन्तरं सा जातेति ज्ञायते, नवम्यां च सा जाता, रोहिणी तु तुल्या, अतो रोहिण्याः कृत्तिकावेधो न दोषाय, सप्तमीवेधस्तु दोषायैव, पुत्रोत्सवादिकं शुद्धनवम्यामेव जातमिति शुद्धाष्टनवम्यप्युपोष्या, अन्तःस्थिते भगवति मायोद्गमो न भवतीति यदैव बहिर्गन्तुमियेष तद्यैव जातेत्युक्तं, सा हि योगार्थमेव माया, भगवतः कार्योपायार्थमेव लोकान् व्यामोहयतीति, मायायाः स्वतन्त्रज्ञानपक्षं व्यावर्तयितुं नन्दजायया जनितेत्युक्तं, न तु भगवानिव सा स्वत आविर्भूतेति ।। ४७ ।।

व्याख्यार्थ—गोकुलवासी जिस प्रकार अपने आपको भूल सकें उसी प्रकार देह को भी भूल जावें, लड़का हुवा या लड़की ऐसा न समझ पावें इसलिये उसी समय योगमाया प्रकट हुई, भगवान् के समान काल में यदि प्रकट होती तो देवकी वसुदेव भी सो जाते, उनको भी निद्रा आजाती, इससे विदित होता है कि भगवान् के प्रकट होने से एक मुहूर्त पीछे वह प्रकट हुई है और उसने नवमी तिथि के आने पर जन्म ग्रहण किया है, रोहिणी नक्षत्र तो दोनों के जन्म के समय समान ही था, अतः उपवास करने में रोहिणी नक्षत्र का कृत्तिका नक्षत्र से बेध होना दोष जनक नहीं, सप्तमी तिथि का बेध तो दोषावह है ही, पुत्रोत्सव आदि तो नवमी में ही हुआ था अतः शुद्ध अष्टमी के न मिलने पर केवल नवमी के दिन ही उपवास करना आवश्यक है, भगवान् के अन्तःस्थित + रहने पर माया का उदय नहीं हो सकता अतः जब ही बाहर जाने की इच्छा की उसी समय माया ने जन्म लिया ऐसा कहा है, वह माया योग के लिये ही उपयुक्त है, भगवान् के कार्यों में उपायों की सिद्धि के लिये लोगों को व्यामोहित करती है, प्रस्तुत में भगवान् का गोकुल पधारना ही कार्य है उसमें विघ्न उपस्थित न होने के उपाय को सिद्ध करने के लिये

टिप्पण— *भगवान् ने वसुदेवजी को अपने गोकुल पहुँचाने और वहां से कन्या के ले आने को प्रेरणा दी है, केवल इतने ही कार्य में वसुदेवजी भगवान् की ज्ञान शक्ति से व्याप्त थे अतः उन्हें योगमाया से उत्पन्न होने वाला सर्व लोक साधारण मोह बाधक नहीं हुआ, उस साधारण मोह की निवृत्ति उस साधारण ज्ञान से हो गई, वसुदेवजी का वह भगवत्प्रेरणालभ्य ज्ञान साधारण ही था अतः उनको जाने में स्वच्छन्दता का भान होने से धीरे धीरे पैरों को रखते हुए जाना पड़ा क्योंकि उन्हें असाधारण ज्ञान तो था नहीं कि यह भगवत्कार्य अवश्यमेव सिद्ध होगा अतः अपनी चतुरता करनी पड़ी ।

टिप्पण—+इन पङ्क्तियों से श्रीमदाचार्यचरण स्पष्ट सङ्केत करते हैं कि जिस हृदय में भगवान् विराजते हैं वहां माया को अवकाश नहीं एवं माया छल कपट आदि को आश्रय देने पर हृदय में भगवान् विराज नहीं सकते पधार जाते हैं—

नागरिक लोगों को शयन करा देना ही मोहित कर देना है, माया को स्वतन्त्र न समझा जावे इसलिये (नन्दजायया) पद से सूचित किया है कि यशोदा ने उसे जन्म दिया है, भगवान् की तरह वह स्वयं ही प्रकट नहीं हुई ॥ ४७ ॥

श्लोक-तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वनुशायितेष्वथ ॥
द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसीलशृङ्खलैः ॥ ४८ ॥

मूलार्थ—योग माया ने द्वार रक्षक पुरुषों की एवं नगर निवासियों की भी समस्त बुद्धि वृत्तियों का हरण कर लिया और उनको निद्रा के आधीन भी कर दिया, द्वार तो सब ही पूर्व में ही उन द्वार रक्षकों ने बड़े बड़े किवाड़ और लोह की जञ्जीरो से बन्द कर दिये थे उनसे निकलना बड़ा कठिन था ॥ ४८ ॥

श्री सुबोधनी—तस्याः कार्यमाह तयेति, तया मायया हृताः प्रत्ययानां सर्ववृत्तयो येषु जाग्रत्स्वापयोः प्रत्ययानां ज्ञानानां वृत्तयः संशयादय उत्पद्यन्ते, मायामोहितास्तु मूर्च्छिता एव जाताः, जगति तस्यामुत्पन्नायां तत्प्रभावः, यशोदादयस्तु मुग्धा एव गोकुलवासिनश्च, ततः क्रमेण मथुरायां द्वास्थास्ततः पौराः, न केवलं पूर्ववद् बुद्धिरेव गृहीता किन्तु निद्रयातिरिक्तबुद्धिरपि सम्पादिता, यथा भूयान् कालो लोकान्तरं गतानामिव मुग्धतया गच्छति तथा

व्याख्यार्थ—उस योगमाया का कार्य बतलाते हैं कि उस योगमाया ने द्वारस्थ पुरुषों में विद्यमान उनकी प्रत्यय (ज्ञान) वृत्तियों का हरण कर लिया, उनके सर्व विध ज्ञानों को व्यापारात्मक वृत्तियाँ विलुप्त हो गई, उन्हें किसी प्रकार का भान नहीं रहा, जागरण, एवं स्वप्न इन दो अवस्थाओं में सर्व प्रत्यय या ज्ञानों की संशय आदि वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, माया से मोहित हुए द्वारपाल लोग तो मूर्च्छित हो गये, जगत् में माया के उत्पन्न होने पर उसका प्रभाव पड़ा, श्री गोकुलवासी श्री यशोदा आदि तो मुग्ध हो गये, उनकी सावधानता जाती रही तत्पश्चात् क्रम से मथुरा में द्वारपाल, तदनन्तर मथुरा के नागरिक लोग भी असावधान हो गये, माया ने केवल पूर्ववत् बुद्धि का हरण मात्र ही किया हो इतनी ही बात नहीं किन्तु निद्रा के द्वारा अतिरिक्त बुद्धि भी सम्पन्न करदी, जिस प्रकार अत्यन्त दीर्घ काल अन्य लोक के प्रति चले जाने वालों की भांति असावधानी से चला जाता है, उस प्रकार माया ने लोगों को सुलादिया, सुषुप्ति (गाढ निद्रा) को प्राप्त करा दिया, ऐसा होने पर द्वार स्वयं खुल गये, इस माया ने इतना ही कार्य किया कि लोगों की बुद्धि वृत्तियों का हरण और निद्रा से उनका अत्यन्त अचेतनी भाव सम्पादन, बस इतना तो माया का कार्य हुआ, अन्य कार्य तो अन्य प्रकार से सम्पन्न हुआ यह बतलाने को अथ शब्द का प्रयोग किया है, (अथ) शब्द भिन्न प्रकार से क्रम के परिवर्तन का बोधक है, कपाटों के स्वय खुलजाने में माया का प्रभाव कारण नहीं भगवत्प्रभाव ही कारण है, वह सब ही द्वार जिन्हें पूर्व में उन्हीं द्वार पुरुषों ने बड़े २ कपाटों से लोहे की कील व जंजीरों से बन्द कर रखे थे, जो स्वभाव से भी दुर्गम थे जिन्हें प्राप्त करना या उल्लंघन करना कठिन था

श्री सुबोधिनी—अनुशायितेषु सुषुप्तिं प्रापितेषु सत्सु, इयं हि मायैतावत्कार्यमेव कृतवती, अन्यत् स्वन्यथा जातमिति वदन् प्रक्रमान्तरमाहाःथेति, पूर्वं तैरेव द्वारपालकैः सर्वा एव द्वारो बृहत्कपाटायसकीलश्रृङ्खलैः पिहिताः स्वभावतोऽपि दुरत्यया

कारिका—गजा व्याघ्राः क्वचित् सिंहा विषमाश्चैव भूमयः दिवसेऽपि गतो नित्यं सर्वथा भयहेतवः ॥ १ ॥

श्री सुबोधिनी—येसु द्वारेषु, गमनमात्रेऽपि साधारणानां बन्धो भवति, तत्रापि पिहिताः, बृहन्ति कपाटानि यत्र, आयसाः कीलाः श्रृङ्खलाश्च यासु, कीलसहिता वा श्रृङ्खला यासु, कुञ्चिकयैवोद्घाटयितुं शक्याः, कुञ्चिकाऽपि विषमा, ॥४८॥

कारिकार्थ—जहां हाथो, व्याघ्र, कहीं कहीं सिंह तथा उँची नोची भूमि यह सब दिन में भी जाने में भय के कारण सर्वदा एवं सर्वथा उपस्थित रहते थे, जिन द्वारों पर साधारण लोग तो जाते ही कैद कर लिये जाते थे, उस पर भी उस समय तो वह द्वार बद्ध थे जिनमें बड़े बड़े किवाड़ लगे थे, लोह की कोल व जंजीरें थीं, अथवा कोल सहित जंजीरें थी, वह ताली से ही खोले जा सकते थे, उनके खोलने को ताली भी विषम थी, उसको जानने वाला ही काम में लासकता था, सर्व साधारण के लिये उससे कपाटों का उद्घाटन नहीं हो सकता था ॥ ४८ ॥

आभास—एतादृशा अपि कृष्णवाहे वसुदेवे समागते स्वयमेव व्यवर्यन्त (इत्याह)

श्लोक—ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः ॥
ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः शेषोन्वगाद् वारि निवारयन् फणैः ।४९।

मूलार्थ—वह बड़े बड़े द्वार श्रीकृष्ण के वाहक वसुदेवजी के आते ही सूर्य से अन्धकार की भांति स्वयं ही हट गये, मन्द मन्द गर्जना के साथ मेघ वर्षा करने लगा, (वर्षा से भींग जाने की स्थिति नहीं आसकी) भगवान् शेषजी फणों के द्वारा जल का निवारण करते पीछे से चल रहे थे ॥ ४९ ॥

श्री सुबोधिनी—विशीर्णा जाताः, स्वयमेवोद्घाटितकपाटा जाताः, भगवतः सर्वमोक्षदातृत्वात् कपाटानामप्यचेतनानामतितामसैर्बद्धानां मुक्तिः प्रदर्शिता, अनेनान्येषां मुक्तिर्व्याख्याता, यदि शुद्धसत्त्वं भगवद्वाहकं चेद् भवति, एतत्प्रदर्शनार्थमेव कृष्णवाहे वसुदेव इत्युक्तं, अयमेवोपाय इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह यथा तमो रवेरिति, उपायसहस्रेणापि सर्वं तमो न गच्छति, उदिते तु सूर्ये स्वत एव गच्छति तथा शुद्धसत्त्वे भगवत्सहिते सत्येव सर्वाविद्यानाशः,

योगमायाका प्रभाव

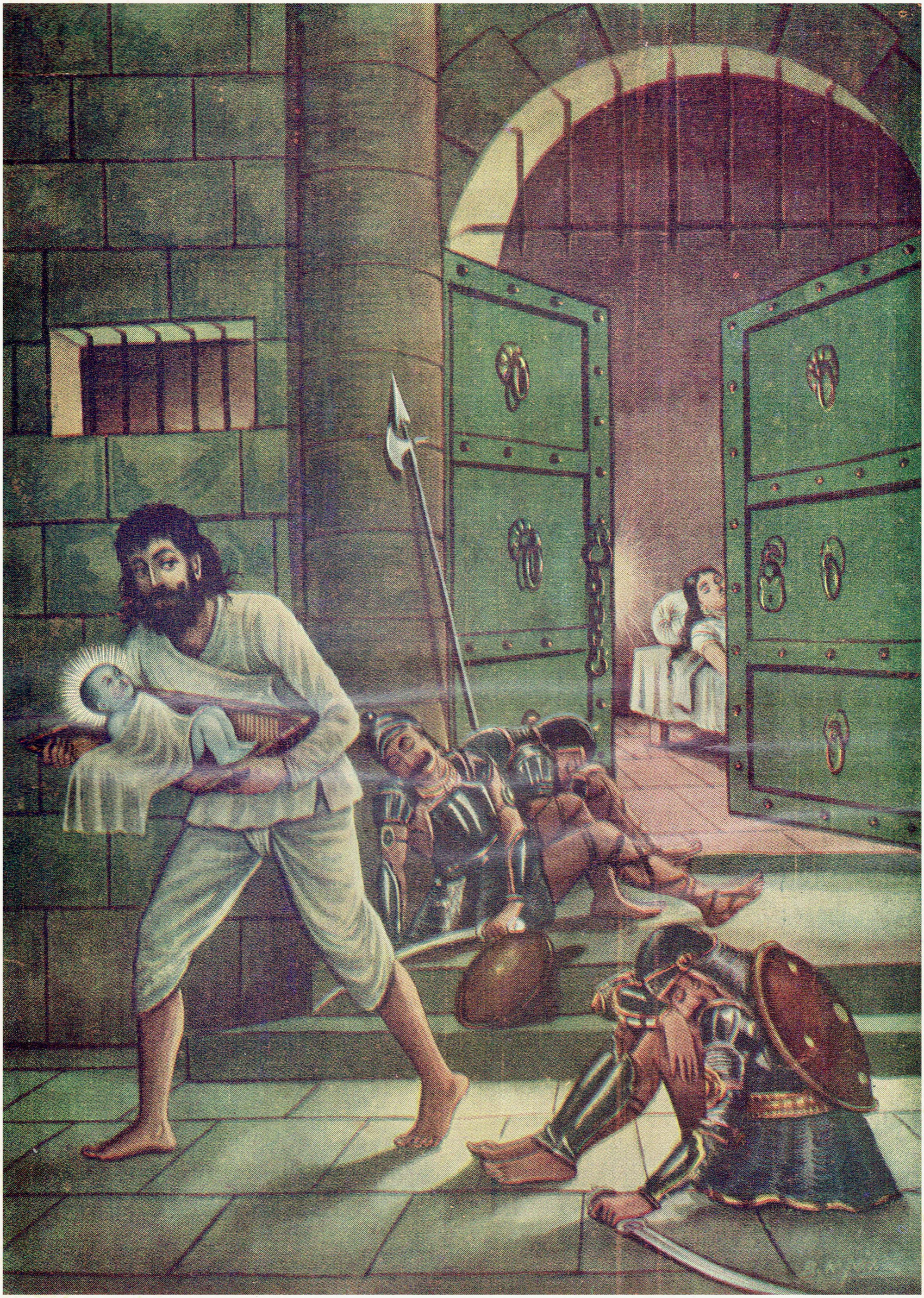

गीताप्रेस, गोरखपुर

वसुदेवजी भगवान्‌को लेकर चले ।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के भी वह द्वार भगवान् कृष्ण को पधराकर वसुदेवजी के आने पर स्वयं ही खुल गये (ऐसा कहते हैं) कि वह द्वार विशीर्ण हो गये, उनकी दृढता शीथिल हो गई उनके कपाट स्वयं ही पृथक् २ हो गये, इस वर्णन से यह बतलाना अभीष्ट है कि भगवान् मोक्ष के दाता हैं अतः जड़ जातीय कपाट जिन्हें अत्यन्त तमोमय लोह कील शृङ्खलाओं ने बन्धन में डाल रखा था उनको भी मुक्त कर दिया, इस प्रकार तामस कर्मबद्ध मूढों को भी मुक्ति का प्रदर्शन कराया गया है, इससे अन्य ज्ञान शून्य व्यक्तियों की मुक्ति का भी स्पष्टी करण कर दिया है, यदि शुद्ध सत्व भगवान् को धारण करता हो तो मुक्ति होना अनिवार्य है ऐसी सूचना के लिये (कृष्णवाहे) (वसुदेवे) इन पदों का उल्लेख किया है (सत्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितम्) के अनुसार, रजोगुण, तमोगुणों से अस्पृष्ट शुद्ध सत्वात्मक अन्तःकरण में यदि कृष्ण की धारणा सिद्ध हो जाय तो मोक्ष सहज सिद्ध है, मोक्ष प्राप्ति का यह ही उपाय है यह बतलाने को दृष्टान्त कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है, सहस्रशः उपाय करने पर भी सम्पूर्ण अन्धकार निवृत्त नहीं होता, सूर्य के उदय होते ही स्वतः चला जाता है, उसी प्रकार शुद्ध अन्तः करणके भगवद्भाव पूर्ण होने पर सम्पूर्ण अविद्या का (बन्धन करने वाली माया का) नाश हो जाता है।

श्री सुबोधिनी—सर्वासाध्यानां स्वत एव सिद्धिर्नान्यथेति निरूपितं, अन्तर्द्वारेषु निर्गतेषु मायायाः प्रवेश उभयोः साम्मुख्ये यदासीत् तदाह ववर्षेति, वृष्टिरपि सर्वेषामनुत्थाने हेतुः, उपांशुगर्जितं चानुत्थाने शब्दान्तरप्रतिबन्धे च, अधिकगर्जने तेनैव प्रबोधः, एतावन्मायाकार्यं साधारण्येन प्रवृत्तं वसुदेवस्यापि खेदहेतुर्भवति, अतस्तन्निवारणार्थं शेषोऽन्वगात्, पातालात् समागत्य फणैः पर्जन्यवारि निवारयन्नन्वगात्, पश्चाद्भागेन गतवान्, भगवत्सम्बन्धात् तत्कृतं तु भयं न भवति, अन्तरिक्षे निवारयन् गच्छतीत्येके, फणैरितिपदादन्वगादिति च पश्चादेव छत्रधारीव गच्छतीति ज्ञायते ॥४८॥४९॥

व्याख्यार्थ—समस्त असाध्य कार्यो की सिद्धि स्वतः हो जाती है जोकि अन्य प्रकार से नहीं हो पाती, ऐसा यहां निरूपण किया है, अन्तर्द्वारों के निकल जाने पर, नगरी के भीतरी दरवाजों के पारकर जाने पर, माया का प्रवेश हुआ है, भगवान् और माया इन दोनों के सम्मुख होने पर जो दृश्य उपस्थित हुआ उसे कहते हैं कि वृष्टि होने लगी, वृष्टि भी सब लोगों के न उठने में कारण हुई, वर्षा के कारण सब लोग पड़े ही रहे, मेघों का उपांशु गर्जित (मन्द २ गर्जना) भी लोगों के न उठने का कारण हुई तथा अन्य शब्दों के कर्णगत न होने में भी कारण हुई, मेघ की मन्द गर्जन से अन्य कोई किसी के आने जाने का शब्द नहीं सुनाई पड़ता था, अधिक गर्जना होने पर तो लोग उस गर्जना से ही जाग उठते अतः मन्द गर्जना लोगों के न उठने में कारण सिद्ध हुई, यह इतना ही केवल वर्षा मात्र माया का कार्य सर्व साधारण रूप से प्रवृत्त हुआ वसुदेवजी को भी खेद का जनक है अतः उस खेद के निवारणार्थ शेषजी पीछे से चलने लगे, पाताल से आकर फणों के द्वारा मेघ के जल को रोकते अनुगमन करने लगे, शेषजी वसुदेवजी के पीछे की ओर से चल रहे थे, भगवान् के सम्बन्ध के कारण से शेष के सर्प रूप से होने वाले भय का सम्भव नहीं, कुछ विद्वानों का कहना है कि शेषजी अन्तरिक्ष आकाश में चल रहे थे, तब तो शरीर के द्वारा भी

वृष्टि का रोकना सम्भव था, यहां तो फणों से वारि (जल) का निवारण कहा है, एवं ऊपर चलना न कहकर (अनु-अगात्) पीछे से चलना कहा है। अतः स्पष्ट होता है कि शेषजी वसुदेवजी के पीछे से ही छत्रधारी कर्मचारी की भांति चल रहे थे ॥ ४९ ॥

श्लोक—मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ॥
भयानकावर्तशताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः ॥५०॥

मूलार्थ—इन्द्र के बरंबार वर्षा बरसाने के कारण यमुनाजी गम्भीर प्रवाह से बह रहीं थी. लहरियों से लहरारहीं थी झागों से झगड़ रही थी, भयानक भंवर पड़ रहे थे उन भंवरों से व्यग्र हो रहीं थी (ऐसी दशा में) यमुना नदी ने वसुदेवजी को उस प्रकार मार्ग देदिया जिस प्रकार सीतापति श्री रामचन्द्रजी को लङ्का जाने केअवसर पर समुद्र ने मार्ग दिया था ॥ ५० ॥

श्री सुबोधीनी—यथा यथा गोकुलनिकटे गमनं तथा तथा मायासान्निध्याद् गमने क्लेशाधिक्यं भगवत्सान्निध्याच्च तदभाव इति ज्ञापयितुं यमुनोत्तरणे प्रकारमाह मघोनि वर्षतीति, भगवज्जन्मसमये सर्वतो निवृत्ता अपि मेघा मायाजन्मनि सर्वे समागताः, इन्द्रोऽपि माया मोहितो मेघप्रेरको जातः, केवलाभ्रं द् भगवति गच्छति निवृत्ता अपि भवेयुः, अल्पानां मोहितानामल्पधैर्यवत्त्वेन महति विरोधासम्भवात्. अत आह मघोनीन्द्रेऽसकृद् वर्षति सति, स्वभावतोऽपि यमुना क्रूरेत्याह यमानुजेति, अत एव गम्भीरतोयोघजवोर्मिफेनिला, गम्भीरो भयानकोऽगाधो यस्तोयौघस्तस्य जवेन वायुवशाच्च य ऊर्मयस्तत्सहिता फेनिला च, त्रिविधोऽपि दोषस्तस्या निरूपितः, अतिवेगो राजसः, फेनादिस्तामसः एवं कालकृतं दोषमुक्त्वा स्वाभाविकं दोषमाह भयानकावर्तशताकुलेति, भयानका भयजनका

व्याख्यार्थ—जैसे जैसे गोकुल के निकट पहुँचना तैसे तैसे माया के समीप होने के कारण पहुँचने में क्लेश का अधिक होना, एवं भगवान् के सन्निधान से उन क्लेशों का अभाव हो जाना यह जतलाने को यमुना के उस पार जाने में प्रकार को कहते हैं कि इन्द्र के वृष्टि करते रहने पर यमुना का प्रवाह भयावह था परन्तु भगवान् के कारण कोई क्लेश उपस्थित नहीं हुआ, भगवान् के जन्म समय में मेघ सब ओर हट गये थे तो भी माया के जन्म के समय में सब आगये, इन्द्र भी माया से मोहित होने के कारण मेघों को प्रेरणा देने लगा, यदि इन्द्र की प्रेरणा न होती, केवल मेघ ही होते तब तो भगवान् के गोकुल पधारने के समय हट भी जाते क्योंकि अल्प योग्यता वाले साधारण माया मोहित लोगों का धैर्य अल्प ही होता है अतः वह महान् पुरुषों के प्रति विरोध नहीं करते यहां क्षुद्र जातीय मेघों का भगवान् से विरोध करना असम्भव है यह बतलाना है, परन्तु इन मेघों को तो देवराज इन्द्र से प्रेरणा मिल रही थी अतः वह वर्षा बरसाते रहे रुके नहीं इससे कहा है कि 'मघोनि वर्षति' देवराज इन्द्र के बार बार वर्षा करने पर वैसी परिस्थिति हो गई, माया मोहित देवराज इन्द्र की प्रेरणा का बल पाकर मेघ वर्षते ही रहे जिससे

यमुना प्रवाह भयावह हो गया, 'यमानुजा' शब्द से यमराज की भगिनी होने के कारण स्वाभाविक क्रूरता बतलाई है (जो कि भयङ्कर परिस्थिति के वर्णन में अनुकूल है) अत एव गम्भीर जल प्रवाह के वेग से एवं उमंग की तरंगों से तथा फेन (झागों) से युक्त बतलाया गया है, श्री यमुना का प्रवाह गम्भीर था उसकी अगाधता गहराई भयानक थी, प्रवाह वेग से तथा वायु के—

श्री सुबोधिनी—ये आवर्ता भ्रमरास्येषां शतैराकुला, समप्रवाहरहिता व्यग्रा वा, आवर्तास्तामसाः, वैयग्र्यं राजसं, एवं स्वाभाविका अपि त्रयो दोषाः, एवं दुष्टाऽपि भयात् मार्गं ददौ, सर्वा नद्यः समुद्रपत्न्यः, रामावतारे समुद्रोऽपि मार्गमप्रयच्छन् शोषितः किं पुनस्तस्याल्पसत्त्वा भार्या ? अत स्वरूपादेव प्रच्युता भविष्यामीति सिन्धुरिव मार्गं ददौ, किञ्च यमुनाजलेऽग्रे लक्ष्मीभिः सह क्रीडां करिष्यति, अतः सन्तोषादपि ददौ, यथा लक्ष्मीपतेर्जामातुः श्वशुरः समुद्रः कदाचित् स्वगृहे नयन् मार्गं प्रयच्छति, अथवा श्रीः सीतैव, तस्या एकस्याः कामुकश्चेत् समुद्रशोषं कृतवान् बहूनां गोपिकानां कामुकः कथं न कुर्यात् ? ।। ५० ।।

व्याख्यार्थ—कारण उठती हुई लहरों से युक्त थी तथा फेन (झागों) से पूर्ण थी, यमुना के तीन प्रकार के दोष का निरूपण इस विशेषण से हुआ है, अत्यन्त वेग से राजस दोष है, और झाग बबूला आदि तामस दोष है, (गाम्भीर्य सात्विक दोष है) इस प्रकार वर्षा काल जनित दोषों को कहकर स्वाभाविक दोष बतलाते हैं कि सैंकड़ों भयङ्कर आवर्त (भमरों) से आकुल थी, उनका प्रवाह सम नहीं था ऊंचा नीचा विषम रूप से बहता था, अन्यथा उन भंवरों से व्यग्र थीं, अपनी घबड़ाहट प्रकट कर रही थी, आवर्त (भंवर) तामस है, व्यग्रता राजस है, (समान प्रवाह का न होना सात्विक दोष है) इस प्रकार स्वाभाविक तीनों दोषों का भी निरूपण किया, इस प्रकार स्वाभाविक एवं आगन्तुक दोषों से युक्त होते हुए भी-भय के कारण मार्ग देने में अनुकूल हो गई मार्ग देदिया, विघ्न नहीं किया, सब ही नदी समुद्र की पत्नी होती है रामावतार में समुद्र भी भगवान् को मार्ग न देने के कारण शुष्क कर दिया था, तब उस समुद्र की अल्प सामर्थ्य वाली एक पत्नी की तो बात ही क्या है, अतः स्वरूप से ही भ्रष्ट हो जाऊंगी इस भय से समुद्र की भांति मार्ग देदिया, अथवा आगे लक्ष्मी (श्री गोपीयों) से जल क्रीड़ा करेंगे इस सन्तोष से कि मेरा भी सौभाग्य सिद्ध होगा श्री यमुना ने मार्ग दे दिया, जिस प्रकार लक्ष्मीपति को अपने जामाता भगवान् को उनका श्वसुर समुद्र कभी उन्हें अपने घर में ले जाने को मार्ग देता है, अथवा श्री शब्द से सीताजी का ही ग्रहण अभीष्ट है एक सीता के कामुक रघुनाथ जी यदि समुद्र को सुखा चुके तो बहुत सी गोपिकाओं के कामुक होकर मुझे क्यों न सुखा देंगे इस भय से यमुना ने मार्ग देदिया ।। ५० ।।

श्लोक—नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान् गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया ।।
शिशुं यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात्।५१।

मूलार्थ—वसुदेवजी नन्दराय के व्रज में पहुँचकर वहां उन गोपों को निद्रा के कारण सोता हुआ पाकर श्री यशोदा की शय्या पर नवजात शिशु को स्थापित कर उनकी सुता को उठाकर फिर अपने घर लौट आये ।। ५१

श्री सुबोधिनी—एवं मार्गवन्नदीमुत्तीर्य गोकुले गतस्य कृत्यमाह नन्दव्रजमिति, शौरिरित्यभये नन्दस्य च मित्रत्वात्, व्रजे च गवामपि कदाचिच्छब्दो भवत्यत: पुरुषगमनशब्देनापि न तत्रत्यानां जागरणं, उपेत्य समीपे गत्वा, अनेन -शनै: शनैर्गमनं सूचितं, तत्र च तान् सर्वदा जागरणयुक्तानपि तदा प्रसुप्तानुपलभ्य, केवलमपि शयनं सम्भवतीति निद्रयेत्युक्तं, शिशुं बालकं भगवन्तं, भगवत्त्वज्ञानेन पुत्रत्वस्य वक्तुमशक्यत्वान्नामान्तराणामकृतत्वाद् भगवत्त्वे स्थानान्तरस्यायुक्तत्वाच्छिशु-मित्युक्तं, शयने शय्यायां, अयुक्तमित्याशङ्क्य शयनपदं दत्तं, यशोदाया: शयने सति यशोदाया: शयनं यत्रेति निधाय नितरां स्थापयित्वा तत्सुतां मायामुपादाय पुनस्तेनैव मार्गेण स्वगृहानगात् ।।५१।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार मार्ग की तरह नदी को पारकर गोकुल में पहुँचे हुए वसुदेवजी का कार्य बतलाते हैं कि शूरनन्दन वसुदेव वहाँ जाकर गोपों को सोया हुआ पाकर नवजात शिशु को वहाँ श्री यशोदा की शय्या पर पधराकर गृह के प्रति लौट आये. "शौरि" शब्द वसुदेवजी के अभय का सूचक है, और नन्दराय के व्रज में जाना है वहाँ उनको जाने में हर्ष प्रकर्ष का होना आवश्यक है क्योंकि नन्दराय वसुदेवजी के मित्र हैं अत: निर्भयता पूर्वक प्रसन्नता से पहूंचे, 'व्रज' गौओं के निवास स्थान को कहते हैं वहाँ कभी कभी गौओं का शब्द होता ही रहता है अत: मनुष्य के चलने के शब्द (पैंछट) से भी वहां वालों का जाग जाना सम्भव नहीं, 'उपेत्य' शब्द 'समीप में जाकर' इस अर्थ का वाचक है, इससे धीरे २ जाने की सूचना होती है (वसुदेवजी चुपके से पैर रखने हुए गये जिससे कोई जाग न जावे) और वहाँ पर उन सदा जागने वाले गोपों को भी उस समय सोता हुआ पाया, शयन निद्रा के बिना केवल पड़े रहने को भी कह देते हैं अत: 'निद्रया' शब्द का प्रयोग किया कि वह लोग निद्रा से सो रहे थे, बालक रूप भगवान् के प्रति इस अवसर पर 'शिशु' शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि वसुदेवजी को उनके भगवान् होने का ज्ञान है इस दृष्टि से 'पुत्र' शब्द का प्रयोग उचित नहीं, अन्य नामों का अभी आविर्भाव हुआ नहीं है, 'भगवान्' शब्द का प्रयोग भी स्थानान्तर पर छोड़ने के अवसर पर उचित नहीं क्योंकि भगवान् होने पर उनका स्थापन अन्यत्र विसर्जन) युक्त नहीं, अत: 'शिशु' शब्द ही उपयुक्त होने से प्रयुक्त किया है,

श्लोक—देवक्या: शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम् ।।
प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृत: ।। ५२ ।।

मूलार्थ—इसके अनन्तर वसुदेवजी श्री देवकी की शय्या पर लड़की को रखकर अपने पैरो में लोहे की बेढियों को डाल कर पहले की तरह बद्ध हो गये ।।४२।।

श्री सुबोधिनी—ततो देवक्या शयने तस्या अपि शय्यास्थानं कृत्वा तां स्थापयित्वा, अथेति भिन्नप्रक्रमे, यशोदाशयने तूष्णीं शनैरज्ञापयन्, अत्र तु तदभाव:, दारिकां कन्यां, अनादरे दारिका, स्वयमेव पदो: पादयोर्लोहं प्रति-मुच्य पूर्ववदेव यदा भगवज्जन्म न जातं तदा यथा ।।५२।।

टिप्पण+—'उप' उपसर्ग 'उपवेद' 'उपाध्यापक' आदि शब्दों में निम्न कक्षा का सूचक है उसी प्रकार गमन के साथ भी उसकी निम्न कक्षा मन्दता का सूचक है ।

व्याख्यार्थ—(शयन) यद्यपि शय्या को कहते हैं परन्तु (शय्यापद) का प्रयोग अयुक्त+ हैं ऐसी आशङ्का कर (शयन) पद का प्रयोग किया है । अथवा श्री यशोदा के शयन करने पर उनके सोजाने पर, या श्री यशोदा जिस स्थान पर शयन करती थी उस स्थान पर शिशु को स्थापन कर भलो भांति पधरा-कर श्री यशोदा की सुता माया को लेकर पुन: उसी मार्ग से अपने गृह आपहुँचे ॥ ५१ ॥

व्याख्यार्थ—इसके पश्चात् देवकी की शय्या पर उस लड़की को शयन करने का स्थान सिद्ध कर उसे वहां स्थापित कर वसुदेवजी पूर्व की भांति निगडित हो गये, यहां पर (अथ) शब्द प्रक्रम की भिन्नता का सूचक है, श्री यशोदा की शय्या पर चुप चाप धीरे २ शिशु का स्थापन किया था क्योंकि वहां किसी को विदित न हो, यह आशङ्का थी, यहां उस प्रकम को बदल दिया है क्योंकि यहां उस प्रकार की कोई शङ्का नहीं है, (दारिका) शब्द से उसके अनादर को सूचना है, कि उस परम मनोहर पुत्र की स्मृति क्या इससे शान्त होगी, वसुदेवजी स्वयं ही अपने पैरों में लोह की बेढ़ीयों को डालकर भगवान् के जन्म से पूर्णकाल की भांति आबद्ध हो गये ॥ ५२ ॥

श्लोक—यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत ॥
न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयाऽपगतस्मृतिः ॥ ५३ ॥

॥इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीकृष्णजन्मनामतृतीयोध्यायः ॥ ३ ॥

मूलार्थ—नन्द पत्नी यशोदा ने इतना ही जान पाया कि कुछ हुआ है, लड़के या लड़की का कोई चिन्ह नहीं पहिचान सकी क्योंकि प्रसव वेदना से अत्यन्त थक चुकी थी निद्रा ने उनकी स्मृति का अपहरण कर लिया था ॥ ५३ ॥

इति श्री भा. म. द. स्क. जन्म प्र० तृ० अध्याय श्लोकार्थः

श्री सुबोधिनी—अत्र यशोदायाः शयनं न सम्भवति, प्रसवे लोकेऽज्ञानासम्भवादित्याशङ्क्याह यशोदेति, यशो ददातीति प्रसवे ज्ञाते भर्तुः सुखं भवतीति, नन्दस्य पत्नीति, तादृशे समयेऽन्यदापि जागरणं जातकर्माद्यावश्यकत्वात् पत्नी भूत्वापि सावधानाऽपि, जातमेव परमबुध्यत न तु जातस्य लिङ्गं पुत्रः पुत्री वेति, यतः परिश्रान्ता प्रसवार्थं वेदना महती जाता, पश्चाच्छ्रान्ता यदा तदैव प्रसवो जात इति प्रसवेन सह निद्राऽपि जाता, तया कृत्वापगता स्मृतिर्यस्याः, मम प्रसवो जात इति पूर्वानुसन्धानं स्मृतिः, अतः पूर्वं वसुदेवकृतं सुस्थम् ॥ ५३ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे तृतीयाध्यायविवरणम् ॥ ३ ॥

टिप्पण— +पर स्त्री की शय्या का स्पर्श निषिद्ध है अतः (शय्या) पद का प्रयोग नहीं किया, और इसी अरुचि से शयन पद का भी प्रकारान्तर से व्याख्यान किया है ॥ ५१ ॥

व्याख्यार्थ—यहां इस प्रकार आशङ्का करके उसके निवारणार्थ उक्त श्लोक को कहा है कि—यशोदा का शयन तो असम्भावित है क्योंकि लोक में प्रसव (अवस्था के होने पर अज्ञान का सम्भव नहीं) उक्त शङ्का की निवृत्ति करते हुए शुकदेवजी कहते हैं, कि नन्द पत्नी यशोदा इतना ही समझ सकी कि कुछ उत्पन्न हुआ परन्तु वह उत्पन्न हुआ स्वरूप पुत्र है या पुत्री है ऐसा नहीं जाना, उक्त श्लोक में यशोदा शब्द के द्वारा एवं उसके विशेषण (नन्द पत्नी) शब्द के द्वारा नन्द यशोदाओं के नाम की सार्थकता बतलाई है, यशोदा, प्रसव के ज्ञात होते ही पति को यश देती है कि तुम बड़भागी हो तुम्हारी साधना आज सिद्ध हुई, मेरा आपके द्वारा पाणिग्रहण सार्थक हुआ, चिरकाल तक लोक में नाम चलेगा आदि २, नन्दराय को भी प्रसव के ज्ञात होते ही सुख होता है अपार आनन्द होता है कि मेरा भर्ता होना आज सार्थक हुआ, अब इस भार्या के भरण करने में मुझे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, इत्यादि भावनाओं से सुख होने के कारण उन्हें 'नन्द' पदवी प्राप्त होती है, अन्य अवसरों पर भी वैसे समय में बालक के जात कर्म आदि संस्कार आवश्यक कर्म होते हैं अतः जागना ही होता है, शयन का सम्भव नहीं, 'नन्द-पत्नी' शब्द के अन्तर्गत 'पत्नी' शब्द का प्रयोग स्त्री की एक विशिष्ट योग्यता का सूचक है उस योग्यता के आधार पर उसे पति के साथ पारलौकिक यज्ञादि कर्म में अधिकार प्राप्त होता है, अतः उसको प्रसव कालीन जात कर्मादि संस्कारों के लिये सावधान रहना आवश्यक है, श्री यशोदा श्री नन्द की पत्नी होकर भी सावधान होते हुए भी केवल इतना ही जान सकी कि जन्म+ हुआ, कोई बालक प्रकट हुआ, प्रकट हुए बालक का चिन्ह विशेष कि यह लड़का है या लड़की है ऐसा नहीं जान सकी, क्योंकि 'परिश्रान्त थी' प्रसव के निमित्त वेदना अधिक हो चुकी थी, पीछे जिस समय श्रान्त हुई (थक गई) उसी समय प्रसव हुआ कि उसके साथ ही निद्रा भी आगई, उस निद्रा से उसकी स्मृति लुप्त हो गई, मेरे प्रसव हुआ है इस प्रकार के पूर्व वृत्तान्त के अनुसन्धानात्मक स्मरण का अभाव हो गया, अतः पूर्व में वसुदेवजी का किया हुआ सब कुछ शिशु का स्थापन कन्या का उत्थापन आदि सुन्दर प्रक्रिया से सम्पन्न हुआ ।। ५३ ।।

टिप्पण+ —भगवान् श्री कृष्ण की जयन्ती तिथि को जन्माष्टमी कहते हैं इस तिथि का यह नाम श्री कृष्ण की परब्रह्मता का परिचय देता है, 'रामनवमी' 'नृसिंहचतुर्दशी' आदि जयन्तीयों को 'जन्म नवमी' या 'जन्म चतुर्दशी' नहीं कहा जाता, इस आकस्मिक शब्द प्रवृत्ति से यदि इस प्रकार स्वीकार किया जावे कि जन्म प्रयुक्त विशेषता को लेकर उक्त (जन्माष्टमी) संज्ञा प्रचलित हुई है तो वह विशेषता अजन्मा परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण के जन्म से ही तो सम्बन्धित है, श्री यशोदा भी 'जातं परम बुध्यत, न तल्लिङ्गम्; धन्य श्री यशोदे ! उस परब्रह्म की कोई पहिचान नहीं आपने उसके जन्म को जान लिया या उसकी जन्म तिथि का नाम करण कर दिया ।। श्री यशोदा स्तनन्धयाय नमः ।।

इति श्री भा: निरोध स्कं. जन्म प्रकरण रूपान्तर स्वीकार तृतीय अध्याय श्री सुबोधिनी व्याख्या का अनुवाद ।

तृतीय अध्याय

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	६	दृष्टडवलौकिक	दृष्टेऽप्यलौकिके	५१	१५,१६	ह्यभयविरुद्धं	ह्युभयंविरुद्धं
५	१०	कस	कंस	५२	१०	तङागे	तङागे
४	२४	दशन	दर्शन	५३	१३	ता	तो
६	१९	ढेना	देना	५४	२४	एव	एवं
७	३	प्रदिशः से	दिशः प्रसे	५४	२६	सद्रपता	सद्रूपता
८	८	एव	एवं	५५	६	व्वा	व्या
१३	४	मुन	मुनि	५६	१९	सत्रानोतौ	सत्यप्रतीतौ
१३	१९	ऽ इपि	ऽ पि	५६	२०	मत	मतं
१४	२४	श्लोकार्ध	श्लोकार्थ	५६	२२	रोषार्थं	रोपार्थं
१५	१६	पचम	पंचम	५८	१	होता	होती
१६	२४	जायनामे	जायमाने	५८	३	मूखं	मूर्खं
१७	१४	साण्या	साप्या	६०	१०	स्वय	स्वयं
१७	१६	पुष्कल ऽः	पुष्कल	६२	१	सवभर्वन	सर्वभवन
१७	१७	इन्दुरिवेत्येको	इन्दुरित्यको	६२	१०	म	में
१८	६	निमित्तीकृत	निमित्तीकृत्य	६२	१९	भा	भी
१८	१२	प्राचा	प्राची	६३	२४	कर्त्तृ	कर्तृं
१९	८	चतुर्भू जं	चतुर्भुजं	६४	१९	रजागुण	रजोगुण
१९	११	शङ्क	शङ्ख	६४	२०	वण	वर्ण
१९	१४	श्नर्येण	श्चर्येण	६४	२३	चमुः	चमूः
२२	१०	त्वाद्	त्वात्	६५	९	सङ्कषण	सङ्कर्षण
२४	५	थिशेशण	विशेषण	६६	२३	आपेक्षित	अपेक्षित
२४	२३-२४	रसना ही	रसना से ही	६७	५	स्मृतर्त	स्मृति
३०	२४	भिविरोचभानो	भिर्विरोचमाने	६७	७	कथ	कथं
३१	१०	भ	भी	६७	१४	भगवान	भगवान्
३२	२६	क्तिपंकी	पंक्ति की	६७	१८	कस	कंस
३९	७	वाधक	बाधक	६७	१९	नह	नहीं
३९	१०	हासिति	हासीति	६८	१	बेवक्यु	देवक्यु
४१	२२	ससवं	ससर्वं	६८	९	चोत्तवा	चोक्त्वा
४३	२५	सृट्वा	सृष्ट्वा	६८	२०	कस	कंस
४४	३,२१	एव	एवं	६८	२८	आदन	आदान प्रदानादि व्यवहार शून्य जीवन
४४	२८	धिविक	धिदैविक				
४८	५	वाधितः	बाधितः	६९	१३	गर्ब	गर्व
४८	१३	दृरान्त	दृष्टान्त	७०	४	इद	इदं
४९	२	दिशन्येवं	दिशत्येवं	७१	५	कारण	कारणं
५१	८	स्वरुप	स्वरूप	७१	१२	सदश	सदंश

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७२	२७	मं	में
७४	१७	ज्याति	ज्योती
७४	१७	स्वय	स्वयं
७७	२	एवामधि	एवमाधि
७७	४	सग्रह	संग्रह
७८	१,३	प्ररणा	प्रेरणा
७८	८	चष्टा	चेष्टा
७८	८	हा	ही
८०	४	काय	कार्य
८१	२०	मुख्य	मुख
८२	२	निभय	निर्भय
८२	४	तानो	तीनो
८२	२१	सत्सग	सत्संग
८३	१	तन्मध्येऽअन्य	तन्मधेऽन्य
८३	२३	भग	भंग
८४	२	प्राथनीय	प्रार्थनीय
८४	४	लौकिक	लौकिकं
८४	१४	सभावना	संभावना
८५	४	कस	कंस
८५	१०	स्वय	स्वयं
८६	५	का	की
८६	३	उपसहार	उपसंहार
८६	१४	धेर्य	धैर्य
८६	२६	कस	कंस
८८	११	लो१किक	लौकिक
८७	३,७	कस	कंस
८७	१९	सहरति	संहरति
८८	१२	सहर्तध्व्य	संहर्तव्यं
८८	१२	चतुष्टय	चतुष्टयं
८८	१९	ता	तो
८८	२५	धारध	धारण
८८	२६	तर्यो	त्यों
८९	७	हाना	होना
९०	३	ज्ञङ्का	शङ्का
९१	४	चतुदश	चतुर्दश
९३	१८	नीरित	निरत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९४	९	सम्भोधन	सम्बोधन
९५	२	त्हृदि	हृदि
९६	१३	प्ररदुरासम्	प्रादुरासं
९७	१८-१९	स्त्रा परुषों	स्त्री पुरुषों
९९	१	तथाण्य	तथाप्य
९९	४	दृष्ट	दृष्ट्
९९	५	अदृष् वा	अदृष्ट्वा
९९	१५	सवथा	सर्वथा
१००	१५	तृतीय	तृतीये
१०१	२९	पतिब्रता	पतिव्रता
१०२	८	सम्बाधन	सम्बोधन
१०२	१७	मुच्यमान	मुच्यमानं
१०२	२०	पदाथ	पदार्थ
१०३	५	पर	परं
१०३	१२	जिसके	जिससे
१०३	२१	मद्गति	मद्गतिं
१०३	२४	अधना	अधुना
१०४	१	हागा	होगा
१०४	१४	ही	हो
१०४	२४	यो	को
१०८	१	कृत्वानित्याहेत्यक्त्वा	कृतवानित्याहेत्युक्त्वा
१०८	८	हें	हैं
१०८	२६	देख	देखते
१०९	१५	स्वय	स्वयं
११०	१०	सकं	सकें
११०	१९	लागों	लोगों
१११	२६	स्वय	स्वयं
११२	२	प्रकुमान्तर	प्रक्रमान्तर
११२	६	येमु	येषु
११२	२५	भगमत्स	भगवत्स
११५	७	अत	अतः

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी

का

हिन्दी अनुवाद

दशम स्कन्ध : जन्म प्रकरण : चतुर्थ अध्याय

●

अनुवादक :

प० भ० पं० श्री आनन्दीलालजी शास्त्री

विद्या विभागाध्यक्ष, नाथद्वारा ।

●

प्रकाशक :

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल (रजि०)

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग, जोधपुर ।

●

सर्वाधिकार सुरक्षित

॥ हरिः ॥

सूरसागर सारावली

लै वसुदेव तुरत घर आये काहु जिय नहिं जान ।
जब वह रोवन लागी तब सब जाग परे अकुलाने ॥
बालक भयो कह्यो नृप सों जब दौरि कंस तब आयो ।
कर गह खडग कह्यो देवकि सों बालक कहं पहुंचायो ॥
तब देवकी अधीन कह्यो यह मैं नहिं बालक जायो ।
यह कन्या मोहि बक्स बीर तू कीजै मो मन भायो ॥
कंस बंस को नास करत है कहा समुझ रिस आयो ।
मोको भई अनाहद वानी तातें डर नहि जानी ॥
कन्या मांग लई तब राजा नेक शंक नहिं आनी ।
पटकत शिला गई आकासे कंस प्रतोत न मानी ॥
भई अकास बानी सुर देवी कंस यहा अब आई ।
तेरो शत्रु प्रगटव हुँ व्रज में काहु लख्यौ नहि जाई ॥
जैसे मीन करत जल क्रीडा जल में रहत समाई ।
त्यौं तुव काल प्रगट एक कतहूँ लख न सकत तेहि कोई ॥
अन्तरध्यान भई सुर देवी कंस प्रतीत जो मानी ।
तब वसुदेव देवकी के गृह वंस गयो यह जानी ॥
क्षम अपराध देवकी मेरो लिख्यो न मेट्यो जाई ।
मैं अपराध कियो शिशु मारे कर जोरे बिलकाई ॥
पुन गृह आय सेज पर सोयो नेकु नींद नहि आवे ।
देश देश के दूत बुलायो सबहिन मतो सुनावें ॥
दीन हीन जो असुर चढत बलि करत सकल पुनि तैसो ।
बूझत नहि तन भार उतारे व जल को मारवन जैसो ॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

दशम स्कन्ध

श्री सुबोधिनी का सरल-सुबोध-हिन्दी अनुवाद

चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय के पूर्व के तीन अध्यायों में क्रमशः हेतु, उद्यम तथा दूसरे रूप को स्वीकार करने का निरूपण है अर्थात् भगवान् किस हेतु से भूतल पर पधारे उस हेतु का निरूपण प्रथमाध्याय में है; भगवान् के भूतल पर पधारने के उद्यम का वर्णन द्वितीयाध्याय में है और चतुर्भुज से द्विभुजरूप को स्वीकार करना रूपान्तर स्वीकरण है इस का तृतीयाध्याय में निरूपण है। इस चतुर्थाध्याय में माया के कार्य का निरूपण होने से कापट्य का निरूपण किया जा रहा है और धर्म रक्षार्थ अनिरुद्ध-व्यूह का प्राकट्य भी इस में कहा गया है। जो किसी से रोका नहीं जावे वही अनिरुद्ध है और जो किसी से नहीं रूकता वही धर्म की रक्षा कर सकता है परन्तु धर्म रक्षण की तब ही आवश्यकता पडती है जब माया अधर्म का प्रसार करे। इसी अन्तिम बात का निरुपण नीचे की कारिका से किया जा रहा है।

मायायाः कार्यमधुना चतुर्थे विनिरूप्यते।
अन्यथा भगवत्कार्यं न भवेद्निमित्ततः ॥१॥
ज्ञापने दुःखसुखदे ततोऽपि ज्ञापने तथा।
कंसस्य सह भृत्यस्य धर्मबाधो न चान्यथा ॥२॥
तामसप्रभुक्ते राज्ये कृतो धर्मस्तु तद्गतः।
अतः पूर्वस्य नाशो वै कर्तव्यस्तामसाश्च ते ॥३॥
ब्राह्मणा अपि तद्देशे स्वभावात् तामसा मताः।
कालस्तथा विधो यस्मात् पश्चाज्जातस्तु सात्त्विकः ॥४॥

इस चतुर्थ अध्याय में सब को दुःख देना, धर्म को नष्ट करना आदि जो माया के कार्य हैं उनका निरूपण करते हैं। यदि माया ऐसा कार्य नहीं करती तो देवकी को बन्धन से छुडाना, सबको सुख देना,

तथा धर्मरक्षा आदि कार्यों के करने के लिये भगवान् के पधारने की आवश्यकता नहीं होती। अतः भगवान् के कार्यों में भक्तों को दुःख देना आदि माया के कार्य ही कारण हैं अर्थात् माया यदि कंस द्वारा भक्तों को दुःख दिलाना आदि कार्य न करती तो भगवान् का उपर्युक्त कार्य भी नहीं होता ॥१॥

माया ने रुदन कर के द्वारपालों को यह बताया कि मैं उत्पन्न हो गई हूं। इस के पश्चात् गृह रक्षकों ने भी कंस को बालक का जन्म होना बताया। ये दोनों बातें दूसरी कारिका के प्रारभ में आये प्रथमा द्विवचनान्त "ज्ञापने" पद से बताई गई है अर्थात्, 'ज्ञापने" यह पद प्रथमा द्विवचनान्त है। अत एव माया का अपने आप को बताना और कंस को रक्षकों द्वारा सूचित कराना, ये दो कार्य माया के कहे गये हैं। माया के ये कार्य वसुदेवादि को दुःख देने वाले और कंस को सुख देने वाले हुए। बाद में माया ने "तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया है" ऐसा कहा और इसी बात को कंस ने अपने मन्त्रियों को बताया। यह बात कारिका में आये दूसरे "ज्ञापने" पद से कही है। ये दोनों कार्य भी भक्तों को दुःख देने वाले और कंसादि को सुख देने वाले हुए। यदि माया यह कार्य नहीं करती तो कंस और उस के सेवक धर्मनाश के लिये उद्यत नहीं होते ॥२॥

शंका होती है कि भगवान् का अवतार तो धर्मरक्षा के लिये होता है तो यह अवतार धर्मनाश में कारण कैसे बना ? क्योंकि भगवान् के प्राकट्य के भय से ही कंस ने ये सब पाप किये इस लिये भगवान् का प्राकट्य ही इस अधर्म में कारण हुआ किन्तु यह होना उचित नहीं था। ऐसी आशंका पर कहते हैं कि कंस तामस वृत्ति का था अतः उस के राज्य में पशु आदि तथा उन से होने वाले यज्ञादि धर्म सब हो तामस थे। इस कारण उनका नाश कराना आवश्यक था ॥३॥

यज्ञादि धर्म संपादन में अंग भूत जो ब्राह्मण थे वे भी उस प्रदेश में स्वभावतः तामसवृत्ति के थे तथा वह समय भी तामस था। अतः कंस के द्वारा निवृत्ति कराने के अनन्तर जो धर्म स्थापित किया गया वह सात्विक धर्म हुआ ॥४॥

श्री सुबोधिनी : = भगवत्कार्यवैपरीत्यं मायाकार्य इति ज्ञापयितु–मुद्घाटितकपाटानां द्वाराणां पुनः पिधानमाह।

(हिन्दी अनुवाद) = भगवान् का कार्य आवरणों को दूर करना एवं बन्धन से मुक्त करना है इस लिये सब द्वार खुल गये और वसुदेवजी बन्धन मुक्त हो गये। माया का कार्य भगवान् से विपरीत होता है अर्थात् माया धर्म का नाश करती है और बन्धन में डालती हैं तथा आवरण को उत्पन्न करती है, इसी लिये माया के आने से आवरणरूप बाहर भीतर के द्वारों के किंवाड बन्ध हो गये और वसुदेवजी पहिले की भांति बन्धन में पड गये। इस बातको नीचे के श्लोक में कहते हैं।

। श्रीशुक उवाच ।

श्लोक—बहिरन्तः पुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः ।
ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः ॥१॥

अर्थ = श्री शुकदेवजी कहते हैं कि जब वसुदेवजी लौट आये तब मथुरा नगर के बाहिर तथा भीतर के सभी दरवाजे पहिले की तरह बन्ध हो गये। बालक के रोने को सुन कर उसमें प्रसूतिगृह के रक्षक ठीकरूप से जाग गये ॥१॥

श्री सुबोधिनी = बहिरन्तरिति । पुरो वहिर्द्वाराण्य वान्तर्द्वाराणि च सर्वाः पूर्ववदेवावृताः ; वैलक्षण्ये रक्षकाणां ज्ञान–संभवाज् ज्ञानं भवेदिति पुनर्बन्धनं मायाकार्यमुक्त्वा पूर्वं वसुदेवदेवक्योर्निवृत्तस्यापि भयस्य जननार्थं रोदनमपि कृतवती, तेन रोदनेन सर्वेषां जागरणं जातमित्याह तत इति, बालस्योत्पन्नस्य ध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः सूतीगृहरक्षकाः सम्यगुत्थिताः ॥१॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = माया के आने पर मथुरा नगरी के बाहिर एवं भीतर के सभी दरवाजे पूर्ववत् बन्द हो गये। यदि गृहपालों के जागने तक किंवाड खुले ही रहते और वसुदेवजी बन्धनमुक्त पाये जाते तो द्वारपालों को विलक्षणता मालूम पडती और वे यह समझ जाते कि वसुदेवजी ने ही गुप्त-रूप में कुछ गडवडी की है इसलिये माया ने पुनः पहिले की स्थिति उत्पन्न करदी। भगवान् के प्राकट्य से, पूर्व में निवृत्त हुए वसुदेवजी देवकीजी के भय को पुनः उत्पन्न करने के लिये ही माया ने रोदन किया। उस के रोदन से सब प्रसूतिगृह के रक्षक द्वारपाल जाग गये, यह श्लोक में आये "ततः" पद से कहा है। यहां "ततः" पद का "इस के अनन्तर" यह अर्थ नहीं है किन्तु "उस रोदन से" ऐसा अर्थ है अर्थात् उत्पन्न हुए बालक के रोदन से प्रसूति–गृह के रक्षक ठीक रूप से जाग गये ॥१॥

श्लोक—ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत् ।
आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते ॥२॥

अर्थ = वे द्वारपाल शीघ्र कंस के पास गये और आठवें गर्भ ने जन्म ले लिया यह कहा। कंस यही प्रतीक्षा कर रहा था कि बालक का जन्म कब होगा प्रतीक्षा में कारण यह था कि वह उससे उद्विग्न (व्याकुल और घबड़ाया हुआ) था ॥२॥

श्री सुबोधिनीजी = तेषां कृत्यमाह ते त्विति, देवक्यादिभिः प्रार्थिता अपि तत्प्रार्थनां न कृतवन्त इति ज्ञापनार्थस्तु शब्दः, तूर्णमिति मध्ये कृत्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं, दूरात् कथने निलायनादिकं संभविष्यतीति तन्निवृत्यर्थं उपव्रज्य इति उक्तम्, देवक्या गर्भस्य जन्म, न तु पुत्रः कन्यका वेतिभेदः, तदिति, सिद्धमष्टमं, अकथनेऽनिष्टं करिष्यतीति ज्ञापनार्थं भोजराजायेत्युक्तम्, यज् जन्म प्रतीक्षत एव कदा भविष्यतीति, अर्थादेतादृशाय, प्रतीक्षायां हेतुमाहोद्विग्न इति ॥२॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = " ते तु " श्लोक से द्वारपालों के कार्य को कहते हैं। उस समय उन रक्षकों को देवकी आदि ने प्रार्थना की कि तुम जाकर कंस को न कहो परन्तु उन ने उनकी प्रार्थना को न माना और कंस को कह ही दिया; यह आशय श्लोक में आये " तु शब्द " से कहा गया है अर्थात् उन द्वारपालों ने तो कह ही दिया। श्लोकस्थ "तूर्ण" पद का यह अभिप्राय है कि रक्षकों ने बीच में दूसरा कोई कार्य नहीं किया और शीघ्रता से जाकर कहा कि देवकी के गर्भ का जन्म हो गया है। रक्षकों ने विचार किया कि यदि हम दूर से ही कहेंगे तो वसुदेवजी व देवकी अपने बालक को संभव है छिपा दें, इसलिये कंस के समीप में जाकर उन्होंने कहा। रक्षकों ने कन्या या बालक का विशेष निर्देश नहीं करते हुए यही कहा कि देवकी के सन्तान हो गया। श्लोक में आया " तत् " पद प्रसिद्धार्थक है अर्थात् "प्रसिद्ध आठवें सन्तान ने जन्म ले लिया" यह बात कंस को कही। श्लोक में आये "भोजराजाय" पद का अभिप्राय यह हैं कि वह कंस भोजवंशियों का राजा है। राजा की आज्ञा का पूरा पालन नहीं होता है तो वह दण्ड देता हैं। इस लिये रक्षकों ने सोचा कि यदि हम ने राजा को सूचना नहीं दी तो कंस, राजा होने से हमें दण्ड देगा। इसी भय के कारण बालक के जन्म की सूचना कंस को, जो इस संवाद की प्रतीक्षा ही में था, दी। प्रतीक्षा का कारण यह था कि वह उस गर्भ से उद्विग्न था ॥२॥

श्लोक—स तल्पात्तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः ।
सूतीगृहमगाच्छीघ्रं प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः ॥३॥

अर्थ = द्वारपालों की बात सुनते ही शीघ्रता से कंस शय्या से उठ खड़ा हुआ और "मेरा काल पैदा हो गया" इस विचार से विह्वल हो कर लडखडाता हुवा केश बिखरे हुए ही प्रसूतिगृह की ओर शीघ्रता से गया ॥३॥

श्री सुबोधिनी = ततः कंसस्य कृत्यमाह, सोऽपि शय्यायां पतित एव स्थितः स महानपि तल्पाच्छय्यातस्तूर्णमविचारेण प्रथमतः उत्थितः, पश्चात् कालोऽयमिति विह्वलः, अतः परं जीवसंभावना नास्तीति निश्चयात्, अयं भगवानेव कालो मृत्युदः, विह्वलः सर्वावयवविकल, सूतिगृहं

प्रसूतिस्थानं, शीघ्रमिति सर्वकार्यपरित्यागे सर्वसाधनाननुसंधाने हेतुः, प्रस्खलन्निति मार्गाज्ञानं, मुक्तमूर्धज इति देहाज्ञानम् ॥३॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = अब कंस ने क्या किया सो कहते हैं कि कंस निद्रा न आने से वैसे ही शय्या पर पडा हुआ था। महान् होता हुआ भी वह बिना विचार किये ही पहिले खडा हुवा और पीछे यह मेरा काल है ऐसा समझ विह्वल हो गया। उसे निश्चय हो गया कि अब मेरे जीवित रहने की संभावना नहीं है। यह भगवान् ही मेरा काल है ऐसा समझ कर सर्वाङ्ग में विकल हो गया और प्रसूतिगृह की ओर दौडा। श्लोक में आये "शीघ्रं" पद का आशय यह है कि शीघ्रता से जाने के कारण कंस ने सब कार्यों का परित्याग किया और उसे किसी उपाय का भी अनुसन्धान नहीं रहा। लडखडाता हुआ गया ऐसा कहने से मालूम हुआ कि उसे मार्ग का ज्ञान नहीं रहा। केश बिखरे हुवे थे ऐसा कहने से मालूम हुआ कि उसे देह का भान नहीं था ॥३॥

श्री सुबोधिनी = दृष्ट्वा, लिङ्गमज्ञात्वा पुत्रबुद्ध्यैव मारणार्थं प्रवृत्तौ यशोदायाः कन्याया मारणं स्वपुत्रमारणादप्यधिक-दुःखदं जातमिति ज्ञापयितुं तस्या वाक्यमाह तमाहेति त्रिभिः।

हिन्दी व्याख्यार्थ = कंस वहां गया और यह बालक है या कन्या है इसका विशेष ज्ञान न करता हुआ पुत्र समझ कर मारने के लिये प्रवृत्त हुआ तो देवकी जी को अपने पुत्रों के मारने का जितना दुःख नहीं हुआ उतना, श्री यशोदाजी की कन्या होने से उसे मारने का दुःख हुआ इस बात को बताने के लिये देवकी के वाक्यों को तीन श्लोकों से कहते हैं:—

श्लोक—तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती।
स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

अर्थ = उस कंस से बिना विचार किये ही मांगने वाली वह देवकी देवी करुण की तरह अपने भाई से बोली कि हे भाई! यह कन्या तेरी पुत्र वधु होगी इसलिये, और स्त्री जाति की होने से तुझे इसे मारना ठीक नहीं है ॥ ४ ॥

कारिका = **त्वदीया कन्यका चेयमतो मह्यं प्रदीयताम्।**
भगिनी दानपात्रं हि हेतुकार्यफलैस्त्रिभिः ॥ १ ॥

श्री सुबोधिनी = तं कंसं भ्रातरमाह, यतो देवी सात्त्विक्यपि स्त्री, ज्ञात्वा वा दैन्यप्रदर्शनार्थं तथा कृतवतीति, असत्यमपि प्राणसंकटे परार्थं वक्तव्यमिति ज्ञापनार्थं वा, कृपणानालोचितयाचिका। 'कृपणः स तु विज्ञेयो योऽनालोचित याचक' इति वाक्यात्; करुणं यथा भवति तथा तमाहेति सम्बन्धः, सतीति कालज्ञानाद् याचनं, सर्वात्मकत्वाद् भगवतस्तथा करिष्यति, भर्तुर्दोषनिवृत्त्यर्थं वा सतीति, अन्यथा स्वपुत्रं स्थापयित्वा परकन्यामारणे दोषः स्यात्, स्नुषेति, मातुलकन्या परिणयनपक्षे पितृष्वसुरपि कन्या परिणेया यथा मित्रविन्दा, यदा कंसस्य पुत्रो देवकी कन्या मुद्वहेत् तदेयं स्नुषा भवति, अनेन तस्याः स्वकन्यात्वं सहजमित्युक्तम्, ननु पुत्र एव नास्ति कथमियं स्नुषेति चेत् तत्राह कल्याणेति, त्वं पुत्रजननसमर्थः, मदपत्यरक्षणेन तवापि पुत्रो भविष्यतीति, अथवा मास्तु स्नुषा, स्त्रियं हन्तुं मार्हसि, अन्यथाहमेव कथं न हता ? "स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोय" मिति यतस्त्वयैव निरूपितम् ॥ ४ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = देवकी पहिले श्लोक में यह कहती है कि तेरी यह कन्या है अर्थात् भविष्य में तेरे लड़के की स्त्री होने से तेरी यह कन्या के समान है इसलिये इसे तूं मुझे दे दे क्योंकि बहिन दान का पात्र है अतः उसे देना ही चाहिये। यह बात यहां तीन श्लोकों में कही है अर्थात् "तमाह भ्रातरं देवी" से तुझे पुत्रवधू रूप फल प्राप्त होगा; "पुत्रिकैका प्रदीयतां" इस दूसरे श्लोक के अंश से दान रूप कार्य का निरूपण "नन्वहं ते ह्यवरजा" से किया है। शंका होती है कि पहिले के श्लोक में फल का निरूपण है, दूसरे श्लोक में दान रूप कार्य का और तीसरे श्लोक में हेतु का निरूपण है तो कारिका में भी उसी रूप में फल, कार्य और हेतु का निर्देश होना चाहिये, फिर ऐसा क्यों नहीं किया गया ? इसका समाधान यह किया है कि लोक में देखा गया है कि पहिले कारण होता है फिर कार्य और तत्पश्चात् फल। बस इसी प्रसिद्धि को लेकर कारिका में "हेतुकार्यफलैः" ऐसा कहा है। उस प्रसिद्ध, क्रूर अपने भाई कंस को देवकी जी ने कहा। देवकी यद्यपि देवी रूप है अर्थात् देवता रूप है, देवता सात्त्विक[1] होते हैं, सत्त्वगुण से "सत्त्वात् संजायते ज्ञान" के अनुसार ज्ञान होता है इसलिये देवकी ज्ञानवती भी है परन्तु स्त्री स्वभाव वश, उसने कन्या को कंस से मांगा। शङ्का होती है कि ज्ञान जिसमें होता है उसमें वैराग्य भी होता है तो फिर देवकी जी का उस कन्या में इतना मोह क्यों है ? तो कहते हैं कि स्त्री स्वभाव होने से देवकी जी ने ऐसा किया क्योंकि "स्वभावो मूर्ध्निवर्तते" अर्थात् स्वभाव सबके ऊपर रहता है अतः स्त्री स्वभाव के अधीन होकर ऐसा किया। स्त्री में स्वभावतः अधिक मोह होता है। देवकी देवी (देवता) है इसलिये उसे सब उपायों का ज्ञान है, वह यह समझती है कि कंस अत्यन्त उग्र है इसलिये "उग्रं स्तुतिभिः" उग्र व्यक्ति को प्रशंसा से प्रसन्न करना चाहिये इस न्याय के अनुसार हीनता दिखाते हुए

[1]यहां लल्लू भट्ट जी ने कहा है कि देवता सात्त्विक होते हैं अतः उनमें स्वभावतः दया होती है। दयावश ही श्री यशोदाजी की कन्या को छुड़ाने के लिये देवकी जी ने कहा "सात्त्विक्यपि स्त्री" इसमें जो "अपि" शब्द है उसका तात्पर्य यह है कि स्त्री होने से तामस भी थी अतः देवकी ने यह मेरी अन्तिम सन्तान है ऐसा मिथ्या कहा।

इसे प्रशंसा से प्रसन्न करना चाहिये इस विचार से जानबूझ कर भी उस देवकी ने कन्या को छुड़ाने के लिये अपनी हीनता दिखाई। यहां यह शका होती है कि देवकी देवी होने से देवता थी उसे तो मिथ्या नहीं बोलना चाहिये था क्योंकि "सत्यं देवेषु" देवताओं में सत्य की स्थिति है ऐसा कहा है। ऐसी दशा में देवकी ने "यह मेरी अन्तिम सन्तान है" यह मिथ्या कैसे कहा तो कहते हैं कि किसी के प्राणों पर संकट हो तो परार्थ मिथ्या बोलना निन्दित नहीं है। इस लिये देवकी जी ने मिथ्या कहा सो ठीक किया। श्लोक में आये "कृपणा" पद का अर्थ बिना विचारे मांगने वाली है, जैसा कि कहा है "कृपणः स तु विज्ञेयो योऽनालोचित याचकः" कृपण वह होता है जो यह नहीं समझता कि किस से याचना करनी चाहिये और किससे नहीं। देवकी ने कस के स्वरूप को न समझ याचना को इसलिये वह कृपणा हुई। इस प्रकार कंस के स्वरूप को न जानने वाली वह देवकी करुण हो जैसे कस से बोली। देवकी सती थी इस लिये उसे यह ज्ञान था कि मैं क्षत्रिया हूँ, क्षत्रिय को याचना नहीं करनी चाहिये तो भी यह याचना का समय है इस लिये मुझे याचना करनी ही चाहिये; यदि मेरी याचना पर भगवान् के सर्वात्मक होने से कदाचित् भगवान् कंस को कन्या देने के लिये प्रेरित करदे तो कंस का अनिष्ट कभी भी नहीं होगा अथवा सती पद का यह भी अभिप्राय है कि देवकी सत् स्त्री है। जैसे सत्पुरुष अनिष्ट करने वाले का भी हित चाहते हैं वैसे ही देवकी सत्स्त्री होने से सोचती है कि यदि कंस को भगवान् कन्या देने के लिये प्रेरित कर दें तो कंस का भी अनिष्ट न हो। यहां "सती" पद का यह भी अभिप्राय है कि सती स्त्री पति का इष्ट ही चिन्तन करती है इस लिये उस ने विचार किया कि यदि मैं कंस से कन्या को छुडाने का आग्रह नहीं करूगी तो लोग मेरे पति वसुदेवजी को यह दोष लगायेंगे कि वसुदेवजी कैसे व्यक्ति हैं जो अपने पुत्र को तो रख आये और मारने के लिये दूसरे को कन्या को ले आये। देवकी ने आग्रह पूर्वक जब कन्या को छुडाने का प्रयत्न किया तो वसुदेवजी को उक्त दोष नहीं लगा क्योंकि ऐसी स्थिति में विवशता मालूम पडी। यहां "स्नुषा" पद का तात्पर्य यह है कि मामा की लडकी के साथ जैसे विवाह करने का पक्ष है वैसे ही भूआ की लड़की के साथ। जैसे भगवान् ने मित्रविन्दा के साथ विवाह किया परन्तु यह सब कुछ तब ही हो सकता है जब कस का पुत्र देवकी की कन्या के साथ विवाह करे। कंस के पुत्र नहीं है तो ऐसा सम्बन्ध न बनने से देवकी की कन्या कंसकी स्नुषा (पुत्रवधू) कैसे होगी तो देवकी कहती है कि हे भाई! तू कल्याण रूप है अतः पुत्र पैदा करने में समर्थ है क्योंकि कल्याण रूप होने से तेरे पुत्र अवश्य होगा और एक बात यह भी है कि मेरी सन्तान की यदि तू रक्षा करेगा तो तेरे भी पुत्र अवश्य होगा। यदि तूं समझे कि यह मेरी पुत्रवधू नहीं होगी तब भी यह स्त्री जाति की होने से मारने योग्य नहीं है। ऐसा तुझे विचार है भी; यदि ऐसा विचार न होता तो मुझे ही तूं ने क्यों न मार दिया। तूं ने स्वयं कहा है कि "स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयम्" अर्थात् प्रथम स्त्री जाति को ही मारना उचित नहीं है आदि ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी = अष्टमो मारणीय इति चेत्तत्राह

अर्थ = यदि तूं कहे कि आठवां बालक मुझे मारना है तो देवकी कहती है कि—

श्लोक—बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः।
त्वया दैवविसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम् ॥५॥

अर्थ = हे भाई। मेरे अग्नि के समान बहुत पुत्रों को तूं ने भगवदिच्छा से प्रेरित हो कर मार दिया परन्तु यह एक कन्या जिस के कोई भाई नहीं, शेष रही है इसे मुझे दे अर्थात् इसे न मार ॥ ५ ॥

श्रीसुबोधिनी = बहवो हिंसिता भ्रातरिति, स्त्रिया मारकत्वं शास्त्रे न सिद्धं, पुत्रास्तु हता एव, यद्यप्येक एव मारणीयस्तत्स्थाने बहवो हताः, भ्रातरिति संबोधनं दयार्थं, आकृत्या पराक्रमोऽपि तेषु संभाव्यते इति तदर्थमाह पावकोपमा इति, स्नेहे त्यक्ष्यतीति तस्य दोषाभावमाह त्वया दैवनिसृष्टेन इति, "अनुरक्तो गुणान् ब्रूते" इति वाक्यात्, दैवेन भगवदिच्छया प्रेरितेन भवता पुत्रा हताः, एषा तु अवध्येति दैवेन न प्रेर्यत इति भावः, एकेयं पुत्रिकाभ्रातृमतीतीमामप्यन्ततो गत्वा पुत्रिकाधर्मेण दत्वा ससन्ताना भविष्यामीति ज्ञापयत्येकेति, यद्यपरोत्पत्स्यते, तदा मारणीयेति ज्ञापितं, प्रकर्षेण दीयतामिति कालान्तरेप्यमारणीया ॥ ५ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = देवकी कहती है कि हे भाई। तूं ने मेरे बहुत लड़के मारदिये, यह सन्तान स्त्री जाति है, स्त्री, पुरुष को मार सकती है ऐसा शास्त्र में नहीं बताया है अथवा शास्त्र में स्त्री को मारना नहीं कहा है, पुत्रों को तो तूँ ने मार ही दिया। एक आठवें पुत्र को मारना चाहिये था उस जगह बहुत लड़के मार दिये। देवकी ने हे भाई। ऐसा इस लिये कहा है कि मैं तेरी बहिन हूँ इस लिये मेरे पर दया करनी चाहिये। जिन सन्तानों को तूं ने मारा था वे साधारण नहीं थे किन्तु आकृति से संभावना थी कि वे पराक्रमी भी होते इस आशय से कहा कि "पावकोपमाः" वे पुत्र अग्नि के समान थे। देवकी ने विचार किया कि स्नेह दिखाने पर इस कन्या को छोड़ देगा इस लिये कंस को निर्दोष बताती हुई कहती है कि "त्वया दैवनिसृष्टेन"। शास्त्र में कहा है कि "अनुरक्तो गुणान् ब्रूते" जो अनुरागवाला होता है वह सामने वाले व्यक्ति के गुण ही कहता है। इस के अनुसार प्रेम दिखाने के लिये देवकी ने कहा कि तूँ ने अपनी इच्छा से मेरी सन्तान को नहीं मारा है किन्तु भगवदिच्छा से प्रेरित हो कर मारा है परन्तु यह कन्या तो मारने योग्य नहीं है इस लिये भगवान् की इच्छा भी तुझे मारने के लिये प्रेरित नहीं कर रही है। मेरी एक ही यह कन्या है। "पुत्रिकैका" पद से यह सूचित किया कि इस के कोई भाई नहीं है इस लिये इस का विवाह इस प्रतिज्ञा पर करूंगी कि जो इस का लड़का होगा वह मेरा होगा, ऐसा करने से मैं भी सन्तानवाली हो जाऊँगी, यदि मेरी दूसरी सन्तान हो जावेगी तो तूं इसे मार

देना । वास्तव में "प्रदीयताम्" पद से देवकी का यह कहना है कि मुझे सदा के लिये यह लड़की दे दे अर्थात् यह लड़की सदा के लिये मारने योग्य नहीं हैं ।। ५ ।।

श्रीसुबोधिनी = अवश्यदाने हेतुमाह ।

अर्थ = तुझे इसे अवश्य देना चाहिये इसमें कारण बताती है कि—

श्लोक—नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो ।
दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम् ।।६।।

अर्थ = हे प्यारे समर्थ भाई । युक्ति के साथ कहती हूँ कि मैं तेरी छोटी बहिन हूँ, मेरे लड़के मर गये हैं इस लिये दुःखित हूँ अतः इस अन्तिम सन्तान को दे दें ।। ६ ।।

श्रीसुबोधिनी = नन्वहमिति, अवश्यं दानमेव फलं नन्विति संबोधनं युक्तिग्रहणार्थं अहं ते ह्यवरजा इति, अवरजत्व उभयानुभवः प्रमाणं, अवरजा दयापात्रं, दीना दुःखिता शोकादिना, तत्र हेतुर्हतसुतेति, प्रभो इति संबोधनं दानसामर्थ्यद्योतनार्थं, अत एव दातुमर्हसि, मन्दाया इत्यतः परं रजोऽभावः सूचितः, अतश्चरमां प्रजामिमामिति, अन्या कन्यात्वेन न देयेयमेव देया इति ।। ६ ।।

हिन्दी व्याख्यार्थ = इसे दे देने पर तुझे अवश्य दानरूप फल होगा । यहां "ननु" यह सम्बोधनार्थक है । इस से देवकी यह बता रही है कि तू मेरी युक्ति को समझ । "ननु" पद वहां आता है जहां युक्ति दिखानी होती है इसलिये यहां "ननु" सम्बोधनार्थक होता हुआ भी युक्ति को सूचित करता है । निश्चय ही मै तेरी छोटी बहिन हूँ, इस में तेरा और मेरा अनुभव ही प्रमाण है अर्थात् तू और मैं यह जानते हैं कि तू बड़ा भाई हैं और मैं छोटी बहिन हूँ । छोटी बहिन होती है वह दया योग्य होती है, मैं शोक आदि से दुःखित हूं, कारण यह है कि मेरे पुत्र मार दिये गये हैं, तू प्रभु (समर्थ) होने से दान देने में समर्थ है, अतःएव तू देने योग्य है । "मन्दायाः" पद से सूचित किया कि मैं मन्दभाग्या हूं इसलिये अब मैं रजस्वला भी नहीं हूं जिससे सन्तान की संभावना हो । अतः इस अन्तिम सन्तान को तू मुझे दे, दूसरी कन्या न दे कर यही कन्या दे ।। ६ ।

श्रीसुबोधनी = तथापि न त्यक्तवानित्याह ।

अर्थ = इतना कहने पर भी कंस ने कन्या को नहीं छोड़ा इस बात को अब कहते हैं ।

श्लोक—उपगूह्यात्मजामेवं रुदन्त्या दीनदीनवत् ।
याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खलः ।।७।।

अर्थ = इस प्रकार लड़की को छिपा कर अत्यन्त दीन की तरह विलाप करती हुई देवकी को झिडक कर कंस ने उस के हाथ से कन्या को छीन लिया, झिडका इस लिये कि उस ने याचना की थी ।। ७ ।।

श्रीसुबोधिनी = उपगूह्येति । एवमात्मजामुपगूह्य विलापनपूर्वकं रुदन्त्या हस्तात् तां बालामाचिच्छिदे देवकीं निर्भर्त्स्य, विनिर्भर्त्सने हेतुस्तां याचितः सन्, आत्मजामिति, आत्मनो भगवतः सकाशाज्जातां, "व्यवहारे शब्दाः परमार्था एव" इति न्यायाद्, देहादावत्मशब्दवदात्मजशब्दोऽपि पुत्रत्वेन परिग्रहमात्रत्वेऽपि वक्तुं शक्यते, दीनादपि दीना यथा दैवहता पुत्रभर्त्रादिरहिता व्याधिग्रस्तापि भवति सा दीनदीना तथेयं स्वपुत्रनाशं दृष्टवती परापत्यनाशमपि यक्ष्यतीति, हस्तादिति, एकेन हस्तेन तस्या एकं हस्तं धृत्वा द्वितीयेन तस्या द्वितीयहस्तादाचिच्छिदे, एवङ्करणे हेतुः खल इति ।। ७ ।।

हिन्दी व्याख्यार्थ = इस प्रकार लड़की को छिपा कर विलाप करती हुई देवकी को झिडक कर कंस ने उस के हाथ से कन्या को छीन लिया । झिडका इस लिये कि उस ने मांगा था । श्लोक में आये "आत्मजां" पद का अर्थ अपने से पैदा हुई लड़की है परन्तु यहां शंका होती है कि देवकी यह नहीं समझती थी कि यह मेरी लड़की है और श्री शुकदेवजी सर्वज्ञ थे इस लिये वे भी इसे देवकी को कन्या नहीं समझते थे तो फिर श्लोक में "आत्मजां" यह कैसे कहा । इस आशङ्का की निवृत्ति के लिये आत्मजा शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान् से उत्पन्न हुई इस कन्या को ऐसा यहां "आत्मजां" पद का अर्थ है अर्थात् आत्मन् शब्द से यहां भगवान् अर्थ समझा जाता है जैसा कि कहा है "व्यवहारे शब्दाः परमार्था एव" व्यवहार में आने वाले शब्द अपने मुख्य अर्थ का परित्याग नहीं करते । "आत्मा" शब्द का मुख्य अर्थ भगवान् है इस लिये यहां आत्मजा शब्द का अर्थ "भगवान् से उत्पन्न हुई कन्या" है । यहां कहते हैं कि श्रीशुकाचार्य का ऐसा अर्थ करने में कोई प्रयोजन नहीं था इस लिये ऐसा अर्थ मानना ठीक नहीं है तो दूसरे पक्ष को ले कर कहते हैं कि जैसे देह इन्द्रिय आदि में आत्मा शब्द का प्रयोग लोग करते हैं ऐसे ही पुत्र मान लेने पर तथा दत्तक लेने पर आत्मजत्व न होने पर भी आत्मज शब्द का प्रयोग होता है, वैसे ही यहां आत्मजा शब्द का प्रयोग हुआ है । श्लोक में आये "एव" पद से यह सूचित किया कि देवकी ने इस प्रकार के वाक्य अनेक बार कहे । रोदन इस लिये किया कि यह यशोदाजी की कन्या मेरे कारण मारी जा रही है । कंस को कहने के समय देवकी दीनातिदीन थी । जैसे कोई भाग्यहीन होने से पुत्रादि मर जाय तो दीन होती है और वही रोगग्रस्त हो जाने पर अतिदीन बनजाती है इसी प्रकार अपने पुत्रों के मर जाने से देवकी दीन तो थी ही उस पर भी जब दूसरे की सन्तान को मारता देखा तो वह अत्यन्त दीन हो गई । कंस ने एक हाथ से देवकी के एक हाथ को पकड़ा

और दूसरे हाथ से कन्या को देवकी के हाथ से छीना। कंस ने ऐसा क्यों किया तो कहते हैं कि वह दुर्जन था। खल को बुरे कार्य का कोई खयाल नहीं होता ॥ ७ ॥

श्रीसुबोधनी = गृहीत्वा यत्कृतवांस्तदाह ।

अर्थ = कंस ने कन्या को छीन कर जो कुछ किया सो कहते हैं ।

श्लोक—तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम् ।
अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः ॥ ८॥

अर्थ = नाल आदि से युक्त अर्थात् नवजात अपनी भानजी के पैर पकड़ कर कंस ने उसे शिला पर पटक दिया क्योंकि उस ने स्वार्थ वश सौहार्द का बिलकुल परित्याग कर दिया था ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी = तां गृहीत्वेति, चरणयोरिति, मारणार्थमेव, विपरीततया ग्रहणमात्रेणैव तस्या नाशः सूचितः, जातमात्रामिति, नालादिसहितां, अतिकोमलत्वप्रदर्शनेन तस्य "खल" त्वं समर्थितं, स्वसुः सुतामिति सर्वथा विरुद्धकर्तृत्वमुक्तं, अपोथयत् प्रक्षाल्यमानवस्त्रमिव प्रक्षिप्तवान्, शिलाऽङ्गनस्था यथा स्नानार्था भवति, ननु सौहार्द मुभयविषयकं कथं त्यक्तवानित्याह स्वार्थोन्मूलित सौहृद इति, स्वार्थमुन्मूलितं सौहृदं येन ॥ ८ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = कंस ने कन्या के पैर पकड़े। मारने के लिये ही उसने पैरों की तरफ से पकड़ा। कंस के इस रूप में पकड़ने से स्पष्ट सूचित हुआ कि मारने के लिये ही उसे पकड़ा है। उस के नाल आदि भी नहीं काटे गये थे इस से उस लड़की की अत्यन्त कोमलता बताई गई। अत्यन्त कोमल बालिका के मारने से यह सिद्ध होता है कि कंस कितना दुष्ट था। कन्या भी बहिन की थी इस से उसे मारना सर्वथा अनुचित था। इस से स्पष्ट हुआ कि कंस कितना बुरा कार्य करने वाला था। धोने के कपड़े को जैसे पत्थर पर पछाटा जाता है वैसे ही कन्या को शिला पर पछाटा। आंगन में रखी हुई शिला स्नान के लिये होती है, उस पर पछाटा। यदि कहें कि कंस बहिन एवं कन्या में सौहार्दयुक्त था तो फिर ऐसा अयुक्त काम कैसे किया तो कहते हैं कि स्वार्थवश उसने सौहार्द को बिलकुल तिलाञ्जलि दे दी था॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी = ततो यज्जातं तदाह ।

अर्थ = तत्पश्चात् जो हुआ सो कहते हैं ।

श्लोक—सा तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता ।
अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा ॥ ९॥

अर्थ = वह कन्या उस कंस के हाथ उछल कर सद्यः देवतारूप बन गई और आकाश में स्थित हो गई। ऐसी बात वह कन्या इस लिये कर सकी कि व्यापक श्रीकृष्ण की छोटी बहिन थी। अत एव आयुध धारण किये हुए आठ भुजाओं सहित आकाश में स्थित हुई, कंस आदि को दिखी ॥ ९ ॥

श्रीसुबोधिनी = सा तद्धस्तादिति, यदैव पाषाणं प्रति प्रक्षिप्तवांस्तदैव हस्तात् सम्यगुत्पच्योत्पतनं कृत्वा सद्य एक सा देवतारूपा जाता, ततोऽम्बरं गता, आकाशे श्येनवत् स्थितां कंसादिभिः सर्वैरेव तथादृश्यत, तस्यास्तथात्वे सामर्थ्यं[1] विष्णोरनुजेति, यशोदा देवकी परस्परविचारेणैकैव, पश्चाच्च जाता, यदि वा भगवान् यशोदासुतो यदि वा देवक्या उभयथापि सानुजा लोकप्रसिद्धेः, विष्णोरनुजात्वेन तथा सामर्थ्यं ज्ञापितं, द्विगुणंरूपमाह सायुधाष्टमहाभुजेति, भगवत्कार्यं स्वकार्यं च करिष्यतीत्यष्टभुजत्वं, भगवत्कार्यं देवक्यादीनां बन्धनिवृत्तिः, स्वकार्यं सर्वेषां दुःखदानं धर्मनाशश्च, भगवत्कृतिसिद्धयर्थ-मायुधसहिता अष्टौ महाभुजा यस्याः, यथा भगवानाविर्भावे विपरीतं रूपं प्रदर्शितवानेवमियमपि ॥ ९ ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = ज्यों ही कन्या को शिला पर पछाटा त्यों ही हाथ से छूट कर शीघ्र ही देवतारूप बन गई और बाद में आकाश में चली गई। उस समय आकाश में बाज की तरह स्थित हुई। उस कन्या को कंस आदि सभी ने देखा। उस में देवता रूप होकर आकाश में स्थित होने का सामर्थ्य इस लिये है कि वह व्यापक परब्रह्म की छोटी बहिन है। शंका होती है कि माया देवकीजी से उत्पन्न नहीं हुई तो वह भगवान् की अनुजा (छोटी बहिन) कैसे हो सकती है। यदि कहें कि भगवान् के प्राकट्य के अनन्तर माया ने जन्म लिया है इस लिये वह यौगिक अर्थ को लेकर अनुजा कहला सकती है तो कहते हैं कि भगवान् के पीछे जहां कहीं उत्पन्न होने वाले सभी बालक भगवान् के अनुज कहलायगे, इस लिये यहां यह शङ्का रह जाता है कि भगवान् एवं माया के माता पिता एक न होने से माया अनुजा (छोटी बहिन) कैसे कहला सकती है। इस पर (श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज) आज्ञा करते हैं कि कृष्णोपनिषद् में कहा कि नन्द परमानंद रूप है, श्रीयशोदा मुक्तिरूपा है देवकी ब्रह्मविद्या एवं वसुदेव वेदरूप है। लोक में स्पष्ट है कि जानने योग्य वस्तु ज्ञानप्राप्ति में कारण होती है। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञेय होता है तब ही उस का ज्ञान किया जाता है। कुछ न कुछ अर्थ होता है तब ही शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा जब विचार है तो मुक्तिरूपा श्री यशोदा देवकी रूपा ब्रह्मविद्या से प्राप्त होती है। इस लिये श्री यशोदा आधिदैविक है और देवकी आध्यात्मिक है। विचार किया जाय तो यह स्पष्ट

[1] जहां भगवान् कृष्ण के अभिप्राय से विष्णु शब्द आवे वहां व्यापक अर्थ करना

योगमाया

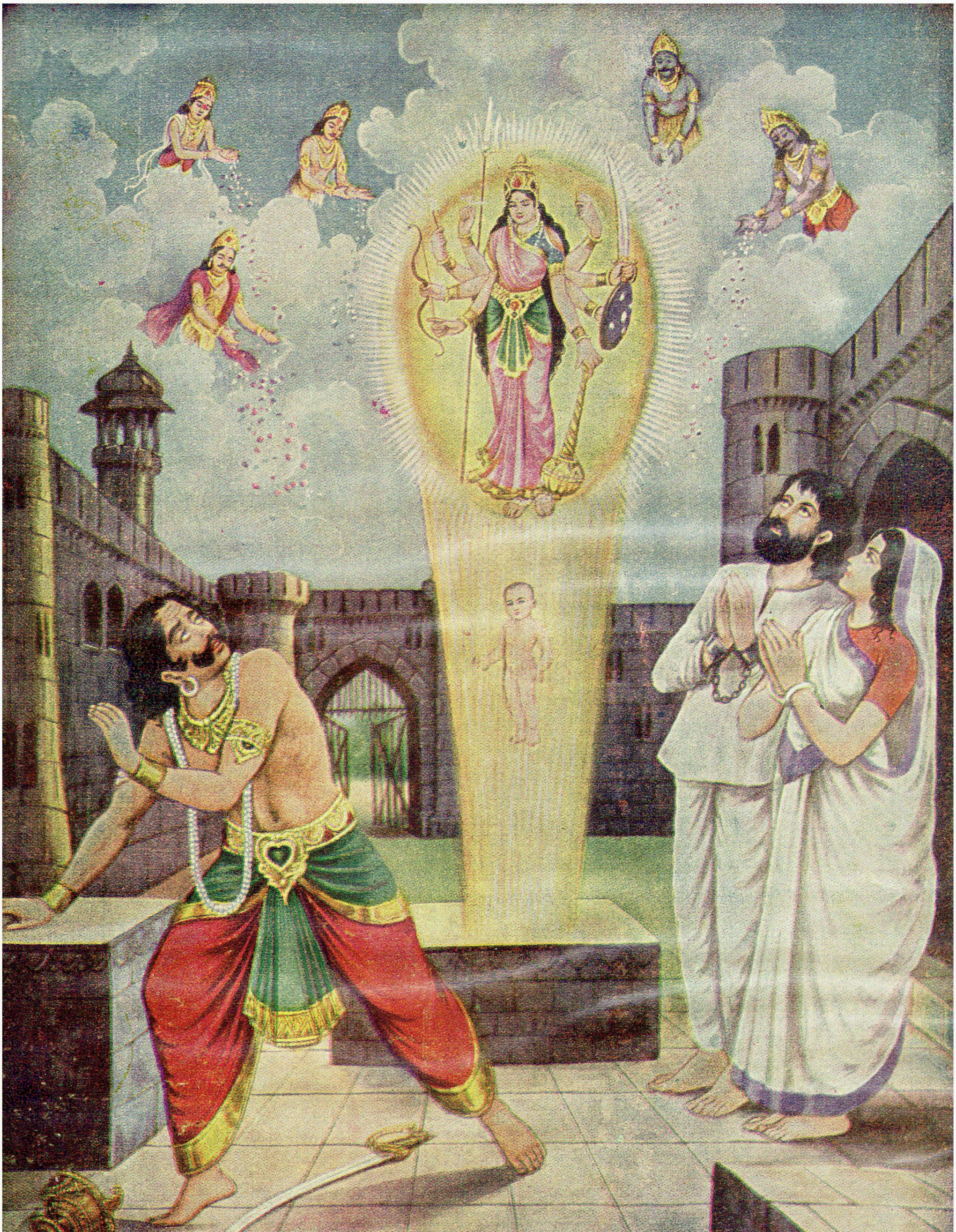

गीताप्रेस, गोरखपुर

वह अपने बड़े-बड़े आठ हाथोंमें आयुध लिये दीख पड़ीं ।

है कि आध्यात्मिक और आधिदैविक एक ही है। इस लिये श्रीयशोदा और देवकी एक ही है। माया, भगवान् के पीछे हुई है अतः भगवान् देवकी के यहां अथवा श्री यशोदाजी के यहां प्रकट हुए हों और माया भी इन दोनों में किसी के यहां प्रकट हुई हो तब भी वह श्रीकृष्ण की अनुजा कहला सकती है। 卐 यहां यह प्रश्न हो सकता है कि भगवान् एवं माया यदि यशोदाजी के यहां ही प्रकट हुए हैं तो माया भगवान् के पीछे हुई। साथ में होने वालों में जो पीछे होता है वह बड़ा समझा जाता है इस लिये नियम से माया ही ज्येष्ठा कहलायेगी, वह छोटी बहिन कैसे कहलाई? इसका उत्तर देते हैं कि "पश्चाज्जाता" यह पीछे हुई इस लिये "अनु पश्चात् जाता अनुजा" ऐसा योगिक अर्थ मान कर अनुजा शब्द का प्रयोग यहां होता है। भगवान् श्री यशोदाजी अथवा देवकीजी के पुत्र हो माया छोटी बहिन है ऐसी लोक में प्रसिद्धि है।" "श्रुतिप्रत्यक्षमैतिह्यम्" इस वाक्य के अनुसार ऐतिह्यरूप जो लोक प्रसिद्धि है उसे भी प्रमाण माना है। अतः लोक प्रसिद्धि के अनुसार माया छोटी बहिन कहला सकती है। व्यापक भगवान् की छोटी बहिन होने से उस का आकाश में उस रूप में स्थित होने का सामर्थ्य है। माया के भगवान् से द्विगुण हाथ थे जिन में वह आयुध धारण किये हुए थी। माया भगवान् का और अपना कार्य करने आई है इस लिये भगवान् की भुजाओं से उस की द्विगुण अर्थात् आठ भुजाएँ हैं। अपने वाक्यों द्वारा देवकी एवं वसुदेवजी को बन्धन से छुड़ाया इसलिये माया ने यह भगवान्[१] का कार्य किया और कंस को कह कर सब को दुःख दिलाया तथा धर्म का नाश कराया, यह कार्य उस ने अपना किया। इस प्रकार वह दोनों का कार्य करने आई। भगवान् के कार्य को भी करने आई इस लिये आयुध सहित आठ भुजावाली बताई गई। जैसे भगवान् ने अपने प्राकट्य के समय सायुध चतुर्भुजरूप दिखाया वैसे ही इस ने भी सायुध अष्टभुज स्वरूप दिखाया ॥ ९ ॥

श्रीसुबोधिनी = आविर्भावादिदानीं रूपान्तरं गृहीतवती इति तस्याः सामग्रीमाह।

卐 **टिप्पणी** = यहां लेखकार का यह आशय है कि श्रीवसुदेवजी एवं नन्दरायजी धर्म के भाई थे अतः इन दोनों भाईयों के होने वाली सन्तान भाई बहिन हो सकती है, जैसे नन्दरायजी एवं वसुदेवजी धर्म के भाई होने से एक समझे जाते हैं वैसे हो उनकी दोनों पत्नियां भी एक ही समझी जायगी, अतः एव अलग २ माता से उत्पन्न हुए सभी पाण्डव परीक्षित् के पितामह कहलाये क्योंकि पाण्डु के एक होने से कुन्ती एवं माद्री एक ही समझी गई।

[१] **टिप्पणी** = यहां श्री बल्लभजी महाराज कहते हैं कि निबन्ध की रीति से यह माया "अनिरुद्ध" का कार्य करने आई है।

अर्थ = माया ने प्रकट होने के बाद इस समय दूसरा रूप धारण करलिया। इस लिये उस की सामग्री का वर्णन करते हैं।

श्लोक—दिव्यस्रगंबरालेप-रत्नाभरणभूषिता।
धनुःशूलेषुचर्मासि-शंखचक्रगदाधरा ॥ १० ॥

अर्थ = वह देवी दिव्य माला दिव्य वस्त्र दिव्य चन्दन एवं रत्नजडित आभरणों से विभूषित तथा धनुष, त्रिशूल, बाण, ढाल, तलवार, शङ्ख, चक्र, गदायुक्त हाथों वाली दिखी ॥ १० ॥

श्रीसुबोधिनी = दिव्येति, दिव्याः स्रजो मालाः, अम्बराणि वस्त्राणि दिव्यान्येव, आलेपश्चन्दनादिः, रत्नयुक्तान्याभरणानि च, एवमलङ्करणचतुष्टयसहिता, दर्शनकृतोयं क्रमः, प्रथमतो गन्धाददृष्टाया अपि स्रजः प्रतीतिः, ततो वस्त्राणां, ततश्चन्दनाभरणानामिति, आयुधानि गणयति धनुरिति, धनुर्वामभागहस्ते शूलमिषुश्च दक्षिणयोः, चर्म वामे, असिर्दक्षिणे, शंखो वामे, चक्रं दक्षिणे, गदा वामे, इति गदान्तानि विभर्तीति गदाधरः ॥ १० ॥

हिन्दी व्याख्यार्थ = दिव्य मालाएँ, दिव्य वस्त्र, दिव्य चन्दन और रत्नजटित आभूषण-इस प्रकार चार प्रकार की सामग्री से वह देवी विभूषित है। यहां माला आदि का जो क्रम कहा गया है वह दर्शन के क्रम से है अर्थात् जो वस्तु पहिले दिखी अथवा जानी गई उस का पहिले निर्देश किया गया है और जो पीछे दिखी उस का पीछे। गन्ध की वजह से पहिले नहीं देखी गई, माला की प्रतीति (ज्ञान) हुई इस लिये पहिले माला का उल्लेख किया फिर वस्त्र तदनन्तर चन्दन और तत्पश्चात् आभूषण। इस लिये इसी क्रम से श्लोक में निर्देश किया गया है। अब माया के हाथों में धारण किये गये आयुधों की गणना की जाती है। माया के वामभाग के एक हस्त में धनुष है। दक्षिण भाग के दो हाथों में से एक हाथ में त्रिशूल है और दूसरे हाथ में बाण है। एक वाम हस्त में ढाल और एक दक्षिण हस्त में तलवार, अन्य वाम हस्त में शंख एवं एक दक्षिण हस्त में चक्र और शेष रहे वाम हस्त में गदा – इस प्रकार वह माया अपनी आठों भुजाओं में गदा पर्यन्त आठों आयुधों को धारण किये हुए थी ॥ १० ॥

श्रीसुबोधिनी = तस्याः स्वरूपं भगवत इव सर्वजनीनमिति ज्ञापयितुमाह।

अर्थ = उसका स्वरूप भगवान् की तरह सर्वजनवेद्य हुआ, इसको बताने के लिये कहते हैं कि:-

श्लोक—सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरः किन्नरोरगैः।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

अर्थ = जिस की सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर और नागगणों ने बहुत सामग्री अर्पित कर स्तुति की वह देवी कंस से इस प्रकार बोली:—

श्रीसुबोधिनी = सिद्धचारणेति, सिद्धचारणगन्धर्वास्त्रिगुणाः, अन्ये च, अप्सरैरिति "बहुलं छन्दसी" त्यनेन, ऐकपद्यं तु सुगमं, अस्याः षड्गुणोपजीवका एते, कंसदर्शन एव, उपाहृता उरुबलयः पूजासाधनानि यैः, बलिशब्दो जयजयादिशब्दानां अपि उपलक्षकः, अतस्तैः स्तूयमाना कंसवधं कर्तुं शक्ताऽहमिति ज्ञापयन्तीदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ।। ११ ।।

हिन्दी व्याख्यार्थ = श्लोक में कहे गये सिद्ध चारण और गन्धर्व त्रिगुणात्मक हैं अर्थात् सात्त्विक, राजस, तामस हैं, और भी कहे गये इसी प्रकार के हैं। श्लोक में "अप्सरैः" ऐसा पाठ मानते हैं तो व्याकरण से वह नहीं बन सकता इस लिये छान्दस मान कर "बहुलं छन्दसि" से उस को सिद्धि होगी। यदि अप्सरः से ले कर आधा चरण पूरा ही समस्त मान लेते हैं तो "अप्सरस्" शब्द रहने पर भी कोई गडबडी नहीं होती। "सिद्ध" से ले कर "सर्प" तक प्रत्येक इस देवी के ऐश्वर्यादि छः गुणों में से एक एक गुण से निर्वाह करने वाले हैं। कंस के देखते २ ही सिद्ध आदि ने उस देवी को बहुत पूजा सामग्री भेट की। श्लोक में आया "बलि" शब्द जय जय आदि शब्दों का भी उपलक्षक है अर्थात् बलि शब्द से जय जय आदि शब्द भी लिये गये हैं। इस प्रकार सिद्ध आदि से जिस की स्तुति की ऐसी वह देवी "मैं कंस को मारने में समर्थ हूँ" ऐसा बताती हुई आगे कही जाने वाली बात बोली ।। ११ ।।

श्रीसुबोधिनी = द्वयमत्र वक्तव्यं कथं न हन्यते कथं वा रक्षार्थं न स्थीयत इत्युभयसमाधानं तदाहः—

अर्थ = दो बात यहां कहनी है कि तू ही कंस को क्यों नहीं मार देता और देवकी आदि की रक्षा के लिये क्यों नहीं रहती तो देवी कहती है कि:—

। देव्युवाच ।

श्लोक—किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् ।
यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथा ।। १२ ।।

अर्थ = देवी कहती है कि हे मूर्ख, मेरे मारने से तुझे क्या लाभ है, तेरा मारने वाला, जो तेरा पूर्वजन्म का शत्रु है वह जहां कहीं पैदा हो गया है अतः इस दीन देवकी को व्यर्थ न मार ।। १२ ।।

श्री सुबोधिनी = किं मयेति, मया हतया किम् ? ग्रहं तु हननेप्यपकारं न करोमि, किं पुनरहता ? ग्रत एतद्वृत्तान्ताज्ञानात् त्वं मन्दः, ग्रवश्रे हेतुर्जातः खलु तवान्तकृदिति, यस्तु तवान्तं नाशं करिष्यति स तु जात एव क्वचित्, यत्र क्वचिदितिविशेषाकथनं देवगुह्यं, ननु शत्रुत्वाविशेषेऽपि सामर्थ्ये विद्यमानेऽपि यद् भगवतैव हन्यते न त्वयेति को विशेष इति चेत् तत्राह पूर्वशत्रुरिति, मम त्विदानीं भवाञ्छत्रुः, तदप्यन्यबुद्धया, भगवांस्तु भवतः पूर्वशत्रुरतस्तेनैव हन्तव्यः, ग्राकाशवाण्यापि तथैवोक्तं, ग्रतः कृपणां देवकीं मा हिंसीः, तस्या वधे न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येत्, ग्रतो वृथैव मा हिंसीः ।। १२ ।।

हिन्दी व्याख्यार्थ = मेरे मारने से तुझे क्या लाभ है ? तूं यदि मुझे मार भी देता तो भो मैं तेरा ग्रनिष्ट नहीं करती तो फिर बिना मारे कैसे ग्रनिष्ट कर सकती हूँ । तूं इस गुप्त वृत्तान्त को नहीं जानता इस लिये मूर्ख है । मैं तुझे इसलिये नहीं मारती कि तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया है । जहां कहीं पैदा हो गया ऐसा सामान्य रूप से देवी ने कहा । विशेष स्थान का निर्देश नहीं किया । इसका कारण यह है कि छिपा कर कहने से देवता प्रसन्न होते हैं । यदि तूं यह कहे कि मैं जैसा भगवान् का शत्रु हूं वैसा तेरा भी शत्रु हूँ ग्रौर तुझ में मुझे मारने का सामर्थ्य भी है तो भगवान् मुझे मारेंगे, तूं नहीं मारती, इसमें क्या कारण है । देवी कहती है कि भगवान् तेरा पूर्वजन्म का शत्रु है । मेरा तो तूं इस समय शत्रु बना है ग्रौर वह भी देवकी के ग्रष्टम बालक की बुद्धि से ग्रतः तुझे भगवान् ही मारेंगे, ग्राकाशवाणी ने भी यही बात कही है । ग्रतः इस दीन देवकी को न मार । इसके मारने से तुझे कोई फल मिलने वाला नहीं है ।। १२ ।।

श्री सुबोधीनी = एवमुक्त्वा गतेत्याह:—

ग्रर्थ = इस प्रकार कह कर देवी चली गई, यह कहते हैं ।

। श्री शुक उवाच ।

श्लोक—इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि ।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह ।। १३ ।।

ग्रर्थ = श्री शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार स्पष्टतया ग्रनेक बातें कह कर वह माया भगवती देवी पृथिवी के ग्रनेक स्थानों में स्थित होती हुई बहुत नामवाली हुई ।। १३ ।।

श्रीसुबोधीनी = इतीति, प्रकर्षेण भाषित्वा स्पष्टतया निरूप्य, ग्रनेन संवादान्तरमपि कंसेन सह कृतवतीति लक्ष्यते, ग्रन्यथा ब्राह्मणैः सह विरोधं न कुर्यात्, तेन सह संवादेनैव कार्यं सर्वं सिद्धमिति ज्ञातवतीत्यत्र हेतुमाह देवीति, यद्यन्याप्यागत्य स्पष्टमन्यथा वदेत् तथापि तया मोहितः कंसो

नान्यदङ्गीकुर्यादित्यत्र हेतुमाह भगवतीति, सा हि भगवद्भावप्राकट्यं कृत्वा लोके पूजां प्राप्स्यतीति भगवद्वाक्यानुसारेण बहुनामनिकेतेषु भूमौ यावन्ति स्थानानि यन्नामानि तत्र सर्वत्रैव स्थिता बहूनि रूपाणि कृत्वा बहुनामा बभूव, दुर्गादिमूर्तिषु रूपभेदस्य स्पष्टत्वाद्, देवकीवसुदेवयोर्निर्बन्धो व्यर्थः ।। १३ ।।

हिन्दी व्याख्यार्थ = देवी ने इस प्रकार स्पष्ट कहा। यहां "प्रभाष्य" पद में जो "प्र" उपसर्ग है उस से सूचित किया कि इस के अतिरिक्त भी देवी ने कुछ कहा। यदि पूर्वोक्त बात ही कहती तो उसके वाक्यों में ब्राह्मण आदि का निर्देश न होने से ब्राह्मणों के साथ वह द्वेष नहीं करता परन्तु देवी ने ब्राह्मण आदि के विषय में भी कुछ कहा इसलिये ब्राह्मणों से भी उसने द्वेष करना आरंभ किया। कंस के साथ बात चीत करने से ही सब कार्य सिद्ध हो गया। यह बात देवता होने से देवी ने समझली। इसी आशय से श्लोक में "देवी" पद दिया है। उस देवी में भगवान् के ऐश्वर्यादि धर्म हैं अतः उससे मोहित हुआ कंस यदि दूसरी किसी भी शक्ति द्वारा समझाया जाय तब भी न समझे, इस आशय से श्लोक में "भगवती" पद दिया है। वह भगवती है इसलिये सर्वत्र भगवद्भाव को प्रगट कर पूजा को प्राप्त करेगी। अतः वह भगवान् के कहे अनुसार पृथ्वी पर जितने भी स्थान हैं उनमें अनेकरूप धारण कर अनेक नामों से प्रसिद्ध हुई। दुर्गादि मूर्तियों में उसके अनेक रूप स्पष्ट हैं अर्थात् दुर्गा आदि के जो भी रूप हैं वे उसी के हैं। वह माया भगवद्भाव को प्रकट कर अनेक स्थानों में अनेक रूपों से पूजी जायगी तो उसे अपने पास रखने के लिये वसुदेवजी देवकीजी का आग्रह व्यर्थ है ।। १३ ।।

श्रीसुबोधिनी = "शत्रुस्तु जात" इति मायावचनं श्रुत्वा कंसः किं कृतवानित्याकांक्षायामाह :—

अर्थ = तेरा शत्रु कहीं उत्पन्न हो गया ऐसे माया के वचन सुनकर कंस ने क्या किया सो कहते हैं:—

श्लोक—तथा कथितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः ।
देवकीं वसुदेवञ्च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ।। १४ ।।

अर्थ = देवी द्वारा कहे गये वाक्यों को सुन कर कंस बहुत विस्मित हुआ और उसके वाक्य में विश्वास कर देवकी और वसुदेवजी की बेड़ी को तोड़कर विनम्र होता हुआ बोला ।। १४ ।।

श्रीसुबोधिनी= तयेति, वाक्यं तु भगवत्संबन्धि तया तु परं केवलमभिहितं, तदाकर्ण्य परमं विस्मयं प्राप्तवान्, यदीयं देवता ज्ञायेत धृत्वैव स्थाप्येत, तद्वाक्यविश्वासाद् देवकीं वसुदेवं च विमुच्य शृंखलां

दूरीकृत्य देवीवाक्यादुत्पन्नशुद्धभावः प्रश्रितो विनीतोऽब्रवीत्, कायिकं मानसं च शुद्ध-भावं प्रदर्श्यं वाचिकं प्रदर्शितवान् इत्यर्थः ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ— माया ने जो वाक्य कहे वे भगवान् के ही वाक्य थे क्यों कि माया भगवान् का भी कार्य करने आई है इसलिये उसने तो भगवद्वाक्यों का अनुवाद ही किया है। देवी के उन वाक्यों को सुनकर कंस को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। यदि कंस उसे देवता समझ लेता तो पकड़कर अपने पास रखता परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं हुआ। इसके पश्चात् देवी के वाक्य में विश्वास कर वह कंस देवकी और वासुदेवजी की बेड़ियां तुड़वा कर देवी के कथन से शुद्ध भाव वाला और नम्र होकर बोला अर्थात् कंस ने देह और मन से शुद्ध भाव दिखाकर वाणी से भी शुद्ध भाव दिखाया। यह बात "विमुच्य प्रश्रितोब्रवीत्" से कही है। छोड़ने से कायिक शुद्ध भाव दिखाया और नम्र होने से मन से और बोलने से वाचिक शुद्ध भाव दिखाया ॥ १४ ॥

श्रीसुबोधिनी — तस्य वाक्यान्याहाहो इत्यष्टभिः।

अर्थ = उस कंस के वाक्यों को "अहो भगिन्यहो" इत्यादि आठ श्लोकों से कहते हैं। प्रथम "अहो भगिन्यहो" इत्यादि श्लोकों के वाक्यार्थ को निम्न निर्दिष्ट कारिकाओं से बता रहे हैं:—

कारिकाएँ = स्वापराधस्य कथनं फलस्यापि च कीर्तनम्।
भ्रमाच्चैवापराधोऽयं शोकदूरीकृतिस्तथा ॥१॥
एवं चतुर्भिर्लोकोक्तया शोकाभावो निरूपितः।
तत्त्वावबोधनेनापि चतुर्भिः शोकनाशनम् ॥२॥
आत्मनो न हि शोकोस्ति ज्ञानदृष्टेश्च नश्यति।
अतः शोको न कर्त्तव्यः कर्माज्ञानवशो यतः ॥३॥

कारिकार्थ = "अहो भगिन्यहो भाम" इत्यादि से कंस ने अपने अपराध को कहा। "स त्वहं" इत्यादि श्लोक से उसने अपने अपराध का फल बताया। "दैवमप्यनृतं वक्ति" इत्यादि से भ्रम से मैं ने यह अपराध किया ऐसा कहा। "मा शोचतं" इत्यादि से आपको शोक नहीं करना चाहिये यह कहा ॥ १ ॥ इस प्रकार चार श्लोकों से आप शोक न करें ऐसा लौकिक रीति से समझाया अर्थात् लोक में जैसे समझाया जाता है वैसे

समझाया। इनसे आगे के चार श्लोकों में तत्त्वज्ञान समझा कर कंस ने वसुदेवजी एवं देवकीजी का शोक दूर किया ॥ २ ॥ इस में "भुवि भौमानि" श्लोक से कहा कि आत्मा न जन्म लेता है और न मरता ही है इसलिये शोक नहीं करना चाहिये। "यथा नैवं विदो भेदः" इस आगे के श्लोक से आत्मज्ञान से शोक निवृत्त हो जाता है ऐसा कहा। "तस्माद् भद्रे" इस श्लोक से तथा "यावद्धतोऽस्मि" से कहा कि जीव कर्म और अज्ञान से विवश हो अपना अशुभ फलभोगता है [1] अतएव उनके लिये तुम को शोक न करना चाहिये।

श्री सुबोधीनी = प्रथमतः स्वापराधकीर्तनेन क्षमापयतिः—

अर्थ = पहिले अपने अपराध को कह कर कंस क्षमा चाहता है।

। कंस उवाच ।

श्लोक—अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना।
पुरुषाद इवाभ्येत्य बहवो हिंसिताः सुताः ॥ १५ ॥

अर्थ = कंस पश्चात्ताप करता हुआ आश्चर्य के साथ बोला कि हे बहिन ! अजी बहिनोईजी ! मुझ पापी ने मनुष्यभक्षी राक्षस के समान जबरदस्ती आप दोनों के अनेक पुत्रों का वध किया, मुझे इसका बड़ा दुःख है ॥ १५ ॥

श्रीसुबोधीनीजी = अहो इत्याश्चर्येण संबोधनं, आश्चर्याविष्टस्तथैवागत्य देवकीं वसुदेवं च पृथक् प्रार्थयते, अहो इति पृथग्वचनं, 'भामस्तु भगिनीपतिः' सम्बन्धेन संबोधनं स्नेहार्थं, वां युवयोः, पापस्य स्वस्य च भेदाभावं वदन्नाह पाप्मनेति, बतेति खेदे, पश्चात्तापेन वदामीति ज्ञापयति, न त्विदं प्रतारणार्थं, पुरुषादो राक्षसः, सहि भक्षणार्थं बालाकान् नयति, तथा मया स्वदेहरक्षाभ्रमाद् युवयोर्बहवः सुता विहिंसिताः, राक्षसानां सम्बन्धाद्यपेक्षा शास्त्रापेक्षा च नास्ति किन्तु प्राणरक्षार्थमेव सर्वेषां सर्वपुरुषार्थसाधकान्यपत्यानि भक्षयन्ति तथा मया मारिता इति तुल्यता, ततोऽपि विशेषस्तु बहव इत्यनेन ज्ञापितः ॥ १५ ॥

---

१. यहां यह समझना चाहिये कि "तस्मा द्भद्रे" श्लोक से कर्मवश हो कर जीव फल भोगता है यह कहा और "यावद्धतोऽस्मि" से यह कहा कि जीव अज्ञानवश हो कर फल भोगता है।

व्याख्यार्थ = अहो यह आश्चर्यबोधक सम्बोधन है। कंस आश्चर्ययुक्त होकर देवकी वसुदेवजी के पास आया और उन्हें पृथक् २ प्रार्थना करने लगा। अहो यह आश्चर्य बोधक संबोधन होने से भिन्न पद है। कंस कहता है कि हे बहिन ! हे बहनोईजी ! श्लोक में "भाम" पद देने से कंस ने यह सूचित किया कि तुम मेरी बहिन के पति हो, तुम्हारा मेरा सम्बन्ध है और सम्बन्धी के साथ स्नेह होता ही है इसलिये तुमसे मेरा स्नेह है। तुम्हारे पुत्रों को पापरूप मैंने मारा। यहां "पाप्मना" कह कर यह बताया कि मेरे में और पाप में कोई भिन्नता नहीं है अर्थात् मैं पापरूप ही बन गया हूँ। श्लोक में आये "बत" पद का अर्थ खेद है। अभिप्राय यह है कि कंस कहता है कि मैं इस कर्म से हार्दिक पश्चाताप करता हूं, तुम्हारी प्रतारणा के लिये दिखावा नहीं करता। जैसे खाने के लिये राक्षस बालकों को ले जाता है वैसे ही मैंने यह समझ कर कि बालकों को मारने से मेरे देह की रक्षा हो जायगी तुम्हारे बहुत पुत्रों को मार दिया। राक्षस किसी से न सम्बन्ध पालते हैं और न शास्त्र की ही अपेक्षा रखते हैं अर्थात् राक्षसों का न कोई सम्बन्धी होता है और न वे "बालकों को नहीं मारना चाहिये" इस शास्त्र मर्यादा का ही पालन करते हैं। वे तो अपने प्राणों की रक्षा के लिये, जिन के द्वारा सब पुरुषार्थ मिल सकते हैं, ऐसे सभी के सन्तानों को खा जाते हैं, उन राक्षसों की भांति मैं ने भी तुम्हारे पुत्र मारे। मैं तो उन राक्षसों से भी बढ़ गया क्यों कि वे तो एक दो सन्तान ही खाते हैं और मैं ने तो तुम्हारे बहुत पुत्रों को मार डाला। यह बात यहां "बहवः" पद से कही है ॥ १५ ॥

श्री सुबोधिनी = एवमपराधस्य फलमपि संभावयति ।

अथ कंस इस प्रकार के अपराध से होने वाले फल की भी संभावना करता है।

श्लोक— स त्वहं त्यक्तकारुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत् खलः ।
काँल्लोकान् सङ्गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन् ॥१६॥

अर्थ= जिस ने दया छोड़दी है और ज्ञाति एवं मित्रों को भी छोड़ दिया है ऐसा दुष्ट मैं ब्रह्महत्या करने वाले की भाँति किन लोकों को प्राप्त करूँगा; मैं तो जीवित ही मृत हूं ॥१६॥

श्री सुबोधिनी= स त्वहमिति, दैत्यावेशात् कृतं स्वतस्त्वं समीचीन इति न तव नरकसंभावनेत्याशङ्क्य तुशब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति, मया कृतमिति य एव मन्यते स एव तत्फलं प्राप्नोतीति यतः सोऽहं, "जिघांसन्तं जिघांसीया" दिति वाक्यात् तव को दोष इति चेत् तत्राह त्यक्तकारुण्य इति, प्रथमतो ये हतास्ते तु न जिघांसवो भवन्ति तथा त्वं वा, यदा ते मारयितुमायान्ति समर्था वा तदैव वध्या न तु बालका दीनाः, अतो येषु कारुण्यं कर्त्तव्यं बालकेषु भागिनेयेषु तेषु न कृतमिति त्यक्तकारुण्यः, ननु संभावनयापि शत्रवो मार्यन्ते शत्रुपुत्राश्चातो राज्ञां संभावनयापि वधो न दोषायेति चेत् तत्राह त्यक्तज्ञातिसुहृदिति, त्यक्ता ज्ञातयः सुहृदो मित्राणि च येन, नन्वात्मघातकाः सर्व एव

वध्या 'भ्रातापि भ्रातारं हन्या' दिति तत्राह खल इति, मयैव परं ते मारिता न तु तैरहं, अतोहमेव खलो वृथैव परघातकः, अतो दुष्टकर्मणः कृतत्वात् कान् लोकान् सङ्क्रमिष्यामि ? ननु सिद्धा एव तामिस्रादयो घातकानां ये तत्राह ब्रह्महेवेति, ननु 'ब्रह्महा पच्यते घोरे पुनरावृत्तिवर्जित' इति वाक्यात् कः सन्देह इति चेन्न, प्रायश्चित्तस्य करिष्यमाणत्वाद् वधजनितो दोषो न भविष्यति परं महतामपचारात् प्रायश्चित्तं दुर्बलं न वा इति संदेहादेवं वचनं, ननु प्रायश्चित्ते नास्त्येव नरकः कथं सन्देह इति चेत् तत्राह मृतः श्वशन्निति, अयं पुरुषः श्वशन्नेव मृतः, अपकीर्तेर्जातत्वात्, अतो ज्ञायते यदि पापं गच्छेत् तदा तदभावः सर्वजनीनः स्यात् सर्वात्मकत्वाद् भगवतः, अतोमृतः श्वशन् यतो वर्ते, प्रायश्चित्तशास्त्रस्य च प्रामाण्यात् सन्देहकथनम् ।। १६ ।।

व्याख्यार्थ — यदि आप कहें कि तुझ में कालनेमि का आवेश हो गया था इसलिये तुझ से यह दुष्कर्म बना है, स्वयं तो तूँ अच्छा ही है अतः तेरे नरक में जाने की संभावना नहीं है तो कंस श्लोक में आये "तु" शब्द से इस पक्ष का निराकरण करता हुआ कहता है कि यह अपराध मैंने किया है। ऐसा जो मानता है वही "कर्तास्मीति निबद्धचते" इस शास्त्रीय नियम के अनुसार फल भोगता है। मैं भी यही मानता हूँ कि मैं ने यह पाप किया है इसलिये मुझे इसका फल मिलेगा ही। यदि कहें कि "जिघांसंत जिघांसीयात्" इस वाक्य के अनुसार जो मारने की इच्छा रखता हो उसे मारना ही चाहिये तो तेरा इसमें क्या दोष है। इस पर कंस कहता है कि प्रथम तो बात यह है कि जिन बच्चों को मैं ने मारा है वे मारने की इच्छा नहीं रखते थे और तुम भी मारने की इच्छा नहीं रखते हो, जब वे बालक मारने आते अथवा समर्थ होते तब ही उन्हें मारना उचित होता, पहिले उन दोन बालकों को मारना उचित नहीं था। जिन भानेज बालकों पर मुझे दया करनी चाहिये थी उन पर मैं ने दया नहीं की इसलिये मैं निर्दय हूँ। यदि कहें कि यह मेरा शत्रु होगा इस संभावना पर भी शत्रु एवं शत्रुपुत्र मारे जाते हैं तो संभावना से तूँ ने इन्हें मारा है इसलिये मारने का दोष तुझे नहीं लगेगा। कंस कहता है कि मैंने ज्ञाति मित्रों के सम्बन्ध को तोड़ दिया है। ये मेरे सुहृद् के पुत्र हैं अतः उन्हें नहीं मारना चाहिये यह विचार नहीं रखा है। यदि कहें कि जो अपने को मारने वाले हों, वे सब मारने योग्य हैं जैसा कि कहा है "भ्रातापि भ्रातरं हन्यात्" मारने वाले भाई को भी भाई मारदे। तो कंस कहता है कि मैं दुष्ट हूँ क्यों कि मैं ने ही उन्हें मारा है, उन्हों ने मुझे नहीं मारा है अतः मै व्यर्थ दूसरों को मारने वाला हूँ इसलिये दुष्कर्म करने से मैं किन लोकों को प्राप्त करूँगा। यदि कहें कि मारने वालों को तामिस्र आदि नरक मिलते ही हैं तो फिर तुझे यह सन्देह करना ही नहीं चाहिये कि मैं किन लोकों को जाऊँगा। इस पर कंस कहता है कि ब्रह्महत्या करने वाले को जो नरक मिलता है वह मुझे मिलेगा। यदि आप कहें कि "ब्रह्महा पच्यते घोरे पुनरावृत्तिवर्जिते" इस वाक्य के अनुसार जहां से पीछा नहीं लौटता है ऐसे घोर नरक में ब्रह्म हत्या करने वाला दुःख पाता है, तुझे भी वही नरक मिलेगा फिर क्यों सन्देह करता है कि मैं किस नरक में पडूँगा। इस पर कंस कहता है कि मैं प्रायश्चित करूँगा उससे मुझे मारने का दोष तो नहीं लगेगा परन्तु महान् व्यक्तियों के अपराध से प्रायश्चित न्यून है या नहीं इस सन्देह

के होने से मैं ऐसा कहता हूं। यदि कहें कि प्रायश्चित कर लेने पर नरक मिलेगा ही नहीं तो कहता है कि इस प्रकार का व्यक्ति जीवित ही मृत है क्योंकि उसकी अपकीर्ति हो गई है। कंस कहता है कि मुझ में पाप नहीं रहता तो मेरी अपकीर्ति मिट जाती, पाप नहीं रहने के कारण भगवान् के सर्वात्मक होने से कोई भी मेरी अपकीर्ति नहीं करता परन्तु ऐसा नहीं हुआ है इसलिये मैं जीवन्मृत हूं। मैं किस नरक में जाऊँगा यह सन्देह तो इसलिये हो रहा है कि प्रायश्चित बताने वाला शास्त्र कहता है कि प्रायश्चित से पाप दूर हो जाते हैं ।। १६ ।।

श्री सुबोधिनी — एवं संभावनया फलं निरूप्यायं मम सहजदोषो न भवतीति स्वदोषपरिहारं वदन्निवाह ।

अर्थ — इस प्रकार संभावना से अपने को मिलने वाले फल का निरूपण कर इस में मेरा सहज दोष नहीं है इस बात को सिद्ध करने के लिये अपने आपको निर्दोष बताते हुए की तरह कंस कहता है: —

श्लोकः— दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम् ।
यद्विश्रंभादहं पापः स्वसुर्निहतवाञ्छिशून् ।।१७।।

अर्थ — केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, देवता भी झूठ बोलते हैं । देवता के विश्वास पर ही मुझ पापी ने अपनी बहिन के बहुत बालकों को मार दिया ।

श्री सुबोधिनी — दैवमप्यनृतं वक्तीति, आकाशवाणी दैव "अस्यास्त्वामष्टमो गर्भ" इति वाक्यं, दुर्गापि देवता, एकं तु प्रत्यक्षसंवादि, आकाशवाण्यास्तु वाक्यं विसंवादि, देवगुह्याज्ञानादेवं वचनं "मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठित" मिति वाक्यान्मनुष्याणामनृतं दैवेषु सत्यं, तदत्र विपरीतं, न केवलं मर्त्या एवानृतवादिनः, किन्तु दैवमप्यनृतं वक्ति, अतो यद्विश्रंभाद् यद्वाक्यविश्वासात् स्वसुः सुतान् वृथैव निहतवान्, ननु "सन्देहे प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः" इति तद्-हृदये कथं भातमिति चेत् तत्राहाहं पाप इति, महतां हि हृदयं प्रमाणं न तु पापनिष्ठानां, शिशूनिति वयः सख्ये विरूद्धे निरूपिते, अष्टम एक एव हन्तेति सामर्थ्यप्रतिवादकवाक्यात् ।। १७ ।।

व्याख्यार्थ — आकाशवाणी रूप देवता ने तो यह कहा था कि इस देवकी का आठवां गर्भ तुझे मारेगा। आकाशवाणी जैसे देवता है वैसे ही दुर्गा भी देवता है। जो दुर्गा ने बात कही वह तो प्रत्यक्ष के विरूध नहीं हुई किन्तु आकाशवाणी ने जो कहा वह प्रत्यक्ष के विरूद्ध हुई । कंस देवताओं की गुप्त बात को नहीं जानता है इसलिये ऐसा कहता है। कंस कहता है कि "मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठितं" इस वाक्य के अनुसार झूठ मनुष्यों में रहती है और देवताओं में सत्य की स्थिति है परन्तु यहां विपरीत देखने में आया। मैं तो समझता था कि मनुष्य ही झूठ बोलते हैं परन्तु अब मालूम हुआ कि देवता भी झूठ बोलते हैं। देवता के वाक्य पर विश्वास करके ही मैं ने बहिन के पुत्रों को व्यर्थ ही मारा । यदि कहें

कि तुझे इस बात में सन्देह था तो "प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः" के अनुसार अन्तः करण ही यह ठीक है या नहीं इसकी साक्षी दे देता है तो तू ने अन्तःकरण से यह क्यों नहीं समझा। तेरे हृदय में आकाश वाणी की बात ही क्यों आई तो कहता है कि मैं अत्यधिक पाप करने से पापरूप बन गया हूँ। जो महान् होते हैं उनका अन्तःकरण साक्षी दे देता है कि यह ठीक है या नहीं और जो पापी हैं उनका हृदय किसी बात को ठीक नहीं कह सकता। श्लोक में आये 'स्वसुःशिशून्" का भाव यह है कि बहिन के साथ प्रेम था उस प्रेम का भी मैं ने पालन नहीं किया और बच्चे बिलकुल छोटे हैं इसका भी विचार मैं ने नहीं रखा। मुझे आकाशवाणी ने यह कहा कि आठवां गर्भ तुझे मारेगा इससे तो स्पष्ट था कि वह सामर्थ्यशाली होगा परन्तु ये बच्चे ती इस प्रकार के नहीं निकलें, इन्हें तो मैंने व्यर्थ ही मारा ॥ १७ ॥

श्री सुबोधिनी = नन्वतः परं किं कर्त्तव्यमित्याशङ्क्याहः—

अर्थ = **अब इस के आगे क्या करना चाहिये तो कहते हैं कि:—**

श्लोकः— मा शोचतं महाभागा-वात्मजान् स्वकृतम्भुजः ।
जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनाः सदासते ॥१८॥

अर्थ = हे महाभाग्यशाली देवकी वसुदेवजी ! अपने पुत्रों का शोक न करो क्योंकि उन्होंने अपने किये हुए कर्मों का फल भोगा है, भगवदिच्छा से जो जन्म एवं मरण के माग में हैं वे सदा एक साथ नहीं रहते ॥ १८ ॥

श्री सुबोधिनी = मा शोचतमिति, महतां शोके हेतुभूतः प्रायश्चित्तेप्यनधिकारी भवति इति मत्कृपया शोको न कर्त्तव्यः, नन्वपकारिणि कथं कृपेतिचेत् तत्राह महाभागाविति संबोधनं, महतां शत्रुमित्रोदासीनभावो नास्ति, ननु महत्त्वादेव शोकाभावे सिद्धे कथं शोकाभावो बोध्यत इति चेत् तत्राह स्वात्मजानिति, न हि स्वाकृतार्थत्वेन शोकः किन्तु बाला अकृतार्था गता इति, तेषां शोकाविषयत्वे हेतुमाह स्वकृतंभुज इति, यद्यपि मरीचिपुत्रा एवं जाता इति न जानाति तथापि कार्यादनुमिनोति, अतस्तैरपि तादृशं कर्म कृतमस्ति येन बाला एव हता, ननु न वयं ताञ्छोचामो नात्मानं किन्त्वेकत्रोभयेषां स्थितिर्नाभूदिति शोचाम इति चेत् तत्राह जन्तव इति, ये हि निरन्तरं जायन्ते "जायस्व-म्रियस्वे" तिमार्गवर्तिनस्ते सदैवैकत्र नासते यतो भगवदिच्छा तथैव तेषु, तदाह दैवाधीना इति, यद्यपि तिष्ठन्ति तदापि पूर्ववासनया शत्रुमित्रोदासीनत्वस्य नित्यत्वान्न सम्यगासते, सहासत इति वा पाठः ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ = जो महान् पुरुषों के शोक का कारण बनता है, वह प्रायश्चित करने का भी अधिकारी नहीं होता। ऐसी दशा में उसको प्रायश्चित से शुद्धि न होने से उसे नरक भोगना पड़ता है इसलिये मुझ पर कृपा कर आप शोक न करें। यदि कहें कि बुरा करने वाले पर कृपा कैसे की जा

सकती है तो कंस कहता है कि आप महाभाग हो, जो महाभाग्यवान् होते हैं वे महान् होते हैं, उन में शत्रु, मित्र एवं उदासीन भाव नहीं होते। आप यदि यह कहें कि हम जब महान् हैं तो अपने आप शोक नहीं करेंगे तू हमें क्या समझा रहा है कि शोक नहीं करना चाहिये। इस पर कंस कहता है कि ये आप के पुत्र थे, आपको अपनी अकृतार्थता का शोक नहीं है किन्तु बालकों ने जन्म लिया और उन से कुछ भी सुकृत न बना, वे अकृतार्थ ही गये, इस बात का शोक है परन्तु यह शोक नहीं करना चाहिये क्यों कि जैसा उनका कर्म था वैसा उन्होने फ़ल भोगा। कंस को यद्यपि यह ज्ञात नहीं था कि ये बच्चे मरीचि के पुत्र थे और इस प्रकार यहां उत्पन्न हुए तो भी कार्य से अनुमान लगा लिया कि इन्हों ने ऐसा कम किया था जिससे ये बाल्यावस्था में ही मारे गये। कंस कहता है कि यदि आप यह कहें कि न हम बालकों का शोक करते हैं और न अपना ही, हम तो इस बात का शोक करते हैं कि पुत्र और हम साथ न रहे। इस पर कंस कहता है कि जो "जायस्वम्रियस्व" के मार्ग में हैं वे सदा ही एक जगह नहीं रहते क्यों कि उन के लिये भगवान् की इच्छा ऐसी ही है। इस बात को "दैवाधीनाः" पद से कहा है। यदि इस प्रकार के प्राणी रह भी जाते हैं तो भी उनमें पूर्ववासना से शत्रु, मित्र एवं उदासीनता के भावों के नित्य रहने से वे अच्छे रूप में नहीं रह सकते। श्लोक के अन्त में "सदासते" "समासते" और "महासते" ये तीनों पाठ हो सकते हैं। इस लिये उपर्युक्त तीनों अर्थ किये गये हैं ।। १८ ।।

श्री सुबोधिनी — एवं लौकिकन्यायेन स्वापराधाभावं प्रार्थयञ्छोकापनोदनं कृतवान् पुनः शास्त्रानुसारेणापि शोकापनोदनमाह चतुर्भिः।

अर्थ — मेरा इस में कोई अपराध नहीं है ऐसा लौकिक न्याय से बताकर कंस अब शास्त्र के अनुसार भी चार श्लोकों से शोक दूर करता है।

श्लोकः— भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च।
नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः ।। १९ ।।

अर्थ — जैसे मिट्टी से घट आदि पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु मिट्टी में विकार नहीं होता वैसे ही शरीर बनते बिगड़ते रहते हैं परन्तु आत्मा में कोई विकार नहीं होता अथवा यों कहिये कि जैसे घट तृण भित्ति आदि पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं परन्तु पृथिवी में स्थित अन्तर्यामी रूप परमात्मा में कोई विकार नहीं होता वैसे ही देह के उत्पन्न एवं नष्ट होने पर आत्मा में कोई विकार नहीं होता ।। १९ ।।

श्रीसुबोधिनी = भुवीति, पूर्वं ते म्रियन्त इत्यङ्गीकृत्य शोकापनोद उक्त इदानीं ते न म्रियन्त एवेत्युच्यते, आत्मा "नित्यः सर्वगतः स्थाणु" रिति वाक्याद् व्यापको गमनागमनादि शून्यः कूटस्थः, सांख्यानामेवमेव मतं दैत्यानां हृदये समायातीति तदेवोच्यते, देहास्त्वाकाशेऽभ्रतमः प्रकाशा इवोच्चावचाः समायान्ति गच्छन्ति च न त्वाकाशे कश्चन विकार उत्पद्यते तथा पुत्राणामप्यात्मत्वात् तेषां देहे गते न काचित् क्षतिः, स्पष्टतया व्यवहार्यत्वाद् भूमि-दृष्टान्तो बुध्यत इति तमाह यथा भौमानि भूविकाराणि भूतानि कृमिकीटादीनि वृक्षादीनि वा यथा यान्ति भूमेः सकाशादुत्पद्यन्ते पृथग् भवन्त्यपयान्ति च भूमावेव लयं प्राप्नुवन्ति तेषूद्गतेषु लीनेषु वा भूमिस्तु न विक्रियते तथा-त्मन्यपि देहा यान्त्यपयान्ति चात्मोपार्जितकर्मवशादेवोत्पद्यन्ते लीयन्ते च तथाप्यात्मा न वोत्पद्यते न वा लीयत इत्यर्थः, यथा भूस्तथा देहानामपि भौतिकत्वान्न पृथङ् निरूपणं, भुवि भौमानि भित्यादीनीत्येव सम्बध्यते भूतानीति त्वात्मनीति वा, भूतानि जातानि वा, तेष्वेव भूतेषु विद्यमान आत्मा न तथेति वक्तुं दृष्टान्त एव प्रवेश उक्तः, यथा बहिः स्थिता पृथिवी न विक्रियत एवमन्तः-स्थितः आत्मापि, तथैतेष्विति भिन्नं वाक्यं, एतेषु मनुष्यदेहेष्वप्यात्मा न विक्रियत इति, उक्तेषु मनुष्यादिदेहेषु भूम्यविकारः प्रत्यक्षसिद्धः, वर्षाकालोद्भवेषु तृणादिषु चात्माविकारश्च प्रत्यक्षसिद्धः, अन्यथात्मात्मानन्त्यकल्पना प्रसज्ज्येत, यथा देहे लोमानि न पृथगात्माधिष्ठितानि तथा भूमावप्येक एवात्मा तत्सम्बन्धात् कोटिशस्तृणादीन्युत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, अधिष्ठात्र्यो देवतास्तु भिन्नाः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ = प्राणी जन्म लेते हैं और मरते हैं, वे भगवदिच्छा के अधीन होकर एक जगह नहीं रह पाते, यह पहिले कहकर कंस ने शोक दूर किया। अब कहता है कि वे मरते ही नहीं क्योंकि "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः" के अनुसार आत्मा (जीव) व्यापक (सर्वत्र रहने वाला) एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में नहीं जाने आदि धर्मों से युक्त एवं कूटस्थ (सदा एक रस वाला) है, इस प्रकार के सांख्यमत को ही दैत्य मानते हैं इसलिये कंस ने इस प्रकार के मत को कहा। अर्थात् जीव को व्यापक आदि बताया। कंस कहता है कि जैसे आकाश में बादल, अन्धकार एवं प्रकाश होते रहते हैं परन्तु आकाश में कोई विकार नहीं होता वैसे ही ऊँच नीच देह उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु आत्मा में कोई विकार नहीं होता। तुम्हारे पुत्रों में भी उस आत्मा का रूप था इसलिये उनके देह के चले जाने पर भी कोई क्षति नहीं हुई। यहां आकाश का दृष्टान्त तो दिया है परन्तु स्पष्ट रूप में वह व्यवहार में नहीं आता। इसलिये कंस दूसरा प्रत्यक्ष व्यवहार में आने वाला दृष्टान्त देता है कि जिस प्रकार पृथ्वी के विकारभूत कृमि कीट आदि एवं वृक्षादि हैं वे भूमि से पैदा होते हैं अर्थात् पृथ्वी से भिन्न होते हैं और पृथ्वी में ही लीन हो जाते हैं, उनके निकलने व लीन होने पर जैसे भूमि में कोई विकार नहीं होता, वैसे ही आत्मा में समझना चाहिये। अपने से किये गये कर्मों के अधीन होकर ही देह उत्पन्न होती हैं और लीन हो जाती हैं परन्तु आत्मा न पैदा होता है और न लीन होता है। श्लोक में "यथा भूः" ऐसा कहा है। यहां श्लोक में जैसे यह कहा कि पृथ्वी से पैदा हुई चीजों में विकार होता है और पृथ्वी में विकार नहीं होता वैसे ही श्लोक में यह भी कहना चाहिये था कि आत्मा में विकार नहीं होता किन्तु देह आदि में विकार होता है, परन्तु ऐसा इसलिये नहीं कहा कि देह भी श्लोक में कहे

गये "भौमानि भूतानि" इन पदों से ले लिया गया इसलिये पृथक् देह पद श्लोक में नहीं दिया गया। श्री प्रभु चरण आज्ञा करते हैं कि "भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति तथात्मा न याति नापयाति" इतना ही श्लोक का शक्य (मुख्य) अर्थ होना चाहिये और पद भी ये ही होने चाहिये, शेष रहे श्लोक के पद व्यर्थ हैं। और दूसरी बात यह भी है कि पृथ्वी में विकार होकर ही वस्तु पैदा होती है इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि पृथ्वी से वस्तु पैदा होती है और पृथ्वी में कोई विकार नहीं होता। इस अरुचि से श्री सुबोधिनी में दूसरे पक्ष का उल्लेख करते हैं कि "भुवि भौमानि भित्यादीनि" अर्थात् पृथ्वी में भित्ति आदि पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु पृथ्वी उस रूप में न बनती है और न बिगड़ती है। शरीरस्थ पंच महाभूत जो जल आदि हैं वे उत्पन्न और न नष्ट होते हैं।*

---

* **टिप्पणी (१)** इस प्रकार "भूतानि" पद के अर्थ का 'आत्मनि' पद के अर्थ में सम्बन्ध करने से अर्थ होता है। यद्यपि इस प्रकार अर्थ करने पर भी "भूत" पद एवं "एतेषु" इत्यादि पद सार्थक नहीं होते हैं क्यों कि "नायमात्मा तथा" ऐसा कहने से भी काम चल जाता है परन्तु यहां यह कहना है कि जल आदि में वही भगवान् अन्तर्यामी रूप से रहता है परन्तु पञ्चमहाभूतों के उत्पत्ति-नाश-रूप-धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यहां "भूतानि" "एतेषु" आदि पद न देते तो यह अर्थ नहीं होता। श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि जैसे ':भौमानि" पद के अर्थ का अन्वय "भुवि" पद के अर्थ में होता है, उसी रूप में श्लोकस्थ "भूतानि" पद का सम्बन्ध अध्याहार किये गये "आत्मनि" पद के अर्थ के साथ होता है और बाकी अपेक्षित पदों की आवृत्ति करनी चाहिये: परन्तु यह पक्ष मान लेने पर "आत्मनि" का अध्याहार करना ही दोष है इसलिये श्री सुबोधिनी में "भूतानि जातानि वा" यह पक्ष दिया, इसका अर्थ यह हुआ कि पृथ्वी में ही जल आदि पैदा होते हैं परन्तु पृथ्वी तो अधिकरणरूप में ही रहती है और नित्य आकाश से अतिरिक्त जल आदि भूत ही उसमें पैदा होते हैं। इस पक्ष के मान लेने पर श्लोक में आये चकार से यह दृष्टान्त लिया जा सकता है और इस पक्ष में पदों की आवृत्ति भी नहीं करनी पड़ती। शङ्का करते हैं कि "भौमानि" का भित्ति आदि अर्थ कर दूसरा पक्ष क्यों उठाया गया। इस का स्पष्टीकरण श्री प्रभु चरण ने "ननु भुवि" इत्यादि शंका करके किया है। श्री सुबोधिनीजी में आये "भूतानि-जातानि" में जो "जातानि" पद है उसका अर्थ यह है कि जल आदि पृथ्वी में पैदा होते हैं। इसमें जो दार्ष्टान्तिक अपेक्षित है उसका उल्लेख श्री प्रभुचरण ने "तथैतेष्वन्तः स्थित आत्मापि तथा" आदि से किया है।

श्री सुबोधिनीजी में जो "दृष्टान्त एव प्रवेश उक्तः" यह कहा है। यहां श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि "यथैव भूः" यह जो दृष्टान्त-निरूपक वाक्य हैं उसमें "भूतानि" पद का सम्बन्ध है और यह भी समझाते हैं कि श्लोक में आये "यथा भूः" पद का विवेचन श्री सुबोधिनी में इस प्रकार किया है कि जैसे पृथ्वी से पैदा होने वाले पदार्थ विकार को प्राप्त होते हैं किन्तु उनसे बाहिर रहने वाली पृथ्वी में विकार नहीं होता वैसे ही जलादि के अन्तः स्थित आत्मा में भी विकार नहीं होता। ऐसा अर्थ करने पर "न तथा एतेषु" इन पदों की आवृत्ति करनी चाहिये। यही बात "तथैतेष्विति भिन्नं वाक्यं" से कही है। इसी पक्ष में "एतेषु" इत्यादि पदों की श्री सुबोधिनी में

श्रीसुबोधिनी — नन्वेवमैकात्म्ये कथं लोके भेदव्यवहार इति चेत् तत्राह

अर्थ — शंका होती है कि जब एक ही आत्मा है तो लोक में देवदत्त की आत्मा भिन्न है और यज्ञदत्त की आत्मा भिन्न है ऐसा व्यवहार कैसे होता है अथवा "देवोऽहं" "मनुष्योऽहं" आदि भेद व्यवहार कैसे होते है तो कहते हैं कि:—

प्रकारान्तर से व्याख्या करते हैं कि "एतेषु मनुष्यदेहेष्वप्यात्मा न विक्रियते" इसका अर्थ यह है कि जैसे मनुष्य आदि देहों के उत्पन्न होने पर भी उनसे पृथक् रहने वाली पृथ्वी विकृत नहीं होती उसी रूप में आत्मा में भी विकार नहीं होता यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि श्रीमदाचार्यचरण अब दूसरे प्रकार से अर्थ करते हैं कि "वर्षाकालोद्भवेषु" इन तृण आदि के उत्पन्न होने पर पृथ्वी में विकार होता है परन्तु पृथ्वी के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी में विकार नहीं होता। इस प्रकार यहां व्यतिरेक दृष्टान्त मानना चाहिये। पृथ्वी के भीतर अन्तर्यामी आत्मा रहता है, इसमें "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादि श्रुति प्रमाण है। इस श्रुति का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी के भीतर रहने वाला उस पृथ्वी का अभिमानी आत्मा है परन्तु उसमें कोई विकार नहीं होता। यदि आत्मा के भी उत्पत्ति आदि मान लिये जाते हैं तो एक तृण रूप से आत्मा में विकृति हो गई तो फिर आत्मा के अवयव न होने से अंश का भेद तो कह नहीं सकते, तो दूसरे तीसरे तृण आदि में भिन्न २ आत्मा माननी होगी। ऐसी स्थिति में एक पृथ्वी रूप शरीर में अनन्त आत्माओं की कल्पना करनी होगी जैसे देह में रोमावली के भेद से आत्मा में कोई भेद नहीं है। उसी रूप में भूमि में भी एक ही आत्मा है उसके संबंन्ध से करोड़ों तृण आदि उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। त्वचा आदि गोलकों में लोभ आदि इन्द्रियां है उनकी अधिष्ठात्री जो औषधि आदि देवता है वह शरीराभिमानी आत्मा से भिन्न है इसलिये उन देवताओं के भेद से आत्मा भिन्न नहीं हो सकती।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुवे श्री वल्लभजी महाराज कहते हैं कि पृथ्वी से कृमि कीट आदि उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। यह अर्थ "यान्ति" इत्यादि पदों से लिया गया है। देह और आत्मा के पक्ष में "यान्ति अपयान्ति" का अर्थ यह है कि देह आते जाते रहते हैं परन्तु आत्मा में यह बात नहीं है। यहां विकार से अन्यथाभाव अर्थ लेना। श्री वल्लभजी महाराज श्लोक का अन्वय इस प्रकार करते हैं कि जिस प्रकार पृथ्वी में भित्ति आदि बनते हैं और बिगड़ते हैं, उसी प्रकार जल आदि महाभूत जो पैदा हुए हैं वे आते हैं और जाते हैं परन्तु इनमें विद्यमान आत्मा न जाता है और न आता है। इस दृष्टान्त से आत्मा के आने जाने का निषेध किया है। दूसरे दृष्टान्त से आत्मा में विकार नहीं होता यह "न" तथा "एतेषु" इन तीन पदों की आवृत्ति कर यह अर्थ किया कि जैसे बाहिर रही हुई पृथ्वी विकृत नहीं होती वैसे ही इन पञ्च महाभूतों में रहने वाला आत्मा भी विकृत नहीं होता। परन्तु पृथ्वी में तो विकार देखा गया है इसलिये उक्त कथन में अरुचि आई तो श्री वल्लभजी कहते हैं कि "यथा भूः "के साथ" "न" कार का सम्बन्ध न कर व्यतिरेक दृष्टान्त से यह कहा कि जैसे पृथ्वी में विकार होता है वैसे आत्मा में विकार नहीं होता ॥ १९ ॥

श्लोकः— यथानेवं विदो भेदो यत आत्मविपर्ययः ।
देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्तते ॥२०॥

अर्थ — जिसे ठीक रुप से यह ज्ञात नहीं कि आत्मा एक है उसे भेद प्रतीति होती है और उसी भेद प्रतीति से आत्मा की अनित्यता, भिन्नता तथा देह के संयाग वियाग मालूम पड़ते हैं, और संसार भी उसी के कारण निवृत्त नहीं होता ॥ २० ॥

श्री सुबोधिनी — यथेति, यथायथावदनेवं विदो भेदो न त्वेवंविदः, आपातत एवंवित्त्वेपि भेदप्रतीतिर्न गच्छति इति यथेत्युक्तं, यथानेवंविद इति एकं पदं, समासान्तस्त्वनित्यः, भेदस्तु द्वित्वसाध्यः, न ह्येकस्मिन् भेद-बुद्धिर्भवति, द्वित्वं त्वपेक्षाबुद्धिजन्यं, अतो द्वित्वं न वस्तुनिष्ठं किन्तु बुद्धिस्थविषयकमेव, बुद्धया बहिर्विषयोत्पादना-संभवात्, अतोऽज्ञानकृत एव भेदो भवति, अपेक्षाविषयाणामभावात्, निरपेक्षेष्वपेक्षाबुद्धिरज्ञानकृतैव, ननु 'भेदः पारमार्थिकः श्रुतिस्मृतिव्यवहारोपयोगित्वादात्मव' दित्यनुमानाद् भेदः पारमार्थिक एवेति चेत् तत्राह यत आत्म–विपर्यय इति, यदि भेदः पारमार्थिकः स्यात् तत्कृतेन व्यवहारेणात्मविपर्ययो न स्यात्, अज्ञानस्य भेदोत्पादक-त्वेनैवान्यथाबुद्धिहेतुत्वात् अन्यथा सुषुप्तावज्ञानस्य विद्यमानत्वादन्यथाबुद्धिर्भवेत्, किञ्च न केवलं विपर्ययमात्रजनकत्वं किन्तु देहयोगवियोगावपि भेदकृतावेव, यथा देवदत्तस्य यज्ञदत्तदेहे जाते गते वा स्वस्य न कापि विक्रियोत्पद्यत एवं स्वस्याप्यात्मन एकत्वे ज्ञाते नोत्पद्येत, चकारस्तु सर्वव्यवहारसमुच्चयार्थः, किञ्च भेदस्त्वपारमार्थिकः इति कार्यान्तराद-प्यवसीयते, तदाह संसृतिर्न निवर्तत इति, भेदज्ञाने विद्यमाने जन्ममरणयोर्विद्यमानत्वात् संसारो न निवर्ततेऽत आत्मनोऽविकृतत्वं ज्ञातव्यं तदविकृतत्वमपरिच्छेदकूटस्थत्वव्यतिरेकेण न सिध्यतीति कूटस्थो व्यापकोऽविकृत आत्मा ज्ञातो भवति, तस्मिन्न् ज्ञाते शोको न संभवति ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ — जिसे ठीक रूप से आत्मा की एकता का ज्ञान नहीं है वह भेद समझता है और जो आत्मा एक है ऐसा ठीक रूप से समझता है उसको भेदज्ञान नहीं होत । ऊपर २ से यदि कोई ऐसा समझता है तो भी उस की भेद प्रतीति नहीं जाती इस लिये "यथानेवंविदः" में यथा पद लगाया है अर्थात् वास्तव से जिस को एक ही आत्मा है ऐसा ज्ञान है उसे भेद प्रतीति नहीं होती। श्लोक में "यथानेवंविदः" ऐसा समस्त एक पद है । यहां समासान्त कप्रत्यय इसलिये नहीं हुआ कि "शेषाद्विभाषा" में विभाषा पद है इस लिये उस से विकल्प से 'क' प्रत्यय होता है। जहां द्वित्व होता है वहां ही भेद होता है अर्थात् द्वित्व से ही भेद-प्रतीति होती है इस लिये यह नहीं मानना चाहिये कि भेद से द्वित्व-प्रतीति होती है । इस में कारण यह है कि जब एकव्यक्ति को देखते हैं तो "अयं एकः" यह एक है ऐसा ही व्यवहार होता है किन्तु "अयं अभिन्नः" यह व्यवहार नहीं होता। द्वित्व अपेक्षा बुद्धि से हाता है जैसे यज्ञदत्त से देवदत्त दूसरा है। यहां जो देवदत्त को द्वितीय बताया वह यज्ञदत्त की अपेक्षा से बताया है। इसलिये मानना चाहिये कि 'द्वित्व' वस्तु में रहने वाला नहीं है किन्तु बुद्धिगत ही है। बुद्धि

पदार्थ को बाहिर पैदा नहीं कर सकती अतः यह मानना चाहिये कि अज्ञानकृत ही भेद है क्योंकि एक आत्मा होने से आत्मा अपेक्षा बुद्धि का विषय नहीं है क्योंकि अपेक्षा बुद्धि अनेक होने पर होती है अथवा यों कहिये कि आत्मा "अहं" इस ज्ञान का ही विषय है, अपेक्षा बुद्धि का विषय नहीं है। अतः वहां अपेक्षा बुद्धि अज्ञान से ही होती है। यहां पूर्वपक्ष करते हैं कि भेद वास्तविक है क्योंकि भेद न मानने से श्रुति एवं स्मृति का व्यवहार नहीं चल सकता। इस पर कहते हैं कि "यत आत्मविपर्ययः" आत्मा नाश और उत्पत्तिवाला तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न २ है ऐसा जो ज्ञान है वह अन्यथा ज्ञान है। इस अन्यथा ज्ञान को मान लेते हैं तो उत्पन्न होते ही बालक माता के स्तन पीने में कैसे प्रवृत्त होता है। इस से मानना चाहिये कि वह पूर्वजन्म के संस्कार से ही स्तनपानादि में प्रवृत्त होता है। इस से सिद्ध हुआ कि आत्मा नित्य है और संपूर्ण शरीर में चैतन्य की उपलब्धि होने से व्यापक भी है परन्तु ऐसा अनुमान करने पर भी पूर्वोक्त विपरीतज्ञान भेद से किये गये व्यवहार से ही होता है। अतः यह उत्पन्न होता है ऐसा कहा जाता है। यदि उत्पन्न एवं नाश होना नहीं मानते है तो व्यवहार में अपने को अथवा दूसरे को किसी के उत्पन्न होने पर हर्ष नहीं होना चाहिये और नष्ट होने पर शोक नहीं होना चाहिये। इस से सिद्ध हुआ कि भेद व्यावहारिक ही है पारमार्थिक नहीं है। यह नियम है कि जो पारमार्थिक नहीं होता वह संसार का कारण होता है। भेद संसार का कारण है इस लिये वह पारमार्थिक नहीं है। इस अनुमान से न आत्मा का भेद सिद्ध होता है और न आत्मा उत्पन्न एवं नष्ट ही होती है। यदि कहें कि आत्मा को उत्पत्ति-विनाश-शाली एवं प्रति शरीर में भिन्न २ मानना इस में अज्ञान ही कारण है, भेद कारण नही है। इस काउत्तर देते हैं कि "आज्ञानत्वेन अज्ञान" अन्यथा बुद्धि का कारण नहीं है किन्तु अज्ञान से भेद होता है और भेदज्ञान से अन्यथा बुद्धि होती है। यदि अज्ञान से ही अन्यथा बुद्धि होती है ऐसा मान लेते हैं तो सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान होने से अन्यथा बुद्धि होनी चाहिये परन्तु वहां अन्यथा बुद्धि नहीं होती। इससे समझते हैं कि भेद ही अन्यथा बुद्धि में कारण है। सुषुप्ति दशा में भेद नहीं है इस लिये वहां अन्यथा बुद्धि नहीं होती। भेद केवल विपरीत ज्ञान को ही पैदा नहीं करता किन्तु किसी देह का सम्बन्ध एवं वियोग भी भेदज्ञान से ही होता है जैसे यज्ञदत्त के देह के उत्पन्न होने पर एवं नष्ट होने पर देवदत्त में कोई विकार नहीं होता इसी प्रकार आत्मा के नित्य होने से पूर्व देह में और दूसरे देह में एक ही आत्मा है ऐसा जान लेने पर विकार नहीं होता। व्यावहारिक भेद मान कर ही "श्यामोऽहं" "गौरोऽहं" मैं श्याम हूं मैं गौर हूँ इत्यादि व्यवहार होते हैं। और एक बात यह भी है कि भेद पारमार्थिक नहीं है यह बात दूसरे कार्य से भी सिद्ध होती है। यदि भेद वास्तविक हो तो जन्म मरण के होते रहने से संसार सदा रहना चाहिये परन्तु वह सदा नहीं रहता। इससे मानना चाहिये कि भेद वास्तविक नहीं है। अतः समझना चाहिये कि आत्मा अविकृत है परन्तु उसका वह अविकृतत्व तब ही सिद्ध होगा जब उसे अविकारी एवं कूटस्थ (सदा एक रस वाला) मानें। इन सब युक्तियों से आत्मा कूटस्थ, व्यापक एवं अविकृत ज्ञात होता है और ऐसे आत्मा के जानने पर शोक नहीं होता ॥२०॥

श्री सुबोधिनी = तत्तु भवद्भ्यां ज्ञायते एवेति शोको न कर्तव्य एवेत्याह

अर्थ — अब कंस कहता है कि आप दोनों आत्मा–व्यापक, कूटस्थ और अविकारी है यह जानते ही हैं इसलिये आप को शोक नहीं करना चाहिये।

**श्लोकः— तस्माद् भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि ।
मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं भुञ्जतेऽवशः ॥२१॥**

अर्थ — हे कल्याणरूपिणी देवकी ! मेरे द्वारा मारे गये अपने पुत्रों का तथा स्वयं का शोक न कर क्योंकि अपने २ कर्मों के अनुसार विवश हो कर सब ही फल भोगते हैं ॥२१॥

श्री सुबोधिनी = तस्मादिति, वसुदेवस्तु शोकं न करिष्यतीति देवकीसंबोधनं भद्रइति, अतः परं तव कल्याणमपत्यं च भविष्यतीति ज्ञापितं, स्वतनयान् देवकीतनयान् मानुशोच, प्रथमत आत्मानं शोचति ततः पुत्रमित्यनुपदं, यद्यपि ते स्वकर्मवशादेव मृता न तु मया व्यापादितास्तत्कर्मैव मां च प्रेरितवदथापि बहिर्बुद्धया मयैव व्यापादिता इत्यङ्गीक्रियते तथापि मा शोचेत्याह मया व्यापादितानपीति, अननुशोके बहिर्मुखानामप्येकास्त्युपपत्ति स्तामाह यतः सर्वः स्वकृतं भुञ्जतेऽवश इति, अनिच्छन्नपि परवश एव कर्माधीनो भूत्वा सर्वोऽपि स्वकृतं भुंक्ते, अस्य मते न सृष्टेश्चातुर्विध्यं, भुञ्जत इति बहुवचनप्रयोग एकवचने देहभेदेन भोगेन नानात्वप्रतीतेः सिद्धत्वज्ञापनाय, अनेन मयापि बहिर्मुखत्वेन कृतं कर्म भोक्तव्यमित्यविचारितोऽपि दण्डो भविष्यति इति दण्डाभावेनापि चिन्ता न कर्तव्या ॥२१॥

व्याख्यार्थ = कंस का यह विचार है कि वसुदेवजी ज्ञानी होने से शोक नहीं करेंगे अतः देवकी को ही समझाना चाहिये। इसलिये देवकी से कहता है कि हे भद्रे अर्थात् हे कल्याण रूपिणी देवकी, तूँ कल्याणरूपा है अतः आगे भी तेरा कल्याण ही होगा और सन्तान भी होगी इसलिये तूँ पुत्रों का शोक न कर। पहिले तूँ अपना शोक करती है बाद में पुत्रों का इस बात को सूचित करने के लिये श्लोक में आये "अनुशोचः" पद में अनु उपसर्ग लगाया है। यद्यपि तेरे लड़के अपने कर्मों के अधीन होकर ही मरे हैं, मैंने उन्हें नहीं मारा है क्योंकि उनके कर्मों ने ही मुझे प्रेरित किया था ऐसी दशा में भी यदि तूँ यह समझती है कि तूं ने ही मेरे पुत्रों को मारा है तो भी तुझे शोक नहीं करना चाहिये। शोक न करने में बहिर्मुखों के लिये एक युक्ति है कि नहीं चाहते हुए भी पराधीन होकर सभी अपने किये हुए कर्मों के अनुसार ही फल भोगते हैं। कंस यह नहीं समझता है कि "पुष्टि, प्रवाह, मर्यादा एवं सदा अस्थिर रहने वाले" चार प्रकार के जीव हैं कारण यह है कि दैत्यों के मत में ऊपर कही गई चार प्रकार की सृष्टि नहीं मानी गई है। तात्पर्य यह है कि कंस यदि यह समझता कि पुष्टि जीव भी हैं और वे कर्म के अधीन नहीं होते तो साधारणरूप से यह नहीं कहता कि कर्म के अधीन होकर सबको

फल भोगना पड़ता है अतः यह समझना चाहिये कि दैत्य उक्त चार प्रकार की सृष्टि नहीं मानते।[1] श्लोक में एकवचन के स्थान पर "भुञ्जते" यह बहुवचन दिया है इससे सूचित किया गया कि सब ही के देह भिन्न २ होने से अनेक प्रतीति सिद्ध है क्योंकि अनेक देहों से भोग होते है। इस सब कथन से कंस यह भी सूचित करता है कि भगवत्प्रेरणा से यह कार्य हुआ है। ऐसा वास्तविक रूप से नहीं समझने से, और मेरे में कर्तृत्व का अभिमान होने से तुम मेरे लिये दण्ड का विचार नहीं भी करोगे तो भी मुझे दण्ड मिलेगा ही अतः आपको यह भी चिन्ता नही करनी चाहिये कि कंस को इस दुष्कर्म का दण्ड नहीं मिलेगा॥ २१॥

श्री सुबोधिनी = ननु त्वया ज्ञानमुपदिष्टं, उपदेष्टुर्दृढं ज्ञानं भवतीति न तव दण्डसंभावनेति चेत्तत्राह:—

अर्थ = आप यदि यह कहें कि तूँ ज्ञान का उपदेश देनेवाला है इसलिये तेरे में दृढ़ ज्ञान होने से तूं दण्ड भागी नहीं होगा तो कंस कहता है कि:—

श्लोकः—— यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मान मन्यते स्वदृक्।
तावत् तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात्॥२२॥

अर्थ = शास्त्रीय ज्ञान होने पर भी जब तक देहाध्यास वश यह मानता है कि मैं इस से मारा गया और मैं इसे मारनेवाला हूं तब तक वह मरनेवाला और मारनेवाला होता ही है क्योंकि उसने ज्ञान को अपने में क्रियान्वित नहीं किया है॥ २॥

श्रीसुबोधिनी = यावदिति, यावदयं जीवः शास्त्रोत्पन्नज्ञानोपि हतोस्मि हन्तास्मीत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं वा मन्यते तावद् बाध्यबाधकतामियादेव, कर्मत्वे बाधकत्वमिति,* अक्रिय आत्मनि यथैव क्रियां मन्यते तथैव क्रिया प्राप्नोतीत्यर्थः, नन्वविद्यमानधर्मप्रतीतौ को हेतुस्तत्राहास्वदृगिति, न स्वस्मिन् दृष्टिर्यस्य, शास्त्रज्ञानं शास्त्रीयत्वेनैव जानाति न तु स्वविषयत्वेन, ततोपि किमत आह तावत् तदभिमानी भवतीति, स्वरूपे ज्ञाते देहाद्यध्यासो न भवति, अध्यासे पुनः स्वरूपाज्ञानमिति तदभिमान्यज्ञ एव भवति, अतो बाध्यबाधकभावः॥ २२॥

व्याख्यार्थ = शास्त्र का ज्ञान होने पर भी जीव जब तक यह मानता रहता है कि मैं मारा गया और मैं मारने वाला हूं तब तक स्वयं दुःख भोगता है और दूसरों को दुःख देता है। "हतोऽस्मि" से

---

[1] यहां श्री वल्लभजी महाराज कहते हैं कि काल, कर्म, स्वभाव एवं भगवदिच्छा से सृष्टि होती है यह बात कंस नहीं मानता।

***टिप्पणी**— बाध्यत्वमिति पाठः प्रतिभाति।

व्यापार जन्य जो प्राणवियोगरूप फल का आश्रय कहने से बाध्य (मरने वाला) होता है और "हन्तास्मि" से व्यापाराश्रय कहने से बाधक (दूसरों को मारने वाला) माना जाता है। निष्क्रिय आत्मा में जैसी ही वह क्रिया मानता है, वैसी ही क्रिया को प्राप्त करता है । शङ्का करते हैं कि मिथ्या बाध्य बाधकत्व धर्म की प्रतीति में क्या कारण है तो कहते हैं कि उसे आत्मज्ञान नहीं है । यद्यपि शास्त्रीय ज्ञान उसे है तो भी वह उस ज्ञान का विषय नहीं बनता अर्थात् वह अपने में उस ज्ञान को क्रियान्वित नहीं करता इसलिये अपने को फलाश्रय और व्यापाराश्रय मानता है । ऐसा मानने से क्या होता है तो कहते हैं कि देहाभिमानी होने से वह अपने को मरनेवाला एवं मारनेवाला मानता है । यह सब कुछ आत्मज्ञान न होने से होता है। आत्मज्ञान होने पर तो देह आदि में अध्यास नहीं रहता और अध्यास के रहने पर मैं कौन हूँ यह ज्ञान नहीं रहता अर्थात् स्वरूपाज्ञान हो जाता है । शरीर का अभिमानी होने से ही वह अज्ञ है और उसे ही मैं ने मारा और मैं इससे मारा गया यह अज्ञान रहता है ।। २२ ।।

श्री सुबोधिनी = एवं भवद्बालकानामस्माकं च कर्मवशात् सर्वं जातं भविष्यति च अतः शोको दण्डो वा न चिन्तनीयः परमतिक्रमदोषो मदीयः सोढव्य इति वदन् क्षमापनार्थं नमस्कारंकरोति ।

अर्थ — इस प्रकार आपके बालकों को कर्मवश फल मिला है और मुझे भी फल मिलेगा ही अतः आप पुत्रों का शोक न करें और मेरे लिये दण्ड का विचार न करें क्योंकि मुझे भी कर्मवश स्वतः दण्ड मिल ही जायगा परन्तु मैं ने जो आप का अतिक्रमण किया है उसे सहन करें । इस प्रकार कहता हुआ वह कंस क्षमा चाहने के लिये देवकीजी वसुदेवजी को नमस्कार करता है ।

श्लोकः— क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः ।

। श्री शुक उवाच ।

इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्रोरथाग्रहीत् ॥२३॥

अर्थ — मैं ने जो विना विचारे अन्याय किया है उसे क्षमा करें क्योंकि आप साधु होने से दीनों से प्रेम करने वाले है । श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार कह कर वह कंस, जिसके मुख तक आंसू आ रहे हैं, अपनी बहिन और बहनोइ के पैरों में पड़ गया ॥२३॥

श्री सुबोधिनी — क्षमध्वमिति, मम दौरात्म्यं क्षमध्वं, अविचारेणान्यायकर्ता दुरात्मा, अत आज्ञोल्लङ्घनं पुत्रमारणादिकं च यत् कृतं तत् सर्वं क्षमध्वं, महतां हृदयेऽनुशये स्थिते शोको भूयान् भवति, क्षमापनार्थं न किञ्चित् दातव्यं, यतः साधवो दीनेषु वत्सलाः, मम च दीनत्वमपकीर्तिनरकभाक्त्वेन, स्वस्य दैन्यं न केवलं वचनेन निरूपितं किन्तु रूपेणापि तदभिव्यक्ति कृतवानित्याहेत्युक्त्वाश्रुमुखो जात इति, अश्रूणि मुखे यस्य, विकलत्वात् प्रोञ्च्छनमपि न करोति, यद्ययमकर्तव्यमपि कनिष्ठभगिन्याः पादग्रहणं करोति तदान्यत् किं न कुर्याद् गृहीतधनादिदानं वातिरिक्तदानं वा ? स्वसृशब्दे नैव स्वसृतत्पती अभिधीयेते इति तत्सम्बन्धादेव वसुदेवस्य मान्यत्वात् साक्षात् तं प्रति नमस्कारेपि दोषाभावादेकस्या एव पादौ द्विवद्गृहीतवानिति ज्ञापयितुमेकशेषः एकशेषशास्त्रे "पुमान् स्त्रिये" त्यादिसूत्रेषु चतुर्थ्र्तृतीया ज्ञापयति 'अप्रधानं न शिष्यते' इति, अन्यथा "स्त्रीपुरुषाभ्या" मितिप्रयोगो न स्यात् 'स्त्रीपुंभ्यां' मिति च, अत्रापि तद्भर्त्रा सहिता स्वसैवावशिष्यते, अथेति भिन्नप्रक्रमो दैत्यावेशस्य राजसभावस्य च त्यागार्थः ।। २३ ।।

व्याख्यार्थ = मेरी दुरात्मता को क्षमा करें। जो बिना विचारे अन्याय करने वाला है वह दुरात्मा है। मैंने बिना विचारे अन्याय किया है इसलिये मैं दुरात्मा हूँ। इसीलिये मैंने आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन किया है और पुत्रों को मारने आदि कुकृत्य किये हैं। आप उन सबको क्षमा करें। महापुरुषों के हृदय में पश्चात्ताप रहने पर महान् शोक होता है अतः क्षमा करें। इसके लिये आपको कुछ देने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि आप साधु होने से दीनों से स्वतः प्रेम करने वाले हैं। मैं अपकीर्ति होने से नरकभागी हूँ अथवा यों कहिये कि मेरी अपकीर्ति है और मैं नरक भागी हूँ अतः दीन हूँ। इस प्रकार कंस ने वचन से ही दीनता नहीं दिखाई किन्तु स्वरूप से भी दीनता दिखाई। इस बात को बताने के लिये कहा कि "अश्रुमुखः" आंसू जिसके मुँह तक आ रहे हैं। यहां "अश्रुमुखः" पद से यह भी सूचित होता है कि अधिक विकल होने से आंसूओं को भी नहीं पूंछ सकने से मुँह पर आँसू ज्यों के त्यों दीख रहे हैं। कंस इस समय छोटी बहिन के भी पैरों को पकड़ कर अकर्तव्य अर्थात् छोटी बहिन के पैरों में बड़े भाई को नहीं झुकना चाहिये सो भी कर रहा है तो उनके छीने हुए धन को देना अथवा उससे भी अधिक धन देना उसके लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है। श्लोक में आये "स्वस्रोः" पद के विचार में कहते हैं कि स्वसृ शब्द से अभिधावृत्ति के द्वारा बहिन देवकी और वसुदेवजी नहीं कहे जा सकते क्योंकि पाणिनि का ऐसा सूत्र नहीं है कि स्वसृ और पति शब्द के समस्त होने पर एक शेष हो। यहाँ "स्वस्रोः" कहने का यह अभिप्राय है कि देवकीजी के सम्बन्ध से ही वसुदेवजी मान्य हुए हैं क्योंकि कन्या पक्ष वाले कन्या को ही मुख्यता देते हैं अतः उसकी मुख्यता बताने के लिये स्वसृ शब्द का ही निर्देश किया गया है। यद्यपि वसुदेवजी के मान्य होने से उनको भी साक्षात् प्रणाम करने में कोई दोष नहीं है तो भी कंस ने देवकी के पैरों को ही मानो दोनों के पैर समझ कर पकड़ा। इस बात को बताने के लिये यहां स्वसृ और पति

शब्द का एक शेष किया है[1]। यद्यपि पाणिनि का कोई ऐसा सूत्र नहीं है जिससे यहां एक शेष हो परन्तु "पुमान् स्त्रिया" आदि चार सूत्रों में तृतीयान्त का ही निर्देश है। इससे सामान्यरूप से यह ज्ञापन करेंगे कि जो अप्रधान होता है वह विरूप होने पर भी नहीं रहता। यहां स्वसृ शब्द का अर्थ प्रधान है इसलिये अप्रधानार्थक पति शब्द नहीं रहा। यदि कहें कि तृतीया से यही कैसे समझ लिया तो कहते हैं कि यदि ऐसा नियम मान लेते हैं कि विरूप के एकशेष में स्त्रीवाचक शब्द के साथ कहा गया पुरुषवाचक शब्द ही शेष रहता है तो "स्त्रीपुरुषाभ्यां" और "स्त्रीपुंभ्यां" की जगह "पुरुषाभ्यां" "पुंभ्यां" ये ही प्रयोग होंगे परन्तु ऐसी जगह पर ये ही प्रयोग नहीं देखे गये हैं किन्तु स्त्री पुरुषाभ्यां, स्त्री पुंभ्याम्, ऐसे भी प्रयोग देखे हैं (इसलिये सामान्यरूप से यह ज्ञापन करना कि अप्रधान नहीं रहता परन्तु ऐसा मानने पर "स्त्रीपुंसौ" आदि प्रयोग नहीं होंगे। इससे यहां यह ज्ञापन होना चाहिये कि जहां दोनों की प्रधानता विवक्षित हो वहां विरूप में एक शेष नहीं होता जैसे स्त्री पुरुषाभ्यां स्त्रीपुंभ्याम् को एक शेष नहीं हुआ क्योंकि यहां दोनों ही प्रधान हैं और जहां एक अप्रधान रहे वहां एकशेष होता है। "जैसे स्वस्रोः" यहां एक का अप्राधान्य विवक्षित है इसलिये "स्वसृ" शब्द ही बाकी रहा। वैयाकरण जैसा लक्ष्य देखते हैं वैसा ही नियम बना लेते

---

[1] श्रीधर स्वामी ने यहां कहां है कि मिश्रित लक्षणा से स्वसृ शब्द से पति का भी अभिधान है अर्थात् अभिधा वृत्ति से स्वसृ शब्द से पति भी लिया गया है परन्तु पुरुषोत्तमजी महाराज इस का खण्डन करते हैं कि स्वसृ शब्द से अभिधा वृत्ति से पति का बोध नहीं हो सकता क्योंकि "स्वसृ" शब्द का पति अर्थ अभिधेय नहीं है किन्तु बहिन अर्थ हीं अभिधेय (वाच्य) है। यदि कहें कि द्वित्व विवक्षा में स्वसृ-स्वसृ-औ ऐसे मानने पर एक स्वसृशब्द अभिधा से बहिन को कहेगा और दूसरा स्वसृ शब्द लक्षण से पति अर्थ को कहेगा तो कहते हैं कि ऐसी स्थिति में एकशेष हो ही नहीं सकता क्योंकि वाचक और लक्षक का कहीं भी एक शेष नहीं देखा गया है। उपर्युक्त सब भाव को लेकर श्रीसुबोधिनीजी में "नैव अभिधीयेते" ऐसा कहा है।

शङ्का होती है कि "श्यालःस्वस्रोः" के स्थान पर "भामः स्वस्रोः" ऐसा पाठ मानने से भाम पद से बहिनोई लिये जाने से श्याला अर्थ अपने आप ले लिया जायेगा तो न एकशेष का झगड़ा रहेगा और न श्याला अर्थ लेने में ही अड़चन आयेगी तो फिर उपर्युक्त पाठ न मान कर "श्यालःस्वस्रोः" पाठ मानने में व्यासजी का क्या आशय है तो कहते हैं कि यहां स्वसृ शब्द से ली गई बहिन प्रधान है; उससे बहिनोई भी ले लिये जायंगे। इसी आशय से व्यासजी ने ऐसा कहा है।

शंका होती है कि समानरूप हो तो "सरूपाणां" सूत्र से एकशेष हो सकता है परन्तु स्वसृ और पति शब्द का सारूप्य न होने से एकशेष कैसे होगा तो कहते हैं कि यहां "स्वसा च पतिश्च स्वसारौ" ऐसा विग्रह मानना चाहिये। और पुमान् स्त्रिया आदि चार सूत्रों में आदि तृतीया से ज्ञापन करना चाहिये कि विरूप के एक शेष में जो अप्रधान विवक्षित हो वह नहीं रहता। ऐसा मानने पर उपर्युक्त विग्रह करने पर दोष नहीं आता।

हैं क्योंकि 'लक्ष्यैकचक्षुष्कत्व'' पक्ष को ही उन्होंने माना है अर्थात् वे जैसा लक्ष्य देखते हैं वैसा ही नियम बनाते हैं)

श्लोक में आये "अथ" शब्द का भाव यह है कि कंस अब कुछ और ही हो गया है क्योंकि अब उसमें कालनेमि का आवेश नहीं रहा और राजस भाव भी उसका निवृत्त हो गया ।। २३ ।।

श्री सुबोधिनी = निरोधं च दूरीकृतवानित्याह :

अर्थ = कंस ने देवकी वसुदेवजी को बन्धन से छुडा दिया यह बात अब कहते हैं ।

श्लोकः— मोचयामास निगडान् विस्रब्धः कन्यकागिरा ।
देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम् ।। २४ ।।

अर्थ = अपना सौहार्द्र दिखाते हुए उस कंस ने योगमाया के वाक्य पर विश्वास कर अर्थात् देवकी वसुदेवजी निर्दुष्ट हैं ऐसा समझकर देवकी वसुदेवजी को लोह की शृङ्खला से छुडा दिया ।। २४ ।।

श्री सुबोधिनी = मोचयामासेति, निगडौ स्तंभबद्धावतो निगडान् मोचयामासेत्युक्तं, अर्थाद्भावपि, तत् तु बन्धनागारं भवतीति न निगडदूरीकरणं, नन्वेतावक्षुब्धावाकाशवाणी च प्रमाणमत एताभ्यामेव किञ्चत् कापट्यं कृतमस्ति इति कथं न विचारितवांस्तत्राह विस्रब्धः कन्यकागिरेति, कन्यका या माया तस्या वचनं असत्यमपि संभाव्यते तथापि तत्रैव विश्वासं कृतवान्, "यत्र क्वचि" दिति । "कृपणा" मिति लिङ्गवचने देवक्या दोषाभावसूचके, वसुदेवेनैव तथा कृतत्वात्, अन्यथास्फूर्तिकर्तृत्वं तु मायायाः सिद्धमेव, प्रथमतो देवकीं पश्चाद् वसुदेवं चकारात् तत्सम्बन्धिनश्च स्वयं परिचर्यां कुर्वन्नात्मनः सौहृदं च दर्शयन् जातः ।। २४ ।।

व्याख्यार्थ = वह बन्धन करने का स्थान था अतः दूसरों को बांधने के लिये शांकल की आवश्यकता होने से स्तंभ से बन्धी हुई शांकल को नहीं तोडा किन्तु उन्हीं को उससे छुडा दिया । शङ्का करते हैं कि इतना दण्ड देने पर भी देवकी वसुदेवजी के क्षुब्ध न होने से तथा मारने वाले बालक के होने में आकाश-वाणी प्रमाण होने से कंस ने यह क्यों नहीं समझ लिया कि वसुदेव देवकी ने ही कुछ कापट्य किया होगा तो कहते हैं कि "विश्रब्धः कन्यकागिरेति" उस कन्या की वाणी पर विश्वास करके ही उन्हें छोड दिया । यद्यपि वह कन्या माया है इसलिये उसके वचन असत्य भी हो सकते हैं तथापि उसने कन्या के वाक्य में ही विश्वास किया । पूर्व में जो "यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथा" यह पद्यार्द्ध है उसमें आये "कृपणां" पद में स्त्रीलिङ्ग और एक वचन है इसलिये आकाशवाणी ने यह बता दिया कि देवकी का इस में कोई दोष नहीं है क्योंकि जो भी कुछ किया वसुदेवजी ने ही किया है यही माया का

आशय था। माया का स्वभाव है कि वह अन्यथा स्फूर्ति करा देती है। कंस ने पहले देवकी को छोडा और पीछे वसुदेवजी को। साथ में उन्हें भी छोड दिया जो वसुदेवजी के सम्बन्धी थे। उस समय कंस स्वयं उनकी सेवा कर रहा है और अपना सौहार्द भी दिखा रहा है ॥ २४ ॥

श्री सुबोधिनी = प्रसादे प्रार्थिते ताभ्यां प्रसादः कृत इत्याह :

अर्थ = जब कंस ने उनकी प्रसन्नता चाही तो देवकी वसुदेवजी उस पर प्रसन्न हो गये यह कहते हैं—

श्लोकः— भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्त्वा रोषं च देवकी।
व्यसृजद् वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह ॥२५॥

अर्थ = भाई को अधिक पश्चात्ताप युक्त देखकर देवकी ने उसके रोष को क्षमा कर दिया और अपने रोष को छोड़ दिया, वैसे ही वसुदेवजी एवं अन्य लोगों ने भी किया। आश्चर्य की बात तो यह है कि वसुदेवजी उससे हँसकर बोले ॥ २५ ॥

श्रीसुबोधिनी = भ्रातुरिति, सम्यगनुतप्तस्य पश्चात्तापेन तप्तस्य तत्रापि भ्रातुः सम्बन्धिरोषं क्षान्त्वा क्षमित्वा, क्षान्तरोषा वा, तत्कृतं पूर्वापराधं व्यसृजद् रोषं वा, पाठभेदात्, तदीयो रोषः सोढः स्वकीयं तु त्यक्तवती, कृतकार्यस्य तद्रोषस्य सहनं, अकृतकार्यस्य स्वकीयस्य परित्यागः, एवं वसुदेवश्च, चकरादन्येऽपि, रोषमपराधं च क्षान्त्वा, यतो देवकी देवतारूपा, वसुदेवोऽपि तथा, तस्यास्तु शोकाभावो मुखप्रसादेनैवज्ञातः, वसुदेवस्तु गूढहृदय इति कदाचिदप्रसन्नोभवेत् इति आशंक्य हास्यं वचनं चाह प्रहस्य तमुवाचेति, हेत्याश्चर्यं पुत्रमारकस्त्वसंभाष्य इति ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ = भाई पश्चाताप से सन्तप्त हुआ, भाई होने से सम्बन्धी है। सम्बन्धी के रोष को क्षमा करना चाहिये इस विचार से उस के रोष को क्षमा कर अथवा श्लोक में "क्षान्त्वा रोषं" की जगह "क्षान्तरोषा" भी पाठ मान लेते हैं तो यह अर्थ होगा कि जिस ने रोष को सहन कर लिया है (दबा दिया है)। श्लोक में "क्षान्त्वा दोषं" भी पाठ हो सकता है। इस पाठ के मानने पर यह अर्थ होगा कि कंस के अपराध को क्षमा कर उस से किये गये पूर्व अपराध को मन में नहीं रखा। श्लोक में "रोषं" भी पाठ है इस लिये यह भी अर्थ होगा कि उस के किये हुए रोष को मन में नहीं रखा। देवकी ने कंस के रोष को सहन किया और अपने रोष को छोड़ा। जिस रोषने पुत्र मरवा दिये ऐसे कंस के रोष को सहन किया अर्थात् कंस का रोष ऐसा है जिस ने अपना कार्य कर दिखाया है, ऐसे कंस के रोष को सहन किया और जिसने कुछ भी कार्य नहीं किया ऐसे अपने रोष को छोड़ दिया। इसी प्रकार वसुदेवजी ने भी किया। श्लोक में आये "च" कार का भाव यह है कि जिन २ को उस ने छोड़ा उन सब ने ऐसा ही किया। देवकी ने रोष अथवा अपराध को क्षमा किया क्यों कि

देवकी है अर्थात् देवतारूप है। वसुदेवजी भी ऐसे ही हैं। देवकी का शोक नहीं रहा यह उस के मुख की प्रसन्नता से जान लिया परन्तु वसुदेवजी पुरुष होने से गूढ हृदय है इस लिये कदाचित् ये अप्रसन्न हो ऐसे कंस के विचार को हटाने के लिये वसुदेवजी हँस कर बोले। इसी बात को "प्रहस्य तमुवाच" से कहा है। श्लोक में आया "ह" पद आश्चर्य अर्थ में है अर्थात् पुत्र मारने वाले से बात भी करना उचित नहीं है इस लिये वसुदेवजी को कंस से बोलना ही नहीं चाहिये था परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि ऐसे कुकृत्य करने वाले से भी बात की ॥२५॥

श्रीसुबोधिनी = तदुक्तं ज्ञानं तस्यैव हृदयारूढं भवत्विति तस्यानुमोदनं करोति।

अर्थ = कंस से कहा गया ज्ञान उसी के हृदय में जमे (स्थिर हो) इसलिये उसका अनुमोदन करते हैं।

। वसुदेव उवाच ।

श्लोकः— एवमेतन्महाराज यथा वदसि देहिनाम् ।
अज्ञानप्रभवाहन्धीः स्वपरेति भिदा यतः ॥२६॥

अर्थ = वसुदेवजी कहते हैं कि हे महाराज कंस जैसा तुम कहते हो वैसा ही है क्योंकि प्राणियों को देह आदि में अहं बुद्धि अज्ञान से ही होती है और उसीसे यह अपना है यह दूसरे का है ऐसी भेद दृष्टि होती है ॥ २६ ॥

श्री सुबोधिनी = एवमेतदिति, महाराजेति सम्बोधनं मारणस्यादोषज्ञापनार्थं यत् त्वमात्थैवमेतत् तन्निष्पिण्डितमनुवदति देहिनामज्ञानप्रभवाहन्धीरिति, देहादावहम्बुद्धिरज्ञानादेव जायते, तस्मात् स्वपरेतिभिदा स्वः पर इति, एतन्मूलक एव सर्वोपि व्यवहारः, देहिनामिति देहाध्यासवतां; अहङ्कारस्याज्ञानजनितत्वे देहाध्यासः प्रयोजक इत्यधिकारत्वेन निरूपितः अन्यथाज्ञानमहंबुद्धिः, तदज्ञानकृतं, अन्यथा स्वरूपे भासमाने अन्यत्र भायात् ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ = वसुदेवजी ने कंस को हे महाराज इसलिये कहा है कि राजा दण्ड देता है परन्तु उसे मारने का दोष नहीं लगता इसलिये तुम्हें मेरे पुत्रों को मारने का दोष नहीं लगेगा। हे महाराज जैसा तुम कहते हो वही ठीक है। कंस के वाक्यों का सार वसुदेवजी कहते हैं कि देहाध्यासवालों को देह आदि में अहं बुद्धि अज्ञान से हो होती है और उसी से यह अपना है यह पराया है आदि सभी व्यवहार होते हैं। श्लोक में आये "देहिनां" का यह अर्थ है कि जिनको देहाध्यास है तात्पर्य यह है कि जिनको देहाध्यास है उनको अहंबुद्धि होती है। अहङ्कार अज्ञान से होता है इसमें देहाध्यास ही कारण है। इससे यह कहा गया कि जिसको देहाध्यास है वही अहंबुद्धि करने का अधिकारी होता है। देह में जो

आत्मबुद्धि है वह अन्यथाज्ञान है और वही अहं बुद्धि है। अन्यथा ज्ञान अज्ञान से होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो आत्मा के भान में उससे भिन्न शरीर का भान कैसे होता। इसलिये यह समझना चाहिये कि अज्ञान से ही यह सब कुछ होता है ॥ २६ ॥

श्री सुबोधिनी— एवं तदुक्तं ज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेकोपयोगित्वेन निरूप्य स्वसिद्धान्तसिद्धं ज्ञानं कृपयोपदिशति।

अर्थ — कंस से बताया गया ज्ञान, यह वस्तु नित्य है और यह अनित्य है इस ज्ञान का उपयोगी है। ऐसा निरूपण कर वसुदेवजी अब कंस पर कृपा करते हुए अपने सिद्धान्त-सिद्ध ज्ञान का उपदेश देते हैं।

श्लोकः— शोकहर्षभय द्वेषलोभमोहमदान्विताः।
मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्दृशः ॥२७॥

अर्थ — वसुदेवजी कहते हैं कि जो लोग शोक, हर्ष, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं मद से युक्त हैं वे परस्पर में अर्थात् एक धर्म में प्रविष्ट होकर दूसरे धर्म को नष्ट कराते हुए भगवान् को नहीं देखते। कारण यह है कि वे भगवान् में इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं मानते। वे मानते हैं कि इन्द्रियवाला जीव ही कर्त्ता हो सकता है निरिन्द्रिय भगवान् कर्ता नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

श्री सुबोधिनी — शोकेति, अत्र वस्तुतः स्वयं न मारयतीति सत्यं, अस्वतन्त्रत्वात्, किन्तु केनचित् प्रेरितो मारयति, इतोपि मुख्यः सिद्धान्तो भगवानेव सर्वत्र प्रविष्टो मारयतीति शास्त्रं, तस्य ज्ञाने जीवानां षड्धर्मा बाधकाः भगवत्प्रतिपक्षाः, शोक ऐश्वर्यस्य, स हि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः तत्कृतेऽर्थे कथं शोकः ? अन्यथा, अपेक्षितं स्वांशानामन्यो न नाशयेत्, हर्षश्च प्राप्तौ भवति, तद् भगवतो वीर्ये कालरूपे ज्ञाते न भवेत्, भयं च न भवेत् यदि भगवतो यशो जानीयात्, स ह्ययुक्तं न करिष्यति, अन्यथा यशो न स्यात्, द्वेषश्च न भवेल् लोभश्च यदि भगवदीयांश्रियं जानीयात्, द्वेषश्च स्त्रीकृतो भवति लोभश्च धनकृतः, तदुभयं भगवत एवेति न स्वस्य तथा कर्तुमुचितं, ज्ञाने भगवदीये ज्ञाते मोहाभावः प्रसिद्धः, मदस्तु वैराग्याभावात्, सर्वथैवाविरक्तो मत्तो भवति, अतोऽन्योन्यं मारयन्तमपि जना न पश्यन्ति, अन्यथैक एव घातकः स्यात् नन्वैकात्म्ये कथं वध्यघातकभावो भगवच्छास्त्रे उपपद्यते इति चेत् तत्राह भावैर्भावमिति, भवन्तीति भावा धर्माः, बाधकैर्धर्मैः बाध्या धर्मा एवापोह्यन्ते न तु धर्मी, ये हि भवन्ति ते नश्यन्तीति, यथैकस्मिन् वस्त्रे शुक्लादयो धर्मा रञ्जकद्रव्यसम्बन्धादुत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, परं बलीयस्त्वं नियामकं, यद्बाधार्थमेव यस्मिन् भावे भगवान् निविशति स तं भावं दूरीकरोतीति भवदादीनां करणत्वमेव न तु कर्तृत्वं, न हि करणं क्वचिदु-पालभ्यते स्तूयते वा, अदर्शने हेतुः पृथग्दृशः इति, करणे संबद्धः एव कर्त्ता करणाच् चेत् पृथग् ज्ञायते करणं वा तत-

स्तदैवम्बुद्धिर्भवति न तु सर्वत्राविष्टं भगवन्तं ज्ञातवतः, अतो मत्पुत्रा अपि भगवतैव मारितास्त्वमपि मारणीय इति त्वयापि शोको न कर्त्तव्य इति भावः ।। २७ ।।

व्याख्यार्थ = यहां यह बात तो वास्तविक है कि स्वयं देहधारी किसी को नहीं मारता क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं है। वह तो किसी दूसरे से प्रेरित होकर ही मारता है। इस से भी मुख्य सिद्धान्त यह है कि भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र प्रविष्ट हो कर मारता है यह शास्त्र सिद्ध है। इस प्रकार के सिद्धान्त–प्रतिपादक शास्त्र के ज्ञान में भगवान् के छः धर्मों के बाधक जीव में छः धर्म विद्यमान हैं। जैसे भगवान् में ऐश्वर्य है उसका बाधक (उस से विपरीत) शोकरूप धर्म जीव में है। भगवान् करने, न करने और अन्यथा करने में समर्थ हैं। ऐश्वर्य होने से आप जो कुछ करते हैं समझ कर ही करते हैं। यह ज्ञान जीव को नहीं है इस लिये शोक करता है। यहां यह भी अभिप्राय हो सकता है कि जीव को यह भी समझना चाहिये कि भगवान् करने, न करने और, अन्यथा करने में समर्थ है इस लिये मनुष्य के बुरा करने पर भी वह भला कर सकता है। ऐसा समझने पर जीव को शोक नहीं हो सकता। भगवान् ही सब कुछ करते हैं ऐसा नहीं मानते हैं तो यह कैसे हो सकता है कि भगवान् के स्वांशभूत जीवों को अपेक्षित वस्तु को दूसरा कोई नाश करे। यदि कोई स्वतन्त्ररूप से ऐसा करना चाहे तो उसका इस प्रकार का सामर्थ्य नहीं है और भगवान की इच्छा के विरुद्ध काम करने वाले को दण्ड भी मिल सकता है। भगवान ही नष्ट करते हैं ऐसे ऐश्वर्य के ज्ञान न होने से जीव को शोक होता है ।। जीव में जो हर्ष है वह भगवान् के वीर्य के विरुद्ध है। हर्ष किसी अत्यन्त अपेक्षित वस्तु के प्राप्त होने पर होता है। यह हर्ष जीव को तब न हो जब वह भगवान् के वीर्यरूप काल को जान ले। वह यह नहीं जानता कि जिस वस्तु की प्राप्ति पर मुझे हर्ष हो रहा है वह वस्तु भगवान् अपने वीर्यरूप काल से नष्ट कर सकते हैं। ऐसा समझता रहे तो जीव को हर्ष नहीं हो।[1] यदि जीव भगवान के यश को जान ले तो उसे भय कभी नहीं हो क्योंकि ऐसी दशा में उसे यह ज्ञान रहेगा कि वह भगवान् यश वाला है इस लिये अयुक्त कभी नहीं करेगा क्योंकि अयुक्त करने पर उनका यश नष्ट होता है इस लिये वे ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिस से उन का यश नष्ट हो। अतः उसे भय नहीं करना चाहिये। जीव में द्वेष और लोभ तब नहीं हो जब जीव भगवान् की श्री को जानले। द्वेष स्त्रीकृत होता है और लोभ धन से होता है। यदि जीव यह समझले कि सभी स्त्रियें श्री लक्ष्मी का अंश है तो भगवान् से उत्तम स्त्री प्राप्त हो सकती है, मुझे उस के लिये किसी से द्वेष नही करना चाहिये। भगवान् में लक्ष्मी के होने से धन भी उनकी कृपा से स्वतः प्राप्त हो जायगा तो फिर मुझे लोभ क्यों करना

---

[1]भगवान् में वीर्य है, वे सभी विपत्तियों को मिटा सकते हैं, यदि ऐसा समझलें तो किसी से भय नहीं हो परन्तु जीव में भगवान् के वीर्य के विरूद्ध भय है इसलिये समझा जाता है कि वह भगवान् के वीर्य को नहीं जानता। (इस प्रकार) श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने भय को वीर्य के विरूद्ध बताया है और द्वेष को यश के विरुद्ध कहा है ।।

चाहिये। (अथवा यहां यह भी भाव हो सकता है कि सब कुछ वस्तु भगवान् की हो है, मुझे इस के लिये किसी से द्वेष एवं लोभ नहीं करना चाहिये) भगवान् के ज्ञान को समझले तो जीव को कभी मोह नहीं हो। जीव में वैराग्य के विरुद्ध मद है। मद तो वही करता है जिस में वैराग्य लेश भी नहीं होता। इस प्रकार भगवान् के धर्मों के विरुद्ध जीव में ये धर्म हैं। अतः वह हर्ष शोक आदि करता है और उनके रहते हुए उसे भगवान् का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः भगवान् ही परस्पर में नष्ट कराते हैं यह बात मनुष्य नहीं विचारते हैं। यदि जीव यह जान जाय कि मरने वाला मारने वाला वही है तो एक ही मरने वाला और मारने वाला होने से किसी से वह द्वेष आदि नहीं करें। यदि कहें कि मारने वाला मरने वाला एक ही है तो यह मारता है यह मरता है इस प्रकार का व्यवहार भगवच्छास्त्र में कैसे उपपन्न होगा तो कहते हैं कि धर्मों से धर्मों का ही नाश होता है, धर्मी का नाश नहीं क्योंकि यह नियम ह कि जो पैदा होते हैं वे ही नष्ट होते हैं। श्लोक में भाव शब्द का यही अभिप्राय है कि जो पैदा होते है वे भाव कहलाते हैं और वे हैं धर्म। जसे एक वस्त्र में श्वेत आदि धर्म रंगने वाले द्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। नष्ट वह करता है जो बलवान् हाता है। भगवान् जब अमुक धर्म को दबाने के लिये अमुक धर्म में प्रविष्ट होते हैं तो जिस धर्म में वे प्रविष्ट होते हैं वह धर्म बलिष्ठ होने से अन्य धर्म को तिरोहित कर देता है। इस लिये वसुदेवजी कहते हैं कि हे कंस! तूं तो मेरे बच्चों को मारने में घटनिर्माण में दण्ड की तरह करण ही है कर्ता नहीं है। क्रिया करने में जो करण होता है उसे कोई उपालंभ नहीं देता और न उस की काई स्तुति करता है। यदि वह कर्ता होता तो उपालंभ एवं स्तुति के योग्य होता परन्तु यह सब कुछ ज्ञान इस लिये नहीं होता कि वह यह समझता है: कि इन्द्रिय आदि से सम्बन्ध रखने वाला जीव ही कर्ता होता है, भगवान् तो इन्द्रिय सम्बन्ध वाला नहीं है इस लिये भगवान् कर्ता नहीं है जीव ही कर्ता है यह बुद्धि होती है। इन्द्रिय वाला कर्त्ता करण के पृथक है और करण कर्ता से भिन्न हैं ऐसा समझने वाला इस प्रकार की बुद्धि करता है। जो भगवन् को सर्वत्र प्रविष्ट मानता हैं उसकी बुद्धि दूसरा मारता है ऐसी नहीं होकर यही बुद्धि होती है कि भगवान् ही सब कुछ करते हैं तो ऐसी दशा में वह किसी को दोष नही देता। वसुदेवजी कहते हैं कि मैं तो यह समझता हूं कि भगवान् ने ही मेरे पुत्रों को मारा हैं और तुझे भी वेही मारेंगे अतः तुझे भी अपने मरने का शोक नही करना चाहिये।। २७।।

श्री सुबोधिनी = एवं मायाकृतं ज्ञापनं सकार्यं निरुप्योपसंहरति।

अर्थ — इस प्रकार माया ने जो कहा था कि तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया तूं इस दीन देवकी को व्यर्थ न मार, इस कथन का कार्य देवकी वसुदेवजी को छुड़ाना था। उस का निरूपण कर अब इस प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं।

॥ श्री शुक उवाच ॥

श्लोकः-- कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं परिभाषितः ।
देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोविशद् गृहम् ॥२८॥

अर्थ — श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे परीक्षित् ! इस प्रकार अपने सिद्धांत के कहने से प्रसन्न दिखाई देने वाले वसुदेवजी ने जब विशुद्ध भाव से कंस को कहा तो कंस उन की अनुमति लेकर अपने महल में चला गया ।

श्रीसुबोधिनी = कंस इति, एवं प्रसन्नाभ्यां स्वसिद्धान्तकथनेन सम्यक् प्रसादो लक्षितः, विशुद्धं परिभाषित इति, राजन्निति सम्बोधनेन तदुक्तानुवादेन च निरूपितौ, एकस्यैव वचनं निरूपितमिति देवक्या अप्रसादशङ्का वारयितुमुभयोर्ग्रहणं, अतस्ताभ्यामनुज्ञातः प्रतीकारमकृत्वा गृहमेवाविशत् ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ = इस प्रकार प्रसन्न हुए देवकी - वसुदेवजी ने अपना सिद्धान्त कहा तो कंस ने यही समझा कि मुझे ये कर्त्ता न मानकर करण ही मान रहे हैं इसलिये मेरे पर प्रसन्न ही हैं । यह बात "एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं परिभाषितः" से कही है । पूर्व के २६ वें श्लोक में हे महाराज ऐसा कहने से और कंस की बात का अनुवाद कर उसका समर्थन करने से कंस ने यही समझा कि देवकी वसुदेवजी प्रसन्न हैं परन्तु ये वचन वसुदेवजी ने ही कहे हैं, शायद देवकी अप्रसन्न होगी इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक में "देवकी वसुदेवाभ्यां" ऐसा कहा । देवकी वसुदेवजी की आज्ञा लेकर उस समय उत्पन्न हुए बच्चे के मारने के लिये कुछ भी प्रतीकार न कर वह कंस अपने महल में चला गया ॥ २८ ॥

श्री सुबोधिनी = एवं मायाकार्यं भगवत्प्रेरणया कृतं निरूप्य स्वतन्त्रतया तत्कृतं निरूपयितुमाह तस्यामिति यावदध्यायपरिसमाप्ति ।

अर्थ = इस प्रकार भगवान् की प्रेरणा से वसुदेवजी एवं देवकी को छुड़ाना रूप जो माया का कार्य है उसका निरूपण कर माया ने स्वतन्त्रतया जो कुछ किया उसका निरूपण करने के लिये "तस्यां रात्र्यां" से इस अध्याय की समाप्ति तक कहते हैं ।

श्लोकः- तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः ।
तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया ॥ २९ ॥

अर्थ = उस रात्रि के बीत जाने पर कंस ने मन्त्रियों को बुलाया और जो योगमाया ने कहा था वह सब वृत्तान्त कंस ने उनको सुनाया ॥ २९ ॥

श्री सुबोधिनी = यदीदं न कुर्यादवध्य एव स्यात्, तच्च देवानामनिष्टमिति देवतामाया तत्कार्यं कृतवती, असुराणां वा भगवद्रूपा तेषां मुक्त्यर्थं तान् स्वधर्मनिष्ठान् कृत्वा सर्वशास्त्रविरोधिमोक्षं सम्पादयतीति तथाकथा, राजधर्मा हि अनुल्लङ्घनीया यथा पूर्वमविचारेण कृतं तदन्यथा जातमतः परं विचारेण कर्तव्यमिति विचार्य मन्त्रिण आहूय विचारार्थं पूर्ववृत्तान्तमुक्तवानित्याह तस्यामिति, ज्ञानस्य ज्ञातत्वात् कार्यस्य विलंबसहिष्णुत्वाच्च तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामित्युक्तं, मन्त्रिणोऽपि तामसस्य तामसा एवेति तन्नाम्ना ज्ञापितं, देवक्यादौ विनयो यः कृतः स तु नोक्तः, योगनिद्रया यदुक्तं तत्सर्वमाचष्ट यथा कंसो विवेकरहितस्तथा तन्मन्त्रिणोऽपि ।। ३९ ।।

व्याख्यार्थ = यदि माया स्वतन्त्रता से अर्थात् भगवान् की प्रेरणा के बिना आगे कहे गये कार्य को कंस से न कराती तो वह मरता ही नहीं। उसका न मरना देवताओं को इष्ट नहीं था, वे तो यही चाहते थे कि किसी भी रूप में यह कंस उग्र पाप में निरत हो जाय तो जल्दी मरे, इसलिये देवमाया ने ऐसा कार्य कराया अर्थात् उसे आगे कहे जाने वाले पाप में प्रवृत किया अथवा यों कहिये कि "मायेत्यसुराः" इस श्रुति के अनुसार दैत्यों का उपास्य भगवान् माया ही है। इसलिये उनके मायारूप भगवान् ने उन्हें मुक्ति देने के लिये राक्षसों का जो बच्चे आदि मारना स्वधर्म है उसमें लगाया अर्थात् ऐसा कार्य कराने में माया का यही आशय रहा कि यदि ये दैत्य क्रूर कार्य करेंगे तो भगवान् के हाथ से मरने से मुक्त हो जायेंगे। जो स्वधर्म का पालन करता है वह मुक्त हो जाता है इसलिये माया-रूप भगवान् ने उनसे स्वधर्म जो क्रूर कर्म है उन्हें कराया और सब शास्त्रों के विरोधी मोक्ष को दिलाया इसलिये ऐसा कहा है। शङ्का करते हैं कि दैत्य बहुत से थे, वे एकमत होकर स्वधर्म में निरत कैसे हुए तो कहते हैं कि राजा जिन धर्मों को अपनाता है वे सब के लिये पालनीय हो जाते हैं। अतः वे सब ऐसे क्रूर कर्म में प्रवृत्त हुए। क्योंकि जैसा कंस है वैसे उसके मंन्त्री भी दुरात्मा हैं। कंस ने विचार किया कि मैं ने पहले बिना विचारे बच्चों को मारा यह ठीक नहीं किया अब आगे विचार कर ही काम करना चाहिये। इस विचार से उसने मन्त्रियों को बुलाया और उनसे विचार लेने के लिये पहले जो कुछ भी हुआ कहा। कंस ने देवकी वसुदेवजी से अलग होते हो उसी क्षण में प्रतिकार का विचार क्यों नहीं किया तो कहते हैं कि उसे योगमाया से यह ज्ञात हो गया कि मेरा मारने वाला पैदा हो गया और उसके समर्थ होने में अभी विलंब है इसलिये उसने एक रात्रि को बीतने दी, कंस के मन्त्री भी तामस थे क्योंकि तामस राजा के तामस मंत्री होते हैं। यह बात श्लोक में दिये गये कंस पद से बताई गई। कंस ने उनके सामने यह नहीं कहा कि मैं ने देवकी वसुदेवजी से विनय किया था, उसने तो वही बात कही जो योगमाया ने कही थी। कंस जैसे विवेक रहित था वैसे ही उसके मन्त्री भी विवेक रहित थे ।। ३९ ।।

श्री सुबोधिनी = तेषां दौरात्म्यमाह ।

अर्थ = अब मन्त्रियों की दुष्टता को कहते हैं ।

श्लोक:- आकर्ण्य भर्तृगदितं तमूचुर्देवशत्रवः ।
देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः॥३०॥

अर्थ = अपने स्वामी के वचनों को सुनकर देवताओं के शत्रु तथा देवताओं पर क्रोध करने वाले वे दैत्य जो पूर्णतया नीति में कुशल नहीं थे कंस से बोले ॥ ३० ॥

श्री सुबोधिनी = आकर्ण्येति, भर्तुः कंसस्य गदितमाकर्ण्य श्रुत्वा विचार्य च तं प्रत्यूचुः एतेषां कंसरक्षायां न कापि बुद्धिः किन्तु देवद्वेष करणेऽवसरो जात इति हृष्टा इत्याह देवशत्रव इति ॥ ३० ॥

व्याख्यार्थ = अपने स्वामी कंस से कही गई बात को सुन कर और विचार कर कंस से मन्त्री बोले। दैत्यों की यह बुद्धि नहीं थी कि कंस की रक्षा हो किन्तु देवताओं से द्वेष करने का मौका मिल गया इससे वे प्रसन्न हुए यही बात "देवशत्रवः" से श्लोक में कही है ॥ ३० ॥

श्रीसुबोधिनी = प्रथमतः स्वबुद्धया निश्चितं प्रतीकारमाहुः ।

अर्थ = पहले वे दैत्य अपनी बुद्धि से निश्चित किये गये प्रतीकर को कहते हैं ।

। दैत्या ऊचुः ।

श्लोक - एवञ्चेत् तर्हि राजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु ।
अनिर्दशान्निर्दशाँश्च हनिष्यामोद्य वै शिशून् ॥ ३१ ॥

अर्थ = दैत्यों ने कहा कि हे राजाओं के स्वामी कंस। आज ही हम शहरों में, छोटे गांवों में, व्रज आदि में हुए बालकों को जो दश दिन के भीतर के हैं अथवा जो दश दिन के ऊपर के हैं मारेंगे ॥ ३१ ॥

श्रीसुबोधिनी = एवञ्चेदिति, यदि क्वचिद् बालक एव जातः स तु मासमध्ये जातो भविष्यतीत्यनिश्चयेऽपि सर्वानेव बालकान् मारयिष्यामः, ते बालकाः पुरस्था ग्रामस्था व्रजस्था वा भवन्तु, तरतमभावनिरूपणार्थं त्रयाणां ग्रहणं, अस्माकं तु न विलम्बः, तदाहाद्योति, राजेन्द्रेति संबोधनमाज्ञापनार्थं, न निर्गतानि दशाहानि येषां ते निर्दशा अतिबालका निर्दशास्त्वतिक्रान्तदशाहाः, उभयानपि विशेषाकारेण सर्व एव वयं हनिष्यामः, अत्र सन्देहो नास्तीति वैशब्दः, दैत्यगृहेष्वपि स्वसम्बन्धिष्वपि जाता हन्तव्या इति, राज्ञा चेद् भगिनीपुत्रा मारिता अन्यैरपि स्वकीया अपि मारणीया इति तैर्ज्ञातं, अन्यथा प्रभुर्न वदेदिति ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ = कंस के मन्त्री कहते हैं कि यदि ऐसा ही है तो आप के मारनेवाला कहीं पैदा हुआ होगा तो एक मास के भीतर ही पैदा हुआ होगा ऐसा निश्चय न होने पर भी हम सभी बालकों को मारेंगे। ये बालक पुर के हों ग्राम के हों अथवा व्रज के हों, हम मारे बिना नहीं छोड़ेंगे। शहर में बालक ज्यादा मिलते हैं उससे न्यून ग्राम में और उससे कम व्रज में। इसीलिये श्लोक में क्रम से पुर ग्राम एवं व्रज का निर्देश किया है। श्लोक में आये "अद्य" पद का स्वारस्य यह है कि हमें इसमें कोई विलंब नहीं होगा। राजेन्द्र इस सम्बोधन का यह आशय है कि तुम राजाओं में प्रधान हो इसलिये हमें आज्ञा दे सकते हो। हम उन सब बच्चों को जो दश दिन के भीतर के हैं अथवा दश दिन से ज्यादा उम्र के हैं उन सबको विशेषरूप से मारेंगे। श्लोक में आया "हि" शब्द निश्चयार्थक है अर्थात् यह आप निश्चयरूप से समझें, इसमें सन्देह की कोई बात नहीं है। हम उन बालकों को भी मारेंगे जो हमारे सम्बन्धी दैत्यों के घर में पैदा हुए हैं। दैत्यों ने यह समझा कि राजा कंस ने जब बहिन के पुत्र भी मार दिये तो दूसरों को भी अपने सम्बन्धियों के पुत्र भी मारने चाहिये। यदि कंस अपनी बहिन के पुत्रों को नहीं मारता तो वह यह समझता कि जब मैं बहिन के पुत्रों को नहीं मारता हूं तो ये दैत्य भी मेरी बात को नहीं मानेंगे। जब उसने स्वयं ऐसा किया तो यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार प्रजा होने से दैत्यों को भी यह गर्हित कार्य करना उचित हो गया। स्वयं कंस ने ऐसा कार्य किया है इसलिये आज्ञा देने में वह निःशङ्क था अन्यथा आज्ञा ही नहीं देता ॥ ३१ ॥

श्री सुबोधिनी = एवं स्वकृत्यमुक्त्वा तस्य भयाभावार्थं तं प्रोत्साहयन्ति किमुद्यमैरितिषड्भिः, यथा भगवतः षड्गुणास्तथा तव षड्गुणाः

श्लोकः– सामर्थ्यं च जयश्चैव दीनत्वं च दया यथा।
शत्रुणामल्पता चैव राजनीतिस्तथैव च ॥ १ ॥

यदि बालका हन्यन्तेऽन्यमुपायं करिष्यन्ति देवा इत्याशङ्क्याहुः—

अर्थ = इस प्रकार दैत्य अपना कर्त्तव्य कह कर कंस को भय न हो इस के लिये "किमुद्यमैः" आदि छः श्लोकों से उसे प्रोत्साहित करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे भगवान् में छः गुण हैं वैसे ही आप में भी छः गुण हैं। यहाँ "किमुधमैः करिष्यन्ति" इस श्लोक से कंस के सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया है अथवा यह भी कह सकते हैं कि इस श्लोक से देवताओं में कितना सामर्थ्य है इसका निरूपण है। "अस्यतस्ते शरव्रातै" में कंस के जय का निरुपण है। और "केचित्प्रांजलयो भीताः" से देवताओं की दीनता कही गई है, "न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान्" से कंस की दया बताई; "किं चेमशूरैः" से देवताओं को तुच्छ बताया और

"किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण" से राजनिति का वर्णन किया गया। इस प्रकार "किमुद्यमैः" से लेकर छः श्लोकों से क्रमशः सामर्थ्य, जय, दीनता, दया, शत्रुओं की अकिश्चत् करता तथा राजनीति का वर्णन किया गया है। दैत्य कहते हैं कि यदि आप यह कहें कि तुम यदि बालकों को मारोगे तो देवता अन्य उपाय कर लेंगे तो कहते हैं कि:—

श्लोक:- किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः।
नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव ॥ ३२ ॥

अर्थ = देवताओं के उद्योगमात्र से क्या हो सकता है। युद्ध में डरने से वे क्रिया तो कर ही नहीं सकते। उन्हें भय होने में कारण यह है कि तुम्हारे धनुष के टङ्कार से वे उद्विग्न रहते हैं ॥ ३२ ॥

श्री सुबोधिनी = किमुद्यमैरिति, उद्यममात्रं तेषां न तु क्रियासामर्थ्यं, यतः समरे भीरवः संग्रामं दृष्ट्वैव बिभ्यति, तथा भये तेषां निमित्तमाह नित्यमुद्विग्नमनस इति, अयं हि दिग्विजये सर्वानेव मारितवान्, इन्द्रोऽपि भीतः पलायितः, ब्रह्मादयोऽपि लीनाः, धृत्वा च देवान् यातनां प्रापयति, अतो यद्यन्यार्थमपि धनुष्टङ्कारं कुर्यात् तथापि देवा उद्विग्नमनसो भवन्तीति नित्यमुद्विग्नमनसः, तवेति सम्मत्यर्थं निरूपितम् ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ = देवता उद्योगमात्र करेंगे, उनमें क्रिया करने का सामर्थ्य नहीं है क्योंकि वे संग्राम को देखकर ही डरने वाले हैं। उनको ऐसे भय होने में कारण यह है कि नित्य ही उद्विग्न मनवाले रहते हैं। पहले कंस ने दिग्विजय करने के समय सबको मार दिया था, इन्द्र भी डर कर भाग गया था, ब्रह्मा आदि देवता भी भय के कारण छिप गये थे, बाकी रहे सभी देवताओं को पकड़ कर आप यातना दे रहे हैं इस कारण से दूसरे के लिये भी जब आप धनुष का टङ्कार करते हैं तो देवता उद्विग्न मनवाले हो जाते हैं। श्लोक में आये "तव" पद का अभिप्राय यह है कि तुम्हें इस का अनुभव है इस लिये हमारा कहना ठीक है न? ॥ ३२ ॥

श्रीसुबोधिनी = धनुष्टङ्कारमात्रेणैवोद्वेगे पूर्ववृत्तान्तं हेतुत्वेनाह।

अर्थ = तुम्हारे धनुष के टङ्कार से ही देवताओं को उद्वेग हो जाता है इस में पूर्ववृत्तान्त को हेतु बताते हुए कहते हैं कि:—

श्लोक:— अस्यतस्ते शरव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः।
जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः ॥ ३३ ॥

अर्थ = जब आप बाणवर्षा करते हैं तब बाणों के समूह से चारों ओर से मारे जाते हुए जीवन की इच्छा रखने वाले वे देवता धर्म और युद्ध को छोड कर भगने लगते हैं ।। ३३ ।।

श्रीसुबोधिनी = अस्यत इति, अस्यतः शरान् क्षिपतस्ते सतः सम्मुखमनागता अपि तैः क्षिप्तैरेव शरव्रातैः सर्वतो हन्यमानः सञ्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गा जिजीविषवो भूत्वा धर्मं संग्रामं चोत्सृज्य पलायनपराः सन्तो ययुः, देशस्याविवक्षितत्वाद् यत्र क्वापि, ये तु दूरस्थास्ते पलायिताः ।। ३३ ।।

व्याख्यार्थ = बाण चलाते हुए तुम्हारे सामने नहीं आये भी देवता उन चलाये हुए बाणों से जिन के सब अङ्ग छिन्न भिन्न हो गये हैं वे जीवन की इच्छा रख धर्म और संग्राम को छोडकर भगने लगते हैं। श्लोक में अमुक देश विवक्षित न होने से जहां कहीं भगने लगते हैं ऐसा ही हम कह सकते हैं अर्थात् अमुक देश में ही गये यह निश्चितरूप से हम नहीं कह सकते। और जो देवता आप से दूर थे वे भय के मारे ही भग गये ।। ३३ ।।

श्रीसुबोधिनी = येऽपि निकटस्थास्तेऽपि जिजीविषवो भूत्वा पलायनासंभवादुपायान्तरं कृतवन्त इत्याहुः ।

अर्थ = जो देवता पास ही थे वे भग नहीं सके, उन ने जीने की इच्छा से दूसरा उपाय किया, इस बात को कहते हैं—

श्लोकः— केचित् प्राञ्जलयो भीता न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः ।
मुक्तकच्छशिखाः केचिद् भीताः स्म इति वादिनः ।। ३४ ।।

अर्थ = कुछ देवता जिन ने शस्त्र डाल दिये हैं, जो डरे हुए हैं और जिन की चोटी एवं कच्छ खुल गये हैं हाथ जोड कर आप के सामने खड़े हैं और कुच्छ यह कह रहे हैं कि हम भयभीत हैं हमारी रक्षा करो ।। ३४ ।।

श्रीसुबोधिनी = केचिदिति, प्राञ्जलयः, स्तोतुमिव प्रवृत्तानां कायिक्यवस्था प्रदर्शिता, भीता इत्यन्तःकरणस्य, त्यागे न हन्यत इति शास्त्रार्थपरिपालनाय न्यस्तशस्त्राः, तर्हि तेषां कथं स्वधर्मत्यागे स्वर्गो भविष्यती त्याशङ्क्याहुर्मुक्तकच्छशिखा इति, मुक्ताः कच्छाः शिखाश्च येषां परमापदा वैकल्यं तेषामुक्तं, आपदि स्वधर्मास्त्युक्तुं शक्यन्ते, येषां पुनर्दैवगत्या मुक्तकच्छशिखात्वं न जातं तेषां का गतिरिति चेत् तत्राह केचिद् भीताः स्म इति वादिन इति, शरीरे भीतकार्यस्यादर्शनान् मुखत एव भीता वयमित्याहुः ।। ३४ ।।

व्याख्यार्थ = कोई देवता नम्रता से हाथ जोड़ कर मानो स्तुति करने की तरह खड़े हैं। श्लोक में आये "प्राञ्जलयः" से उनके देह की अवस्था कही। भय अन्तःकरण में होता है इसलिये "भीताः" पद से अन्तःकरण की अवस्था कही। शस्त्र छोड़ देने पर शत्रु को नहीं मारना चाहिये इस शास्त्र की

आज्ञा से कंस हमें नहीं मारेगा इसलिये देवताओं ने शस्त्र अस्त्र छोड़ दिये। यहां शङ्का होती है कि यदि देवताओं ने शस्त्र अस्त्र छोड़ दिये तो वे स्वधर्म त्याग से स्वर्ग में कैसे रहेंगे तो कहते हैं कि "दिवौकसः" देवता इस समय ऐसे हैं कि स्वर्ग में उनका केवल स्थान है वे वहां के भोग नहीं कर पाते। शङ्का होती है कि देवताओं ने अपने धर्म का त्याग कर अयुक्त कार्य कैसे किया तो कहते हैं कि "मुक्तकच्छशिखाः" कच्छ एवं शिखा खुलने से वे परम आपत्ति से विकल हो गये। आपत्काल में अपने धर्म छोड़े जा सकते हैं अर्थात् आपत्ति के समय यदि अपने धर्म का त्याग हो जाता है तो कोई दोष नहीं है। उन में कुछ ऐसे हैं जिनकी दैवगति से कच्छ शिखाएँ नहीं खुली वे कह रहे हैं कि हम भयभीत हैं। शरीर में डरे हुए का कार्य नहीं दीखने से मुख से ही वे कह रहे हैं कि हम डरे हुए हैं ॥ ३४ ॥

श्री सुबोधिनी = ननु ये वध्यास्ते सर्वथैव वध्या इति वचनेऽपि किं स्यात् तत्राहु :—

अर्थ = यदि कहें कि जो मारने योग्य हैं वे किसी भी रूप में उपस्थित हों मारने योग्य ही होते हैं तो हम डरे हुए हैं ऐसा कहने पर भी क्या होगा तो कहते हैं कि: —

श्लोकः— न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् भयसन्नतान्।
हंस्यन्यासक्तविमुखान् भग्नचापानयुध्यतः ॥ ३५ ॥

अर्थ = जो भय के मारे शस्त्र अस्त्र भूल गये हैं, रथ हीन हैं, भय से शरणागत हैं, अन्य कार्य में आसक्त होकर युद्ध से विमुख हैं अथवा जो अन्यासक्त हैं और युद्ध से विमुख हैं, जिनके धनुष टूट गये हैं और जो युद्ध न कर दर्शक के रूप में उपस्थित हुए हैं उन्हें तुम नहीं मारते ॥ ३५ ॥

श्री सुबोधिनी = न त्वमिति, सङ्ग्रामधर्मस्त्वया न त्यज्यतेऽतो ये देवा विस्मृतशस्त्रास्त्रा भयात्, शस्त्राणि धृत्वा यैर्मार्यन्ते अस्त्राणि दूरात्, मन्त्रयुक्तानि वा, भयादुभयविधान्यपि विस्मृतानि, विगतो रथो येषां, सारथ्यादीनां वधात् "प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवि" दितिवाक्याद् विरथोप्यवध्यः, भयेन सम्यङ्नताः शरणागताः, प्रसंगादन्यानप्याहान्यासक्तविमुखान्, अन्यासक्ताश्च ते विमुखाश्चोभयविधा वा भग्नचापानयुध्यतः, निरीक्षकान् न हंसीति सम्बन्धः, एते षड्विधाः सप्तविधा वा न हन्तव्याः, अतस्त्वया स्वधर्मे परिपाल्यमाने पूर्वन्यायेन देवा जीविता इति भावः ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ = संग्राम के धर्म को आप नहीं छोडते अतः जो देवता भय से शस्त्र एवं अस्त्रों को भूल गये हैं उन्हें आप नहीं मारते। शस्त्र वे होते हैं जो हाथों से पकड़ कर चलाये जाते हैं और अस्त्र वे हैं जो दूर से चलाये जाते हैं। अथवा यों कहिये कि जो मन्त्र से चलाये जाते हैं वे अस्त्र हैं। जो

देवता इन दोनों को भय से भूल गये हैं उनको तथा जो सारथि घोडे आदि मरने से रथ रहित हो गये हैं उन्हें "प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्" वाक्य के अनुसार आप नहीं मारते । उपर्युक्त वाक्य का अर्थ यह है कि जो शत्रु शरणागत रथ रहित और डरा हुआ हो उसे धर्म जानने वाले नहीं मारते। इससे यह बताया कि रथ रहित शत्रु को भी नहीं मारना चाहिये। और जो भय से शरणागत हैं उन्हें भी नहीं मारना चाहिये। यहां प्रसंग से दूसरों को भी कहते हैं कि जो अन्यासक्त होकर युद्ध से विमुख हो गये हैं अथवा यहां यह भी कहा जा सकता है कि जो अन्यासक्त हैं और युद्ध से विमुख हैं, जिनके धनुष टूट गये हैं और जो युद्ध न कर दर्शक के रूप में उपस्थित हुए हैं उन्हें तुम नहीं मारते । ऊपर कहे गये छः प्रकार के अथवा अन्यासक्त एवं विमुख को भिन्न २ मानते हैं तो सात प्रकार के होते हैं इन्हें नहीं मारना चाहिये। अतः "प्रपन्नं विरथं भीतं इस न्याय के अनुसार स्वधर्म के पालन से देवता जीवित रहे हैं ।। ३५ ।।

श्री सुबोधिनी = एवं साधारणानामप्रयोजकत्वमुक्त्वा महतामप्याह ।

अर्थ = इस प्रकार साधारण देवता आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते ऐसा कह कर महान् भी आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकते यह कहते हैं ।

श्लोकः— किं क्षेमशूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः ।
रहोजुषा किं हरिणा शंभुना वा वनौकसा ।। ३६ ।।

अर्थ = देवता वहीं वीर बनते हैं जहां अपने अकल्याण की संभावना न हो । वे रण के बाहिर बड़ी २ डींग मारनेवाले हैं । उनसे तथा एकान्त में रहने वाले हरि भगवान् से वनवासी शंकर से अपना क्या बिगाड़ हो सकता है ।। ३६ ।।

श्री सुबोधिनी = किं क्षेमशूरैरिति, येपि वाय्वग्निवरुणादयः शूराः प्रसिद्धास्तेपि क्षेमशूरा एव, क्षेमे सति गृहे भार्यायां वा शूरा यत्राक्षेमशङ्कैव नास्ति, न हि भार्या पतिं मारयिष्यतीति संभावना, यत्र पुनः संभावना मारयिष्यतीति तत्र पलायनमेव, एतदर्थपरिज्ञानादेव विबुधाः एतच्छारीरशौर्यं तेषां निरूप्य वाचनिकं शौर्यं निरूपयन्त्यसंयुगविकत्थनैरिति, विकत्थनं स्वशौर्याविष्करणवाक्यं, तदपि न संयुगे, केनापि सह यदा न युद्धसंयोगस्तदैव विकत्थनं, एवं देवान् दूषयित्वा मुख्यांश्चतुर आहुः, अस्ति हरिः शूरः, परं कस्यापि स सम्मुखो न भवति, यस्त्वेकान्ते तदेकपरस्तिष्ठति हरिरपि तस्य संमुखो भवतीति स्तुतिपक्षे यथाश्रुतमेव, पक्षान्तरे स्त्री तुल्यता निरूपिता, हरिणेति, सर्वदुःखनिवारकत्वं निरूपितं, यतो दुःखितेष्वेव शौर्यादिरहितेषु तस्याविर्भावो निरूपितः अस्ति च त्रिपुरान्तकः शूरः, सोपि सर्वदा वनवासी तपस्वी, न हि वनस्थस्तपस्वो कस्यचिद् द्विष्टो भवति, असमत्वात् ।। ३६ ।।

व्याख्यार्थ = जो भी वायु, अग्नि, वरुण आदि प्रसिद्ध शूर हैं वे जब तक कल्याण रहे तभी तक शूर हैं, अथवा यों कहिये कि घर में एवं भार्या के सम्मुख हो शूर बनते हैं, जहां उन्हें अकल्याण की आशका नहीं है जैसे स्त्री अपने पति को नहीं मार सकती यह संभावना है। जहां यह संभावना हो कि मारेगा ही तो वे वहां से भाग ही जाते हैं। इस अर्थ का उन्हें परिज्ञान हैं इस लिये वे विबुध हैं, अर्थात् कहां विपत्ति आ सकती है और कहां नहीं इस बात को देवता समझते हैं इस लिये विबुध हैं अर्थात् विशेष रूप से समझने वाले हैं। इस प्रकार देवताओं के शरीर का शौर्य कह कर अब उनकी वाणी के शौर्य को कहते हैं कि "असंयुगविकत्थनैः" अपने पराक्रम से प्रकट करने वाले वाक्यों को कहना विकत्थन कहलाता है, यह डींग भी युद्ध के बाहिर ही मारते हैं अर्थात् जब किसी के साथ युद्ध न होता हो तब हम ऐसे हैं हम ऐसे हैं ऐसी डींग मारते हैं। इस प्रकार देवताओं को दूषण लगा कर मुख्य चार देवताओं के विषय में कहते हैं कि हरि शूर अवश्य है परन्तु वह किसी के सामने आता ही नहीं, वह तो उसी के सम्मुख प्रकट होता है जो एकान्त में उसी की भक्ति करता है। स्तुतिपक्ष में जैसा पद है वैसा ही अर्थ करना जिस से भगवान् की स्तुति हो जाय। निन्दा पक्ष में यह भाव होगा कि स्त्री जैसे किसी के सम्मुख नहीं आती और अपने में अनुरक्ति रखने वाले को ही एकान्त में मिलती है वैसे ही हरि भी किसी अननुरक्त व्यक्ति के सम्मुख नहीं आता। इस से दैत्यों ने भगवान् को स्त्री तुल्य बताया। और एक बात यह भी है कि सब दुःखों को दूर करने वाला है इस लिये हरि है। यहां दैत्यों का भाव यह है कि जो शौर्य आदि से रहित है और दुःखित हैं उनके सामने ही प्रकट होता है। महादेव यद्यपि शूर है परन्तु वह सदा वन में रहने वाला तपस्वी है। वन में रहने वाला तपस्वी किसी का शत्रु नहीं होता क्योंकि वह किसी के समान नहीं होता, जहां समानता होती है वहां ही द्वेष होता है ॥३६॥

श्लोकः— किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता। तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे ॥३७॥

अर्थ = यद्यपि अल्पवीर्य वाले इन्द्र से तथा तप करने वाले ब्रह्मा से कुछ भी नहीं बिगड़ सकता तथापि शत्रुता होने से देवता उपेक्षणीय नहीं हैं ऐसा हम मानते हैं ॥३७॥

श्रीसुबोधिनी = देवेन्द्रस्तु यद्यपि वृत्रहा तथाप्यल्पवीर्यः, अन्यथा वज्रादिप्रार्थनां कथं कुर्यात्? ब्रह्मा यद्यपि महान् भवति तथापि ब्राह्मण एव तपस्वी, एवं यद्यपि सर्वे देवा अप्रयोजकास्तथापि राजनीतिविचारेण ते नोपेक्ष्या इत्याहुस्तथापीति, देवानां दैत्यानां च सापत्न्यमस्ति कश्यपदायादाः सर्वे भिन्नमातृजास्ते शत्रव एव परस्परं भवन्ति, अतः सहजद्वेषित्वात् यदैव ते पुष्टा भविष्यन्ति तदैव मारयिष्यन्तीति नोपेक्ष्याः क्षीणदशायामेव मारणीयाः, अयमर्थो भवति न वेति विचारका जानन्ति वयं त्वेवं मन्महे ॥३७॥

व्याख्यार्थ = देवताओं का इन्द्र यद्यपि वृत्रासुर को मारने वाला है तथापि अल्प पराक्रमी है। यदि अधिक पराक्रमी होता तो वज्र आदि लेने के लिये वह प्रार्थना क्यों करता । ब्रह्मा यद्यपि महान् हैं तथापि ब्राह्मण ही है और तपस्वी है। ब्राह्मण एवं तपस्वी का कोई शत्रु नहीं होता। दैत्य कहते हैं कि इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो सभी देवता कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते तो भी राजनीति के विचार से वे उपेक्षा के योग्य नहीं हैं क्योंकि देवताओं के और दैत्यों के परस्पर सापत्न्य है । यद्यपि देवता और दैत्य सब ही कश्यपजी का हिस्सा लेने वाले हैं अर्थात् उनकी सन्तान है परन्तु भिन्न २ माता से पैदा हुए हैं इसलिये वे परस्पर में सहज शत्रु हैं। जब ही वे देवता पुष्ट हो जायंगे तब ही हमें मारेंगे इसलिये देवता उपेक्षणीय नहीं हैं, उन्हें क्षीणदशा में ही मारना चाहिये। यह बात हो सकती है या नहीं यह विचारक जानें, हम तो ऐसा मानते हैं ॥ ३७ ॥

श्री सुबोधिनी = एवं माहात्म्यं नीतिं चोक्त्वा किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः—

अर्थ = इस प्रकार कंस के माहात्म्य को और नीति को कहकर अब क्या करना चाहिये इस पर दैत्य कहते हैं कि:—

श्लोकः- ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वास्माननुव्रतान् ॥ ३८ ॥

अर्थ = इसलिये उन के मूल को उखाडने के लिये हमें आज्ञा दीजिये क्योंकि हम सर्वथा आपका अनुसरण करने वाले हैं ॥ ३८ ॥

श्रीसुबोधिनी = तत इति, यदेव देवानां मूलं भविष्यति तस्यैव खनने नियुङ्क्ष्वाज्ञापय, अनुव्रतानिति, योगेन रूढ्या च सर्वथा भवन्तमनुसृता वयं, मूलमग्रे वक्तव्यं खननं च मध्ये ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ = जो भी देवताओं का मूल हो उसे ही उखाड़ फेंकने के लिये आज्ञा दीजिये, हम आपके अनुव्रत हैं अर्थात् आपका अनुसरण करने वाले हैं। यहां "अनुव्रत" शब्द को यौगिक मान लेते हैं तो "अनु पश्चात् गमनस्य व्रतं नियमो येषां" ऐसा अर्थ होता है अर्थात् आप के पीछे चलने का है नियम जिनका ऐसे हम को आज्ञा दीजिये। यदि अनुव्रत शब्द को रुढ मानते हैं तो सेवक अर्थ होता है। इस अर्थ के मानने पर भी यही तात्पर्य होगा कि हम आप का अनुसरण करने वाले सेवक हैं। मूल कौन है इसे आगे बतायंगे और खनन को पहले कह रहे हैं ॥ ३८ ॥

श्री सुबोधिनी = उपेक्षायां को दोष इति चेत्तत्राहुः ।

अर्थ — यदि देवताओं की उपेक्षा करें तो क्या दोष होगा तो कहते हैं कि।

श्लोकः- यथामयोंगे समुपेक्षितो नृभिर्न शक्यते रुढपदश्चिकित्सितुम् ।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते ॥३९॥

अर्थ — जैसे शरीर में होने वाले ज्वर आदि रोग की उपेक्षा की जाय तो वह अपनी जड़ जमा लेता है और फिर असाध्य हो जाता है, जैसे इन्द्रयों की उपेक्षा करने वाले योगी का उनके द्वारा सर्वनाश हो जाता है वैसे ही शत्रु की उपेक्षा की जाय तो उसके प्रबल होने पर उसका दबाना कठिन हो जाता है और उस से अपना सर्वनाश हो जाता है ॥ ३९ ॥

श्री सुबोधिनी = यथेति, आमयो रोगो ज्वरादिरङ्गे आविर्भूतस्तमनादृत्य यदि स्नानभोजनादिकं कुर्यात् तदा रुढपदः संश्चिकित्सितुं न शक्यते, अङ्गमेव नाशयति, सद्वैद्येनापि तज्जनिते सन्निपाते चिकित्साऽशक्या, अनेन सम्बन्धे विद्यमाने कथं मारणीया इति शङ्का निवारिता तेषां सर्वनाशकत्वादिति लौकिकबाधकत्वेन निरूपितं, वैदिक-बाधकत्वेन दृष्टान्तान्तरमाह यथेन्द्रियग्राम उपेक्षित इति, योगिना परमपुरुषार्थे साध्य इन्द्रियसमूहो नोपेक्षणीयः, तेषामुपेक्षाया "मिन्द्रियैर्विषयाकृष्टै" रितिन्यायेन सर्वनाशो भवति, प्रबलं चेदिन्द्रियं पश्चान्निवारयितुमशक्यं यथैहिकामुष्मिकनाश एताभ्यां तथा सर्वनाशो देवैर्दैत्यानां, तदाह रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यत इति, महान् स्वापेक्षयापि स्वरूपतः, ते चेत् सम्बद्धबला भवन्ति तदा चालयितुमप्यशक्या अतो नोपेक्षणीयाः ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ = ज्वर आदि रोग शरीर में उत्पन्न हो जाय और उसकी परवाह न कर स्नान भोजन आदि करता रहे तो उस रोग के दृढमूल हो जाने पर उस की चिकित्सा नहीं हो सकती और वह अपने शरीर को ही नष्ट कर देता है। यदि ज्वर से सन्निपात हो गया तो अच्छे वैद्य से भी उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती। इससे यह शङ्का निवृत हुई कि सम्बन्ध रहते कैसे मारें। जैसे शरीर से पैदा होने से रोग अपना सम्बन्धी है परन्तु उपेक्षा होने पर वह अपना शर्वनाश करने वाला है इस लिये उसके मिटाने का उपाय करना ही चाहिये वैसे ही यदि कोई अपना सम्बन्धी है और अपना सर्वनाश करने वाला है तो उसे भी नष्ट करना ही चाहिये। यह बात लौकिक बाधक रूप में कही। अब वैदिक बाधा बताते हुए दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि जैसे योगी को परम पुरुषार्थ साधन करना हो तो अपने इन्द्रिय समूह की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यदि उनकी उपेक्षा की जाती है तो "इन्द्रियै-विषयाकृष्टैराक्षिप्त" के अनुसार उसका सर्वनाश हो जाता है। यदि इन्द्रियें प्रबल हो गई तो फिर वे विषयों से हटाई नहीं जा सकती। और रोग बढ़ने पर शरीर को नष्ट करेगा इसलिये वह व्यक्ति ऐहिक फल से वञ्चित रहेगा। जैसे योगी की इन्द्रियों के प्रबल होने पर उसे परलोक का सत्फल नहीं मिलता और रोग की उपेक्षा से जैसे ऐहिकफल नष्ट हो जाता है उसी प्रकार देवताओं की उपेक्षा करने पर देवताओं द्वारा दैत्यों का सर्वनाश हो जायेगा। इसी बात को कहने के लिये "रिपुर्महान् बद्धबलो न

चाल्यते" से कहा है। जो स्वरूप से पहिले ही अपने से महान् हैं फिर यदि वे बलवान् बन जाते हैं तो उन्हें विचलित भी नहीं किया जा सकता। इसलिये देवताओं की उपेक्षा करना उचित नहीं है ॥ ३९ ॥

श्री सुबोधिनी = मूलमाह :

अर्थ = अब दैत्य देवताओं के मूल को बताते हैं।

श्लोकः— मूलं विष्णुर्हि देवानां यत्र धर्मः सनातनः।
तस्य च ब्रह्मगोविप्रास्तपोयज्ञाः सदक्षिणाः ॥४०॥

व्याख्यार्थ = देवताओं का मूल विष्णु है जिसमें यज्ञादिरूप सनातन धर्म रहता है, उस विष्णु के तथा देवताओं के मूल—वेद, गायें, ब्राह्मण, तप तथा दक्षिणा सहित यज्ञ हैं ॥ ४० ॥

श्री सुबोधिनी = मूलं विष्णुरिति, देवानां मूलं विष्णुः, विष्णुप्रभवा देवाः, सत्त्वगुणा देवाः, तस्याधिष्ठाता तु विष्णुः, इमां युक्तिं हिशब्द आह, प्रकारान्तरेणापि देवानां मूलं विश्णुरित्याह यत्र धर्मः सनातन इति, धर्मो यागादिः, स तु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकः, स केवलं वेदोक्तःसनातनः, "तानि धर्माणि प्रथमान्यास" न्निति श्रुतेः, यज्ञाभावे देवानां भक्ष्याभावाद् यज्ञो देवानां मूलं, स च स्वदेवतानियम्यः, तस्य च देवता विष्णुः, "यज्ञो वै विष्णु" रिति श्रुतेः, न केवलं तस्य नियामकत्वं किन्त्वाधारत्वमपि, तदाह यत्रेति, यत्र विष्णौ सनातनो धर्मः, "धर्मस्य प्रभुरच्युत" इति वाक्यात्, तस्माल्लौकिकवैदिकदेवानां मूलं विष्णुः, तस्यापि मूलमाह तस्येति, चकाराद्देवानामपि, ब्रह्म वेदः, गावो विप्राश्च तपो यज्ञाः सदक्षिणाः, प्रमाणं वेदः, हविरेकत्र मन्त्राश्चैकत्र, द्विविधो हि धर्मः, प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकः, प्रवृत्त्यात्मको यज्ञो निवृत्त्यात्मकस्तपः, सदक्षिणाः दक्षिणा यज्ञस्य भार्या, अनेन प्रवृत्तिधर्मत्वं तस्योक्तं, पञ्चात्मको वा मूलत्वेन निरूपितः, अनेन द्वयं मूलत्वेनोक्तं ब्राह्मणा गावश्च, तत्र दुहन्त्यो गावो, यज्ञकर्तारस्तपस्विनो वेदविदो ब्राह्मणाः ॥४०॥

व्याख्यार्थ = देवताओं का मूल विष्णु है। सब देवता विष्णु से पैदा हुए हैं। देवता सत्त्वगुणवाले हैं और यज्ञ के अधिष्ठाता विष्णु है। देवताओं का मूल विष्णु है, इसमें बताई गई युक्ति को श्लोक में आया "हि" शब्द कहता है। देवताओं का मूल विष्णु है। इस बात को प्रकारान्तर से भी कहते हैं कि "यत्र धमः सनातनः"। याग आदि जो धर्म हैं वह देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य अर्पण करना रूप है और वेद में कहा गया धर्म ही सनातन (सदा से रहने वाला) है जैसा कि श्रुति में कहा है "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" यागादि धर्म आरंभ से ही थे अथवा यों कहिये कि वे धर्म सब से प्रथम थे। यदि यज्ञ नहीं होते हैं तो देवताओं को भक्ष्य नहीं मिलता इसलिये यज्ञ देवताओं का मूल है और वह यज्ञ अपने देवता से नियम्य है। यज्ञ का देवता विष्णु है जैसा कि "यज्ञो वै विष्णुः" से कहा गया है। यज्ञ विष्णुरूप हैं इसलिये यज्ञ का नियामक विष्णु है। वह विष्णु यज्ञ का नियामक ही नहीं है किन्तु यज्ञ का आधार भी है इसलिये "यत्र धर्मः सनातनः" में यत्र पद दिया है अर्थात् जिस विष्णु में

सदा से रहने वाले याग आदि धर्म है। यहां "यत्र" इस अधिकरण निर्देश से धर्म का आधार भगवान् है यह कहा, इसलिये "धर्मस्य प्रभुरच्युतः" ऐसा कहा है अर्थात् धर्म का स्वामी विष्णु है, इससे सिद्ध हुआ कि लौकिक वैदिक देवताओं का मूल विष्णु है और उस विष्णु का तथा देवताओं के मूल-वेद, गायें, ब्राह्मण, तप और दक्षिणा सहित यज्ञ हैं। यज्ञ में वेद प्रमाण माना जाता है। गायों में हवि (घृत) रहता है और ब्राह्मण में मन्त्र रहते हैं। धर्म दो प्रकार का है, एक प्रवृत्ति रूप और दूसरा निवृत्तिरूप। प्रवृत्तिरूप धर्म यज्ञ है और निवृत्तिरूप धर्म तप है। दक्षिणा यज्ञ की भार्या है, उस सहित यज्ञ का यहां निर्देश है इस लिये यज्ञ को प्रवृत्ति धर्मरूप बताया। तात्पर्य यह है कि जो स्त्री के साथ रहता है वह प्रवृतिमार्ग में ही समझा जाता है। [१]वेद, यज्ञ, गो, विप्र और तप ये पांचों जिस के स्वरूप हैं ऐसा विष्णु ही देवताओं का मूल है। प्रकारान्तर से दो ही मूल हैं। मूल बताने वाले वाक्य से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण और गायें ये दो मुख्य रूप से मूल है, अर्थात् दुहाती हुई गायें और यज्ञ करने वाले तपस्वी वेद वेत्ता ब्राह्मण। यज्ञ के लिये घृत एवं दुग्ध गायों से मिलता है और यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण मन्त्र बोलनेवाले होते हैं, इन दोनों से यज्ञ सम्पन्न होता है। तपस्वी वेदवेत्ता ब्राह्मण निवृत्तिमार्गीय धर्म के चलानेवाले हैं ॥ ४० ॥

श्रीसुबोधिनी = तेषां खननमाह।

अर्थ = ब्राह्मण एवं गायों के उन्मूलन के लिये कहते हैं: —

श्लोक- तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः।
तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्चहन्मो हविर्दुघाः ॥ ४१ ॥

अर्थ = इसलिये अपने से दूसरों से साक्षात् एवं परम्परया जैसे भी लौकिक वैदिक साधन न कर सकें वैसे हम वेद एवं वेदार्थ जाननेवाले, तपस्वी तथा जिनका यज्ञ करने का स्वभाव है ऐसे ब्राह्मणों को और हविष्य देनेवाली गायों को मारेंगे ॥४१ ॥

श्रीसुबोधिनी = तस्मादिति, सर्वात्मना लौकिकवैदिकसाधनैः स्वतः परतः साक्षात् परंपरया च यथैव ते निवृत्ता भवन्ति, ब्राह्मणानां विशेषणं ब्रह्मवादिनो वेदवेदार्थविदः, उभयविधं च कुर्वन्तीति, तपस्विनो यज्ञशीलाश्च, हविर्दुघाः पयोदोग्ध्र्यो गाः, हन्धातोर्लटि बहुवचनं हन्म इति ॥ ४१ ॥

---

१. "पञ्चात्मको वा मूलत्वेन निरूपितः" इस सुबोधिनी पर श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि वेद, यज्ञ, गो, विप्र और तप रूप विष्णु ही देवताओं का मूल है।

व्याख्यार्थ = जिस प्रकार लौकिक एवं वैदिक साधनों से वे स्वयं हटे अथवा दूसरों के द्वारा हटाये जाय ऐसा उपाय साक्षात् हम करें अथवा दूसरों से करावें और ऐसे ब्राह्मणों को मारें जो वेद तथा कर्म एवं ज्ञान रूप जो वेद के अर्थ हैं उनको जानने वाले हों अर्थात् जो कर्म एवं ज्ञान में निरत, तपस्वी, यज्ञ करने के स्वभाव वाले ब्राह्मण हों और गायें भी वैसी हो जो हवि के लिये दुही जाती हो उन सबको हम मारेंगे। श्लोक में "हन्मः" पद में जो वर्त्तमान काल में लट् है वह 'वर्तमान समीप्ये वर्तमानवद्वा" से किया है। यदि ऐसा यहां नहीं मानते हैं तो "हन्मः" यह प्रयोग हो ही नहीं सकता क्यों कि इस समय मन्त्रणा ही हो रही है, मारना आरंभ नहीं किया गया है अतः "वर्तमाने लट्" सूत्र से यहां लट् नहीं हो सकता। शीघ्रातिशीघ्र मारना बताना है इस लिये भविष्यत् अर्थ में भी वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्र से लट् हो गया ।। ४१ ।।

श्रीसुबोधिनी = एवं विष्णुमूलत्वेन ब्राह्मणगवां निराकरणं निरूप्य भगवच्छरीरत्वेनापि एतान् निरूपयन्ति साक्षान्निराकरणाय ।

अर्थ = इस प्रकार विष्णु के मूलभूत ब्राह्मण एवं गायों को मारना चाहिये ऐसा निरूपण कर अब साक्षात् निराकरण करने के लिये ये भगवान् के शरीर हैं ऐसा निरूपण करते हैं।

श्लोकः— विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः ।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ।।४२।।

अर्थ = ब्राह्मण, गायें, हविष्य के उपयोगी सभी अन्न, वेद एवं उनके अंग अथवा व्रत, तप, सत्य, इन्द्रियों का दमन, अन्तःकरण का शमन, श्रद्धा, दया, तितिक्षा (अतिक्रमण को सहन करना) तथा ज्योतिष्टोमादि योग ये सब हरि भगवान् के शरीर हैं ।। ४२ ।।

श्री सुबोधिनी = विप्रा इति, विप्रा गावश्चकारादन्यान्यप्यन्नानि, वेदाः, चकारादङ्गानि व्रतानि वा, तपः सत्यं दमः शाम इति ब्रह्मचर्याद्याश्रमधर्माः, तपः शारीरो धर्मः, सत्यं वाचः, दम इन्द्रियाणां, शमोन्तःकरणस्य, श्रद्धा सर्वत्र, दया च सर्वेषु, तितिक्षातिक्रमसहनं, एवं दशविधो दशावतारः, क्रतवोऽ सङ्ख्याता ज्योतिष्टोमादयः, एते सर्वे सर्वदुःखहर्तुर्भगवतस्तनूस्तन्वः, तस्माद्विष्णौ प्रयत्नः प्रतिष्ठितः ।। ४२ ।।

व्याख्यार्थ = ब्राह्मण, गायें, श्लोक में आये चकार से दूसरे २ हविष्य के साधन सभी अन्न, वेद तथा श्लोक में आये दूसरे चकार से लिये गये वेदों के अंग अथवा व्रत; यहां श्लोक में आये "तपः सत्यं दमः शमः" पदों से क्रम से ब्रह्मचर्यादि आश्रमधर्म लिये गये हैं। तप शरीर का धर्म है, सत्य

वाणी का, दम इन्द्रियों का, शम अन्तःकरण का धर्म है, सब में श्रद्धा, सब प्राणियों में दया, अतिक्रमण सहन करना ये दश धर्म भगवान् के दश अवताररूप हैं, ज्योतिष्टोमादि योग अनन्त हैं। ये सब संपूर्ण दुःख हरण करने वाले हरि भगवान् के शरीर हैं। अतः इन सब का आत्मा विष्णु है। इस से उसके प्रयत्न से ही ये काम करते हैं। जैसे शरीर में जीव के रहते चेष्टा होती है वैसे ही ब्राह्मण आदि का संचालन विष्णु से ही होता है क्योंकि ये सब उस के शरीर हैं ॥ ४२ ॥

श्रीसुबोधिनी = उपसंहरंस्तस्य मूलत्वमाह—

अर्थ = इस बात का उपसंहार करते हुए दैत्य भगवान् को ही इन का मूल बताते हैं।

श्लोकः— स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड् गुहाशयः।
तन्मूला देवताः सर्वाःसेश्वराः सचतुर्मुखाः ॥
अयं हि तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम् ॥ ४३ ॥

अर्थ = वह विष्णु सब देवताओं का अध्यक्ष, दैत्यों का शत्रु, अन्तः करण में गुप्तरूप से रहनेवाला तथा ब्रह्मा महादेव सहित सब देवताओं का मूल है, अतः उस के मारने का उपाय यही है कि ऋषियों को मारना ॥ ४३ ॥

श्रीसुबोधिनी = स हीति " मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय" इति न्यायाद् गौणानां देवानां निराकरणं व्यर्थं पूर्वोक्त न्यायेन सर्वसुराणां विष्णुरेवाध्यक्षः प्रभुः, किञ्चान्ये देवास्तथासुरान् न द्विषन्ति, कदाचित् सहभावोऽपि लक्ष्यते, हरिस्त्वसुरद्विडेव, मारयितुमपि न शक्यते साक्षाद् यतो गुहाशयः, गुप्तेन्तःकरणे वा तिष्ठतीति, अध्यक्षत्वं च न लौकिकप्रभुवत् किन्तु मूलभूतोपीत्याह तन्मूला इति, स्त्रिलिङ्गप्रयोगोवगणनार्थः, महादेवस्य ब्रह्मणश्च स्वतन्त्रतामाशङ्क्याहुः सेश्वराः सचतुर्मुखाइति, अतो विष्णोः प्रतीकारः कर्तव्यः प्रतिकारश्चर्षीणां निराकरणमेवेत्याहायमिति, ऋषिपदेनैव सर्वे धर्मा उक्ताः ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ = जहां प्रधान और अप्रधान बताये जाय वहां प्रधान में कार्य होता है, यही "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः" का आशय है। अतः इस न्याय से गौण (अमुख्य) देवताओं को मारना व्यर्थ है किन्तु इनका अध्यक्ष विष्णु ही है अतः उसे ही मारना चाहिये। एक बात यह भी है कि अन्य देवता विष्णु की तरह द्वेष नहीं करते, वे कभी समुद्र मन्थन आदि कार्यों में हमारे साथ भी रहते हैं परन्तु विष्णु तो हम से द्वेष ही करता रहता है, उसे साक्षात् मार भी नहीं सकते क्यों कि वह गुप्त स्थान

में अथवा "गुहां प्रविष्टौ" के अनुसार गुप्त अन्तःकरण में रहता है [१]। भगवान् लौकिक स्वामी (राजा) की तरह देवताओं का अध्यक्ष ही नहीं है किन्तु उनका मूलमूत भी है। श्लोक में "देवताः" यह स्त्रीलिङ्ग का निर्देश है इससे दैत्य सूचित करते हैं कि देवता स्त्री की तरह नगण्य हैं। महादेव और ब्रह्मा भी स्वतन्त्र नहीं हैं इस बात को "सेश्वराःसचतुर्मुखाः" से कहा है अर्थात् महादेव एव ब्रह्मा सहित सभो देवों का मूल भगवान् ही है अतः विष्णु का प्रतिकार करना चाहिये। उसके प्रतीकार के लिये ऋषियों का तथा उनसे प्रवर्तित धर्म का निराकरण करना आवश्यक है। यहां ऋषि पद से उनसे उपदिष्ट धर्म भी लिया गया है ॥ ४३ ॥

श्रीसुबोधिनी = एवं तेषां वचनं श्रुत्वा किं कृतवानिति अशङ्क्याह।

अर्थ = इस प्रकार दैत्यों के वचन को सुनकर कंस ने क्या किया सो कहते हैं।

श्लोकः—एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः।
ब्रह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोसुरः ॥४४॥

अर्थ = इस प्रकार वह कंस दुष्ट मन्त्रों से मन्त्रणाकर खराब बुद्धिवाला हो गया और उसने ब्राह्मणों की हिंसा को अपना हित माना क्योंकि वह असुर होने से स्वभाव से दुष्ट था और कालपाश से आवृत भी था ॥ ४४ ॥

श्री सुबोधिनी = एवमिति, नन्वयं क्षत्रियो ब्राह्मणरक्षकः कथं ब्रह्महिंसां हितत्वेन मेने ? तत्राह दुर्मन्त्रिभिरिति, एते दुष्टा मन्त्रिणः, पर्यवसानदोषदर्शनाभावात्, तैः सह सम्यङ् मन्त्रणं कृत्वा दुर्मतिर्जातः बुद्ध्या हि सर्वनिर्णयः, बुद्धिनाशकस्तु दुःसङ्गस्तत्रापि मन्त्रित्वेन गृहीतः, अत एव ब्रह्महिंसां स्वस्य हितत्वेन मेने, ननु दुःसङ्गेपि कथं स्वाभाविको भावोन्यथा जात इति चेत् तत्राहासुरः कालपाशेनावृतश्च, असुरत्वात् स्वभावदुष्टः कालपाशावृत आपद्ग्रस्तः आपदि सर्व बुद्धिनाशो भवति, तत्रापि कालपाशपदाभ्यां महत्यापदा निरूपिता ॥ ४४ ॥

---

[१] श्रीपुरुषोत्तमजी अपनी प्रकाशाख्य टीका में लिखते हैं— श्री सुबोधिनी में जो "गुप्त" पद आया है इसका अर्थ यह है कि वह सुरक्षित स्थान में रहता है अथवा यों कहिये कि अन्तःकरण में रहनेवाला है इसलिये अत्यन्त समीप है परन्तु जब अन्तःकरण ही अणु है तो उसमें रहनेवाला भगवान् तो अत्यन्त सूक्ष्म है और वह नित्य भी है अतः उसको मारना कठिन है। एक बात यह भी है वह अन्तःकरण में रहता है इसलिये हमारे विचारों को समझ कर अन्तर्हित हो सकता है। अन्तःकरण में रहने वाला तब ही मारा जा सकता है जब अन्तःकरण वाला स्वयं मरे। यदि स्वयं ही मर जाता है तो फिर दूसरे को कैसे मार सकता है इसलिये वह विष्णु मारा नहीं जा सकता।

व्याख्यार्थ = इस प्रकार कुमन्त्रियों से मन्त्रणा कर ब्राह्मणों को मारना उसने अपना हितकर समझा। शङ्का होती है कि वह कंस क्षत्रिय है और क्षत्रिय ब्राह्मणों का रक्षक होता है तो फिर इसने ब्राह्मणों की हिंसा को हित कैसे माना तो कहते हैं कि जिनके साथ कंस ने मन्त्रणा की वे दुष्ट मन्त्री थे क्योंकि उन्हें ऐसा करने पर परिणाम में क्या होगा इसका ज्ञान नहीं था। कंस ने उनके साथ मन्त्रणा की इसलिये वह भी दुर्बुद्धिवाला हो गया। बुद्धि से ही सब निर्णय होता है। बुद्धि का नाश करने वाला दुःसङ्ग है ऐसी स्थिति में यदि दुष्टों को ही मन्त्री बनाले तो फिर कहना ही क्या है। अत एव ब्राह्मणों की हिंसा को अपना हितकर माना। यदि कहें कि दुःसङ्ग होने पर भी उसका स्वाभाविक भाव कैसे बदल गया तो कहते हैं कि वह असुर होने से स्वतः स्वभावदुष्ट था और कालपाश से आवृत होने से आपद्ग्रस्त था। आपत्ति में भी जब सपूर्ण बुद्धि का नाश हो जाता है तो कालपाश से वेष्टित होने पर तो महाविपत्ति आती ही है। ऐसी दशा में उसको बुद्धि के नष्ट होने में क्या आश्चर्य है। यह बात काल एव पाश इन दोनों पदों से कही गई है ॥ ४४ ॥

श्रीसुबोधिनी = एवं बुद्धिभ्रंशे जाते यत्कृतवांस्तदाह =

अथ = इस प्रकार बुद्धि के नष्ट हो जाने पर कंस ने जो कुछ किया उसे कहते हैं।

श्लोकः- सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान् ।
कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत् ॥ ४५ ॥

अर्थ = स्वयं पीड़ा देने की इच्छा वाले एवं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन राक्षसों को सत्पुरुषों को पीड़ा देने के लिये दशों दिशाओं में जाने का आदेश देकर वह कंस अपने महल में चला गया ॥ ४५ ॥

श्रीसुबोधिनी = सन्दिश्येति, साधुलोकस्य कदने पीडायां कदनप्रियान् स्वतोपि कदनेच्छून् कदनकरणार्थं तत्तत्साधकनानारूपधारकान् दशदिक्ष्वप्यादिश्य स्वविषयेन्यविषये च कामरूपधराणां सर्वत्रैव सामर्थ्यसंभवात्, दानवानिति, क्रूरान्, राक्षसमात्रे दानव प्रयोगः, स्वगृहमाविशत्, यथोपद्रवे कश्चित् प्रभोः स्थाने गतो दर्शनमेव न प्राप्नुयात्, एतदर्थे गृहे प्रवेशनम् ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थ = जो स्वय ही पीडा देना चाहते थे और पीडा देने के लिये जो नानारूप धारण कर सकते थे उन्हें सत्पुरुषों को पीडा देने के लिये दशदिशाओं में अर्थात् अपने देश में और दूसरे देशों में कंस ने भेजा। जो इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं उनका सर्वत्र जाने का समर्थ्य होता है इस लिये उन्हें सर्वत्र भेजा। श्लोक में आये "दानव" शब्द का अर्थ क्रूर है। राक्षस मात्र में दानव शब्द का प्रयोग होता है। अर्थात् वह कंस उन क्रूर राक्षसों को जाने का आदेश देकर अपने महल में

चला गया। उस ने अपने महल में इस लिये प्रवेश किया कि यदि कोई इन राक्षसों के उपद्रव से दुःखी हो कर मेरे पास शिकायत करने आवे तो मैं न मिलूँ ।। ४६ ।।

श्रीसुबोधिनी = ते च ततोप्यधिकं कृतवन्त इत्याह ।

अर्थ = उन दैत्यों ने कंस की आज्ञा से भी अधिक कार्य किया, यह कहते हैं ।

श्लोकः– ते वै रजः प्रकृतयस्तमसारूढचेतसः ।
सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः ॥ ४६ ॥

अर्थ = निश्चय कर के रजोगुण के स्वभाव वाले और आगन्तुक तमोगुण से व्याप्तचित्त वाले उन दैत्यों ने सत्पुरुषों के साथ द्वेष किया क्योंकि उन की मृत्यु पास ही आगई। जो आसन्नमृत्यु होते हैं उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता ॥ ४६ ॥

श्रीसुबोधिनी = वै निश्चयेन, ते स्वभावत एव रजः प्रकृतयः राजसाः क्रूरा भवन्ति, आगन्तुकेन च पुनस्तमसारुढं चित्तं येषां, पूर्वसिद्धविवेकनाशार्थं तमः, रजस्तमोभ्यां व्याप्ताः सात्त्विकान् द्विषन्त्येव, अतः सतां विद्वेषं विशेषेण द्वेषो यस्मात् तादृशमुपद्रवं धर्मधनादिनाशनमासमन्ताच्चेरुः कृतवन्तः, अनेन तेषां स्वरूपतोन्तःकरणनाशाद् धर्मतश्चोपद्रवं कृतवन्त इत्युक्तं भवति, ननुस्वाम्याज्ञातोधिकं किमर्थं कृतवन्तस्तत्राहारादागतमृत्यव इति मृत्युग्रस्तास्तथा कृतवन्तः, विकलो ह्यन्यथा करोत्येव ।। ४६ ।।

व्याख्यार्थ = निश्चय कर के स्वभाव से ही दैत्य रजोगुण की प्रकृतिवाले होते हैं, जो राजस होते हैं वे क्रूर होते हैं। इस पर भी उन के चित में आगन्तुक तमोगुण व्याप्त हो गया। उन में पूर्व में रहे विवेक को नष्ट करने के लिये तमोगुण प्रविष्ट हो गया। ऐसी स्थिति में जो रजोगुण एवं तमोगुण से व्याप्त हो जाते हैं वे सात्त्विक पुरूषों से द्वेष करते ही हैं। इस कारण से विशेषरूप से जिस से द्वेष हो जाय ऐसे उपद्रव को चारों ओर से करने लगे। इस श्लोक से यह सिद्ध हुआ कि उन दैत्यों के अन्तकरण के स्वरूप का नाश हो गया। अन्तः करण वैकारिक अहङ्कार से पैदा होता है और वह अन्तः करण ज्ञान को पैदा करता है इस लिये अन्तः करण स्वरूपतः सात्त्विक है. उस के उस स्वरूप का नाश रजो गुण से होता है और जब सत्वरूप अन्तः करण रहता है तब उस में ज्ञान रहता है। उन के उस ज्ञान को तमोगुण ने नष्ट कर दिया इस लिये ज्ञानरूप धर्म के नहीं रहने से धर्मतः उसका नाश हो गया। तात्पर्य यह है कि अन्तः करण का स्वरूप जो सात्त्विक था उसे रजोगुण ने नष्ट कर दिया और उस में होने वाले ज्ञान को तमोगुण ने नष्ट कर दिया अतः अन्तः करण के स्वरूप का और उस के धर्म का नाश हो गया अतः दैत्यों ने उपद्रव किया। शङ्का करते हैं कि दैत्यों ने कंस की आज्ञा

से भी अधिक कार्य किस लिये किया तो कहते हैं कि उन की मृत्यु पास ही आ गई अर्थात् वे मरणासन्न थे इस लिये ऐसा अनुचित कार्य किया। जो विकल होता है वह उलटा कार्य करता ही है ॥ ४६ ॥

श्रीसुबोधिनी = माययैवैतत् कारितं सर्वनाशार्थमिति ज्ञापयितुं महदति क्रमणस्य फलमाह।

अर्थ = दैत्यों के सर्वनाश के लिये माया ने ही महान् पुरूषों का अतिक्रमण कराया। इस बात को बताने के लिये महापुरूषों के अतिक्रम से क्या २ फल मिलते हैं यह कहते हैं।

श्लोकः—आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥४७॥

अर्थ = (शुकदेवजी कहते हैं कि) जो लोग महापुरुषों का अनादर करते हैं उन का वह कुकृत्य आयु, लक्ष्मी, यश, धर्म, एवं उस से प्राप्त होने वाले स्वर्गादिलोक, पुत्र आदि जो भी अभीष्ट हैं उन को और अन्य सब कल्याणों को नष्ट कर देता है ॥४७॥

श्रीसुबोधिनी = आयुश्रियमिति, जीवानां षड् उत्तमा गुणाः, तदभावे प्राण्यकृतार्थः स्यात्, तत्र प्रथममायुः, जीवतो हि सर्वं भवति, ततः श्रीः, स्पष्टस्तस्या उपकारः, ततो यशः कीर्तिः, ततोऽन्तरङ्गो धर्मः, तैः साध्या लोकाः स्वर्गादयः, तत्र लोके सर्वा एवाशिषः, चकारादैहिका अपि पुत्रादयः, एवकारेण सर्वेषामेवाशीर्ष्टं प्रदर्शितं, अतो यस्य यदभीष्टं तदेव नाशयतीत्युक्तं भवति, अन्यथा गणिताश्चेत् तस्याभीष्टा न भवेयुस्तदेष्टमेव चेष्टितमिति महदतिक्रमः किं कुर्यात् ? अतो यत्किञ्चिदेवाभीष्टं तदेव हन्ति, लोकसिद्धास्तु गणिताः, अनुक्तसर्वसङ्ग्रहार्थं सर्वाणीति पुंस इति, स्वतन्त्रस्यापि, महतो भगवदीयस्यातिक्रमः उल्लङ्घनं, महत्त्वं भगवत्सम्बन्धादेव, अन्यथाराग्रमात्रस्य कथं महत्त्वं स्यात्, एवं भगवच्चरितसिद्धचर्थं मायाकार्यं निरूपितम् ॥ ४७ ॥

श्लोकः—इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविर-
चितायां दशमस्कन्धविवरणे चतुर्थाध्यायविवरणम् ॥४८॥

व्याख्यार्थ = श्लोक में बताये गये छः गुण जीवों में उत्तम हैं। उन के नहीं रहने पर प्राणी अकृतार्थ रहता है। छः गुणों में पहला आयु है क्यों कि जीवित रहेगा तब ही तो सब कुछ करेगा। वह आयु महान् पुरूषों के अनादर से नष्ट हो जाती है। उस के बाद महान् पुरूषों का अतिक्रमण लक्ष्मी को नष्ट करता है। लक्ष्मी से जो उपकार होता है वह स्पष्ट ही है। तदनन्तर यश, तत्पश्चात् अन्तरङ्ग धर्म और उस से होने वाले स्वर्गादिफल; लोक के सभी वांछनीय और श्लोक में आये चकार से लिये गये पुत्रादि जो ऐहिक फलरूप माने जाते हैं, वे और एवकार से जितने भी जीव को अभीष्ट हैं

वे सब लिये गये हैं अर्थात् जिसको जो भी अभीष्ट है उस सब को महापुरूषों का अतिक्रमण नष्ट कर देता है। यदि ऐसा नहीं कहा जाय तो श्लोक में गिनाये गये यदि किसी का अभीष्ट न हो तो महापुरूषों के अतिक्रमण से उन का कुछ नहीं बिगडेगा। इस लिये यह कहना आवश्यक है कि जिसको जो भी कुछ अभीष्ट है वह सब नष्ट हो जाता है। लोकसिद्ध आयु आदि को तो गिना दिया अब जिन को नहीं गिनाया गया उन के संग्रह के लिये कहते हैं कि "सर्वाणि" अर्थात् सब कुछ कल्याण नष्ट हो जाते हैं। श्लोक में जो "पुंसः" यह आया है उस का तात्पर्य यह है कि पुरूष स्वतन्त्र होता है, उस के भी उपर्युक्त सभी नष्ट हो जाते हैं। श्लोक में आये "महान्" का अर्थ भगवदीय है अर्थात् जो भगवद्भक्त होता है वह महान् होता है उस का उल्लङ्घन यह सब कुछ करता है। जीव भगवान् के सम्बन्ध से ही महान् बनता है। यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो ब्रीहि के अग्रभाग के समान जीव महान् कैसे बन सकता है अतः यह समझना चाहिये कि जीव में महत्ता भगवत्सम्बन्ध से ही आती है। क्योंकि भगवान् महान् हैं इस लिये उस से सम्बन्ध करने वाला जीव महान् बन जाता है। जैसे अग्नि के सम्बन्ध से जल में उष्णता आती है वैसे ही भगवान् के सम्बन्ध से भगवान् की महत्ता जीव में आती है। इस प्रकार सब को दुःख देना रूप जो माया का कार्य हुआ वह अनिरूद्ध द्वारा धर्म रक्षा कराने में कारण हुवा। यदि माया कंस से इतना उपद्रव नहीं कराती तो अनिरूद्ध व्यूह का चरित्र जो धर्मरक्षणरूप है वह नहीं होता। इति शम्

चतुर्थाध्याय का अनुवाद समाप्त हुवा।

अनुवादक—आनन्दीलाल शास्त्री नाथद्वारा

चतुर्थ अध्याय

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	रूकता	रुकता
१	१३	निरुपण	निरूपण
१	२२	धम	धर्म
२	४	रुदन	रोदन
२	२०	सत्विक	सात्त्विक
३	५	बन्ध	बन्द
४	११	वमुदेवजी	वसुदेवजी
४	१८	दा	दी
४	२६	विकल	विकल:
५	५	हा	हो
५	११	बुद्धयैव	बुद्ध्यैव
५	१८	स्नुषेय	स्नुषेयं
५	२०	वधु	वधू
६	१५	निरूपण	निरूपण किया है
६	१५	नन्वहं ते ह्यवराज से	नन्वहं ते ह्यवराज से हेतु का निरूपण
६	२१	ज्ञान	ज्ञानं
६	२७	हीनता	दोनता
७	२	हीनता	दीनता
७	५	नहीं ह	नहीं है
७	१५	सता	सती
७	१८	ता	तो
८	१२	यद्यपरोत्पत्यते	यद्यपरोत्पत्स्यते
८	१४	देवका	देवकी
९	१७	शाक	शोक
९	२३	इताना	इतना
९	२५	विनिभस्त्यं	विनिर्भस्त्यं
१०	१३	देवेका	देवकी
१०	२०	शुक्राचार्य	शुक्राचार्य
१०	२१	अर्द	अर्थ
१०	२६	वहा	वही

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	४	छोन	छीन
१२	१	हाथ	हाथ से
१२	५	सम्यगुत्पच्योत्यतंन	सम्युउत्पत्यो त्पतनं
१२	२६	देवका	देवकी
१३	४	एक	एवं
१४	११	गदाधर:	गदाधरा
१५	१४	की	की गई
१६	१	करोभि	करोमि
१६	१८	एवमुत्कागतेत्याह:	एवमुक्त्वागते-त्याह:
१७	१०	धम	धर्म
१८	१७	लोकोत्तया	लोकोक्त्या
१९	२३	ट्रट्रे	द्वन्द्वे
२०	१	ह	है
२१	११	कर्तास्माति	कर्तास्मीति
२१	१३	जिघांसत	क्षिघांसन्तं
२२	२३	विरुध, विरूद्ध	विरुद्ध
२२	२६	वेवता	देवता
२३	५	सकना	सकता
२४	७	कम	कर्म
२४	२२	काई	कोई
५	१२	अन्यथात्मात्मानन्त्य	अन्यथात्मानन्त्य
२५	१८	का	को
२६	८	न नष्ट	नष्ट
२३	८	होते हैं	होते हैं परन्तु-इनमें वर्तमान आत्मा न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है ।
२७	४	मनुष्योऽह	मनुष्योऽहं
२८	४	संयाग	संयोग
२८	१३	देवदत्तात्स्य	देवदत्तस्य
२८	१७	शोको	शोको

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८	१९	होत	होता
२८	२१	वास्तव से	वास्तव में
२८	२६	हात	होता
२९	२६	श्यामोऽह	श्यामोऽहं
३०	८	करिष्यलोति	करिष्यतोति
३०	२०	श्वोक	श्लोक
३३	१६	अपकार्ति	अपकीर्ति
३३	२१	छाने	छोने
३४	१७	वो	को
३४	१७	लक्षरण मे	लक्षणों से
६४	२०	भाम:स्वश्रो	भामस्वश्रो:
३५	१	लक्षैक	लक्ष्यैक
३५	९	सौहाद्र	सौहार्द
३५	१३	किञ्चत्	किञ्चित्
३५	२५	एकचचन	एकवचन
३६	६	यह कहते हैं	अब इस बात को कहते हैं
३६	१८	श्वोक	श्लोक
३७	१	वमुदेवजी	वसुदेवजी
३८	१२	वे भगवान् में	वे लोग भगवान् में
४०	१०	नियम ह	नियम है
४०	१२	हाता	होता
४०	१६	उपालभ	उपालम्भ
४०	१६	काई	कोई
४०	२१	अविष्ट	आविष्ट
४१	१९	देवका	देवकी
४२	४	ज्ञानस्यज्ञातत्वात्	ज्ञानस्य जातत्वात्
४२	२८	दोरात्म्य	दौरात्म्य
४३	२०	तदाहाद्योति	तदाहाद्येति
४४	१८	श्लोक	कारिका
४४	२३	किमुधर्मै:	किमुद्यमै:
४४	२६	निरुपरण	निरूपण
४५	६	ज्याधोषै	ज्याघोषै
४५	११	बिम्यति	बिभ्यति
४६	४	हन्यमान:	हन्यमाना:
४९	१	अग्नि	अग्नि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०	३	दत्य	दैत्य
५१	७	यथोति	यथेति
५१	१८	शर्वनाश	सर्वनाश
५२	१०	विश्गु	विष्णु
५२	११	देवतोद्दशेन	देवतोद्देशेन
५२	१९	और यज्ञ के	और सत्व अथवा यज्ञ के
५२	२३	प्रधमा	प्रथमा
५३	१४	नेषां	तेषां
५४	२१	शाम	शम
५४	२५	अह,	यहां
५५	२	येदशधर्म	श्लोक में शब्दत: कहे गये दशधर्म
५५	३	दू:ख	दु:ख
५६	८	अशङ्क्याह	आशङ्क्याह
५६	१२	मन्त्रि	मन्त्रियों
५६	२३	क्कठिन	कठिन
५७	२	शङ्गा	शङ्का
५७	६	सपूर्ण	सम्पूर्ण
५७	१०	आता	आती
५७	२३	चहते	चाहते
५८	१०	क्रूरा	क्रूरा
५८	१६	पूव	पूर्ण
५८	१७	रजोगुस्व	रजोगुण
५८	१८	पुरूषों	पुरुषों
५८	१९	चारा	चारों
५८	२०	अन्तकरण	अन्त:करण
५९	४,५	पुरूषों	पुरुषों
५९	१६	उल्लद्धनं	उल्लङ्घनं
५९	२१	पहला	पहली
६०	१	महापुरुषा	महापुरुषों
६०	२	किसी का	किसी को
६०	६	तात्पय	तात्पर्य
६०	७	अथ	अर्थ
६०	८	उल्लङ्धन	उल्लङ्घन

॥ श्री हरिः ॥

दशम स्कन्ध के अध्याय १ से ४ की अनुक्रमणिका

क्र. सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१	अग्नेर्यथा दारुवियोग	१	५१	८४
२	अजुष्टग्राम्य विषया	३	३६	९६
३	अथ काल उपावृते		५६	८६
४	अथ सर्वगुणोपेतः	३	१	५
५	अथाहमंशभागेन	२	९	१०
६	अथैनमस्तौदवधार्य	३	१२	३५
७	अथैनमात्मजं वोक्ष्य	३	२३	६६
८	अदृष्ट्वान्यतमं लोके	३	४१	९९
९	अन्यैश्चासुर भूपालैः	२	२	२
१०	अयं त्वसभ्यस्तव	३	२२	६५
११	अर्चिष्यन्ति मनुष्याः	२	१०	१२
१२	अवतीर्य यदोर्वंशे	१	३	३
१३	अस्यतस्ते शरव्रातैः	४	३३	४५
१४	अहोभगिन्यहो भाम	४	१५	१९
१५	आकर्ण्य भर्तृ गदितं	४	३०	४३
१६	आत्मानमिह सञ्जातं	१	६८	९
१७	आपुः श्रियं यशोधर्मं	४	४७	५९
१८	आसीनः संविशांस्तिष्ठ	२	२४	२९
१९	इति घोरतमाद् भावात्	२	२३	२८
२०	इत्यभिष्टूय पुरुषं	२	४२	७१
२१	इत्युक्त्वाऽऽसि हरिः	३	४६	१०७
२२	इत्यादिश्यामरगणान्	१	२६	५३
२३	इत्युक्तः स खलः पापः	१	३५	६३
२४	इति प्रभाष्य तंदेवी	४	१३	१६
२५	उग्रसेनं च पितरं	१	६९	९९
२६	उग्रसेनसुतः कंसः	१	३०	५९
२७	उपगूह्यात्मजामेव	४	७	९
२८	उपसंहर विश्वात्मन्	३	३०	८७
२९	ऋषेर्विनिर्गमे कंसो	१	६५	९७
३०	एकायनोऽसौ द्विफलः	२	२७	३८
३१	एतत्कंसाय भगवान्	१	६४	९५
३२	एतद्वां दर्शितं रूप	३	४४	१०२
३३	एतदन्यच्च सर्वं	१	१२	२३
३४	एतं निशम्य भृगुनन्दन	१	१४	२६
३५	एवं चेत्तर्हि भोजेन्द्र	४	३१	४३
३६	एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः	४	४४	५६
३७	एवं भवान् बुद्ध्यनु	३	१७	४८
३८	एवमेतन्महाराज	४	२६	३७
३९	एवं वां तप्यतोर्भद्रे	३	३६	९४
४०	एवं विमृष्य तं पापं	१	५२	८५
४१	एवं स सामभिर्भेदैः	१	४६	७६
४२	ऐषा तवानुजा बाला	१	४५	७६
४३	कथितो वंश विस्तारो	१	१	१
४४	कंस एवं प्रसन्नाभ्य	४	२८	४१
४५	कस्मान्मुकुन्दो भगवान्	१	९	२१
४६	किं दुःसहं नु साधूनाम्	१	५८	९१
४७	किमद्य तस्मिन्करणीय	२	२१	२६
४८	किं मया हतया मन्द	४	१२	१५
४९	किं क्षेम शूरैर्विबुधैः	४	३६	४८
५०	किमिन्द्रेणालय वीर्येण	४	३७	४९
५१	कुमुदा चण्डिका कृष्णा	२	१२	१३
५२	किमुद्यमैः करिष्यन्ति	४	३२	४५
५३	कीर्तिमन्तं प्रथमजं	१	५७	८९
५४	केचित् प्राञ्जलयो भीताः	४	३४	४६
५५	क्षमध्वं मम दोरात्म्यं	४	२३	३२
५६	गच्छ देवी व्रजं भद्रे	२	६½	८
५७	गते मयि युवां लब्धा	३	४०	९८
५८	गर्भं संकर्षणात् तंवै	२	१३	१४
५९	गर्भे प्रणीते देवक्या	२	१५	१५
६०	गिरं समाधौ गगने	१	२१	४४
६१	गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना	१	१८	३९
६२	चतुः शतं पारिबर्हम्	१	३१	६०
६३	जगुः किन्नरगन्धर्वा	३	६	१०
६४	जन्म ते मय्यसौ पापः	३	२९	८६
६५	ज्योतिर्यथै वोदक पा	१	४३	७३
६६	तत्र गत्वा जगन्नाथं	१	२०	४२
६७	ततो जगन्मंगलमच्युत	२	१८	२१
६८	ततश्च शौरिर्भगवत्	३	४७	१०९
६९	ततस्तन्मूल खनने	४	३८	५०
७०	तथेति सुतमादाय	१	६१	९४

क्र सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ट
७१	तथा कथितमाकर्ण्य	४	१४	७१
७२	तथा न ते माधव तावका	२	३३	५०
७३	तथा वां परितुष्टोऽह	३	३७	९५
७४	तं जुगुप्सितकर्माणं	१	३६	६४
७५	तमद्भुतं बालकमम्बुजे	३	९	१९
७६	तमाह भ्रातरं देवो	४	४	५
७७	तयाहृतप्रत्ययसर्व	३	४८	१११
७८	तयोर्वा पुनरेवाह	३	४२	१००
७९	तस्यां तु कस्यचिच्छौरिः	१	२९	५८
८०	तस्मान्न कस्यचिद् द्रोह	१	४४	७५
८१	तस्मात्सर्वात्मना राजन्	४	४१	५३
८२	तस्माद् भद्रेस्वतनयान्	४	२१	३०
८३	तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां	४	२९	४१
८४	ताः कृष्णवाहे वसुदेव	३	४९	११२
८५	तां गृहीत्वा चरणयोः	४	८	११
८६	तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाः	२	२०	२४
८७	तृतियेऽस्मिन् भवेऽहंवौ	३	४३	१००
८८	ते तु तूर्णमुपव्रज्य	४	२	३
८९	ते पिडीता निविविशुः	२	३	३
९०	ते वै रजः प्रकृतयः	४	४६	५८
९१	त्वत्तोऽस्य जन्म स्थिती	३	१९	५९
९२	त्वमस्य लोकस्य विभो	३	२१	६४
९३	त्वमेक मेवास्य	२	२८	४१
९४	त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः	३	३२	९१
९५	त्वय्यम्बुजाक्षाखिल	२	३०	४४
९६	देवक्या जठरे गर्भम्	२	८	१०
९७	दासीनां सुकुमारीणां	१	३२	६०
९८	दिव्य सुगम्बरालेप	४	१०	१४
९९	दिशः प्रसे दुर्गगनं	३	२	७
१००	दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः	२	४१	७०
१०१	दिष्ट्या हरेस्या भवतः	२	३८	६१
१०२	दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः	१	५९	९२
१०३	देवकी वसुदेव च	१	६६	९७
१०४	देवक्या शयने न्यस्य	३	५२	११६
१०५	देहे पंचत्वमापन्ने	१	३९	६९
१०६	देहं मानुषमाश्रित्य	१	११	२२
१०७	दैवमप्यनृतं वक्ति	४	१७	२२
१०८	द्रौण्यस्त्र विप्लुष्ट मिदं	१	६	१५
१०९	ना चास्यस्ते भयं सौम्य	१	५४	८७
११०	न ते भवस्येश भवस्य	२	३९	६३
१११	न त्वं विस्मृत शास्त्राम्त्रं	४	३५	४७
११२	न नामरूपे गुणकर्म	२	३६	५७
११३	नद्यः प्रसन्न सलिला	३	३	८
११४	नन्दाद्या ये व्रजे गोपाः	१	६२	९५
११५	नन्दव्रजं शोरिरपेत्य	३	५१	११५
११६	नन्वहं ते ह्यवरजा	४	६	९
११७	नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने	३	२५	७४
११८	नामधेयानि कुर्वन्ति	२	११	१३
११९	निर्बन्ध तस्य तं ज्ञात्वा	१	४७	७८
१२०	निवृत्ततर्षैरुपगीयमान	१	४	६
१२१	निशीथेतमउद्भूते	३	८	१४
१२२	नैषाति दुःसहाक्षुन्मां	१	१३	२५
१२३	पथि प्रगहिणं कंसं	१	३४	६२
१२४	पितामहा मे समरे	१	५	११
१२५	पुरैव पुंसावधृतो	१	२२	४६
१२६	प्रतियातु कुमारोऽयं	१	६०	९३
१२७	प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्रान्	१	४९	८०
१२८	प्रलंबबकचाणूर	२	१	२
१२९	प्रादुरासं वरदाराट्	३	३८	९५
१३०	प्रसार्य वदनांभोजं	१	५३	८६
१३१	बर्भर्षिरूपाण्यव बोध	२	२९	४२
१३२	बिहवो हिंसिता भ्रातः	४	५	८
१३३	वहिरन्तः पुरः द्वारः	४	१	३
१३४	ब्रह्मा तदुपधार्याथ	१	१९	४१
१३५	ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य	२	२५	२९
१३६	भगवानपि विश्वात्मा भक्ताना	२	१६	१६
१३७	भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा	२	६	७
१३८	भुवि भौमानि भूतानि	४	१९	२४
१३९	भूमिर्दृप्तनृप व्याज	१	१७	३२
१४०	भ्रातुः समनुतप्तस्य	४	२५	३६
१४१	मघोनि वर्षत्यसकृद्	३	५०	११४
१४२	मत्स्याश्वकच्छपनृसिंह	२	४०	६५

क्र॰ सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ट
१४३	मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः	३	२७	८०
१४४	मनांस्यासन्प्रसन्नानि	३	५	९
१४५	महार्हवैदूर्य किरीटकुण्डल	३	१०	२९
१४६	मातरं पितरं भ्रातृन्	१	६७	९८
१४७	मा शोचतं महाभागौ	४	१८	२३
१४८	मुमुचुर्मुनयो देवाः	३	७	११
१४९	मूलं हि विष्णुर्देवानां	४	४०	५२
१५०	मृत्युर्जन्मवतां वीर	१	३८	६८
१५१	मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो	१	४८	७९
१५२	मोचया मास निगडान्	४	२४	३५
१५३	य आत्मनो दृश्य गुणेषु	३	१८	५३
१५४	यतो यतो धावति दैव	१	४२	७२
१५५	यथामयोऽङ्गे समुपेक्षित	४	३९	५१
१५६	यथा नैवं विदो भेदः	४	२०	२८
१५७	यथेमेऽविकृता भावाः	३	१५	४६
१५८	यदोश्च धर्म शीलस्य	१	२	१
१५९	यशोदा नन्द पत्नी च	३	५३	११७
१६०	यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मि	४	२२	३१
१६१	युवां मां पुत्रभावेन	३	४५	१०३
१६२	युवां वै ब्रह्मणादिष्टौ	३	३३	९२
१६३	येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त	२	३२	४८
१६४	योऽयकालस्तस्य तेऽव्यक्त	३	२६	७५
१६५	राजधानीततः साऽभूत	१	२८	५६
१६६	रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्त	३	२४	६८
१६७	रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो	१	८	२०
१६८	रोहिणी वसुदेवस्य	२	७	९
१६९	वर्ष वातातपहिम	३	३४	९२
१७०	ववौवायुः सुखस्पर्शः	३	४	९
१७१	वसुदेवगृहे साक्षात्	१	२३	४८
१७२	वासुदेव कथा प्रश्नः	१	१६	३०
१७३	वासुदेव कलानन्तः	१	२४	४९
१७४	विदितोऽस्मि भवान्साक्षात्	३	१३	३९
१७५	विपर्ययो वा किं न स्यात्	१	५०	८३
१७६	विप्रा गावश्च वेदाश्च	४	४२	५४
१७७	विष्णोर्माया भगवती	१	२५	५२
१७८	विश्वं यदेतत्स्वतनौ	३	३१	८८

क्र॰ सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ट
१७९	वीर्याणि तस्याखिल	१	७	१७
१८०	व्रजंस्तिष्ठन् पदै	१	४०	७०
१८१	व्रजे वसन् किमकरोत्	१	१०	२२
१८२	शंखतूर्यमृदङ्गानि	१	३३	६१
१८३	शीर्णपर्णा निलाहारा	३	३५	९३
१८४	शूरसेनो यदुपतिः	१	२७	५४
१८५	शृण्वन् गृणन् संस्मर	२	३७	५९
१८६	शोकहर्षभयद्वेष	४	२७	३८
१८७	श्लाघनीयगुणाःशूरैः	१	३७	६५
१८८	स एव स्वप्नकृत्येदं	३	१४	४३
१८९	स एष जीवन्खलुसंपरेतो	२	२२	३७
१९०	सत्वं न चेद् धातरिदं	२	३५	५४
१९१	सत्वं घोरादुग्रसेनात्मजा	३	२८	८३
१९२	सत्वं त्रिलोका स्थितये	३	२०	६३
१९३	सत्वं विशुद्धं श्रयते	२	३४	५२
१९४	सत्वंहृ त्यक्त कारुण्यः	४	१६	२०
१९५	स तल्पात्तूर्ण मुत्थाय	४	३	४
१९६	सत्यव्रतं सत्य परं	२	२६	३०
१९७	सन्दिष्टैवं भगवता	२	१४	१५
१९८	सन्निपत्यं समुत्पाद्य	३	१६	४७
१९९	सन्दिश्य साधुलोकस्य	४	४५	५७
२००	सप्तमो वैष्णवं धाम	२	५	४
२०१	स बिभ्रत् पौरुषंधाम	२	१७	२०
२०२	सम्यग्व्यवस्थिता बुद्धिः	१	१५	२९
२०३	सर्वे वै देवता प्रायाः	१	६३	९५
२०४	स विस्मयोत्फुल्लविलो	३	११	३३
२०५	स हि सर्वसुराध्यक्षो	४	४३	५५
२०६	सा तद्धस्तात् समुत्पत्य	४	९	११
२०६	सा देवकी सर्वजगन्निवास	२	१९	२३
२०८	सिद्धचारणगन्धर्वैः	४	११	१४
२०९	सुहृद्वधान्निववृते	१	५५	८८
२१०	स्वप्ने यथा पश्यति	१	४१	७१
२११	स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं	२	३१	४६
२१२	हतेषु षट्सु बालषु	२	४	४

॥ राग विहाग ॥

केते दिन हरि सुमरन बिन खोये ।
परनिंदा रसनाके रस में अपने पितर बिगोये ॥ १ ॥
तेल लगाय कर्यो रुचि मर्दन मल मल वस्त्र धोये ।
तिलक लगाय चले स्वामी ह्वै युवतिनके मुख जोये ॥ २ ॥
काल बली ते सब जग कंपत ब्रह्मादिक से रोये ।
सूर अधमकी होय कौन गति, उदर भरे अरु सोये ॥ ३ ॥

॥ राग सोरठ ॥

सुवा वा बन को रस लीजे ।
जा बन कृष्ण नाम अमृत रस श्रवण पात्र भर पीजे ॥
को तेरो पुत्र पिता तू काको, मिथ्या भ्रम जग केरो ।
काल मञ्जार ले जहि तोकूं, तू कहे मेरो मेरो ॥
हरि नाना रस मुक्त छेत्र, चल तोकों देखराऊं ।
सूरदास साधुन को संगत, बड़े भाग जो पाऊँ ॥

॥ राग विहाग ॥

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो ।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन
सब जगमाँझ अंधेरो ॥ भरोसो० ॥ १ ॥
साधन और नहीं या कलिमें
जासों होत निवेरो ।
सूर कहा कहे द्विविध आंधरो
बिना मोल को चेरो ॥ भरोसो० ॥ २ ॥